6.2

१

चन्दवरदाई

-काव्य-धारा में चन्दवरदाई का स्थान

महाकवि चन्दवरदाई ने जिस युग में अवतीर्ण होकर काव्य-रचना का कार्य रम्भ किया था, वह हिन्दी-साहित्य का 'आदिकाल' कहलाता है। इस युग के करण के बारे में विद्वान् एकमत नहीं हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस युग में -गाथात्मक काव्य की प्रधानता स्वीकार की है और इसी आधार पर आपने इस को 'वीरगाथा काल' कहा है। परन्तु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस युग में भ्रंश ग्रंथों की प्रधानता स्वीकार करते हैं तथा आचार्य शुक्ल जिन ग्रन्थों को रगाथा' कहते हैं, उन्हें द्विवेदीजी सच्ची-झूठी विजयों तथा कल्पित-अकल्पित प्रेम-ङ्गों का वर्णन बताते हैं और उनमें वीरगाथा की अपेक्षा राजस्तुति का प्राधान्य कार करते हैं। अतः द्विवेदीजी के विचार से इस युग को 'अपभ्रंश काल' कहना चीन है, वीरगाथा काल नहीं। इनके अतिरिक्त राहुल सांकृत्यायन इस युग 'सिद्ध-सामंत काल' कहना अधिक उपयुक्त मानते हैं, क्योंकि इस समय सिद्धों का हित्य तथा सामंतों की तत्कालीन स्थिति सम्बन्धी साहित्य ही अधिक लिखा गया । डा० श्यामसुन्दरदास ने इसे 'वीरगाथा काल' ही स्वीकार किया है और इस युग ो प्रकार की वीरगाथाओं का प्राधान्य सिद्ध किया है, जिनमें से कुछ प्रबन्धात्मक में वीरगाथायें मिलती हैं, जैसे—खुमानरासो, पृथ्वीराज रासो आदि और कुछ वीर-ों के रूप में वीरगाथायें मिलती हैं, जैसे—आल्हखण्ड, बीसलदेव रासो आदि। इसके रिक्त डा० धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी के इस युग को वीरगाथा काल न कहकर 'हिन्दी -काव्य का काल' कहना अधिक समीचीन समझा है, क्योंकि उनके मतानुसार इस में हिन्दी के वीर-काव्यों का सृजन ही प्रचुर मात्रा में हुआ था। परन्तु इस आदि- का वैज्ञानिक अध्ययन करते हुए डा० रामकुमार वर्मा ने इसका सम्यक् वर्गीकरण विश्लेषण किया है।[1] सर्वप्रथम आपने इस युग को दो भागों में विभक्त किया है— -काल और चारण-काल। संधि-काल को पुनः दो भागों में विभक्त किया है—

---

[1] हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा।

आध्यात्मिक साहित्य और लौकिक साहित्य । इनमें से आध्यात्मिक साहित्य के अन्तर्गत तीन रूप मिलते हैं—(१) सिद्ध-साहित्य, (२) जैन-साहित्य, और (३) नाथ-साहित्य। लौकिक साहित्य के दो रूप मिलते हैं—(१) शृंगार-साहित्य या प्रेम-कथा साहित्य; जैसे मुल्ला दाऊद की चन्दावत; और (२) मनोरंजन-साहित्य; जैसे—खुसरो की गजल, मुकरियाँ, पहेलियाँ आदि । इस प्रकार संधिकाल के अन्तर्गत पाँच प्रकार का साहित्य मिलता है । इसके अतिरिक्त चारण-काल को दो भागों में विभक्त किया गया है—(१) डिंगल-साहित्य, जिसमें सम्पूर्ण राजस्थानी साहित्य अथवा रासो-साहित्य आ जाता है, तथा (२) पिंगल-साहित्य, जिसके अन्तर्गत तत्कालीन ब्रजभाषा-साहित्य आता है । इस तरह हिन्दी के आदिकाल में विभिन्न प्रकार का साहित्य रचा गया था । परन्तु महाकवि चन्दवरदाई आदिकाल के अन्तर्गत चारण-काल की डिंगल-साहित्य सम्बन्धी परम्परा में आते हैं ।

हिन्दी के चारण-काल की डिंगल-साहित्य सम्बन्धी परम्परा के अन्तर्गत जो वीरगाथाएँ आती हैं, उनमें से दलपति विजय कृत 'खुमान रासो', नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेव रासो', चन्दवरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो', भट्टकेदार कृत 'जयचन्द प्रकाश', मधुकर कृत 'जयमयंक-जसचन्द्रिका' तथा जगनिक कृत 'आल्हखण्ड' प्रसिद्ध हैं । इन सभी ग्रन्थों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि चन्दवरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' की समता करने की क्षमता किसी भी ग्रन्थ में नहीं है । 'पृथ्वीराज रासो' इस युग की सर्वोत्कृष्ट रचना है । यह एक विशालकाय महाकाव्य है, जो हिन्दी का 'सर्वप्रथम महाकाव्य' कहलाता है । इसमें कविवर चन्द की अनुपम कवित्व-शक्ति एवं अद्‌भुत प्रतिभा का चमत्कार दृष्टिगोचर होता है तथा यह ग्रन्थ कवि चन्द की इतिहास एवं राजनीति, धर्म एवं ज्योतिष, साहित्य एवं काव्यशास्त्र, पुराण एवं दर्शन, व्याकरण एवं छन्दशास्त्र, तन्त्र-मन्त्र एवं सिद्धियाँ, शास्त्रार्थ एवं युद्ध-कौशल आदि से सम्बन्धित अद्‌भुत योग्यता का परिचायक है । काव्य की दृष्टि से कवि ने इस ग्रंथ में वीर और शृंगार रस का जैसा मार्मिक वर्णन किया है, वैसा तत्कालीन अन्य ग्रंथों में कहीं नहीं मिलता । इसके साथ ही इसमें आखेट-वर्णन, युद्ध-वर्णन एवं प्रकृति-चित्रण भी अत्यन्त सजीव हैं । कर्नल टॉड ने ठीक ही लिखा है कि "पृथ्वीराज के युद्धों, उसके अनेक शक्ति-सम्पन्न सामंतों, उनके निवास-स्थानों तथा उनकी वंशावलियों के वर्णन के कारण चन्द का यह ग्रंथ एक अमूल्य ऐतिहासिक एवं भौगोलिक स्मरण-लेख का रूप धारण कर लेता है, इसके अतिरिक्त यह पौराणिक आख्यानों, रिवाजों तथा मानसिक जगत् के ऐतिहासिक तथ्यों का संचित कोष है ।"[1] जान बोम्स ने भी चन्द को हिन्दी-

---

[1] "The wars of Prithivi Raj, his nemerous and powerful tributaries, their abode and pedigress make the work of Chand invaluable as historic and geographical memoranda, besides being treasures in mythology, manners and the annals of the mind."

—*Annals & Antiquities of Rajasthan.*

भाषा का सर्वप्रथम कवि माना है। एफ० एस० ग्राउज ने चन्द को हिन्दी-काव्य का जनक बताया है। हरिऔधजी ने चन्द को 'हिन्दी संसार का चॉसर' बताया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार "अब इस विषय में किसी को संदेह नहीं रह गया है कि चन्द नामक कोई कवि पृथ्वीराज के दरबार में अवश्य थे और उन्होंने ग्रन्थ भी लिखा है।" डा० रामकुमार वर्मा के मत से भी "पृथ्वीराज रासो राजस्थानी-साहित्य का सर्वप्रथम प्रबन्धात्मक काव्य माना गया है। उसका रचयिता चन्द भी वीर-काव्य-धारा का प्रथम महाकवि है।"

'पृथ्वीराज रासो' के उपरान्त वीर-काव्यों की परम्परा में शार्ङ्गधर का 'हम्मीर रासो' तथा मल्लसिंह भट्ट कृत 'विजयपाल रासो' नामक काव्य आते हैं। ये दोनों ग्रन्थ चौदहवीं शताब्दी के हैं। परन्तु 'हमीर रासो' के बारे में विद्वानों का मत है कि यह रचना और भी परवर्ती है, क्योंकि इसकी भाषा उस काल के वीर-काव्यों की भाषा से नहीं मिलती। तदनन्तर इसी परम्परा में 'जैतसी रानै पाबूजोरा छन्द', 'अचलदास खीची री वचनिका शिवदास री कही', 'क्रिसन रुक्मिणी री बेल राजा प्रिथीराज री कही', 'ढोला मारवाणी चउपही', 'वरसलपुर गढ़ विजय', ग्रन्थराज गाउण गोपीनाथ री कहियौ' आदि डिंगल-साहित्य के ग्रन्थ आते हैं, जो भाषा एवं वर्ण्य-विषय की दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' में पर्याप्त मिलते-जुलते हैं, क्योंकि इनमें भी अपभ्रंश जैसी तत्कालीन लोकभाषा में युद्ध-कौशल के साथ-साथ वीरों के शौर्य, पराक्रम एवं ऐश्वर्य का ओजस्वी वर्णन मिलता है तथा इनमें भी शृंगार एवं रौद्र रस के साथ-साथ वीर रस का प्राधान्य है। परन्तु ये सभी ग्रन्थ 'पृथ्वीरास रासो' के समक्ष अधिक सरस एवं प्रभावोत्पादक नहीं दिखाई देते।

इसके अनन्तर वीरगाथाओं के लिए ब्रजभाषा पर्याप्त सशक्त एवं सक्षम हो चुकी थी और प्राचीन लोकभाषा अथवा अपभ्रंश मिश्रित डिंगल या राजस्थानी का जमाना लद चुका था। अतएव हिन्दी के आगामी कवियों ने वीर-काव्यों की इस परम्परा के लिए ब्रजभाषा का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। दूसरे, अभी तक वीर-कवियों के चरितनायक प्रायः राजस्थान के ही थे। अब राजस्थान से हटकर अन्य स्थानों के वीर-पुरुषों के यशोगान का कार्य भी आरम्भ हुआ। इसलिए उस समय ब्रजभाषा में जो वीर-काव्य लिखे गये, उनमें भूषण कृत 'शिवराज भूषण', 'शिवावावनी' और 'छत्रसाल दशक', कुलपति मिश्र कृत 'संग्रामसार' और 'द्रोणपर्व' श्रीधर या मुरलीधर कृत 'जंमनामा', पद्माकर कृत 'रामरसायन', सबलसिंह चौहान कृत 'महाभारत', छत्रसिंह कृत 'विजयमुक्तावली', नवलसिंह कृत 'आल्हा रामायण', और 'आल्हा भारत' लाल कवि कृत 'छत्र प्रकाश', जोधराज कृत 'हमीर रासो', सूदन कृत 'सुजान चरित' आदि प्रसिद्ध हैं। यद्यपि उक्त सभी ग्रन्थ रीतिकाल की शृङ्गारमयी प्रवृत्ति की प्रधानता के समय ही लिखे गये हैं, तथापि इन पर शृङ्गार का प्रभाव न होकर रासो की वीरगाथा वाली परम्परा का ही प्रभाव है, जिसके परिणामस्वरूप इनमें भी वीरों के शौर्य, पराक्रम एवं ओजपूर्ण कृत्यों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन मिलता है।

आधुनिक युग में आकर वीरगाथा-काल की यह धारा वैयक्तिक शौर्य-गान की अपेक्षा भारतीयों के सामूहिक शौर्य, पराक्रम, साहस, वीरता, बलिदान, स्वतन्त्रता के के लिए अथक प्रयत्न आदि के वर्णन के रूप में प्रवाहित हुई और माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा, 'नवीन', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', वियोगी हरि, लाला भगवानदीन, सुभद्राकुमारी चौहान, रामधारीसिंह 'दिनकर', मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, श्यामनारायण पांडेय, सोहनलाल द्विवेदी आदि की कविताओं के रूप में प्रस्फुटित हुई, किन्तु वैयक्तिक शौर्य एवं पराक्रम का ही वर्णन हुआ, जिसमें से श्यामनारायण पांडेय कृत, 'हल्दी घाटी' और 'जौहर' काव्य प्रसिद्ध हैं। परन्तु इस काव्य-धारा को प्रभावशाली एवं आककर्ष ढंग से प्रवाहित करने का सर्वप्रथम श्रेय कविवर चन्दवरदाई को ही प्राप्त है।

अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दी में वीर-काव्यों की परम्परा अत्यन्त दीर्घ एवं विस्तृत है तथा इस धारा का प्रवाह आधुनिक युग तक अक्षुण्ण गति से प्रवाहित हो रहा है। फिर भी इस परम्परा में कवि चन्द का गौरवपूर्ण स्थान है, क्योंकि 'पृथ्वीराज रासो' ही हिन्दी का सर्वप्रथम ऐसा महाकाव्य है, जो वीर-काव्य-धारा का प्रवर्त्तक एवं प्रेरणा-स्रोत है। यह ग्रन्थ हिन्दी के आदि काल में ही लिखा गया था और उसके लेखक चन्दवरदाई थे। इसी कारण यह निर्विवाद सत्य है कि हिन्दी की वीर-काव्य-धारा के प्रतिनिधि कवियों की जब भी गणना होगी, तभी चन्दवरदाई का नाम सर्वप्रथम स्मरण किया जायेगा।

'रासो' शब्द की उत्पत्ति

आदिकाल के वीरगाथात्मक ग्रन्थों का नाम प्रायः 'रासो' दिया गया है। परन्तु 'रासो' शब्द किस अर्थ का द्योतक है, इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। अभी तक विद्वानों ने इस शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए अपने-अपने जो भी मत प्रकट किये हैं, वे इस प्रकार हैं :—

(१) **राजसूय सम्बन्धी मत**—गार्सां-द-तासी नामक फ्रांसीसी विद्वान् ने अपने 'हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में उर्दू तथा हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवियों का उल्लेख करते हुए चन्द कवि तथा उसके ग्रन्थ 'पृथ्वीराज राजसू' का उल्लेख किया है। यह 'राजसू' शब्द 'पृथ्वीराज रासो' की प्राचीन प्रतिलिपियों पर लिखा हुआ भी मिला है। अतः गार्सां-द-तासी ने इसी आधार पर यह स्वीकार किया है कि 'राजसू' या 'राजसूय' शब्द से बिगड़ कर 'रासो' शब्द बना होगा।

(२) **रहस्य सम्बन्धी मत**—कविराजा श्यामलदास तथा डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने 'रासो' शब्द का विकास 'रहस्य शब्द से माना है। उनके मत को 'हिन्दी-शब्द-सागर' के सम्पादकों ने भी स्वीकार किया है।

(३) **रसायण सम्बन्धी मत**—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रासो' शब्द का उद्भव 'रसायन' शब्द से माना है। आपने लिखा है कि "यहाँ पर वीर-काल के उन ग्रन्थों का उल्लेख किया जाता है, जिनकी या तो प्रतियाँ मिलती हैं या कहीं उल्लेख मात्र पाया जाता है, वे ग्रन्थ 'रासो' कहलाते हैं। कुछ लोग इस शब्द का सम्बन्ध

'रहस्य' से बताते हैं। पर 'बीसलदेव रासो' में काव्य अर्थ में 'रामायण' शब्द बार-बार आया है। अतः हमारी समझ में इसी 'रामायण' शब्द से होते-होते 'रासो' हो गया है।"[१] इसमें कोई सन्देह भी नहीं है क्योंकि 'बीसलदेव रासो' में ग्रन्थ-निर्माण-काल का उल्लेख करते हुए क़वि ने लिखा है—

बारह सै बहत्तरां मझारि, जेठ बदी नवमी बुधवारि।
'नाल्ह' रसायण आरंभह, शारदा तूठी ब्रह्मकुमारि॥

अतएव इसी 'रामायण' शब्द के आधार पर आचार्य शुक्ल ने 'रामायण' से 'रासो' शब्द का उद्भव सिद्ध किया है।

(४) **रास सम्बन्धी मत**—'रास' शब्द से 'रासो' शब्द बनने का सर्वप्रथम उल्लेख काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो' की भूमिका में मिलता है। डा० दशरथ शर्मा ने भी 'रासो' शब्द का उद्भव 'रास' ही स्वीकार किया है और लिखा है—'रासो' मूलतः गानयुक्त नृत्य-विशेष से क्रमशः विकसित होते-होते उपरूपक और फिर उपरूपक से वीर रस के पद्यात्मक प्रबन्धों में परिणत हो गया। उक्त गानयुक्त नृत्य-विशेष से तात्पर्य 'रास' से है। 'रास' ब्रज प्रान्त का महत्त्वपूर्ण अभिनय है। उत्तर भारत में सर्वत्र रास-लीला का प्रचलन मिलता है। गीत-नृत्य के साथ 'रास' रचाने का उल्लेख हमारे ग्रन्थ श्रीमद्भागवत में भी मिलता है। कृष्ण और राधा की 'रासलीला' हमारे लिए अपरिचित नहीं। अतः 'रास' शब्द से ही 'रासो' का विकास होगा।"

(५) **रासक सम्बन्धी मत**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'रासो' शब्द का विकास संस्कृत के 'रासक' शब्द से स्वीकार किया है। वैसे 'रासक' का उल्लेख संस्कृत के अठारह उपरूपकों में मिलता है। अतः यह एक उपरूपक होता है, जिसमें एक अग होता है, जो हास्यरस-प्रधान होता है, जिसमें नायक मूर्ख तथा नायिका चतुर होती है और जिसमें सूत्रधार नहीं होता। परन्तु डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसका सम्बन्ध हेमचन्द के 'काव्यानुशासन' में उल्लिखित 'रासक' से स्थापित किया है और लिखा है—'पृथ्वीराज रासो चरित-काव्य तो है ही। वह रासो या रासक भी है। हेमचन्द ने 'काव्यानुशासन' में रासक को गेय रूपक माना है। ये गेय रूपक तीन प्रकार के होते थे—मसृण अर्थात् कोमल, उद्धत और मिश्र। रासक मिश्र गेय रूपक है।…………रासक आरम्भ में एक प्रकार के उद्धत-प्रयोग-प्रधान गेय रूपक को कहते थे, जिसमें थोड़ा-बहुत मसृण या कोमल प्रयोग भी मिले होते थे।……… 'पृथ्वीराज रासो' आरम्भ में ऐसा कथा-काव्य था जो प्रधान रूप से उद्धत-प्रयोग-युक्त गेय रूपक था। उसमें कथाओं के भी लक्षण थे और रासकों के भी।…………जिस प्रकार 'विलास' नाम देकर चरित-काव्य लिखे गये, 'रूपक' नाम देकर चरित काव्य लिखे गये, उसी प्रकार 'रासो' या 'रासक' नाम देकर भी चरित-काव्य लिखे गये।"

---

[१] **हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३२।**

इस प्रकार 'रासक' से ही 'रासो' शब्द बना है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र भी 'रासो' की व्युत्पत्ति 'रासक' से ही मानते हैं। आपका कहना है कि जिस प्रकार संस्कृत के 'घोटक' शब्द का ब्रजभाषा में 'घोड़ो' शब्द बन जाता है, वैसे ही 'रासक' का ब्रजभाषा में 'रासो' बना होगा। पं० चन्द्रवली पांडेय भी 'रासक' से 'रासो' का विकास सिद्ध करते हैं। उनका मत है कि जिस प्रकार संस्कृत के उपरूपक 'रासक' आदि दृश्य काव्य में नायक-नायिका अथवा नट-नटी के संवाद से श्रीगणेश होता है, वैसे ही "पृथ्वीराज रासो" भी चन्द और उनकी पत्नी गौरी के संवाद से आरम्भ हुआ है।

(६) **राजयश सम्बन्धी मत**—महामहोपाध्याय पं० हरप्रसादशास्त्री तथा श्री विंध्येश्वरी प्रसाद पाठक ने 'रासो' शब्द का विकास 'राजयश' से सिद्ध किया है। सम्भवतः 'राजयश' का अपभ्रंश रूप 'रायसा' हुआ होगा और उसी 'रायसा' से 'रासो' शब्द बना है।

इस प्रकार उक्त विभिन्न मतों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि न तो 'रासो' शब्द 'राजसूय' से निकला है, न यह 'रहस्य' का अपभ्रंश रूप है, न इसका विकास 'रसायण' से हुआ है, न इसे 'रास' से विकसित मान सकते हैं, और न यह 'राजयश' का अपभ्रंश रूप है, अपितु यह 'रासो' शब्द संस्कृत के 'रासक' शब्द से ही बना है, क्योंकि इसका ज्वलंत प्रमाण अब्दुर्रहमान कृत 'संदेश रासक' ग्रन्थ है। 'संदेश रासक' का श्रीगणेश जिस प्रकार से हुआ है, उसी प्रकार 'रासो' ग्रन्थों का भी आरम्भ मिलता है। यद्यपि 'संदेश रासक' में युद्ध का वर्णन नहीं मिलता, तथापि वह उद्धत-प्रयोग-प्रधान गेय रूपक है। इसी का आगे विकास हुआ है। पहले 'रासो' काव्यों की रचना उद्धत-प्रयोग-प्रधान गेय रूपकों के रूप में ही हुई होगी। धीरे-धीरे उनमें युद्ध और प्रेम का वर्णन होने लगा और फिर यह 'रासो' की परम्परा चल पड़ी। इसके लिए 'संदेश रासक' में आया हुआ 'रासउ' शब्द भी उल्लेखनीय है। वहाँ लिखा है—"कह बंहरु विणि वरउ रासउ भासियइ।" इस पंक्ति में 'रासउ' शब्द 'रासक' का ही अपभ्रंश रूप है। यही 'रासउ' शब्द भाषा-विज्ञान के सन्धि एवं एकीभाव सम्बन्धी नियम के अनुसार 'अ' तथा 'उ' की सन्धि हो जाने पर 'रासो' हो गया है अतः 'रासो' शब्द की उत्पत्ति 'रासक' से ही मानना सर्वथा समीचीन है।

'पृथ्वीराज रासो' की प्रमाणिकता और आधार

महाकवि चन्दवरदाई रचित 'पृथ्वीराज रासो' एक विशालकाय प्रबन्ध-काव्य है। हिन्दी में सर्वप्रथम नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित 'रासो' में ६९ समय अथवा सर्ग हैं और यह लगभग २५०० पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है। अब इस ग्रन्थ का प्रकाशन साहित्य-संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर की ओर से चार भागों में हो चुका है। इसके सम्पादक कविराव मोहनसिंह हैं। इसमें आदिकथा से लेकर पृथ्वीराज तथा शहाबुद्दीन गोरी के अन्तिम युद्ध एवं पृथ्वीराज के स्वर्गवास तक की कथा केवल ६१ समयों में दी गई है। इसका आरम्भ संवाद के रूप में हुआ है, जिसमें कवि चन्द और उसकी पत्नी में प्रेमपूर्वक विवाद छिड़ जाता है। कवि कहता है कि मैं दिल्लीपति के गुण और कीर्ति का आदि से अन्त तक सम्पूर्ण रूप से वर्णन

करूँगा।[1] परन्तु उसकी पत्नी यही कहती है कि हे चतुर स्वामी ! आप मन में ईश्वर का चिन्तन कीजिए। हे कवि ! उसके सामने दिल्ली-नरेश चौहान की कीर्ति क्या है ? मानव-शरीरधारी को मन से हरि-रस का ही लाभ लेना चाहिए।[2] तत्पश्चात् सं० २०२० वि० सन् १९६३ में पृथ्वीराज रासउ' का एक सर्वथा नवीन एवं वैज्ञानिक संस्करण साहित्य-सदन, चिरगाँव झाँसी से प्रकाशित हुआ जिसके सम्पादक पाठालोचन के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० माताप्रसाद गुप्त हैं। इसमें केवल १२ सर्ग हैं और मंगलाचरण से लेकर शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज के अन्त तक सारी कथा केवल ६२८ पृष्ठों में दी गई है। यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में आदि महाकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित है। पहले तो इस ग्रन्थ का सम्पूर्ण हिन्दी-क्षेत्र में बड़ा आदर एवं सम्मान था और 'संयोगिता-स्वयंवर' तथा 'पृथ्वीराज द्वारा गोरी-वध' की कथाएँ इतनी अधिक प्रचलित थीं कि इन कथाओं के आधार पर कितने ही नाटकों का निर्माण हुआ और कितनी ही कम्पनियों द्वारा उनका अभिनय भी बड़ी लगन के साथ किया गया। पहले कर्नल टॉड तथा गार्सां-द-तासी भी इसे प्रमाणित मानते थे। परन्तु हस्तलिखित प्रतियों की खोज करते समय सन् १८०५ ई० में डा० बुलर को कश्मीर में एक जयानक कवि द्वारा लिखित 'पृथ्वीराज-विजय' नामक संस्कृत महाकाव्य शारदा लिपि में लिखा हुआ प्राप्त हुआ। इस ग्रन्थ पर द्वितीय राजतरंगिणी के कर्ता जोनराज की टीका भी मिली। इस ग्रन्थ के आधार पर जब डा० बुलर ने 'पृथ्वीराज रासो' की परीक्षा कराई, तब यह ग्रन्थ अनैतिहासिक एवं अप्रमाणिक ज्ञात हुआ। इसी को आधार बनाकर प्रसिद्ध इतिहासकार पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने तो यहाँ तक लिखा कि "पृथ्वीराज रासो बिल्कुल अनैतिहासिक ग्रन्थ है। उसमें राजपूतों की उत्पत्ति की कथा, चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता, भाई-बहिन, पुत्र और रानियों आदि के विषय की कथाएँ तथा बहुत-सी घटनाओं के संवत् अशुद्ध और कल्पित हैं।" फिर क्या था, रासो की प्रामाणिकता पर सन्देह होने लगा और कितने हो विद्वान इसको अप्रमाणिक एवं जाली सिद्ध करने का प्रयत्न करने लगे। रासो को अप्रमाणित एवं जाली मानने वालों में से जोधपुर के कविराजा मुरारीदीन, उदयपुर के कविराजा श्यामलदास, डा० बुलर, मुं० देवीप्रसाद, श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पं० रामचन्द शुक्ल तथा डा० रामकुमार वर्मा प्रमुख हैं। उक्त विद्वानों ने मुख्यतया इन चारों बातों को लेकर 'पृथ्वीराज रासो' को अप्रमाणित सिद्ध किया है :—

---

[1] समयं एक निसि चंदं, वामं वत्त वद्दि रसयाई।
दिल्ली ईस गुनेयं, कित्ती कहूँ आदि अन्ताई॥
—पृथ्वीराज रासो, १।७२

[2] चित्रन न हारे च्यति मन रे चतुरंगी नाह।
का चहुवान सुकित्ति कवि, मन मनुक्छि हरि लाह॥
—पृथ्वीराज रासो, १।७३

१. ऐतिहासिक तथ्य सम्बन्धी अशुद्धियाँ,
२. तिथियों की त्रुटियाँ,
३. भाषा की अनेकरूपता एवं अस्थिरता,
४. कवि की अनैतिहासिकता।

(१) ऐतिहासिक तथ्य सम्बन्धी अशुद्धियाँ—चन्दवरदाई रचित उपलब्ध 'पृथ्वीराज रासो' की जयानक कृत 'पृथ्वीराज विजय' 'हम्मीर महाकाव्य', तत्कालीन शिलालेख आदि से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि उसमें कितने ही स्थलों पर ऐतिहासिक तथ्य सम्बन्धी अशुद्धियाँ भरी पड़ी हैं; जो इस प्रकार हैं :—

१—रासो में राजपूतों की वंशावली का जो वर्णन मिलता है, वह सर्वथा अनर्गल जान पड़ता है, क्योंकि 'पृथ्वीराज रासो' में जिन चौवालीस नामों का उल्लेख किया गया है, उनमें से केवल सात नाम ही बिजोलियाँ के शिलालेख तथा जयानक कृत 'पृथ्वीराज विजय' में मिलते हैं, शेष सभी नाम कपोल-कल्पित हैं।

२—रासो में चौहानों की उत्पत्ति वसिष्ठ द्वारा रचे हुए यज्ञकुंड से बतायी गई है, जबकि 'पृथ्वीराज विजय' में चौहानों को सूर्यवंशी कहा गया है, जिसकी पुष्टि अजमेर के 'ढाई दिन के झोंपड़े' की मस्जिद से प्राप्त शिलालेख से भी हो जाती है, क्योंकि उसमें चौहानों को सूर्यवंशी बताया गया है।

३—रासों में पृथ्वीराज की माता का नाम कमला है तथा उसे दिल्ली के राजा अनंगपाल की पुत्री बताया गया है, परन्तु 'हम्मीर महाकाव्य' तथा 'पृथ्वीराज विजय' में पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी दिया हुआ है और उसे त्रिपुरी के हैहयवंशी राजा 'तेजल' (अचलराज) की पुत्री कहा गया है।

४—रासो में पृथ्वीराज को ११ वर्ष की अवस्था से लेकर ३६ वर्ष की अवस्था तक १४ विवाह करते हुए बताया गया है; जबकि ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यही ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज केवल ३० वर्ष की अवस्था तक ही जीवित रहे थे और ११ वर्ष की अवस्था में पृथ्वीराज ने मंडोवर के जिस राजा पड़िहार नाहरराय की पुत्री से विवाह किया था, वह राजा नाहरराय पृथ्वीराज से कई सौ वर्ष पूर्व हुआ था।

५—रासो में पृथ्वीराज की बहिन पृथा का पाणिग्रहण मेवाड़ के राजा समरसिंह के साथ बताया गया है और लिखा है कि यह राजा समरसिंह शहाबुद्दीन गोरी के साथ युद्ध में मारा गया था, परन्तु समरसिंह के समय के उपलब्ध आठ शिलालेखों से पता चलता है कि एक राजा समरसिंह १३३० वि० में तथा दूसरा राजा समरसिंह १३५८ वि० में हुआ था। अतएव स्पष्ट है कि राजा समरसिंह द्वितीय पृथ्वीराज की मृत्यु के लगभग १०६ वर्ष बाद तथा प्रथम ८१ वर्ष पश्चात् हुआ था। ऐसी दशा में पृथाबाई के विवाह की कथा-कपोल कल्पित जान पड़ती है।

६—रासो में पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर की मृत्यु गुजरात के राजा भीम द्वारा बताई गई है और लिखा है कि अपने पिता का बदला लेने के लिए पृथ्वीराज ने गुजरात पर चढ़ाई की तथा भीमदेव को मारा और उसके पुत्र कचराराय को गद्दी पर

बैठाकर गुजरात के कुछ परगने अपने राज्य में मिला लिए। ये दोनों बातें अनर्गल जान पड़ती हैं, क्योंकि 'प्रबन्ध-कोष' एवं शिलालेखों से यह सिद्ध होता है कि सोमेश्वर की मृत्यु १२३६ वि० में हुई थी और भीमदेव १२३५ वि० में बिल्कुल बाल्यावस्था में ही गुजरात की गद्दी पर बैठा था। इतनी छोटी अवस्था में भीमदेव कभी सोमेश्वर का वध नहीं कर सकता। साथ ही शिलालेखों से पता चलता है कि राजा भीम पृथ्वीराज की मृत्यु ने ५० वर्ष बाद तक जीवित रहा। अतः पृथ्वीराज द्वारा उसका वध किये जाने की कथा भी कपोल-कल्पित ठहरती है।

७—रासो में कन्नौज के राजा जयचन्द के राजसूय यज्ञ तथा संयोगिता-स्वयंवर की कथा का बड़े विस्तार के साथ वर्णन मिलता है। परन्तु इसका उल्लेख न तो तत्कालीन शिलालेखों से मिलता है और न 'पृथ्वीराज विजय' तथा अन्य सामाजिक ग्रन्थों में ही मिलता है। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के मतानुसार यह कथा पूर्णतया कपोल-कल्पित है। इसमें सत्य इतना ही है कि पृथ्वीराज तथा जयचन्द दोनों समकालीन राजा थे।

८—रासो में लिखा है कि दिल्ली के राजा अनंगपाल ने अपने दौहित्र पृथ्वीराज को गोद लेकर सं० ११३८ वि० में उसे दिल्ली का राज्य दे दिया था, परन्तु इतिहास इस बात की पुष्टि करता है कि दिल्ली का राज्य बीसलदेव ने पृथ्वीराज के पूर्व ही अपने राज्य में मिला लिया था।

९—रासो में शहाबुद्दीन गोरी का वध पृथ्वीराज के शब्द-बेधी बाण द्वारा गजनी में बताया गया है। परन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि शहाबुद्दीन गोरी गक्खरों के हाथ से सं० १२६३ वि० में धमेक नामक स्थान पर शहा मारा गया था और पृथ्वीराज की मृत्यु सं० १२४९ वि० में हुई थी।

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि 'पृथ्वीराज रासो' में अनेक अनैतिहासिक एवं कपोल-कल्पित बातें भरी हुई हैं। यदि चन्दवरदाई पृथ्वीराज के समसामयिक कवि होते और उसी समय इस ग्रन्थ की रचना करते, तो ऐसी अशुद्धियाँ कभी नहीं मिलतीं।

(२) **तिथियों की त्रुटियाँ**—ऐतिहासिक तथ्य सम्बन्धी अशुद्धियों के अतिरिक्त रासो में जो तिथियाँ दी गई हैं, वे भी सर्वथा भ्रामक एवं अप्रामाणिक हैं, क्योंकि उनमें से किसी भी तिथि की पुष्टि तत्कालीन इतिहास-ग्रन्थों एवं शिलालेखों से नहीं होती। जैसे रासो में पृथ्वीराज का जन्म सं० ११५५ वि० में दिया गया है, जबकि ऐतिहासिक दृष्टि से पृथ्वीराज का जन्म सं० १२२० में अथवा उसके कुछ पीछे सिद्ध होता है, क्योंकि 'पृथ्वीराज विजय' के अनुसार अपने पिता सोमेश्वर के देहान्त के समय (वि० १२३६ में) पृथ्वीराज बालक था। रासो में सं० ११३८ वि० में पृथ्वीराज का दिल्ली की गद्दी पर बैठना, सं० ११५१ वि० में कन्नौज गमन तथा सं० ११५८ वि० में शहाबुद्दीन गोरी से अन्तिम युद्ध होना बताया गया है। किन्तु ऐतिहासिक विवरणों एवं शिलालेखों से पता चलता है कि सं० १२२९ वि० में पृथ्वीराज को दिल्ली का राज्य मिला था, ५७८ हिजरी अर्थात् सं० १२४८ वि में शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी गजनी से

लाहौर आया था। और सं० १२४६ वि० में पृथ्वीराज की मृत्यु हुई थी। अतएव उक्त किसी भी संवत् से रासो के संवत् नहीं मिलते। इसीलिए रासो को अप्रामाणिक बताया गया है।

(३) **भाषा की अस्थिरता**—तिथियों के अतिरिक्त रासो की भाषा को देखकर भी उक्त विद्वानों की यही राय है कि रासो पृथ्वीराज के समय की रचना नहीं है, क्योंकि प्रथम तो रासो में दस प्रतिशत अरबी फारसी शब्द मिलते हैं, जो किसी भी प्रकार चन्द के समय में प्रयुक्त नहीं होते थे। दूसरे, रासो की भाषा में स्थिरता नहीं है, क्योंकि कहीं वह अनुस्वारान्त है, जैसे—'ढिल्ली वै स्वपनंतं मातं कहिए प्रगट विप्पायं, कहीं संस्कृतमयी है, जैसे—"शुभे दिवसे शुभं वार्त्ता, अशुभेच्छ शुभनिच"; कहीं उसमें प्राकृतमयता है, जैसे "गय भम्मि दवनिट्ठा, पामिज्जे पुण्य रेहायं"; कहीं उसका झुकाव अपभ्रंश की ओर है, जैसे—"पुज्जिय सु चन्द सुरइन्द जग, गवरि नंद दुख्खन तुरय" और कहीं पर वह ब्रजभाषामयी है जैसे—"जाय जसोदा सौं कह्यौं रहे राम बलवीर।" कुछ शब्दों के नये रूप हैं तथा उनमें पुराने ढंग की विभक्तियाँ लगाई गई हैं। इसी कारण ओझाजी ने तो यहाँ तक लिखा है कि "इसकी डिंगल भाषा में जो कहीं-कहीं प्राचीनता का आभास होता है, वह तो डिंगल की विशेषता ही है, जिसका बीसवीं सदी में सूर्यमल कृत 'वंशभास्कर' प्रत्यक्ष उदाहरण है।" अतः भाषा के आधार पर रासो को प्राचीन एवं प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। ओझाजी तो इसी कारण इसे सं० १५१७ से १७३२ वि० तक की रचना मानते हैं।

(४) **कवि की अनैतिहासिकता**—भाषा के अतिरिक्त चन्द कवि भी रासो को अप्रमाणिकता को सिद्ध करता है, क्योंकि चन्दवरदाई पृथ्वीराज का सखा और राजकवि होता, तो उसका उल्लेख जयानक कृत 'पृथ्वीराज विजय' में अवश्य मिलना चाहिए था। परन्तु वहाँ चन्द का उल्लेख न होने के कारण यही सिद्ध होता है कि यह चन्द नाम का कोई कवि पृथ्वीराज के बाद में ही हुआ है, जिसने स्वयं को पृथ्वीराज का समकालीन बनाने के लिए तथा अपने ग्रन्थ को प्राचीन सिद्ध करने के लिए अपने को पृथ्वीराज का सखा तथा राजकवि घोषित किया है। 'पृथ्वीराज विजय' में पृथ्वीराज के मुख्य भाट अथवा बन्दीजन का नाम 'पृथ्वीभट्ट' दिया गया है, चन्द नहीं। इसके अतिरिक्त 'पृथ्वीराज विजय' के पाँचवें सर्ग में एक श्लोक के अन्तर्गत जो 'चन्द्रराज' शब्द आया है, उसमें यमकालंकार द्वारा 'चन्द्रक' कवि की ओर संकेत किया गया है, जिसका उल्लेख कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने भी किया है।[1] इसीलिए ओझाजी चन्दवरदाई को पृथ्वीराज का समकालीन कवि तक नहीं मानते और उसके महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' को अप्रामाणिक घोषित करते हैं।

---

[1] तनयश्चन्द्रराजस्य चन्द्रराज इवाभवत ।
संग्रहं यस्सुवृत्तानां सुवृत्तानमिव व्यधात ॥
—पृथ्वीराज विजय, सर्ग ५।

'पृथ्वीराज रासो' की उक्त सभी अप्रामाणिकताओं के विरुद्ध विद्वानों का एक दूसरा वर्ग भी है, जो रासो को सर्वथा प्रामाणिक एवं ऐतिहासिक ग्रन्थ सिद्ध करता है। इस वर्ग के विद्वानों में से सर्वश्री मिश्रबन्धु, डा० श्यामसुन्दरदास, मोहनलाल, विष्णुलाल पांड्या, रमाकान्त त्रिपाठी, डा० दशरथ शर्मा, अगरचन्द्र नाहटा, कविराज मोहनसिंह आदि प्रसिद्ध हैं। इन विद्वानों ने रासो की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित मत दिए हैं :

(१) **ऐतिहासिक तथ्य सम्बन्धी मत**—रासो के ऐतिहासिक तथ्यों की प्रामाणिकता सिद्ध करते हुए सर्वप्रथम मिश्रबन्धुओं एवं डा० श्यामसुन्दरदास ने बताया है कि रासो में जो ऐतिहासिक तथ्य सम्बन्धी अशुद्धियाँ बतायी जाती हैं, वे वास्तविक नहीं हैं, क्योंकि नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की ओर से प्रकाशित तत्कालीन पट्टे-परवानों से उन तथ्यों की पुष्टि हो जाती है, जिन्हें विद्वान् भ्रान्तिवश अशुद्ध बताते हैं। उक्त विद्वानों का कथन है कि "यदि ओझाजी इन पट्टे-परवानों को जाली मानते हैं, तो यह उनका साहस मात्र है।" हाँ, इतना सत्य है कि रासो में कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन अवश्य मिलता है और कुछ प्रक्षिप्त अंश भी विद्यमान हैं, जिनके कारण ये त्रुटियाँ आ गयी हैं।

दूसरे, डा० दशरथ शर्मा ने 'हम्मीर काव्य' तथा 'सुर्जन चरित' से कुछ अंश उद्धृत करके यह सिद्ध कर दिया है कि 'पृथ्वीराज रासो' की अधिकांश घटनाएँ उक्त ग्रन्थों में भी मिल जाती हैं। जैसे 'सुर्जन चरित' में आई हुई कांतिमती के स्वयंवर की कथा 'संयोगिता स्वयंवर' के ही समान है। कन्नौज-राजकुमारी कांतिमती को ही यदि संयोगिता मान लिया जाय, तो यह विवाद समाप्त हो सकता है। इसके साथ ही डा० दशरथ शर्मा ने जैन ग्रन्थ 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' (१५२८ वि०) से भी एक प्रबन्ध का सार उद्धृत करते हुए यहाँ तक सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वीराज सोमेश्वर का पुत्र था, वह दिल्ली का शासक था और जयचन्द का शत्रु था। उसने ग़जनी के शासक को सात बार पराजित किया, पकड़ा और छोड़ दिया। अन्तिम युद्ध में पृथ्वीराज पकड़ा गया तथा चन्द उस समय एक गुफा में बन्द था।

तीसरे, श्री अगरचन्द नाहटा ने 'पृथ्वीराज-प्रबन्ध' तथा 'वस्तुपाल-प्रबन्ध' से आधार पर यह सिद्ध किया है कि पृथ्वीराज और गोरी में युद्ध हुआ था तथा गोरी पृथ्वीराज को बन्दी बनाकर ग़जनी ले गया था।

चौथे, प्रोफेसर रमाकान्त त्रिपाठी ने चन्द के वंशधर श्री नानूराम भट्ट ने रासो की एक प्राचीन प्रति प्राप्त की है जो सं० १४५५ की है। उससे सिद्ध है कि रासो पन्द्रहवीं शताब्दी से पूर्व भी विद्यमान था। इससे ओझाजी की यह बात असत्य सिद्ध हो जाती है कि रासो सोलहवीं शताब्दी की रचना है।

पाँचवें, उदयपुर के कविराज मोहनसिंह ने भी रासो की प्रामाणिकता सिद्ध की है और 'साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्वविद्यालय पीठ उदयपुर' की ओर से 'पृथ्वीराज रासो' को चार भागों में हिन्दी टीका सहित प्रकाशित करा दिया है। आपने

अपने सम्पादकीय वक्तव्य में चौहान के मूलपुरुष का ब्रह्मयज्ञ के समय सूर्यमण्डल से अवतरित होना सिद्ध किया है तथा अन्य घटनाओं की पुष्टि भी तत्कालीन शिलालेखों आदि से की है।

(२) **तिथि सम्बन्धी मत**—रासो में उल्लिखित तिथियों की संगति बैठाने के लिए पं० मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या ने रासो में आई हुई पंक्ति "एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनन्द" के आधार पर एक अनन्द संवत् की कल्पना की है। अ=शून्य तथा नन्द=नौ, अर्थात् ९० वर्ष रहित विक्रम संवत् अर्थ लगाने पर 'पृथ्वीराज रासो' में वर्णित संवतों की गणना ठीक हो जायेगी, क्योंकि प्रत्येक संवत् में ९० या ९१ वर्ष जोड़ देने पर उस समय का ठीक-ठीक पता चल जायेगा। पांड्याजी का मत है कि समरसीं (समरसिंह) के पट्टे-परवानों में भी इसी आनन्द संवत् का प्रयोग मिलता है। वाप्पा रावल का संवत् भी इसी गणना द्वारा निकाला जा सकता है। परन्तु शुक्लजी तथा अन्य विद्वान् इसे क्लिष्ट कल्पना कहते हैं, क्योंकि इससे पृथ्वीराज के जन्म तथा मृत्यु संवत् के अतिरिक्त अन्य किसी संवत् की गणना ठीक नहीं बैठती।

उदयपुर के कविराज मोहनसिंह का कथन है कि "आनन्द संवत्" को अपने ग्रंथ में स्थान देकर कवि (चन्द) ने विद्वानों को भ्रम में डाल दिया है। उसने उसे स्पष्ट शब्दों में आनन्द राज के पराक्रम का शकुन लिखकर "विक्रम शक्र अनन्द" दिया, जो वास्तव में अनन्दराज (सम्भवतः चाहुवान वंश के मूल पुरुष अनल का शुद्ध रूप या इसी वंश में कोई अनन्दराज) के प्रसिद्ध कार्य की स्मृति में यह संवत् दिल्ली राज्यांतर्गत पृथ्वीराज समय तक चलता रहा था, उसी का उल्लेख किया। तँवर अनंगपाल के स्तम्भ वाले लेख में इसे 'दिल्ली संवत्' भी लिखा है और रासो के ही पद्मावती समय में इसी संवत् को 'साख संवत्' (सगोत्रीय संवत्) भी कहा है। अतः इस संवत् का निर्माण पृथ्वीराज के पूर्व पुरुष की स्मृति में ही होना स्पष्ट है।………यह आनन्द संवत् पीपली (मेवाड़) के आचार्य (दाधीच ऋषिकेश के वंशजों) के पट्टे-परवानों में भी है, जो सं० ११४३ से लेकर ११५७ वि० तक के हैं, जिन सब में ९१ वर्ष जोड़ दिये जायें तो वे सब पृथ्वीराज के राज्यकाल में ही लिखे गये थे—यह स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार कुतुबुद्दीन की मस्जिद के अहाते में पड़े हुए लौह-स्तम्भ पर "दिल्ली संवत् ११०९ अनंगपाल बही" लिखा है। अतः इसमें भी ९१ वर्ष जोड़ देने से वि० सं० १२०० में अनंगपाल का होना सिद्ध होता है।………अस्तुः पृथ्वीराज के जन्म संवत् और अन्तिम संवत् को वि० सं० निर्धारित करने में आनन्द संवत् में ९१ वर्ष जोड़ने से ही वह ग्रन्थि सुलझ सकती है। इसी प्रकार रासो में बीच की घटनाओं के संवतों को भी सुलझाया जा सकता है।"[१] इस तरह तिथि सम्बन्धी वह भ्रान्ति दूर हो सकती है, जो रासो को अप्रामाणिक सिद्ध करती है।

(३) **भाषा सम्बन्धी मत**—रासो की भाषा के बारे में मिश्रबन्धुओं ने डा० श्यामसुन्दरदास से सहमत होकर लिखा है कि शहाबुद्दीन गोरी से लगभग पौने-दो-सौ

---

[१] पृथ्वीराज रासो (भाग १)—सम्पादकीय, पृ० ३।

वर्ष पूर्व महमूद गजनवी भारत में लूट-मार करने आ चुका था। गजनवी से भी तीन-सौ वर्ष पूर्व सिंध और मुल्तान में मुसलमानों का अधिकार हो चुका था और वे भारत में व्यापार करने लगे थे। पंजाब भी मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित हो चुका था। उधर चन्दवरदाई लाहौर के रहने वाले थे। अतः बचपन में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग उनकी बोलचाल में होने लगा होगा। दूसरे, रासो का अधिकांश भाग प्रक्षिप्त भी है और प्रक्षिप्त अंशों में अरबी-फारसी के शब्दों की बहुलता का होना स्वाभाविक है। इसलिए रासो के शब्दों की नवीनता जहाँ उसकी अर्वाचीनता की ओर संकेत करती है, वहाँ उसके प्राचीन शब्द-रूप उसकी प्राचीनता के भी द्योतक हैं। इसके अतिरिक्त रही अनेकरूपता एवं अस्थिरता की बात, तो इसके लिए स्वयं कवि चन्द ने ही कह दिया है कि "षट्-भाषा पुराणं च, कुराण कथितं मया" अर्थात् मैंने प्राचीन षड् भाषाओं और कुरान अर्थात् यवन भाषा में वर्णन किया है। अतएव रासो में विभिन्न भाषाओं का सम्मिश्रण होना तो नितान्त स्वाभाविक है। रासो की भाषा का यह रूप भी उसकी प्राचीनता को ही सिद्ध करता है, क्योंकि उस समय तक हिन्दी का सुस्थिर रूप नहीं बना था।

(४) **कवि सम्बन्धी मत**—रासो को प्रामाणिक सिद्ध करने वाले विद्वानों की राय है कि जिस ग्रन्थ के आधार पर चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन नहीं माना जा रहा है, वह जयानक कृत 'पृथ्वीराज विजय' ग्रंथ ही अभी खण्डित रूप में उपलब्ध है। यदि वह पूर्ण रूप में मिल जाता, तभी यह बात कुछ सङ्गत मानी जा सकती थी। हो सकता है कि शेष ग्रंथ में कवि चन्द का नाम आया हो। दूसरे अभावात्मक साक्षी कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती। हो सकता है कि कवि चन्द की जयानक से प्रतिद्वन्द्विता रही हो। इसी से उसने चन्द का नाम अपने ग्रन्थ में न दिया हो। तीसरे, एक सम्भावना की ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी संकेत किया है कि सम्भवतः चन्द पृथ्वीराज के दरबार में जयानक के आगमन के उपरान्त ही आया हो। चौथे, कविराय मोहनसिंह का कथन है कि "कवि चन्द का पूरा नाम पृथ्वीचन्द या पृथ्वीभट्ट था। इसीलिए रासो में कुछ स्थानों पर उसके लिए 'पहुमि-बन्दीजन' और 'पृथ्वी-कवि' आदि नामों का प्रयोग मिलता है। कविता में वह अपना नाम सूक्ष्म रूप में 'चन्द' लिखता था।"[१] यदि यह सत्य है तो 'पृथ्वीराज विजय' में लिखे हुए 'पृथ्वीभट्ट' ही कवि चन्द हैं और फिर किसी बात की शंका के लिए स्थान नहीं रहता।

इस प्रकार रासो को प्रामाणिक एवं अप्रामाणिक मानने वाले विद्वानों के समस्त मतों पर विचार करने के उपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये सब भ्रम रासो की प्रामाणिक प्रति के उपलब्ध न होने के कारण फैले हुए हैं। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि "इस काल की कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं, जिन्हें हम अर्द्ध-प्रामाणिक कह सकते हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' है। रासो की घटनाओं को ऐतिहासिक सिद्ध करना व्यर्थ है। इसका

---

[१] पृथ्वीराज रासो (भाग १)—सम्पादकीय, पृ० १४।

अपना महत्त्व है। मुनि जिनविजय ने 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' में चन्द के नाम से जो चार छप्पय प्रकाशित किये हैं, वे वर्तमान रासो में भी विकृत रूप में विद्यमान हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि रासो अत्यन्त प्राचीन है। इसके साथ ही रासो का अध्ययन करने के बाद और काव्यरूपों को ध्यान में रखकर देखने से ऐसा लगता है कि यद्यपि चन्द के मूल वचनों को खोज लेना अब भी कठिन है, तथापि उसमे क्या-क्या वस्तुएँ थीं और कौन-कौन-सी कथाएँ थीं, इस बात का पता लगा लेना उतना कठिन नहीं है।" इसी सन्दर्भ में डा० माताप्रसाद गुप्त का यह मत भी उल्लेखनीय है कि "रासो सम्पूर्ण रूप से ऐतिहासिक रचना नहीं है, उसके अनेक उल्लेख या विस्तार अवश्य ही कल्पना-प्रसूत हैं और इतिहास से समर्थित नहीं हैं। फिर भी अपने व्यापक रूप में, वह एक ऐसे जिम्मेदार कवि की रचना प्रतीत होती है जिसने हिन्दू-सूत्रों से प्राप्त सामग्री का यथेष्ट सावधानी के साथ उपयोग किया और कथानक के समय के बाद किसी घटना अथवा किसी व्यक्ति का घाल-मेल कथा में नहीं किया। 'रासो' के कवि की इन दोनों विशेषताओं पर विचार करने पर ज्ञात यह होता है कि निस्संदेह वह पृथ्वीराज का समकालीन तो नहीं था, किन्तु बहुत बाद का भी नहीं था और उसने रचना यद्यपि काव्य की दृष्टि से अधिक और इतिहास की दृष्टि से कम की, फिर भी सुलभ सामग्री का उपयोग जिम्मेदारी और कुशलता कें साथ किया है।" अतएव 'रासो' की प्रामाणिकता पर भले ही विद्वान् भिन्न-भिन्न प्रकार के मत प्रकट करते रहें, किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि चन्द और पृथ्वीराज का संयोग अवश्य हुआ था और पृथ्वीराज ने चन्द को अपनाकर जहाँ अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया, वहाँ चन्द ने भी अपने सखा एवं सम्राट की जीवन-गाथा को अमर बनाकर अपने कर्तव्य का पूर्णरूप से पालन किया, जिसके परिणामस्वरूप चन्दवरदाई का नाम साहित्य के क्षेत्र में सदैव अजर-अमर बना रहेगा।

'पृथ्वीराज रासो' का महाकाव्यत्व एवं काव्य-सौष्ठव

'पृथ्वीराज रासो' एक विशालकाय ग्रन्थ है, जिसमें महाकाव्य के सभी लक्षण विद्यमान हैं, क्योंकि इसके काशी वाले संस्करण में ६९ समय (सर्ग) हैं, उदयपुर वाले संस्करण में ६१ समय हैं और डा० माताप्रसाद गुप्त वाले संस्करण में केवल १२ सर्ग हैं। इसका कथानक भारतीय शूर-सामन्तों की वीरता, शौर्य-सम्पन्न विजय एवं पराक्रमपूर्ण गौरव-गाथा से अनुस्यूत है। इसका नायक हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान क्षमा, दया, गांभीर्य, रूप-सौंदर्य, यौवन, उत्साह, ओज, तेज, स्वाभिमान आदि गुणों से विभूषित, उच्चकुलोद्भव तथा क्षत्रिय वंश का गौरव है। इसमें शृंगार, वीर, शान्त, अद्‌भुत, वीभत्स आदि सभी रसों का आह्लादकारी वर्णन मिलता है, किन्तु प्रधानता वीर एवं शृंगार रस की है। इसमें नाटक की सभी सन्धियाँ विद्यमान हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चतुर्वर्ग में से इसका फल तो मोक्ष है, किन्तु शेष तीनों उस फल के साधक होने के कारण इस काव्य में अत्यन्त सफलता के साथ वर्णित हैं। इसमें मंगलाचरण, खल-निन्दा, सज्जन-प्रशंसा आदि का भी उल्लेख मिलता है। इसके

साथ ही इसमें संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, यात्रा, युद्ध, मन्त्र-तन्त्र, ऋतु आदि के वर्णनों की प्रचुरता है और ये सभी वर्णन अत्यन्त चित्ताकर्षक हैं। इसका नामकरण इसके चरित-नायक पृथ्वीराज के आधार पर ही किया गया है तथा शेष सर्गों के नाम घटना विशेष के आधार पर दिये गये हैं। भारत के महान् वीर, अदम्य उत्साही एवं यशस्वी सम्राट पृथ्वीराज के धवल यश का गान करना ही इसका महान् उद्देश्य है। तत्कालीन समाज की राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं दार्शनिक स्थिति का सजीव चित्र अंकित करना ही उसका परम लक्ष्य है और उच्चकोटि की कलाभिव्यक्ति द्वारा तत्कालीन साहित्यिक परम्परा के उज्ज्वल स्वरूप की झाँकी अंकित करना ही इसका महान् साहित्यिक प्रयोजन है यद्यपि इस ग्रन्थ के प्रक्षिप्त अंशों ने इसकी प्रामाणिकता एवं ऐतिहासिकता पर तीव्र कुठाराघात किया है, तथापि इसके वर्णन में रसानुभूति की पूर्ण क्षमता है। यह ग्रन्थ कवि की प्रौढ़ अनुभूति एवं उर्वर प्रतिभा का द्योतक है। इतिहास एवं कल्पना के मणि-कांचन योग ने इस तथ्य को और भी उत्कृष्ट बना दिया है। यह ग्रन्थ राष्ट्रीय भावों को उद्‌बुद्ध करने तथा वीर भावनाओं को जाग्रत करने की महती प्रेरणा से लिखा गया है। इसलिए इस काव्य की महत्ता अक्षुण्ण है, इसका गौरव चिरस्थायी है, इसका प्रभाव शाश्वत है और इन सभी विशेषताओं का मूल कारण इसका अद्वितीय काव्य-सौष्ठव है, जो अत्यन्त उन्नत एवं उच्चकोटि का है तथा जिसे निम्न शीर्षकों में विभक्त करके भली प्रकार देखा जा सकता है—

(१) वस्तु-वर्णन,
(२) प्रकृति-चित्रण,
(३) भाव एवं रस का निरूपण,
(४) अलंकार-निरूपण,
(५) छन्द-योजना।

(१) **वस्तु-वर्णन**—'पृथ्वीराज रासो' का विशाल कलेवर विभिन्न प्रकार के वस्तु-वर्णनों से विभूषित है। इसमें वस्तु-वर्णनों का ऐसा ताँता लगा हुआ है कि पाठक कवि के उन वर्णनों में एक अद्‌भुत आनन्द का अनुभव करता हुआ विचरण करता रहता है, मानो वह विभिन्न पुष्पों से सुशोभित किसी विशाल उद्यान में आनन्द-विभोर होकर घूम रहा हो। इसके वस्तु-वर्णनों में भिन्नता है, सरसता है, विविधता है और विदग्धता भी है। इसमें कहीं विशाल नगरों के भव्य वर्णन हैं तो कहीं सरिता एवं सरोवरों से युक्त वन-प्रदेश के सुरम्य वर्णन हैं, कहीं गङ्गा-तट का आह्लादकारी वर्णन है तो कहीं यमुना-तट के साथ-साथ पनघट का अत्यन्त सजीव वर्णन है, कहीं राज-दरबार की शान-शौकत का विस्तृत वर्णन है तो कहीं बारात, अगवानी, द्वाराचार, जनवासा, मण्डप, मंगल-गीत, दान-दहेज आदि के साथ-साथ विवाह-संस्कार का सजीव वर्णन मिलता है। ऐसे ही इसके विभिन्न उत्सवों के वर्णन, युद्ध की तैयारियों

के वर्णन, युद्ध-क्षेत्र के वर्णन, मांगलिक कार्यों के वर्णन, दावत एवं सहभोज के वर्णन, विभिन्न आचार-विचार के वर्णन, मन्त्र-तन्त्र के वर्णन, शकुन-अपशकुन के वर्णन, व्यूह-रचनाओं के वर्णन, शूर-सामन्तों के हास-परिहास, उल्लासविलास, पराक्रम-विजय आदि के वर्णन भरे पड़े हैं। सारा रासो-ग्रन्थ अन्यान्य वर्णनों से सुसज्जित होने के कारण महाकाव्य की गुरुता एवं गम्भीरता से ओत-प्रोत दिखाई देता है। परन्तु कवि ने अपने इन वस्तु-वर्णनों में से सबसे अधिक तीन वर्णनों को महत्त्व प्रदान किया है—(क) आखेट-वर्णन, (ख) युद्ध-वर्णन और (ग) विवाह-वर्णन।

(क) आखेट-वर्णन—कविवर चन्द ने 'रासो' में पृथ्वीराज के आखेट खेलने का बड़ा ही सजीव एवं मार्मिक वर्णन किया है। कवि ने लिखा है कि पृथ्वीराज शिकार खेलने में पवन के समान फुर्तीले थे। उनके साथ प्रायः डोरी से बँधे हुए उनके शिकारी कुत्ते जाया करते थे और आगे चलकर वे प्रत्येक शिकार को सूँघकर ही भाँप लिया करते थे। जिस समय पृथ्वीराज शिकार खेलने के लिए वन की ओर प्रस्थान किया करते थे, उस समय पदाघात, धनुष, ढाल, दुन्दुभी, रथों के पहिये, घोड़ों की हिनहिनाहट आदि में वन के मार्ग विपुल शब्द से ध्वनित हो उठते थे, वन के कितने ही मृग इधर-उधर फैल जाते थे और कितने ही दीन एवं कातर स्वर से चिल्लाने लगते थे। सारे वन में कोलाहल मच जाता था और सर्वत्र आतङ्क छा जाता था। इतना ही नहीं, कवि ने शिकार के लिए राजा के साथ जाने वाले शिकारी कुत्तों, चीतों तथा पालतू हिरनों की संख्या तक का भी उल्लेख किया है कि पृथ्वीराज के साथ एक हजार शिकारी कुत्ते, एक सौ चीते और दो सौ पालतू हिरन जाते थे, जो गति में मन और पवन को भी पीछे छोड़ देने वाले थे।[1] एक स्थान पर तो कवि ने आखेट के समय का अत्यन्त मार्मिक एवं हृदय-द्रावक चित्र प्रस्तुत किया है, जिसमें वनैले पशुओं के कातर स्वर, उनकी हृदय की धड़कन, उनके आँखों का अविराम अश्रु प्रवाह, उनकी भयभीत अवस्था, उनकी कँपकँपी आदि का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्र अंकित करते हुए बताया है कि हहराकर भागते हुए हिरन थक गये और कातर स्वर से पुकारने लगे। वे डरकर प्राणों के मोह में पड़ गये और प्राण-विछोह की आशंका से आतुर हो गये। उनके हृदय में धड़कन होने लगी और आँखों के सामने अँधेरा छा गया। उनके मुख पर आँसुओं का सोता बहने लगा। वे चकित होकर देखते हुए दुःख से परिपूर्ण होकर तथा सिकुड़कर अपनी राह पकड़ने लगे। वे भयभीत होकर पत्ते के खड़कने पर चमक उठते थे, मानो उस क्षण उनका चित्त अस्थिर हो। कुँवर पृथ्वीराज की शिकार-क्रीड़ा से पशुगण पीपल के पत्ते के

---

[1] इक्क सहस सँग स्वान, इक्क सत चित्ते संग्रह।
उभय सत्त संग हरण, करत मन पवन सु भंगह ॥—४।५

समान थर्राते थे ।[1] इस प्रकार कवि ने सूक्ष्मता के साथ वन के जीव-जन्तुओं की स्थिति का अध्ययन करके आखेट के समय की उनकी स्थिति का बड़ा ही हृदयस्पर्शी वर्णन किया है ।

(ख) **युद्ध-वर्णन**—कवि चन्द ने युद्ध-वर्णन में अद्भुत कौशल का परिचय दिया है । इनके युद्ध-वर्णनों को पढ़कर ऐसा जान पड़ता है कि सारा रासो काव्य ही एक रणक्षेत्र है, जिसके प्रत्येक सर्ग के अन्तर्गत रण-दुन्दुभी एवं विजय-घंट की घनघोर ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है । कवि ने इसमें युद्ध की तैयारी से लेकर युद्ध-स्थल के प्रत्येक कार्य का अत्यन्त ब्यौरेवार वर्णन किया है । कवि स्वयं वीर योद्धा के रूप में अपने चरित-नायक के साथ रहा है । इसलिए वह जानता है कि युद्ध की तैयारी का समाचार पाते ही किस तरह सूर-सामंतों का चेहरा खिल उठता है, किस तरह वे घोड़े एवं हाथियों को पाखरों एवं झूलों से सजाने लगते हैं, किस तरह धनुष एवं प्रत्यंचाएँ चढ़ाई जाती हैं, किस तरह अस्त्र-शस्त्र की तैयारी होने लगती है, किस तरह शहनाइयों में सिंधुर राग बजने लगता है और कैसे वीर योद्धागण परस्पर बल का प्रदर्शन करते हुए युद्ध की उमंग से भर जाते हैं । कवि ने रासो काव्य में युद्ध की तैयारी के साथ-साथ-व्यूह-रचना का बड़ा ही अनुपम वर्णन किया है । उसने कहीं पर मयूर-व्यूह के बनाने का उल्लेख किया है, तो कहीं चक्र-व्यूह का । ऐसे ही कहीं पर गृह-व्यूह का वर्णन किया है, तो कहीं पर गरुड़-व्यूह का । 'गरुड़-व्यूह' का वर्णन करते हुए "पज्जून-चालुक्य" नामक समय में लिखा है कि कुरंभ के गरुड़-व्यूह में पैरों के स्थान पर यादव और प्रतिहार थे । परमारों ने पूँछ का रूप धारण किया था । भट्टीराजा की वीर सेना ने पिंड और पाँव के स्थान पर अधिकार जमाया था । पुण्डीरराय जंघा की जगह था । हृदय, नाखून, चोंच आँख और जिह्वा की जगह पर कुरंभी सेना खड़ी थी । हाथियों को कुचलने वाले वीर लौहाने ने गर्दन और नेत्र-ज्योति का स्थान ग्रहण किया था । इस प्रकार गरुड़-व्यूह की रचना करके पज्जून ने नवीन छत्र धारण किया और उसका भाई बलिभद्र आगे बढ़कर शत्रुओं पर झपटा ।[2]

---

१. हहक्कि हिरन्न हाविियब, हेरि कातर रव रट्टिय ।
अप्प त्रास भय मोह, विरह लग्गी चटपट्टिय ।।
हिय धरक्क धुंधरह, वरन लोइन्न जल निझ्झर ।
तक्कित चकित संकीत, समग संकरिय दुक्ख भर ।।
भैरत्त चमक्कत पत्तरव, खिनक चित्त जिम उक्खरै ।
खिल्लत सिकार पिथ कुँअर डर, पसु पींपर दल थक्कहरै ।।—६।५१

३. पग जद्दव परिहार, पुच्छ पामार सुधारिय ।
भट्टी सेन विखम्म पिंड पाव अधिकारिय ।।
जानु होइ पुंडीर, नक्ख उरमंस अंस करि ।
चंच अंख सुभ जीह, वीर कूरंभ पयद्धरि ।।
ग्रीवा सु जोति गज गाह गहि, लहि लोहानौ ठौर बर ।
छत्रह मुजीक पज्जून सजि, दौरि पर्‍यौ बलिभद्र वर ।।—३७।१७

व्यूह-रचना के अतिरिक्त कवि ने युद्ध-स्थल का आँखों देखा हाल भी लिखा है। कवि के उस वर्णन को देखकर स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह युद्ध की छोटी से छोटी घटना से पूर्णतया परिचित है। इसी से 'मेवाती मुंगलकथा' नामक समय में कवि ने युद्ध-स्थल का जीता-जागता चित्र अंकित करते हुए लिखा है कि "मुंगल तथा पृथ्वीराज में होने वाले भयंकर युद्ध के समय युद्ध-स्थल में कहीं-कहीं मस्त हाथी जमीन की ओर झुककर लड़खड़ा रहे थे। कहीं-कहीं योद्धा छल से घात करने के लिए छिप रहे थे। कहीं पर घायल सैनिक 'पानी-पानी' चिल्ला रहे थे। कोई योद्धा बहादुरों की भीड़ को रोक रहा था। कोई वीर मदिरा के नशे में चूर-सा होकर पृथ्वी पर झूम रहा था। किसी-किसी का कण्ठ श्रम से शुष्क हो गया था। कहीं-कहीं कायर चतुरंगिनी सेना को देखकर छिप रहे थे। परन्तु सोमेश्वर पुत्र पृथ्वीराज चौहान उस युद्ध में ऐसा अड़ा था जैसे समुद्र में तूफान आ गया हो। वह शत्रुओं का नाश करके यश-रूपी जहाज पर चढ़ गया और मुंगल को पृथ्वीतल से पकड़ कर बाहर निकाल लाया।"[1]

कवि के उक्त युद्ध-वर्णन में कितनी सजीवता है। सारा वर्णन हृदय पर एक स्थायी प्रभाव स्थापित कर देता है, क्योंकि इसमें गत्यात्मकता है, मार्मिकता है, स्वाभाविकता है और सबसे परे सूक्ष्म निरीक्षण की प्रवृत्ति विद्यमान है।

(ग) **विवाह-वर्णन**—'पृथ्वीराज रासो' में आखेट एवं युद्ध के अतिरिक्त विवाहों का वर्णन भी बड़ी तत्परता के साथ किया गया है। यहाँ राजा पृथ्वीराज दस राजकुमारियों से विवाह करते हैं और सभी विवाहों में लोक-प्रचलित सभी लोकाचारों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसी कारण इन विवाह-वर्णनों में गौरी-गणेश-पूजन से लेकर बारात, बारौठी, शाखोच्चार, कन्यादान, भाँवर, ज्यौनार, दान-दहेज, विदा आदि सभी भारतीय वैवाहिक पद्धतियों का सांगोपांग वर्णन मिलता है। 'इच्छिनी विवाह' समय में कवि ने आबू राजवंशी सलख जैत्र के यहाँ पृथ्वीराज की बारात के आगमन का तथा वहाँ पर दरवाजे के समय 'बारौठी' की रस्म का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'पृथ्वीराज के दूल्हावेश में द्वार पर पहुँचने के बाद कन्या के पिता की ओर से कई दस्तूर किये गए, जिनमें मेघ के समान घोर गर्जना करने वाले गिरि-तुल्य मदनोमत्त पाँच हाथी, पदन से भी अधिक वेगवन्त बीस ऐराको घोड़े, कटिप्रदेश तक लटकने वाला मणि-जटित जनेऊ, नग-जटित मुद्रिका या हथसंकल, हाथी पर चढ़ने के लिए सोने की बनी हुई छोटी-छोटी नसैनियाँ तथा अन्य विविध वस्तुएँ समधी को दी गईं, जिन्हें

---

[1] कहुँ ति मंत धर धुकहिं लुकहि कहुँ सुभट घात छल।
ठुकहि कालि कहु पत्र, कुकहि कहुँ सेन पाइ जल॥
रुकहि समर भट भीर, धुकहि घर मद्द छक्क जनु।
सुकहि कंठ श्रम समर, ढुकहि कातर फौजनि तनु॥
सोमेसराइ चहुवान सुअ, अरि समुंद जल बढ्ढयउ।
चढ्ढिय जिहाज जस जढ्ढि खल, मुंगलु महि गहि कढ्ढवउ॥—७।२१

देखकर सभी चकित रह गये।"[१] इतना ही नहीं, कवि ने वर और वधू के विभिन्न आभूषणों, वस्त्रों आदि का भी खूब बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है तथा ज्यौनार के समय परोसे जाने वाले—घी में पके हुए तथा तेल में पके हुए विभिन्न प्रकार के व्यंजनों का बड़ा ही विस्तृत वर्णन किया है।

इस प्रकार कवि के विवाह-वर्णनों को पढ़कर पता चलता है कि चन्दवरदाई विवाह-सम्बन्धी तत्कालीन रीति-रिवाजों से पूर्णतया परिचित थे। उन रीति-रिवाजों का स्वरूप आज भी उत्तरी भारत में विद्यमान है। अतएव रासो के ये विवाह-सम्बन्धी वर्णन भारत की प्राचीन विवाह-पद्धति के साथ-साथ भारत की सांस्कृतिक विशेषता के भी परिचायक हैं।

(२) **प्रकृति-चित्रण**—रासो में वस्तु-वर्णन के साथ-साथ प्रकृति की भी बड़ी ही मनोरम झाँकियाँ अंकित की गई हैं। रासोकार ने प्रकृति के स्वच्छन्द एवं उन्मुक्त स्वरूप का अवलोकन तो किया है, परन्तु परम्परा के अनुसार उसने प्रकृति के आलम्बन रूप की अपेक्षा उद्दीपन रूप को ही काव्य में अधिक स्थान दिया है। उद्दीपन रूप में आने के कारण यहाँ प्रकृति केवल भावों को उद्दीप्त करती हुई अंकित की गई है, किन्तु उसके स्वतन्त्र रूप के दर्शन रासो में कहीं भी नहीं होते। प्रकृति के इस उद्दीपन रूप के अन्तर्गत कवि ने षट्-ऋतुओं का वर्णन बड़े मनोयोग के साथ किया है। 'कनवज्ज' समय में तो कवि ने षट्-ऋतुओं के वर्णन द्वारा अपने अद्भुत काव्य-कौशल का परिचय दिया है। वहाँ पर पृथ्वीराज अपनी रानियों से कन्नौज जाने की अनुमति माँग रहे हैं और उनकी रानियाँ प्रत्येक ऋतु से उद्दीप्त होने वाले मनोभावों का वर्णन करके राजा पृथ्वीराज को रोक लेती हैं। इस तरह राजा छः ऋतुओं को क्रमशः अपनी छः रानियों के यहाँ व्यतीत करते हैं। सर्वप्रथम अपनी पटरानी—इच्छिनी से जब वे कन्नौज जाने की अनुमति माँगते हैं, तो राजा के जाने का समाचार पाते ही उधर तो रानी इच्छिनी के प्राण एवं उत्तर—दोनों ही एक साथ निकलने के लिए प्रतिस्पर्द्धा कर रहे हैं और इधर सौभाग्य से वसंत ऋतु अपने पूर्ण यौवन के साथ आ उपस्थित होती है। उसी समय रानी वसंत की अनुपम छटा का उल्लेख करती हुई कहती है कि इस समय वसंत आगमन के कारण आम्रवृक्षों पर बौर फूला हुआ है। कदम्बों की श्यामलता इतनी बढ़ गई है मानो दीर्घ यामिनी हो। मकरंद के वशीभूत भ्रमर बेसुध होकर भ्रमण कर रहे हैं। पवन के बहने के कारण मंजरियाँ इधर-उधर डोल रही हैं, जो विरह को

---

[१] पंच हस्ति मदवहि गिरंद गरुब गहरंत मेघ जनु।
तुरिय बीस ऐराक, तेज तन अगिनि पवन मनु॥
जर कंमर जंनेउ, हथ्थ-संकर नग मण्डित।
सत्त सुखम परिकाल, हेम तंतुनि तनि छण्डित॥
बारोठि विवह वस्तह समिध, सह चक्कित पिक्खत रहिय॥
विवहार विवुध जोतिग गिनत, सलख किसि जात न कहिय॥—१४।१७

प्रज्ज्वलित कर रही हैं। कोकिलाएँ कूक रही हैं और पूर्णिमा का चन्द्रमा दाम्पत्य प्रेम की वृद्धि कर रहा है। अतएव हे प्राणनाथ ! मैं आपके पैर छू कर कहती हूँ कि मेरे विशेष स्नेह को चित्त में स्थान दीजिए और यौवन की अवधि दिनों-दिन कम होती जा रही है, यह जानकर वसन्त में गमन मत कीजिए।"[1]

कवि ने वसंत की तरह पापस ऋतु की झाँकी भी बड़े ही स्वाभाविक ढङ्ग से अंकित की है। रानी इन्द्रावती पावस ऋतु की भयंकरता, विभीषिका एवं कठोरता का वर्णन करती हुई कह रही है कि "उमड़-घुमड़ कर वादल गरज रहे हैं, जिससे रमणियों की पलकों के सामने रात्रि छा जाती है और (बिना कंत के) रात्रि व्यतीत करना मुश्किल हो जाता है। सजल तालावों को देखकर हृदय फटने लगता है। बादलों से जल बरसता देखकर दम्पति निरंतर प्रेम में लिप्त हो जाते हैं। कोकिल की ध्वनि से शरीर में कामदेव प्रसार पाता है। दादुर, मोर और दामिनी कलेजे के टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं। चारों ओर पपीहे अड़कर पी-पी रट रहे हैं। हे प्यारे ! ऐसी पावस ऋतु में प्रवास न कीजिए, क्योंकि तुम्हारे चले जाने पर विरहाग्नि शरीर को संतप्त करके उसका विनाश कर डालेगी।"[2]

इसी प्रकार कवि ने ग्रीष्म की भीषणता, शरद की सुषमायुक्त सुन्दरता, हेमन्त की गहनशीलता, शिशिर की शीतलता आदि का वड़ा ही स्वाभाविक वर्णन किया है। कवि के इस प्रकृति-चित्रण में सांस्कृतिक विशेपता के साथ-साथ स्थानगत एवं देशगत विशेषताएँ भी विद्यमान हैं। सभी प्रकृति-वर्णन भारतीय सुषमा के अलौकिक रूप को प्रस्तुत करते हैं और उत्तरी भारत के नैसर्गिक प्राकृतिक सौन्दर्य से मण्डित हैं, परन्तु परम्परागत होने के कारण अधिक आकर्षक प्रतीत नहीं होते। फिर भी इनमें भारत की प्राकृतिक शोभा का सजीव रूप विद्यमान है।

(३) **भाव एवं रस का निरूपण**—'पृथ्वीराज रासो' एक युद्ध-प्रधान वीरकाव्य है। इसके अन्तर्गत कवि के युद्ध-वर्णनों में प्रायः वीरों के युद्धोत्साह का वड़ा ही मार्मिक

---

[1] नवरि अंब फुल्लिग कदंब, रयनिय दिघ दीसं।
भवर भाव-भुल्लै भ्रमन्त, मकरन्द सीसं॥
बहत बाउ उज्झलति मौर, अति विरह अगनि किय।
कुहकुहंत कलकण्ठ, पत्त-राखस रति अत्तिय॥
पय लग्गि प्रान पति वीनवों, नाह नेह मुझ चित धरहु।
दिन-दिन अबद्धि जुब्वन घटय, कंत बसंत न गम करहु॥—५८।१०

[2] घन गरजै घरहरै, पलक निस रेनि न घट्टै।
सजल सरोवर पिक्खि, हियौ ततछन घन फट्टै॥
जल बद्दल बरखंत, पेम पल्हरै निरंतर।
कोकिल सुर उच्चरै, अंग पसरन्त पंचसर॥
दादुरह मोह दामिनी दसय, अरि चमथ्थ चातक रटय।
पावस प्रवास वालम न चलि, विरह अगिनित तन तप थटय॥—५८।२४

एवं सजीव वर्णन मिलता है और यह 'उत्साह' वीर रस का स्थायीभाव है। अतः 'उत्साह' नामक स्थायीभाव का प्राधान्य होने के कारण रासो के समस्त वर्णनों में वीररस का ही प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है। परन्तु युद्ध-स्थल में उपस्थित वीरों के अमर्ष एवं क्रोध का वर्णन करके कवि ने वीर रस के साथ-साथ रौद्र रस का भी बड़ा ही सजीव चित्रण किया है, क्योंकि 'क्रोध' रौद्र रस का स्थायीभाव होता है। इसी तरह युद्ध-क्षेत्र में पड़े हुए वीरों की अंतड़ियों, हड्डियों एवं अन्य अंग-प्रत्यंगों को गिद्ध, चील, योगिनी, काली के द्वारा भक्षण करने एवं उनके खींचने आदि का वर्णन करके कवि ने 'घृणा' नामक स्थायीभाव का भी निरूपण किया है, जिनके द्वारा वीभत्स रस की अभिव्यंजना होती है। इस प्रकार रासो के युद्ध-वर्णनों में युद्धोत्साह के साथ-साथ क्रोध एवं घृणा नामक स्थायीभावों की भी सुन्दर व्यंजना हुई है। परन्तु इन वर्णनों में वीर रस का प्राधान्य होने के कारण युद्धोत्साह का ही सजीव एवं मर्मस्पर्शी वर्णन मिलता है। जैसे, "हुस्सेनकथा" नामक समय में पृथ्वीराज के वीर सामन्तों के युद्धोत्साह पूर्ण पराक्रम का वर्णन करते हुए आरवखाँ शाह गोरी से कह रहा है कि "पृथ्वीराज का एक-एक वीर ऐसा पराक्रमी है कि वह जब इष्ट मन्त्र का उच्चारण करके उठता है तब वह एक रहता है, युद्ध के लिए चलते समय पच्चीस वीरों के समान हो जाता है और शत्रु से भिड़ते समय वह सौ वीरों के बराबर हो जाता है और शत्रु पर शास्त्राघात करते समय वह एक हजार वीरों के बरावर दिखाई पड़ता है। अपने हड्डी-माँस के कटने से पहले ही वह वीर शत्रु को दमन करके उसे मार देता है, सिर कटने पर भी उसका कवंध आगे बढ़कर लड़ता रहता है और उसके रक्त की धारा भी पृथ्वी पर गिरकर सदैव ऊपर की ओर ही उठती है। इस तरह पृथ्वीराज के सभी वीर तलवार लेकर आगे बढ़ते हैं और उनका पराक्रम अद्भुत है।"[1]

युद्धोत्साह के साथ-साथ रासो में वीरोचित अमर्ष एवं क्रोध नामक स्थायीभाव की भी बड़ी ही मार्मिक व्यंजना मिलती है। कवि को जितनी सफलता 'उत्साह' के वर्णन में मिली है, उतनी सफलता क्रोध-वर्णन में भी मिली है। 'भीम वध' समय में कवि ने पृथ्वीराज के सहज एवं स्वाभाविक क्रोध का वर्णन किया है, क्योंकि गुर्जर-नरेश भीम ने पृथ्वीराज के पिता का वध कर दिया था और इसी कारण पृथ्वीराज रात-दिन भीम के प्रति अत्यन्त रोष एवं अमर्ष में भरे रहते थे। परन्तु जब पृथ्वीराज को गुर्जर-नरेश भीम की युद्ध-सम्वन्धी तैयारी का समाचार मिला तब राजा पृथ्वीराज वीरोचित अमर्ष एवं क्रोध में भरकर हुँकार करते हुए कहने लगे कि "यदि

---

१. इष्ट मन्त्र उच्चार दिट्ठ उठंति इक्क थर।
क्रमत पेखि पच्चीस, भिरत सत इक्क इखिख पर॥
सरस सुमर बाहंत, एक सामन्त पराक्रम।
जाम हड्ड पल कटे ताम बाघन्त वीर दम॥
सिर परैं सु हक्कै धर भिरै, परैं श्रोन उठ्ठैं सुधर।
असि धार वीर उठ्ठे किलकि, एह पराक्रम सूर नर॥—११-३१

युद्ध में मेरा और भीम का तथा उसके अङ्ग स्वरूप वीरों का सामना हो गया, तो उन्हें मैं इस प्रकार नष्ट कर दूंगा, जिस प्रकार ग्रीष्म काल की हवा चिनगारी की सहायता से सघन वन को, भीम कौरव-दल को, दुर्गादेवी महिषासुर को और तीक्ष्ण आँधी कृषि को नष्ट कर देती है। मैं अपना 'पृथ्वीराज' नाम तभी सार्थक समझूँगा, जब चालुक्य वंशियों के उदरों को विदीर्ण करके अपने पिता का बदला ले लूँगा।"[1] राजा के इस कथन में कितना अमर्ष, कितना आवेश, कितना रोष एवं कितना क्रोध भरा हुआ है, जो स्थायीभाव के रूप में आकर रौद्र रस की पुष्टि कर रहा है।

युद्धोत्साह एवं वीरोचित क्रोध के अतिरिक्त रासो में शृंगार की भी अत्यन्त मार्मिक अभिव्यंजना मिलती है। शृंगार रस तो वैसे रसराज माना जाता है और वीर पुरुषों को युद्ध के भयानक व्यापार के उपरान्त मनोरंजन के लिए शृङ्गारिक चेष्टाएँ सहज एवं स्वाभाविक रूप से अधिक आकृष्ट किया करती हैं। यही कारण है कि रासो में युद्धोत्साह की प्रधानता होते हुए भी रति एवं प्रेम के लिए भी पर्याप्त स्थान दिया गया है। 'कनवज्ज' समय में जिस क्षण पृथ्वीराज कन्नौज पहुँच कर अनिंद्य सुन्दरी संयोगिता को गवाक्ष में खड़ा हुआ देखता है उस क्षण युद्ध आदि सभी भयंकर व्यापारों को भूल जाता है और संयोगिता के रूप-सौन्दर्य में लीन होकर कुछ क्षणों के लिए वेसुध हो जाता है। कवि ने पृथ्वीराज के इस 'रति नामक स्थायी-भाव को मार्मिक व्यंजना के साथ-साथ शृंगार रस का निरूपण करते हुए लिखा है कि "जैसे ही पृथ्वीराज की दृष्टि गवाक्ष की ओर पड़ी, वैसे ही उसे संयोगिता के अनुपम अंग-सौन्दर्य की झलक दिखाई पड़ी, जिसमें उसे दिखाई पड़ा कि हाथी पर सिंह, सिंह पर दो पर्वत, पर्वतों पर दो भृंग, भृगों पर चन्द्रमा, चन्द्रमा पर शुक, शुक पर मृग तथा मृग पर धनुष का सन्धान किये हुए कामदेव बैठा है। साथ ही उसके समीप सर्प और मयूर साथ-साथ सुशोभित हैं तथा स्वर्ण-जटित हीरा भी वहाँ दमदमा रहा है।"[2] भाव यह है कि संयोगिता की गति हाथी-तुल्य थी, उसके ऊपर कटि-सिंह-

---

[1] इम भंजौं भीमंगः जुद्ध जौ मोहि जुरै रण।
ग्रीषम पवन सहाइ, दंग जरि जात सघन वन॥
यौं भंजौ भोमंग, भीम कुरनन्द पछारिय।
यौं भंजौं भीमंग, शक्ति महिखासुर वारिय॥
इमि जुरौं जुद्ध भीभंग सौं, अन्न तेज वाइहि हिता।
पृथिराज नाम तद्दिन धरौं, उदर फारि कड्ढौं पिता॥—३६।२१

[2] कुञ्जर उप्पर सिंघ, सिंघ उप्परि दुय पब्बय।
पब्बय उप्पर भ्रंग भ्रंग, उप्पर ससि सुब्भय॥
ससि उप्पर इक कीर, कीर उप्पर मृग दिट्ठौ।
मृग उप्पर कोदण्ड, सन्ध कंद्रप्प बयट्ठौ॥
अहि मयूर महि उप्परह, ही सरस हेमन जर्‌यौ।
सुर भुअन छंडि कविचंद कहि, तिहि धोखै राजन पर्‌यौ॥—८५।३६८

तुल्य थी, दोनों कुच पर्वत तुल्य थे, दोनों कुच-चंचु भ्रमरों के तुल्य थे, उसका मुख चन्द्रमा-तुल्य था, नासिका शुक-तुल्य थी, नेत्र मृगों के तुल्य थे, दोनों भौंहें धनुषों के तुल्य थीं, काम-भावना ही वहाँ कामदेव के रूप में विराजमान थी, उसकी वेणी सर्प-तुल्य थी, कंठाकृति ही मयूर के तुल्य थी तथा मस्तक का लाल विन्दु ही हीरे के तुल्य दमदमा रहा था। संयोगिता के ऐसे सौंदर्य को देखते ही राजा पृथ्वीराज के हृदय में रति का संचार हो गया और वे धोखे में पड़ गये। वहाँ पर पृथ्वीराज को अनुरक्त देखकर संयोगिता ने भी जैसे ही पृथ्वीराज को देखा, वह भी पृथ्वीराज के वीरोचित वेश एवं अतुल पराक्रम-सम्पन्न अङ्ग-सौंदर्य को देखकर स्तम्भित रह गई और उसमें रोमांच, स्वेद, कंप तथा स्वर भङ्ग नायक सात्विक भाव सहज ही उदित हो गये।[1] इस तरह रासो में अनेक स्थलों पर संयोग-शृङ्गार का चित्रण मिलता है।

रासो में कवि ने संयोग-शृङ्गार की मधुर व्यंजना करके वियोग-शृङ्गार की भी मार्मिक झाँकी अङ्कित की है। संयोगिता के साथ गुप्त रूप से गांधर्व विवाह करके राजा पृथ्वीराज जैसे ही जयवन्द के महलों से बाहर निकलते हैं, वैसे ही वह मुग्धा एवं प्रज्ज्वलित दीप-शिखा के समान सुकुमारी संयोगिता पति-वियोग को न सह सकने के कारण दीर्घ निश्वास छोड़ने लगती है, उसका शरीर काँपने लगता है और यह सच भी है, क्योंकि जिस अनिंद्य सुन्दरी के लिए इन्द्र के समान अनुरागी राजा ने सर्वस्व न्यौछावर करके कन्नौज आने का कष्ट किया और गुप्त रूप से महलों में आकर पाणि-ग्रहण किया, वही जब उसे ग्रहण करके भी छोड़े जा रहा हो, तब उस सुकुमारी का विरह-व्यथित होना स्वाभाविक ही है। उसकी दशा देखकर उसकी सखियाँ भी यही कहती हैं कि पुरुषों का हृदय प्रायः वज्र-तुल्य होता है। वैसे भी सत्य है कि जो निराधार हो, उसका जीवन कितना हो सकता है? उसको तो विरह नष्ट कर देगा। इसी कारण संयोगिता वेदना की आग में जलने लगती है।[2]

इसी तरह कवि ने वीर हिन्दू-नारियों को आत्मोल्लास के साथ अग्नि की चिताओं में प्रवेश करते हुए एवं अपने प्राणपतियों के लिए करुण-क्रन्दन करते हुए चित्रित करके 'शोक' स्थायीभाव द्वारा करुण रस का निरूपण किया है, युद्ध-स्थल में जम्बुक, चील, गृद्ध आदि को मृत वीरों की आँतों, हड्डियों, भुजाओं आदि को खींचता हुआ देखकर 'घृणा' नामक स्थायीभाव द्वारा वीभत्स रस का निरूपण किया है और पृथ्वीराज की सेना के आतङ्क से भयभीत व्यक्तियों के 'भय' नामक स्थायीभाव का

---

१. सुनि रवसुन्दरि उम्भ तन, उदित रोम अँग अंग।
स्वेद कम्प सुरभंगु भौ, वयन पिक्खि पिथ रंग ॥—५।७।३७३

२. सुनि इन्दो अनुराओ दिट्ठी रिझ्झाह सब्ब सो अप्पं।
दे हथ्थं हवि छुट्टा, हाहं जे बज्जनो हिययौ।
हंजेह आह नंखो, कंपी तनयाइ काम संजोई।
त्त्रिद्धा अधार विनसं, या बाले जीवनं कुत्तः ॥—५८।३८३-३८४

वर्णन करके भयानक रस का निरूपण किया है। शिव, दुर्गा, शिव के गण आदि के दर्शन के सम्बन्धित विस्मय-कारिणी घटनाओं के द्वारा 'विस्मय' नामक स्थायीभाव का वर्णन करके अद्भुत रस का निरूपण किया है तथा तीर्थ, आश्रम, गङ्गातट, साधु-सङ्ग, आदि के द्वारा 'निर्वेद' नामक स्थायीभाव सहित शान्त रस का निरूपण किया है। इस प्रकार रासो में सभी रसों का यत्किंचित उल्लेख मिल जाता है, परन्तु प्रमुखता शृङ्गार, वीर एवं रौद्र रसों की है और इन तीनों में ये युद्धोत्साह का प्राधान्य होने के कारण वीर ही इस काव्य का अङ्गी रस है, जिसके निरूपण में कवि ने अनुपम एवं अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया है। निस्संदेह रासो विविध भावों एवं रसों का अगाध सागर है और कवि की इस उक्ति को चरतार्थ कर रहा है कि 'रासउ असंभु नवरस सरस' अर्थात् यह अपूर्व रासो नवरसों से सरस है।

(४) अलङ्कार निरूपण—अलङ्कार काव्य-सौंदर्य के उपकरण माने गये हैं। इनके द्वारा प्रायः कविजन अपने काव्य की शोभा-वृद्धि किया करते हैं, क्योंकि अलंकारों की सुदृढ़ योजना द्वारा काव्य में चमत्कार के साथ-साथ उक्ति-वैचित्र्य, वाग्विदग्धता, अर्थगांभीर्य एवं सरसता की सृष्टि की जाती है। महाकवियों की अलङ्कार-योजना सदैव रस एवं भावों की अभिवृद्धि में सहायक होती है, क्योंकि अलङ्कार, कथन की प्रणाली कहलाते हैं और महाकवि कथन की विभिन्न प्रणालियों द्वारा ही काव्य में सौष्ठव लाने का प्रयत्न किया करते हैं। इसीलिए महाकवि चन्द की अलङ्कार-योजना भी पूर्णतया रसानुकूल दिखाई देती है, क्योंकि कोरे शब्द-चमत्कार एवं अनुप्रासप्रियता के चक्कर में पड़कर कवि ने अलङ्कारों का प्रयोग नहीं किया है। 'रासो' में तो शब्दालङ्कारों एवं अर्थालङ्कारों द्वारा भाव-सौंदर्य की ही अभिवृद्धि हुई है, क्योंकि रसानुकूल अलङ्कारों के प्रयोग ने काव्य में चमत्कार के साथ-साथ प्रभावोत्पादकता को भी जन्म दिया है। उदाहरण के लिए 'रूपकातिशयोक्ति' अलङ्कार की इस योजना को ले सकते हैं, जिसमें कवि ने केवल कुंजर, सिंह, पर्व, भृङ्ग, शशि आदि उपमानों का ही प्रयोग करके उनके उपमेय क्रमशः गति, कमर, कुच, कुच-चंचु, मुख आदि का निरूपण किया है और इस निरूपण द्वारा शृङ्गार-रस की वृद्धि में सुन्दर योग प्रदान किया है। यथा—

कुंजर उप्पर, सिंघ, सिंघ उप्परि दुय पब्बय।
पब्बय उप्पर भ्रङ्ग, भ्रङ्ग उप्पर ससि सुभ्भय॥ ५८।३६८

इसी तरह कवि ने वस्तुत्प्रेक्षालङ्कारों का प्रयोग करके काव्य में एक अद्भुत चमत्कार की सृष्टि की है, जिससे न केवल वस्तु स्थिति की वास्तविकता का सजीव चित्र पाठकों की आँखों के सम्मुख उपस्थित होता है, अपितु काव्य में सरसता एवं मार्मिकता की भी सृष्टि होती है। संभर नरेश पृथ्वीराज एवं आबूराज वंशी सलख जैत्र के पारस्परिक मिलन का चित्र अङ्कित करते हुए कवि ने उत्प्रेक्षालङ्कार की बड़ी ही सुन्दर योजना की है, दूल्हावेश में राजा पृथ्वीराज का राजा सलख जैत्र से मिलना कभी सावन-भादों की घटाओं के मिलन के तुल्य बताया गया है, कभी समुद्र और

गङ्गा के मिलन के तुल्य कहा है, कभी सप्तर्षियों के साथ गगन में वृहस्पति और शुक्र के मिलन तुल्य वताया गया है और कभी समुद्र-मंथन के समय सुर और असुर के मिलन की भाँति वताया गया है । यथा—

सावन भद्दव संधि, घुमरि घन घटा मिलित हुअ ।
जनु समुद्र अरु गङ्ग, उमड़ि मिलि दुहुनि थोभ हुअ ।।
जनु सुरगुरु अरु सुक्क, सग रिखि गगनि गगन मिलि ।
जनु दधिमथि सुर असुर, करण मधुपान खिभिर ठिलि ।।

रासो में कवि ते सांगरूपकों के द्वारा भी रसाभिव्यक्ति में वड़ी कुशलता दिखाई है । प्राय: रूपकों के द्वारा वस्तु-चित्रण तो सरल होता ही है, परन्तु रस एवं भावों की व्यंजना के लिए भी रूपक अलङ्कार वड़ा सहायक होता है, फिर सांगरूपकों का तो कहना ही क्या ? चन्द कवि के सांगरूपक तो वस्तु-चित्रण के साथ-साथ भाव-व्यंजना में भी वड़े ही सफल दिखाई देते हैं। 'इच्छिनी-विवाह' नामक समय में कवि ने अनिन्द्यसुन्दरी इच्छिनी के सौंदर्य-सम्पन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गों में एक दुर्ग की समस्त विशेषताओं का आरोप करके एक सजीव एवं शृङ्गार-रसपूर्ण सांगरूपक की सृष्टि की है, जिसमें उस रूपसि के हृदय में स्थित काम की दुर्गपति है, लज्जा ही दुर्ग है, उसकी भयातुरता ही दुर्ग की दीवारें हैं, घूँघट ही वलवान द्वारपाल है, उसका रसमय कटाक्ष ही दुर्ग की ऊँचाई है, दुविधाग्रस्त एवं भ्रमित मन ही दुर्ग का वुर्ज है । ऐसी उस नवोड़ा का दुर्ग कभी चल एवं कभी अचल दिखाई देता है—

कामं जा गड्ढोइ लज्ज गढ़ने भयभ्रत्त भय कोटयं ।
घूघट्टं पट डोढ़ि वानति वले, उद्धी कटाच्छे रसे ।।
जाति जात न जासि जो गितवरं भज्जे मनं विभ्रमं ।
ना दीसन्त गता गते स सयनं, द्रुग्गं चलं निश्चलं ।। १४।६०

अधिक क्या कहें, इसी तरह कवि ने स्मरण, उपमा, प्रतीप, भ्रान्तिमान, संदेह, अतिशयोक्ति दृष्टान्त, वक्रोक्ति, यमक, श्लेष आदि अलङ्कारों के द्वारा अपने काव्य को अनुपम एवं अद्वितीय सौंदर्य से युक्त वनाने की चेष्टा की है । युद्ध के वर्णनों में तो कवि ने इन अलङ्कारों द्वारा मानो जीवन ही डाल दिया है, क्योंकि अलङ्कारों के कारण वे वर्णन गत्यात्मक सौंदर्य से ओतप्रोत दिखाई देते हैं । साथ ही अर्थ गांभीर्य एवं अर्थसौष्ठव के लिए भी कवि ने इन अलङ्कारों का प्रयोग किया है । इस तरह कवि की अलङ्कार-योजना के भावों को रमणीय एवं प्रेषणीय बनाने की पूर्ण क्षमता है तथा उसके द्वारा रासो के अर्थ गौरव की अभिवृद्धि हुई है ।

(५) **छन्द-योजना**—काव्य में नादात्मक सौंदर्य की सृष्टि के लिए छन्दों की योजना की जाती हैं । प्राय: नादात्मक सौंदर्य से सम्पन्न पंक्तियाँ हृदय पर अपनी अमिट छाप तो डालती ही हैं, परन्तु रस-स्रोत के प्रवाह में भी सहायक होती हैं, क्योंकि भावों एवं रसों के अनुकूल छन्दों की योजना इसका ज्वलंत प्रमाण है। महाकवि चन्द के रासो काव्य में मुख्यतया वीर रस का स्रोत अविरल गति से प्रवाहित हो रहा

है और इसी के अनुकूल कवि ने सबसे अधिक छप्पय या कवित्त, साटक या शार्दूल-विक्रीड़ित, गाहा या गाथा और दुहत्थ या दोहा का प्रयोग किया है।[1] विद्वानों ने चन्द को छप्पय का सम्राट माना है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि कवि चन्द के छप्पय जितने सरस, स्वाभाविक एवं प्रभावोत्पादक हैं, उतने किसी भी वीरकाव्य प्रणेता के छप्पय दिखाई नहीं देते। रासोकार के छप्पय एक तीव्र बरसाती नदी की बाढ़ के समान हरहराते हुए आगे बढ़ते चले जाते हैं, जिनके सुनते ही अनायास वीररस का स्रोता फूट पड़ता है और पाठक अर्थ को जाने बिना ही एकबारगी वीर रस में निमग्न हो जाता है। यद्यपि कवि चन्द ने छन्द का प्रयोग सभी रसों के लिए किया है, फिर भी छप्पय छन्द वीर रस के सर्वथा अनुकूल है। इसमें चार रोला और दो उल्लाला के पद मिलते हैं, जिनमें यह छन्द पूर्ण होकर वीरोचित भाव के प्रकट करने में सर्वथा सशक्त एवं सक्षम बन जाता है।

वैसे कवि चन्द ने ७२ प्रकार के छन्दों का प्रयोग अपने रासो महाकाव्य में किया है, जिनमें से छप्पय के अतिरिक्त पद्धरि, अरिल्ल, त्रोटक, भृजङ्गी, त्रिभङ्गी, कुण्डलिया, आर्या, दण्डक, भुजङ्गप्रयात, श्लोक आदि प्रसिद्ध हैं। छन्दों की इतनी अधिक भरमार होने के कारण कुछ विद्वान् तो रासो को छन्दों का अजायबघर ही कहते हैं, क्योंकि इनमें बहुत से उधोर निसांनी, जुतिचाल, चन्द्रायना, चालि, विराज आदि ऐसे अप्रचलित छंदों का भी प्रयोग मिलता है, जिनको आगामी कवियों ने भी नहीं अपनाया है और जिनका प्रयोग केवल 'पृथ्वीराज रासो' की अपनी विशेषता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चन्द के छप्पय, त्रोटक, पद्धरि आदि छंदों से तलवारों की झनझनाहट एवं खटखटाहट स्पष्ट सुनाई पड़ती है, क्योंकि इन छंदों की अनुप्रासमयता जहाँ झनझनाहट के द्वारा नाद-सौंदर्य का सृजन करती है, वहाँ इनकी टङ्कारात्मकता तलवारों के चलने से उत्पन्न खटखटाहट की ध्वनि का समा बाँध देती है। इसी कारण कवि चन्द के ये छंद वीरोचित उत्साह, क्रोध, अमर्ष, आवेग आदि के वर्णन में बड़े ही सफल जान पड़ते हैं।

कवि चन्द के इन छंदों के मूल उद्गम एवं विकास पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इनमें श्लोक, पद्धति, त्रोटक, भुजङ्गप्रपात, साटिका, नाराच आदि छंद तो संस्कृत के ही वर्ण-वृत्त हैं और गाहा या गाथा, दूहा, अरिल्ल, त्रिभङ्गी आदि छंद प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं के प्रचलित छन्द हैं। इस तरह रासो में प्रयुक्त छंद अधिकतर संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं के काव्यों से आये हैं। रासोकार के समय में कुछ लोकभाषा के छन्दों का भी प्रचार था। इसीलिए कवि ने ऐसे छन्दों में भी अपनी रचना प्रस्तुत की है, जिनका स्वरूप तत्कालीन पिंगल एवं डिंगल भाषा के छंद-शास्त्रों में नहीं मिलता। उदाहरण के लिए रासो में प्रयुक्त हनुफाल या हनूफाल, विअस्षरी,

---

[1] छन्द प्रबन्ध कवित्त जति, साटक गाह दुहत्थ।
लहु गुर मण्डित खडि यहि, पिंगुल अमर भरत्थ॥—१।२३

मुरिल्ल, ऊधो आदि ऐसे छन्द हैं, जिनका उल्लेख तत्कालीन किसी भी पिंगलशास्त्र में नहीं है। ये छन्द या तो कवि चन्द की अपनी स्वतन्त्र रचना हैं या लोकगीतों के छन्द हैं, जिनका उस समय साधारण जनता में तो प्रचार था, परन्तु उन्हें छन्द-शास्त्र में स्थान नहीं मिला था। इस तरह रासो में विभिन्न प्रकार के छन्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनका अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि रासोकार छन्दों का मर्मज्ञ था, पिंगल एवं डिंगल भाषा के छन्द-शास्त्रों से पूर्णतया परिचित था तथा अपने युग की प्रचलित छन्द-धारा को भी भली प्रकार जानता था।

निष्कर्ष यह है कि रासो का काव्य-सौष्ठव उच्च कोटि का है। इसके वस्तु-वर्णनों में तन्मय एवं तल्लीन करने की पूर्ण क्षमता है और सभी वर्णन कवि की उत्कट काव्य-प्रतिभा, गहन काव्यानुभूति, उर्वर कल्पना एवं विविध विषयों के ज्ञान के परिचायक हैं। प्रकृति की रमणीक झाँकियों में रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति है तथा रस एवं भावों के निरूपण में भाव-प्रेषणीयता एवं भावाभिव्यंजकता के गुण पूर्णतया विद्यमान हैं। रासो की अलंकार-योजना सर्वथा भावानुकूल है और छन्दों के संगीतात्मक सौंदर्य के कारण सम्पूर्ण काव्य से वीरों की हुँकार, धनुष की टंकार, रण-भेरियों की झंकार, हाथी-घोड़ों की चिंघाड़ एवं शत्रुओं की चीत्कार की ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है। निस्संदेह रासोकार ने अपने युग की भाव-दशाओं, परिस्थितियों, सांस्कृतिक विशेषताओं, परम्पराओं आदि का चित्रण करके रासो के काव्य-सौष्ठव को उत्कृष्टता प्रदान की है और रासो के द्वारा हिन्दी-साहित्य के गौरव की अभिवृद्धि हुई है।

रासो की भाषा

'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी के उस युग की रचना है, जिस समय तक हिन्दी का कोई व्यवस्थित रूप नहीं बना था और संस्कृत तथा प्राकृत के साथ-साथ अपभ्रंश भाषाओं में प्रायः ग्रन्थ रचना होती थी। यद्यपि उस समय अपभ्रंश भाषा में जैन ग्रन्थों की रचना अधिक मात्रा में होती थी, फिर भी सिद्ध एवं नाथ सन्तों के द्वारा एक ऐसी भाषा का भी निर्माण हो रहा था, जो उस काल की साहित्यिक भाषा अपभ्रंश से कुछ भिन्न सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा के अधिक निकट थी। उस भाषा पर प्रान्त-विशेष का प्रभाव था। इसीलिए उस लोक-प्रचलित एवं सर्वसाधारण की भाषा का कोई व्यवस्थित रूप नहीं था। वह राजस्थान प्रदेश में राजस्थानी की विशेषताओं को, ब्रज प्रदेश में ब्रज की विशेषताओं को, अवध प्रान्त में अवधी की विशेषताओं को और मिथिला प्रदेश में मिथिला की विशेषताओं को लेकर पनप रही थी। यही कारण है कि उस काल की भाषा पर संस्कृत, प्राकृत, एवं तत्कालीन लोक-भाषा सभी की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है। परन्तु जब हम पृथ्वीराज रासो की भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं, तब ज्ञात होता है कि उसमें न केवल तत्कालीन भाषाओं की छाप विद्यमान है, अपितु पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दी में विकसित ब्रजभाषा की भी स्पष्ट छाप दिखाई देती है। यह माना जा सकता है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक मुसलमानों के आवागमन के साथ अरबी, फारसी के शब्दों का

आदान-प्रदान आरम्भ हो गया था, परन्तु सोलहवीं शताब्दी में जाकर ब्रज का जो रूप सुस्थिर हुआ, रासो में उनकी छाया का मिलना रासो की भाषा के बारे में सन्देह उत्पन्न कर देता है। फिर भी इतना तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि ब्रजभाषा का सोलहवीं शताब्दी वाला रूप रासो में सर्वत्र नहीं मिलता और उसे कुछ विद्वान् प्रतिलिपिकारों की कृपा एवं कुछ विद्वान् प्रक्षिप्त अंश मानकर संतोष कर लेते हैं। फिर भी रासो की भाषा में एकरूपता का न होना विद्वानों के मत-मतान्तर का विषय बन गया है। इसी कारण कुछ विद्वान् यह अनुमान लगाते हैं कि रासो की रचना मूलरूप में अपभ्रंश के ही अन्दर हुई थी, कुछ इसे राजस्थानी (डिंगल) भाषा में रचा हुआ स्वीकार करते हैं, कुछ इसे ब्रजभाषा (पिंगल) में रचा हुआ मानते हैं और कुछ विद्वान् इसे आदि युग की रचना होने के कारण विभिन्न भाषाओं के मिश्रित रूप में रचित स्वीकार करते हैं। इस तरह रासो की भाषा के बारे में मुख्यतया चार मत प्रचलित हैं :—

(१) अपभ्रंश भाषा सम्बन्धी मत,
(२) राजस्थानी भाषा सम्बन्धी मत,
(३) पिंगल भाषा सम्बन्धी मत,
(४) मिश्रित भाषा सम्बन्धी मत।

(१) **अपभ्रंश भाषा सम्बन्धी मत**—रासो को मूलतः अपभ्रंश भाषा में लिखा हुआ मानने वाले सर्वप्रथम मुनि जिनविजय हैं। 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' का सम्पादन करते समय आपको अपभ्रंश भाषा में लिखे हुए ऐसे चार छप्पय मिले, जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित रासो में भी विद्यमान हैं, परन्तु यहाँ वे कुछ परिवर्तित रूप में हैं। आपने इसी आधार पर अपना यह मत स्थिर किया कि रासो मूलरूप में अपभ्रंश भाषा के अन्तर्गत लिखा गया होगा। कालान्तर में उसको विकृत करके राजस्थानी अथवा अन्य भाषाओं का रूप दे दिया है इस मत के मानने वालों में से दूसरे विद्वान् श्री मथुराप्रसाद दीक्षित हैं, जो रासो को बारहवीं शताब्दी की रचना कहकर उस काल में प्रचलित प्राकृत-मिश्रित अपभ्रंश भाषा में ही उसके लिखे जाने का अनुमान लगाते हैं; क्योंकि आपके मतानुसार उस समय राजस्थानी एवं ब्रज का कोई रूप स्थिर नहीं हुआ था। इस मत के तीसरे विद्वान् मुनि कान्तिसागर हैं, जो सं० १४०३ की उपलब्धि रासो-प्रति के आधार पर यह घोषणा करते हैं कि रासो की भाषा अपभ्रंश ही थी, परन्तु अभी तक उनकी इस उपलब्ध प्रति का परीक्षण एवं निरीक्षण किसी ने नहीं किया है। इस मत के चौथे विद्वान् भारतीय भाषाविद् डा० सुनीतिकुमार चटर्जी हैं, जो रासो को प्राचीन ग्रन्थ घोषित करते हुए उसकी भाषा अपभ्रंश ही स्वीकार करते हैं; क्योंकि रासो की भाषा आधुनिक भाषाओं के स्वरूप से सर्वथा भिन्न एवं प्राचीन है। इस वर्ग के पाँचवें विद्वान् डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं, जो 'सन्देश रासक' के आधार पर यह अनुमान लगाते हैं कि रासो की भाषा पुरानी हिन्दी थी और यह घोषणा करते हैं कि उस समय पुरानी हिन्दी अपभ्रंश

भाषा के ही सर्वथा निकट थी। अतः रासो की भाषा को अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी में रचा हुआ ही मानना चाहिए।

(२) **राजस्थानी भाषा सम्बन्धी मत**—रासो की भाषा के सम्बन्ध में दूसरा वर्ग उन विद्वानों का मिलता है, जो इसे राजस्थानी अथवा डिंगल की रचना बताते हैं इनमें सर्वप्रथम डा० दशरथ शर्मा हैं, उन्होंने रासो की भाषा के बारे में पर्याप्त अनुसन्धान किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि रासो एक ऐसी प्राचीन भाषा में लिखा गया जान पड़ता है, जिसमें अपभ्रंश की बहुलता है। सम्भवतः रासोकार अपभ्रंश परम्परा के कवियों में से अन्तिम कवि रहा होगा। परन्तु उसकी भाषा का अधिक झुकाव प्राचीन राजस्थानी की ही ओर है, जो डिंगल कहलाती है। इस तरह आपने प्राचीन राजस्थानी एवं तत्कालीन अपभ्रंश में समन्वय स्थापित करते हुए अपने मत का प्रतिपादन किया है। इस वर्ग के द्वितीय विद्वान् श्री मोतीलाल मेनारिया हैं, जो रासो को पूर्णतया राजस्थानी अथवा डिंगल की रचना स्वीकार करते हैं, जिसमें ब्रज, प्राकृत, अपभ्रंश, अरबी, फारसी आदि भाषाओं का सम्मिश्रण मिलता है, परन्तु मूलरूप में यह डिंगल भाषा का ही ग्रन्थ है। इसी वर्ग में तीसरे विद्वान् डा० रामकुमार वर्मा आते हैं, जिन्होंने आदिकाल का वर्गीकरण करके पृथ्वीराज रासो आदि सभी ग्रन्थों को चारण-युग की डिंगल भाषा अथवा राजस्थानी भाषा के ग्रन्थ घोषित किया है।

(३) **पिंगल सम्बन्धी मत**—रासो की भाषा के सम्बन्ध में तीसरा वर्ग उन विद्वानों का है, जो इसे पिंगल की रचना मानते हैं। इस मत के मानने वालों में से एफ० एस० ग्राउज, जॉन बीम्स, डा० ग्रियर्सन, टेसीटरी, पं० रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० उदयनारायण तिवारी, डा० नामवरसिंह, डा० माताप्रसाद गुप्त आदि प्रसिद्ध हैं। इन सभी विद्वानों का कथन है कि रासो की भाषा के गठन, स्वभाव, प्रकृति एवं स्वरूप का अध्ययन करने पर यही जान पड़ता है कि न वह अपभ्रंश है, न डिंगल या पुरानी पश्चिमी राजस्थानी है, न पुरानी ब्रजभाषा है, अपितु यह पिंगल भाषा है, जिसे शौरसैनी अपभ्रंश से निकली हुई उस युग की काव्य-भाषा कह सकते हैं। यहाँ तक कि श्री मोतीलाल मेनारिया ने अपने 'डिंगल में वीररस' नामक ग्रन्थ में डिंगल भाषा की जिन प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है, वे भी रासो की भाषा से मेल नहीं खातीं और रासो में पिंगल भाषा की-सी ललित एवं मधुर पदावली, क्रियाओं के रूपों एवं विभक्ति-चिह्नों की ही बहुलता दृष्टिगोचर होती है। अतः डा० माताप्रसाद गुप्त का मत यह है कि 'रासो' में पिंगल भाषा का वह रूप हमें मिलता है, जो 'प्राकृत पैंगल' के कुछ ही पीछे विकसित हुआ था।

(४) **मिश्रित भाषा सम्बन्धी मत**—उक्त तीनों वर्गों के अतिरिक्त कुछ विद्वानों की राय में रासो मिश्रित भाषाओं का ग्रन्थ है। इस मत के मानने वालों में से डा० विपिनविहारी त्रिवेदी प्रमुख हैं, जिन्होंने रासो पर पर्याप्त शोधकार्य करने के उपरान्त

'चन्दवरदाई और उनका काव्य' नामक ग्रन्थ लिखा है, जिसमें रासो की भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण एवं शोधपूर्ण विवेचन करते हुए आपने बताया है कि "यद्यपि ऊपर कुछ नियम दिए गये हैं, फिर भी रासो की भाषा में एक विलक्षणता यह दिखाई देती है कि किसी नियम का अक्षरशः पालन नहीं मिलता। अधिकांश शब्दों के स्वरों और व्यंजनों के रूप में परम स्वच्छन्दता और सम्भवतः छन्द की तात्कालिक आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन मिलते हैं तथा उनके संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी रूपों के दर्शन होते हैं।" इतना ही नहीं, आपने यह भी स्वीकार किया किया कि "इसमें वैदिक, संस्कृत, पालि, पैशाची, मागधी, अर्द्ध-मागधी, शौरसैनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश, प्राचीन राजस्थानी, प्राचीन गुजराती, पंजावी, व्रज आदि भारतीय आर्य भाषाओं के अतिरिक्त अरवी, फारसी, और तुर्की शब्दों की अनोखी खिचड़ी तैयार मिलती है तथा देशज शब्दों की भी एक संख्या है।" इस तरह आप रासो को मिश्रित भाषा का ग्रन्थ मानते हैं।

मत-समीक्षा—उक्त मतों का निरूपण करने के उपरान्त अब देखना यह है कि रासो की भाषा से सम्बन्धित मतों में से कौन-सा मत सर्वथा समीचीन है और 'रासो' किस भाषा की रचना हो सकता है। यदि ध्यानपूर्वक विचार करें तो ज्ञात होगा रासो की भाषा के बारे में जो सर्वप्रथम मत 'अपभ्रंश' के पक्ष में दिया गया है, वह केवल कुछ पदों तथा अनुमान के आधार पर स्थित है। उस मत के विद्वानों ने सम्पूर्ण रासो की भाषा पर विचार नहीं किया है, अपितु वे केवल इसी बात में उलझे रहे हैं कि रासो को अपभ्रंश के समीप तक कैसे ले जायें, जिससे यह प्राचीन ग्रन्थ सिद्ध हो जाय और उसे प्राचीन ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त हो जाय। यदि तनिक ध्यान से देखा जाय तो पता चलेगा कि मुनि जिनविजय ने जिन चार छप्पयों के आधार पर इसकी भाषा को अपभ्रंश बताया है, उसके बारे में यह भी तो सम्भव हो सकता है कि किसी कवि ने पीछे से अपभ्रंश के उन चार छप्पयों को रासो की भाषा का रूप देकर इसमें सम्मिलित कर दिया हो, क्योंकि 'रासो' में प्रक्षिप्त अंश तो मिलते ही हैं, और फिर जब सोलहवी शताब्दी के 'रामचरितमानस' में क्षेपकों की भरमार मिलती है तब फिर बारहवीं शताब्दी के 'रासो' में इस कार्य का होना कोई असम्भव बात नहीं। दूसरे, 'रासो' का जो रूप आज विद्यमान है, उसमें कुछ शब्दों को छोड़कर शेष शब्दों की प्रवृत्ति एवं प्रकृति अपभ्रंश भाषा से किसी प्रकार मेल नहीं खाती। अतः केवल कुछ शब्दों या चार छप्पयों के आधार पर सारे ग्रन्थ को अपभ्रंश मानन किसी तरह न्यायसंगत नहीं दिखाई देता।

इसके अतिरिक्त जब राजस्थानी तथा पिंगल की प्रवृत्तियों कै आधार प रासो का अध्ययन किया जाता है, तो रासो में दोनों के ही रूप पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। फिर रासो को किस भाषा की रचना कहा जाये ?—यह प्रश्न विचारणीय है बना रहता है। किन्तु रासो के बाह्य साक्ष्य के अतिरिक्त जब हम अन्तर्साक्ष्य प ध्यान देते हैं तो उसमें भाषा सम्बन्धी दो युक्तियाँ मिलती हैं। प्रथम तो यह है कि

कवि षट्भाषा का ज्ञाता है;[1] और दूसरे, कवि ने स्वयं उस काल तक प्रचलित संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश, पैशाची, मागधी एवं शौरसैनी की गणना षट्भाषाओं के अन्तर्गत की है ।[2] अतएव उसके काव्य में उक्त छः भाषाओं का स्वरूप होना तो सर्वथा निश्चित-सा ही है । इनमें से संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में तो कवि ने कई पद लिखे हैं; यथा—

संस्कृत— सोमेश्वर महाबाहो, तस्थापूर्वं तपोगुणं ।
तेन पुण्य जगज्जेता, गर्भान्ते पृथुराड्ययम ।।

प्राकृत एवं अपभ्रंश— नमः संभवायं सरव्वाय वायं ।
नमो रुद्रपायं वरद्दाय सायं ।।
पसू पत्तए नितए मुग्ग पाए ।
कपर्दी महादेव भीमं भवाए ।।

परन्तु इस प्रकार के पदों की संख्या रासो में अधिक नहीं है । रासो में तो उस भाषा की वहुलता है, जिसमें एक ओर संस्कृत के दुष्ट, पत्र, ब्रह्म, इन्द्र, त्रैलोक्य, सिद्ध, अनंग, शृङ्गार आदि शब्द आये हैं, तो दूसरी ओर प्राकृत एव अपभ्रंश में प्रयुक्त होने वाले लच्छि, अच्छित, द्रिगपाल, लज्जि, सव्वयं, ध्रम, सत्त, भष्षन, कष्ष, ध्रित्त, कित्ति, रत्ति, दष्षिन, सद्द, मनुच्छ, ग्रब्व आदि शब्द भी मिलते हैं । इसी तरह जिसमें एक ओर दक्खिणि, कारण, असरण, सरण, पगर, च्यारि, चौसट्ठि आदि राजस्थानी के शब्द मिलते हैं, तो दूसरी ओर हनंदे, सुहंदी, रहंदी, उड़ाइयाँ, वित्तां, आवन्दा, कानवज्जां, हंसाइयां, पाइयां आदि पंजाबी के शब्द मिलते हैं । इसी तरह जिसमें एक ओर व्रजभाषा के सुराजै, विराजै, कह्यौ, आवै, मार्‌यौ, चितवैं, चहैं, धरियो दुराइ, बसैं, कियौ, भई आदि क्रिया रूप भी मिलते हैं, तो दूसरी ओर जिसमें अमीर, जेर, सरम, हसम, सुतर, सहर, षवरि, हरावल, साहिव, अरदास, तन्दूर, असवार, कमान, जमाति, हजूर, अदब्ब, सुरतान, मरद, सिकार, जीन, अहक, आदि कितने ही अरवी, फारसी और तुर्की के शब्द भी भरे पड़े हैं ।

इस प्रकार रासो की भाषा के अन्तर्बाह्य साक्ष्यों के आधार पर परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि रासो की भाषा पर्याप्त प्राचीन है, उसमें एकरूपता नहीं है तथा उसमें तत्सम, तद्भव, अर्द्धतत्सम, देशज एवं विदेशी सभी प्रकार के शब्दों की बहुलता है । इतना अवश्य है कि जहाँ उसमें युद्ध एवं वीरोत्साह सम्बन्धी वर्णन हैं, उनमें पुरुषवृत्ति की प्रधानता है, ओजस्विता है, महाप्राणत्व है. द्वित्व की प्रधानता है, सामासिकता है, टकार-बहुलता है और वहाँ पर भाषा ओजस्विता के साथ हुंकार करती हुई अग्रसर हो रही है । परन्तु जहाँ पर प्रेम, विवाह एवं विलासपूर्ण श्रृंगार

---

[1] षटभाषा पुराणं च कुराणं कथितं मया ।—१।२६

[2] संस्कृत प्राकृतं चैव, अपभ्रंशः पिशाचिका ।
मागधी सूरसेनी च, षट् भाषाश्चैव ज्ञायते ।।—१।६५

आदि के वर्णन में आये हैं, वहाँ पर रासो की भाषा में कोमलता एवं मधुरता है, अनुस्वारान्त शब्दों की बहुलता है, वर्ण-मैत्री का प्राधान्य है, पंचम वर्णयुक्त अनुप्रासादि की प्रधानता है तथा वह मंद-मंथर गति से प्रभावित हो रही है। उसके ऐसे विलक्षण रूप को देखकर यही कहना पड़ेगा कि रासो की भाषा अपभ्रंश काल के अन्तिम चरण में महाकवि चन्द द्वारा निर्मित हिन्दी के उस प्राचीन रूप को प्रस्तुत करती है, जिसको मधुर, सरस, एवं कोमल प्रवृत्ति को अपनाकर एक ओर सूरदास, नन्ददास, विहारी देव, आदि ने ब्रजभाषा के रूप का गठन किया, तो दूसरी ओर जिसके परुषावृत्ति प्रधान, टकार-बहुल एवं महाप्राण-प्रधान रूप को अपनाकर भूषण, लालकवि, जोधराज सूदन आदि ने अपने काव्यों का निर्माण किया। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि रासो की भाषा में प्राचीन भाषाओं का पुट पर्याप्त मात्रा में मिलता है और कवि ने भी शब्दों को मनमाने ढंग से तोड़ा-मरोड़ा है, किन्तु वह तत्कालीन बोलचाल की भाषा के अधिक निकट जान पड़ती है और उसमें ऐसे क्रियापदों की ही प्रधानता है, जिनका प्रयोग भक्तिकाल एवं रीतिकाल तक हिन्दी में वरावर मिलता है। जैसे—तजि, भजि गिरि, बढ़ि लहि, करिय, करि डारी आदि।

अतएव रासो की भाषा के वारे में ही यही मानना पड़ेगा कि वह अपभ्रंश काल के अन्तिम चरण में शौरसेनी अपभ्रंश से निकली हुई काव्य-भाषा हिन्दी के ही आरम्भिक रूप को प्रस्तुत करती है, जिसमें विविधता होकर भी धारावाहिकता है, पर्याप्त सम्मिश्रण होने पर भी भावानुकूलता है और विभिन्न भाषाओं का प्रभाव होने पर भी जिसमें कवि के संकेत पर चलने की अपूर्व क्षमता है। निस्संदेह रासो की भाषा हिन्दी के आदिकाल की उस भाषा की ओर संकेत कर रही है, जिस पर एक ओर तो संस्कृत, प्राकृत; अपभ्रंश आदि तत्कालीन साहित्यिक भाषाओं का प्रभाव था, किन्तु दूसरी ओर जो अपभ्रंश के साहित्यिक शिकंजे से निकल कर लोकभाषा के आधार पर अपना एक स्वतन्त्र रूप ग्रहण कर रही थी। इसीलिए रासो हिन्दी-साहित्य के साथ-साथ हिन्दी भाषा के भी गौरवपूर्ण प्राचीन रूप को प्रस्तुत करता है।

दो

विद्यापति

- गीतकाव्य-धारा में विद्यापति का स्थान ●
- पदावली का काव्य-सौष्ठव ●
- वस्तु-वर्णन ●
- वय:सन्धि-वर्णन ●
- नख-शिख-वर्णन ●
- सद्य:स्नाता-वर्णन ●
- प्रणय-केलि-निरूपण ●
- स्तुति-वर्णन ●
- युद्ध-वर्णन ●
- भाव एवं रस का निरूपण ●
- संयोग-वर्णन ●
- 9m/o 84 :— विरह-वर्णन ●
- प्रकृति चित्रण ●
- अलंकार-विधान ●
- पदावली की भाषा ●
- 9m/o 84 1;mk विद्यापति—भक्त या शृङ्गारी कवि ●

२

विद्यापति

गीतिकाव्य-धारा में विद्यापति का स्थान

मैथिल कोकिल विद्यापति हिन्दी के उस आरम्भिक युग के कवि हैं, जबकि साहित्य-रचना के क्षेत्र में संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश का बोलबाला था और विचारी लोकभाषाएँ ग्रामीण जनता तक ही सीमित रही आती थीं। उस समय वही कवि समाज में आदृत होता था, जो संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश में रचना करता था, क्योंकि लोकभाषा का कवि विद्वत्समाज में प्रतिष्ठा का अधिकारी नहीं होता था। यही कारण है कि अधिकांश कवि लोकभाषा को छोड़कर संस्कृत, प्राकृत, एवं अपभ्रंश में ही लिखा करते थे। कविवर विद्यापति ने भी इसी कारण अपनी कितनी ही रचनाएँ संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषा में ही लिखी हैं। विद्यापति की संस्कृत रचनाओं में से 'शैवसर्वस्वसार', 'भू-परिक्रमा', 'पुरुष-परीक्षा', 'गंगा-वाक्यावली', 'दान-वाक्यावली', 'वर्षकृत्य', 'दुर्गा-भक्ति-तरंगिणी' आदि कई ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ऐसे ही उनकी अपभ्रंश रचनाओं में से 'कीर्तिलता' एवं 'कीर्ति-पताका' प्रसिद्ध हैं। परन्तु हिन्दी में विद्यापति की प्रसिद्धि का कारण उनकी 'पदावली' है, जिसमें बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक के भिन्न-भिन्न अवसरों पर लोक-भाषा में लिखे गये उनके पदों एवं गीतों का संकलन किया गया है। ये गीत वास्तव में तत्कालीन हिन्दी भाषा के शृंगार हैं, हिन्दी की गीति-काव्य परम्परा के प्रवर्त्तक हैं और इस बात के द्योतक हैं कि किस प्रकार हिन्दी लोक-भाषा के रूप में उस समय निर्मित हो रही थी तथा कैसे उसने धीरे-धीरे लोक-भाषा के क्षेत्र से निकल कर साहित्यिक भाषा के क्षेत्र पर अपना अधिकार स्थापित करने का प्रयास किया था।

विद्यापति ने हिन्दी में जिस गीतिकाव्य-धारा को प्रवाहित किया है, वह भारत की एक सुदीर्घ गीति-परम्परा से सम्बन्ध रखती है। गीति-काव्य की यह

परम्परा वैदिक युग से ही विकसित हुई है। वैदिक युग का 'सामवेद' इस गीति-काव्य का मूल स्रोत है, जिसमें गेयता, मधुरता, धारावाहिकता आदि संगीत के सभी गुण विद्यमान हैं। सामवेद की संगीतमयी ऋचाओं के उपरान्त बौद्धों की थेरी-गाथाओं में गीति-काव्य की झाँकी मिल जाती है, परन्तु उसके उपरान्त जिस लौकिक संस्कृत के काव्य का विकास मिलता है, उसमें यह गीतिकाव्य-धारा अत्यधिक विकसित दिखाई देती है। कालिदास के 'ऋतु-संहार' और 'मेघदूत' में इसका पूर्ण विकास दिखाई देता है। परन्तु संस्कृत-काव्य की यह संगीतमयी गीति-धारा 'गाथासप्तशती', 'आर्या-सप्तशती', 'अमरुक-शतक', 'चौर पंचाशिका', धोयी कृत 'पवनदूत' आदि में प्रवाहित होती हुई बारहवीं शताब्दी में जयदेव के 'गीत-गोविन्द' के रूप में मधुर राग-रागनियों के स्वर में प्रवहमान होती हुई परिलक्षित होती है। सच पूछा जाय तो संस्कृत के गीति-काव्य का चरमोत्कर्ष एवं पर्यवसान 'गीत-गोविन्द' में ही दृष्टिगोचर होता है। इसका प्रत्येक पद मधुर राग की स्वर-लहरी से आप्लावित है। इसकी कोमलकान्त पदावली, इसके सरस एवं सरल पद-विन्यास तथा इसकी मधुर एवं मनमोहक भाव-व्यंजना ने ही हिन्दी के गीति-काव्य को प्रेरणा प्रदान की।

यद्यपि हिन्दी के वीरगाथा-काल में वीर-गीतों अथवा वीर-गाथाओं का ही प्राधान्य था और तत्कालीन चारण कवि स्थान-स्थान पर घूम-घूमकर एवं मस्ती में झूम-झूमकर आल्हा-ऊदल जैसे वीरों के गीत गाया करते थे, तथापि विद्यापति ने गीति-काव्य की प्राचीन परम्परा को स्थायित्व प्रदान करने के लिए 'गीत-गोविन्द' के ही आधार पर हिन्दी की तत्कालीन लोकभाषा 'मैथिली' में अपने ऐसे मधुर गीतों की रचना की, जिनमें वीर-गाथा सम्बन्धी गीतों का ढाँचा बदलकर जयदेव की गीत-लहरी के स्वरों को सुसज्जित किया गया तथा जिनमें लौकिक प्रेम के साथ-साथ रागात्मक आवेश की अभिव्यंजना को महत्त्व दिया गया। विद्यापति के ये गीत प्रेम की मादकता शृंगारिकता, ऐहिकता, विलासिता एवं भावों की स्वतन्त्रता के परिचायक हैं। इनमें मिथिला के दाम्पत्य-प्रेमपूर्ण नर-नारियों का मधुर कण्ठ गूंजता हुआ सुनाई पड़ता है। विद्यापति की ये गीतियाँ इतनी लोक-प्रचलित एवं लोकप्रिय हुईं कि गाँव-गाँव एवं नगर-नगर में नर-नारी अवकाश के क्षणों में इन्हें गाया करते थे और इनकी धूम बंगाल तक मची हुई थी। उसी समय विद्यापति के बहुत से पदों को तो बंगला का ऐसा रूप दे दिया गया कि उनका मैथिल रूप ही लुप्त हो गया और उन्हीं के आधार पर बहुत काल तक विद्यापति बंगला के ही कवि माने जाते रहे। परन्तु कालान्तर मे बा० राजकृष्ण मुकर्जी तथा डा० ग्रियर्सन की खोजों से ज्ञात हुआ कि ये बंगला के नहीं, अपितु मिथिला के कवि हैं और मिथिला की प्रवृत्ति बंगाल की अपेक्षा हिन्दी के कहीं अधिक निकट है। जो कुछ भी हो, विद्यापति के गीत उस समय इतने सफल एवं प्रभावोत्पादक रहे कि उनके प्रशंसकों ने कवि का 'अभिनय जयदेव', 'दशाविधान', 'कविशेखर', 'कविकण्ठहार', 'कविरंजन' आदि उनके उपाधियों से विभूषित किया।

विद्यापति की इस गीति-परम्परा को कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि भक्त-कवियों ने भी अपनाया। कबीर ने उसमें आध्यात्मिकता का पुट दिया, तो सूर ने उसमें मधुरता, भावों की तरलता, अनुभूति की तीव्रता, वात्सल्य की सरसता, वियोग की विदग्धता एवं पुनीत प्रेम की गहनता का समावेश किया और तुलसी ने उसे सेव्य-सेवक भाव के साथ-साथ प्रभु के महत्त्व एवं भक्त के दैन्य से ओत-प्रोत कर दिया। परन्तु मीरा ने इस गीति-काव्य की परम्परा को चरम सीमा तक पहुँचाया, क्योंकि मीरा ने इस काव्य-धारा से नारी-सुलभ सुकुमारता, हृदय की कोमलता, वियोग विह्वलता तथा विरहिणी की मार्मिक अनुभूति को इतना अधिक भर दिया कि उसके उपरान्त आध्यात्मिक भावों से ओत-प्रोत ऐसी गीतियाँ हिन्दी-जगत् में दृष्टिगोचर नहीं होतीं। इसके अनन्तर भारतेन्दु-युग में ही पुनः गीति-काव्य-धारा का प्रवाह दिखाई देता है और वह प्रभाव भी कुछ बदला हुआ है, क्योंकि यहाँ आकर विद्यापति के लौकिक प्रेम तथा भक्तों की आध्यात्मिकता के स्थान पर देश-प्रेम का स्वर अधिक मुखरित हो उठा है और उनमें सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति से उत्पन्न शोक, करुण आदि की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। तदनन्तर द्विवेदी-युग में आकर नये ढंग की गीति-काव्य-धारा का आरम्भ हो जाता है, जिसे विद्वान् 'प्रगति' कहना अधिक ठीक समझते हैं। गीति-काव्य की यह धारा रूप एवं रचना में भी अपनी पूर्व परम्परा से सर्वथा भिन्न हो जाती है और वर्ण्य-विषय भी बदल जाता है। छायावादी युग के आते ही प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी आदि के द्वारा इन नई प्रगति-काव्यधारा में लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता, भावों की सूक्ष्मता, अभिव्यंजना की प्रभावोत्पादकता आदि के दर्शन होने लगते हैं।

इस प्रकार गीति-काव्य सम्बन्धी इस सुदीर्घ परम्परा का अध्ययन करने पर पता चलता है कि विद्यापति संस्कृत की जयदेव वाली गीति-परम्परा में आते हैं, तथापि हिन्दी-गीति-काव्य के प्रवर्त्तक हैं, हिन्दी-गीतिकारों के प्रेरणा-स्रोत है, हिन्दी की रागात्मक गीतियों के प्रथम प्रणेता हैं तथा स्वर-लयपूर्ण रागनियों से युक्त हिन्दी की संगीतमयी कविता-धारा को लोकभाषा के क्षेत्र में से निकाल कर साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने वाले हिन्दी के प्रतिनिधि कवि हैं।

पदावली का काव्य-सौष्ठव

विद्यापति के पद हिन्दी-गीति-काव्य के शृंगार हैं, उनमें जन-जीवन का स्वच्छन्द हास-विलास, प्रेमी हृदयों का सुमधुर प्रेमालाप, युवक एवं युवतियों की मदोन्मत्त अठखेलियाँ, रसिकों की आनन्दमयी क्रीड़ाएँ, स्वच्छन्द जनमानस की भाव-लहरियों का उन्मुक्त नर्त्तन, हृदय-क्यारियों में हँसते हुए भाव-सुमनों की दिगदिगंत-व्यापिनी आह्लादकारी सुरभि, भाव-विभोर मधुप-कण्ठों का मन्दोन्मत्त गुंजन, सिहरनयुक्त विकसित अङ्गों का स्पन्दन, जन-जन के प्रेम-विह्वल सुमधुर संगीत की उल्लासमयी ध्वनि आदि विद्यमान हैं। ऐसा जान पड़ता है—मानो इन गीतों में प्रेमाकुल हृदयों के मधुर स्वर गूँज रहे हों, क्योंकि इनमें व्याप्त सरस संगीत, म

निनाद, शास्त्रीय स्वर-विधान, सुललित पद-विन्यास तथा मद-विह्वल स्पन्दन—काव्य के क्षेत्र में संगीत की निर्मल निर्झरिणी को प्रवाहित करके सहृदयों को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। निस्सन्देह विद्यापति के ये पद लोक-साहित्य की पावन पयस्विनी को प्रवाहित करते हुए साहित्यिक पद-शैली की भी ऐसी भावमयी धारा प्रवाहित कर रहे हैं, जिनकी ओर सरस कवि-हृदय का आकृष्ट होना अत्यन्त स्वाभाविक है औ यही कारण है कि विद्यापति के पदों की यह भावधारा लगभग ४०० वर्षों तक तो अविरल गति से प्रवाहित होती रही और कबीर, सूर, नन्ददास, तुलसी, मीरा आदि सभी भक्त कवियों के हृदयों को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करके इस पद-शैली मे अपने सुमधुर स्वरों को काव्य रूप देने के लिए बाध्य करती रही, तदनन्तर शृंगारी कवियों को इसने इतना आकृष्ट किया कि वे इस भावधारा से आकण्ठ निमग्न होकर अपने सुललित स्वरों से सहृदय श्रोताओं के हृदयों में सिहरन उत्पन्न करते रहे। विद्यापति के ये पद तीन भागों में विभक्त किये जाते हैं—(१) प्रणय-लीला सम्बन्धी शृङ्गार के पद, (१) प्रार्थना सम्बन्धी भक्ति के पद और (३) तत्कालीन परिस्थितियों का चित्र अंकित करने वाले पद। इनमें से प्रणय-लीला सम्बन्धी पदों का ही बाहुल्य है। अतः विद्यापति के पदों में व्याप्त काव्य-सौष्ठव का अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि उनमें यह देखने की चेष्टा की जाये कि कवि ने कैसा वस्तु-वर्णन किया है, कैसा भावों एवं रसों का निरूपण किया है, संयोगावस्था के कैसे-कैसे चित्र अंकित किये हैं, वियोग एवं विरह की स्थिति का कैसा वर्णन किया है, कैसा प्रकृति-चित्रण किया है तथा उसने अलंकारों की योजना द्वारा चमत्कार दिखाने की कैसी चेष्टा की है? यथा—

(१) **वस्तु-वर्णन**—विद्यापति ने अपने पदों में युवक एवं युवतियों के अन्तर्जगत् का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए राधा और कृष्ण के माध्यम से उनकी प्रणय-लीलाओं का अत्यन्त प्रभावोत्पादक वर्णन किया है। यहाँ कवि युवा जीवन की मूलभू भावना अथवा काम-वासना का स्वाभाविक चित्र अंकित करने के लिए युवावस्था मे प्रस्फुटित अंगों के सौन्दर्य की सजीव झाँकी प्रस्तुत करता है, उनके मानस में उठ वाली भाव-लहरियों के चित्र अंकित करता है; उनकी चेष्टा, हाव-भाव आदि बाह विकारों की स्थिति से हमें अवगत कराता है, तथा अपनी तीव्र अनुभूति के सहा किशोरावस्था से लेकर युवावस्था तक मानव के मन, हृदय एवं अंगों में क्या-क्या स्वाभाविक परिवर्तन होते हैं, इनकी भावमयी नैसर्गिक झाँकी अंकित करता है साथ ही अन्य विविध वर्ण्य-विषयों पर भी कवि ने बड़े ही मार्मिक गीत लिखे हैं, बड़े ही प्रभावोत्पादक हैं। इन सभी गीतों में प्रमुख रूप से आकृष्ट करने वाले कवि के इस वस्तु-वर्णन को हम छः शीर्षकों में विभक्त कर सकते हैं। (क) वयःसंधि-वर्ण (ख) नख-शिख-वर्णन, (ग) सद्यः स्नाता-वर्णन, (घ) प्रणय-केलि-वर्णन, (ङ) स्तुति-वर्ण और (च) युद्ध-वर्णन।

(क) **वय:सन्धि-वर्णन**—शैशव के उपरान्त जब यौवनागम होता है, तब युवतियों के अंग-प्रत्यंग में एक अभूतपूर्व परिवर्तन होने लगता है। यह परिवर्तन सहसा नहीं होता, अपितु जैसे शिशिर के उपरान्त धीरे-धीरे बसन्त के आगमन हेतु पहले वृक्षों में कोमल किसलय प्रस्फुटित होते हैं, लताओं में सुकुमार कलियों की छटा दिखाई देने लगती है, पवन में मन्द-मंथर गति आने लगती है, पक्षियों के कलरव में मधुरता की गूँज सुनाई देने लगती है और चतुर्दिक धीरे-धीरे हास-उल्लास स्फुरित होता हुआ दृष्टिगोचर होने लगता है, उसी तरह एक किशोरी के अङ्गों में भी यौवन के विकास का दर्शन एक साथ नहीं होता, उसमें भी धीरे-धीरे स्फुरण होता है। वह पहले उन्मुक्त हँसी के द्वारा घर-आँगन को गुंजायमान कर देती थी, किन्तु अब वह हँसते-हँसते सहसा रुकने लगती है और उसकी हँसी पर स्मिति अपना अधिकार करने लगती है। पहले वह स्वच्छन्द गति से घर के अन्दर और बाहर भागती फिरती थी, परन्तु अब वह भागते-भागते कभी गम्भीर हो उठती है और अपने अङ्गों के उभार को देखकर आश्चर्य में पड़ जाती है। पहले उसके चितवन में भोला शैशव सरल गति से खेलता था, अब उसकी सरलता कुछ-कुछ चतुराई एवं कुशलता में परिणत हो जाती है। इस तरह कभी चंचलता, कभी गांभीर्य, कभी उन्मुक्त हास, कभी लज्जायुक्त मुस्कान, कभी सरलता, कभी बाँकपन, कभी अङ्गों की सुधबुध भूलकर स्वच्छन्द गति से गमन करना और कभी तुरन्त अपने वक्ष आदि के उभार को देखकर ठिठक जाना आदि ऐसे व्यापार हैं, जो वय:सन्धि के मनोरम चित्र प्रस्तुत करते हैं और जिनमें भ्रू-विक्षेप, नेत्र-कटाक्ष, मन्द स्मिति, क्षीण कटि आदि में साथ-साथ कुछ प्रसन्नता एवं कुछ आश्चर्य, कुछ अल्हड़पन एवं कुछ लज्जा, कुछ भोलापन एवं कुछ बाँकपन, कुछ चंचलता एवं कुछ मर्यादा, कुछ सुख एवं कुछ पीड़ा, कुछ सरलता एवं कुछ वासना आदि के एक साथ दर्शन होते हैं। कविवर विद्यापति ने अपने पदों में 'वय:सन्धि' के ऐसे कितने ही मार्मिक चित्र अङ्कित किये हैं। कवि एक शब्द-चित्र अङ्कित करते हुए कह रहा है : कि "शैशव एवं यौवन दोनों के एक साथ दिखाई देने के कारण यह बाला कभी तो आँखों से कटाक्ष करने लगती है और कभी उसकी असावधानी से उसका अंचल धूल में गिर जाता है, कभी वह उन्मुक्त हँसी हँसने लगती है, जिससे उसकी दाँतों की ज्योति हँसी के साथ चारों ओर फैल जाती है, तो कभी वह अपनी उस उन्मुक्त हँसी को छिपाने के लिए होठों के सामने अपना वस्त्र ले जाती है। कभी वह चौंककर चलती है, तो कभी मन्द-मन्द गति से चलने लगती है। अभी तो यह कामदेव की शिक्षा का पहला ही अनुबन्ध है। इसी से कभी वह एक क्षण के लिए अपने लघु उरोजों को थोड़ा देख लेती है, और फिर क्षण भर में ही उन्हें आँचल से छिपा लेती है और स्वयं को भूल जाती है। इस प्रकार उस बाला से शरीर में शैशव और यौवन का मिलन हो रहा है। कुछ पता नहीं

चलता कि दोनों में से कौन बड़ा है और कौन छोटा ?"[१] इस प्रकार के कितने ही मनोरम चित्र विद्यापति ने अङ्कित किये हैं, जिनमें सहज स्वाभाविक स्थिति के चित्रण के साथ-साथ कवि की प्रौढ़ प्रतिमा एवं सूक्ष्मानुभूति का सुन्दर सम्मिश्रण दिखाई देता है।

(ख) **नख-शिख-वर्णन**—अत्यन्त प्राचीन काल से अंग-सौंदर्य का चित्रण करने के लिए 'नख-शिख' की परम्परा मिलती है। संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश सभी भाषाओं में यह वर्णन मिलता है। विद्यापति ने भी उसी परम्परा का वर्णन करते हुए अङ्ग-सौंदर्य के चित्रण के लिए 'नख-शिख का वर्णन किया है। 'नख-शिख' के अन्तर्गत प्रायः पैर के नाखून से लेकर चोटी तक अङ्ग के प्रत्येक भाग का प्रभावोत्पादक वर्णन किया जाता है। इसके लिए यह कवि-परम्परा प्रचलित है कि देवियों अथवा दिव्य नारियों के अंग-सौंदर्य का चित्रण पैर के नख से आरम्भ करके क्रमशः सिर के वर्णन तक किया जाता है और साधारण स्त्रियों का अंग-सौंदर्य प्रस्तुत करने के लिए सिर से आरम्भ करके पैर के नाखून तक का वर्णन किया जाता है। इसलिए प्रथम वर्णन को 'नख-शिख' तथा दूसरे वर्णन को 'शिख-नख' कहना चाहिए, परन्तु दोनों प्रकार के वर्णनों के लिए साहित्य में 'नख-शिख' नाम ही प्रसिद्ध है। विद्यापति ने दोनों प्रकार का ही वर्णन किया है। एक स्थान पर राधा के अङ्ग-सौंदर्य की झाँकी एक दिव्य नारी अथवा देवी के रूप में अङ्कित करने के लिए उसके चरणों के लेकर सिर तक के सौंदर्य का चित्रण केवल उपमानों के सहारे बड़ी ही सजीवता एवं मार्मिकता के साथ किया गया है। राधा के उस दिव्य सौंदर्य की झाँकी अंकित करते हुए कवि आश्चर्यचकित होकर कर रहा है—"हे माधव ! उस रूपसि के दिव्य रूप का वर्णन किस तरह करूँ, मुझे तो उसे देखकर यह जान पड़ता है कि विधाता ने बड़े यत्नपूर्वक उसके रूप-सौंदर्य की सृष्टि की है, क्योंकि उसके दोनों चरण पल्लवराज कमल के तुल्य सुशोभित हैं, उसकी मस्त गति गजराज की गति के समान है। स्वर्ण के कदली-स्तम्भ तुल्य उसकी सुडौल जंघाओं के ऊपर सिंह की कटि के समान उसकी कटि सुसज्जित है और उस कटि के ऊपर पर्वतों के समान उसके दोनों उरोज शोभायमान हैं। उन पर्वत तुल्य उभरे हुए उरोजों के ऊपर दो कमल-पुष्पों के समान उसके सुन्दर दो चूचुक (स्तन के अग्रभाग) विद्यमान हैं। ये कमल-पुष्प के समान चूचुक भी बड़े विचित्र हैं, क्योंकि बिना ही कमल-नाल के विकसित हो रहे हैं। इन उरोजों के अग्रभाग पर सुशोभित मणियों की माला गङ्गा की धारा के समान शोभा पा रही है और ऐसा जान पड़ता है

---

१. 'खने खने नयन कोन अनुसरई। खने खन बसन धूलि तन भरई ॥
खने खन दसन-छटा छुट हास। खने खन अधर धागे गाहु बास ॥
चउँकि चलए खने खन चल मंद। मनमथ-पाठ पहिल अनुबन्ध ॥
हिरदय मुकुल हेरि हेरि थोर। खने आँचल दए खने होय भोर ॥
बाला सैसव तारुन भेंट। लखए न पारिअ जेठ कनेठ ।'

कि गंगा की इसी धारा के सतत प्रवाहित रहने के कारण ये उरोज के अग्र भाग रूपी कमल कभी सूखते नहीं हैं। उस नायिका के अरुण अधर बिम्वा-फल के समान और उसके उज्ज्वल दाँत दाड़िम के वीजों की भाँति शोभा दे रहे हैं। उसका मुख चन्द्रमा के तुल्य देदीप्यमान है। जिस पर लाल सिंदूर का विन्दु लाल रवि के तुल्य शोभा पा रहा है। इन दोनों को देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो सूर्य और चन्द्र पास-पास ही उदय होकर विराजमान हैं। परन्तु काले-काले केशों के रूप में विद्यमान राहु इन दोनों (सूर्य, चन्द्र) से वहुत दूर बैठा है, इनके समीप नहीं आता और इसी कारण वह इन्हें अपना ग्रास भी नहीं वना रहा है। उस नायिका की बड़ी-बड़ी आँखें हिरन की आँख के समान सुन्दर हैं, उसकी मधुर वाणी कोयल की बोली के समान है, उसका भ्रकुटि-संचालन कामदेव के धनुष-सन्धान के समान है। उसके कमल जैसे ललाट पर अनेक काले-काले भौंरों जैसी लटें लटक रही हैं, जिन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो भौंरे मकरन्द पान करते हुए क्रीड़ा कर रहे हों।"[1]

विद्यापति ने उक्त ढंग से दिव्य नारी एवं अलौकिक नायिका के अंग-सौन्दर्य का चित्रण करते हुए कवि-परम्परा-प्रसिद्ध 'नख-शिख' की प्रणाली को अपनाया है, परन्तु सर्वत्र इस परम्परा का अनुसरण नहीं किया है। कुछ गीतों में लौकिक नायिका की भाँति उसी राधा के अंग-सौंदर्य की झाँकी प्रस्तुत की है, जिसमें उसके मुख-सौंदर्य का वर्णन करके क्रमशः चरण तक के सौन्दर्य की झाँकी अंकित करते हुए 'नख-शिख' की दूसरी परम्परा को अपनाया है। इस परम्परा का पालन करते हुए कवि ने लिखा है—"न जाने किस विधाता ने इस चन्द्रमुखी बाला का निर्माण किया है, जो अनुपम रूपवती है, कामदेव की मंगलमयी प्रतिमा है तथा त्रिभुवन को जीत लेने वाली विजय-माला के तुल्य है। इसके सुन्दर मुख पर काजल की रेखा से सुशोभित सुन्दर आँखें विद्यमान हैं, जो स्वर्ण कमल के मध्य शोभायुक्त काली भुजंगिनी के साथ-साथ क्रीड़ा करते हुए खंजनों के तुल्य जान पड़ती हैं। इस नायिका की नाभि से निकली हुई रोमावली ऊपर तक ऐसी प्रतीत होती है, जैसे सुरभित साँसों का पान करने के

---

[1] माधव, की कहब सुन्दरि रूपे !
कतेक जतन विहि आनि समारल, देखत नयन सरूपे ॥
पल्लवराज चरण युग सोभित, गति गजराजक भाने।
कनक कदलि पर सिंह समारल, तापर मेरु समाने ॥
मेरु उपर दुई कमल फुलाइल, नाल बिना रुचि पाई।
मनिमय हार धार बहु सुरसरि, तओ नहिं कमल सुखाई ॥
अधर बिंबसन-दसन-दाड़िम-विजु, रबि ससि उगथिक पासे।
राहु दूर बस नियर न आबथि, तैं नहिं करथि गरासे ॥
सारँग नयन बयन पुनि सारँग, सारँग तसु समधाने ॥
सारँग उपर उगल दस सारँग, केलि करथि मधुपाने ॥

लिए प्यासी सर्पिणी अपने विल से निकलकर ऊपर की ओर बढ़ी हो, किन्तु नायिका की नुकीली नाक के रूप में विद्यमान गरुड़ की चोंच को देखकर भयभीत हो गई हो और स्तनों के रूप में विद्यमान दोनों पर्वतों के बीच में आकर बस गई हो। कामदेव के पाँच बाण प्रसिद्ध हैं। अतः उसने अपने तीन बाण तो तीनों लोकों में छोड़ दिए और दो बाण उसके पास बच गये थे। परन्तु विधाता बड़ा निष्ठुर है। हे सुन्दरी! ऐसा जान पड़ता है कि उस निष्ठुर विधाता ने रसिक जनों का वध करने के लिए कामदेव के वे शेष दोनों बाण तुम्हारी आँखों को सौंप दिये हैं।"[१] क्योंकि नायिका की वे दोनों आँखें कामदेव के दोनों बाणों के समान सम्मोहन एवं उन्मादन का कार्य करने वाली हैं। इस प्रकार विद्यापति ने 'नख-शिख' का परम्परागत वर्णन ही किया है, जिसमें मुख के लिए वही चन्द्रमा, केशों के लिए मेघ या अन्धकार या भ्रमर, चोटी के लिए भुजंगिनी, सिंदूर-बिन्दु के लिए सूर्य, भौंह के लिए धनुष, नेत्र के लिए हिरन या कमल, नासिका के लिए कीर या गरुड़, होंठ के लिए बिम्बा-फल, दाँतों के लिए दाड़िम के बीज या गजमुक्ता, कण्ठ के लिए कम्बु, उरोजों के लिए पर्वत, कटि के लिए सिंह, नाभि के लिए विवर, जंघा के लिए कदलि-स्तम्भ, चरण के लिए कमल आदि उपमानों का प्रयोग किया है।

'विद्यापति के इस 'नख-शिख' वर्णन में सबसे अधिक कवि का ध्यान नायिका के मुख एवं उरोजों के वर्णन की ओर गया है। इसी कारण कहीं तो कवि ने नायिका के मुख के बारे में कहा है कि "मुख का निर्माण चन्द्रमा के सारभूत अंश को लेकर किया गया है। उसमें चकोर पक्षी के समान नेत्र हैं और उस मुख को वहा दिया, तो दसों दिशाओं में चाँदनी भर गयी।"[२] एक दूसरे गीत में कवि ने नायिका के मुख की कल्पना करते हुए कहा है कि "हे सखि! तुम्हारा मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा को सोने के ऊपर घिसकर उसके सार भाग से वनाया गया है।"[3] एक गीत में कवि ने

---

[१] सुधामुखि के विहि निरमल बाला।
अपरुब रूप मनोभव मंगल त्रिभुवन विजयी माला॥
सुन्दर बदन चारु अरु लोचन काजर रंजित भेला।
कनक कमल मध काल भुजंगिनि स्रीजुत खंडन खेला॥
नाभि-बिबर सयँ रोम लतावलि भुजगि निसास-पियासा।
नासा-खगपति-चंचु भरम-भय कुच-गिरि सन्धि निवासा॥
तिन बान मदन तेजल तिन भुवने अवधि रहल दओ बाने।
विधि बड़ दारुन बधए रसिक जन सोंपल तोहर नयाने॥

[२] चाँद-सार लए मुख रचना करु लोचन चकित चकोरे।
अमिय धोए आँचरे धनि पोंछल वह दिसि भेल उँजोरे॥

[३] आनि पुनिम-ससि कनक धोए कसि सिरिजल तुअ मुख सारा

नायिका के मुख को शक्कर से मिले हुए तथा शुद्ध दूध से परिपूर्ण अमृत के सार से बना हुआ बताया है।[1] इसी प्रकार कवि ने उरोजों का वर्णन करते हुए 'पहिल बदरि सम पुन नवरङ्ग' कहकर पहले बेर जैसे तथा फिर नारङ्गी के समान बताया है, तो फिर 'बाढल सिरिफल जोर' कहकर उन्हें श्रीफल या बेल के समान कहा है। तदनन्तर कवि ने नायिका के यौवन का वर्णन करते हुए भी उसके उरोजों को 'मेरु उपजल कनक लता' कहकर उन्हें सोने की लता में उत्पन्न पर्वत जैसे फलों के तुल्य बताया है, तो कभी 'कनक सम्भु' कहकर उनकी समानता स्वर्ण के महादेवों से की है। इसी तरह कभी उनकी समता 'हिमगिरि' से की है तो कभी 'कनक-गिरि' से और कभी 'कुच जुग चारु चकेवा' कहकर उन्हें चक्रवाकों का जोड़ा बताया है, तो कभी 'पलटि बैसाओल कनक-कटोरा' कहकर उन्हें उल्टे रखे हुए सोने के कटोरों के तुल्य कहा है। इस प्रकार कवि ने भिन्न-भिन्न रूपों में नायिका के मुख एवं उरोजों की उद्भावनाएँ की हैं।

विद्यापति ने नायिका के नख-शिख' का ही वर्णन नहीं किया है, अपितु नायक के अङ्ग-सौंदर्य की सजीव झाँकी अङ्कित करते हुए उनके 'नख सिख' का भी उल्लेख किया है। कवि नायक के अपूर्व अङ्ग-सौंदर्य की झाँकी प्रस्तुत करते हुए उसके प्रेम में अनुरक्त नायिका के मुख से कहलवा रहा है कि "हे सखि! मैंने एक अनुपम रूप देखा है, जिसे सुनकर तुम उसे स्वप्न ही मानोगी। मैंने देखा है कि कमल जैसे दोनों चरणों के ऊपर चन्द्रमा की माला के तुल्य नाखूनों की पंक्ति थी और उसके ऊपर तरुण तमाल के समान युवावस्था से परिपूर्ण शरीर शोभायमान था। उस शरीर पर बिजली की लता के तुल्य पीताम्बर लिपटा हुआ था। वह युवक यमुना के किनारे धीरे-धीरे चला जा रहा था। शाखा के अग्रभाग के समान उसकी उँगलियाँ थीं, उनमें चन्द्रमा की माला के समान नख-पंक्ति शोभा पा रही थी और उसके ऊपर बाल-सूर्य के समान लाल-लाल सुकोमल करतल शोभायमान था। उसके उपरान्त स्वच्छ बिम्बाफलों के समान दो होठ सुशोभित थे, जिनके ऊपर तोता के तुल्य नासिका स्थिर होकर निवास कर रही थी। उसके ऊपर खंजन पक्षियों के समान दो आँखें थीं और तदनन्तर नागिन के तुल्य कुन्तल-राशि ने मोर के तुल्य ग्रीवा को ढक रखा था।"[2]

---

[1] साफर सूध दुधे परिपूरल सानल अमिअक सारे।
सेहैं वदन तोर अइसन।

[2] ए सखि! पेखलि एक अपरूप। सुनइत मानवि सपन सरूप॥
कमल जुगन पर चाँद क माला। तापर उपजल तरुन तमाला॥
तापर बेढ़लि बिजुरी-लता। कालिंदी तट धीरे चलि जता॥
साखा सिखर सुधाकर पाँति। ताहि नव पल्लव अरुनक भाँति॥
विमल बिंबफल जुगल विकास। तापर कीर थीर करु वास॥
तापर चंचल खण्डन-जोर। तापर साँपिनी झाँपल मोर॥

इस प्रकार कवि ने रूपकातिशयोक्ति और विरोधाभास अलङ्कारों के द्वारा बड़े ही कलात्मक ढङ्ग से नख-शिख का वर्णन किया है। उक्त वर्णन में कवि ने केवल उपमानों के वर्णन द्वारा उपमेय के सौंदर्य का चित्र अङ्कित किया है, जिसमें रूपकातिशयोक्ति का सहारा लिया गया है, तो दूसरे स्थानों पर कवि "चिकुर निकर तम सम पुनु आनन पुनिम ससी" कहकर घोर अन्धकार और पूर्ण चन्द्र को एक साथ उपस्थित करता हुआ 'नियतिकृत नियमरहिताम्' की कहावत को चरितार्थ करने के लिए विरोधाभास अलंकार द्वारा दो विरोधी तत्त्वों का ऐसा सजीव एवं मार्मिक वर्णन करता है कि कवि की सूझ-बूझ देखते ही बनती है। ऐसे ही कहीं कवि ने प्रकृति के चँवरी गाय, चन्द्रमा, हिरन, गज, कमल, अनार आदि पदार्थों को नायिका के अंगों की समानता न करने के कारण भयभीत दिखाते हुए नायिका के अनुपम अङ्ग-सौंदर्य की झाँकी अङ्कित की है, तो कहीं प्रकृति में जो कुछ कोमलता, शुभ्रता, सरसता, सुन्दरता, रमणीयता आदि दृष्टिगोचर होती हैं, वे सब नायिका के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में चित्रित करके कवि ने रूप-सौंदर्य की अलौकिक झाँकी प्रस्तुत की है। विद्यापति के इस नख-शिख वर्णन में केवल अंगों के विकास का ही वर्णन नहीं है, अपितु चन्दन, गजमुक्ताहार, कंचुकी, काजल, सिंदुर-बिंदु आदि शृंगार के विभिन्न प्रसाधनों एवं का भी अत्यन्त सजीव वर्णन मिलता है। परन्तु कवि के इस नख-शिख वर्णन में बाह्य सौंदर्य की ही झलक अधिक दिखाई देती है, क्योंकि इसमें हम अङ्गों की कोमलता, सुडौलपन, सामंजस्य, विचित्रता (Variety), व्यवस्थित क्रम, क्रमिक रूपान्तर (Gradual Variation), वर्ण-दीप्ति (Lightness of Coloure), पवित्रता (Purity) आदि का तो दर्शन करते हैं, परन्तु छायावादी कवियों की भाँति कांति, दीप्ति, तेज, माधुर्य, औदार्य, ओज आदि से युक्त आन्तरिक सौंदर्य की झाँकी का पर्याप्त अभाव पाते हैं। यही कारण है कि विद्यापति के सौंदर्य-निरूपण में आन्तरिक सूक्ष्म सौंदर्य की अपेक्षा बाह्य स्थूल सौंदर्य का ही प्राधान्य है।

(ग) **सद्यःस्नाता-वर्णन**—कवि के वस्तु-वर्णन में सद्यःस्नाता के रूप-चित्रण का बड़ा महत्त्व है। संस्कृत काव्य में तो ऐसे चित्रण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं, परन्तु हिन्दी में ऐसे चित्रणों का सूत्रपात करने वाले कवि विद्यापति ही हैं। कवि के इन चित्रणों में रमणीय उद्भावनाओं के साथ-साथ अद्भुत आकर्षण एवं अनुपम अभिव्यक्ति के दर्शन होते हैं। कवि के ये वर्णन यौवन की मादकता, प्रेम की तल्लीनता, भावों की कोमलता तथा सहज आलङ्कारिकता से परिपूर्ण हैं, जिनमें तीव्रानुभूति एवं अलौकिक अभिव्यक्ति का सफल सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है। एक गीत में कवि ने सरोवर में स्नान करके तुरन्त निकली हुई सुन्दरी के अङ्ग-सौंदर्य की झलक प्रस्तुत करते हुए बताया है कि "सुन्दरी स्नान कर रही है। उस सद्यःस्नाता का सौंदर्य इतना उद्दीपनकारक है कि देखते ही वह कामदेव के पंच बाणों से सिद्ध कर देती है, अर्थात् उसे देखते ही दर्शक के हृदय में काम-वासना जाग्रत हो जाती है, क्योंकि उसकी कुन्तल राशि से गिरती हुई जल की धारा ऐसी दिखाई देती है मानो मुख के रूप में विद्यमान चन्द्रमा को

Prema Singh M.A. Hindi

देखकर अन्धकार हो रहा हो। उसके दोनों सुन्दर उरोज दो चक्रवाकों के समान विराजमान हैं और ऊपर उठे हुए होने के कारण ऐसे जान पड़ते हैं मानो अपने कुटुम्बियों से मिलने के लिए उड़ जाने को उत्सुक हों। कहीं ये उरोज रूपी चक्रवाक आकाश में उड़ न जायें, इसी आशंका से उस कामिनी ने स्नान करने के उपरान्त उन्हें अपने भुज-पाश में बाँध लिया है। नायिका का भीगा वस्त्र उसके शरीर से चिपट गया है, उसे ऐसी अवस्था में देखकर मुनियों के हृदय में भी काम वासना जाग्रत हो जाती है।"[1]

उक्त वर्णन को यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि कवि ने कितनी सूक्ष्म दृष्टि से सद्यःस्नाता की स्थिति का चित्रण किया है। काले-काले बालों को सहज ही अन्धकार के तुल्य कहा जा सकता है, किन्तु उन बालों में गिरती हुई बूँदों को देखकर कवि का यह कल्पना करना कि अन्धकार चन्द्रमा से भयभीत होकर रो रहा है, कितना आकर्षक, सरस एवं मर्मस्पर्शी है। इसी तरह उरोजों को भुजपाश में बाँधने के सहज व्यापार के अन्तर्गत कवि ने चक्रवाकों को उड़ने से रोकने के लिए उन्हें बाँध रखने की जो नवीन उद्भावना की है, वह भी अत्यन्त सटीक एवं समीचीन है। इतना ही नहीं, 'तितल वसन तन लागू' में तो कवि ने और भी कमाल कर दिखाया है, क्योंकि एक ओर तो वस्त्र यह सोच रहे हैं कि अब यह कामिनी हमारी तनिक भी चिन्ता न करके हमें अलग कर देगी, इसलिए वे अब और भी चिपटते चले जा रहे हैं और दूसरी ओर यह भी है कि वे वस्त्र अब केवल सरोवर के जल में ही नहीं भीगे हैं अपितु भीग जाने के कारण अब वे नायिका के अंगों के और भी अधिक निकट आ गये हैं और उसके अंग-प्रत्यंग की सहज सौन्दर्य-धारा में भी डूब चुके हैं तथा अङ्ग-सौन्दर्य का आनन्द भी ले रहे हैं, इसलिए अब अलग होना नहीं चाहते, अपितु हटाने पर भी और उसके शरीर से चिपटे जा रहे हैं। इस तरह कवि का यह चित्रण बड़ा ही मादक, उद्दीपक एवं सहज आकर्षक है। इसी तरह के अन्य पदों में कहीं कवि ने केशों से गिरते हुए जल की 'मेह बरसि जनु मोतिम धारा' के रूप में कल्पना की है तो कहीं 'चरम गरए जनि मोतिम हारा' कहकर चँवर से मोती का हार चू रहा हो, ऐसी उद्भावना की है। किन्तु सबसे उत्तम कल्पना अन्धकार के रोने की ही है। इसी प्रकार कवि ने सद्यःस्नाता के उरोजों की कल्पना 'पलटि बैसाओल कनक-कटोरा' कहकर सोने के कटोरों को उलट कर रख दिया हो—इस रूप में भी की है, किन्तु 'चक्रवाक' की कल्पना के सम्मुख यह कल्पना भी सर्वथा नीरस एवं निस्सार जान

---

[1] कामिनि करए सनाने। हेरितहि हृदय हनय पँचबाने॥
चिकुर गरए जलधारा। जनि मुख-ससि डर रोअए अँधारा॥
कुच जुग चारु चकेबा। निअ कुल मिलिअ आन कौन देबा॥
ते शंका भुज-पासे। बाँधि धएल उड़ि जाएत अकासे॥
तितल वसन तनु लागू। मुनिहुक मानस मनमथ जागू॥

पड़ती है। कवि के इन वर्णनों में भी सरसता का आधिक्य दिखाई देता है। इसी कारण उसे सरोवर की जलधारा भी इसलिए रोती हुई दिखाई दी है कि यह कामिनी तो स्नान करके अब घर चली जायेगी और मुझे अब ऐसा रस नहीं मिल सकेगा।[1] कवि की इन उद्भावनाओं में चमत्कार-प्रियता की ओर तो अधिक झुकाव है ही, परन्तु साथ ही साथ इनमें कवि का सूक्ष्मनिरीक्षण, उसकी मार्मिक सूझ-बूझ, सहज तल्लीनता, कोमल कल्पना, सरस अभिव्यक्ति आदि भी विद्यमान हैं।

(घ) प्रणय-केलि-निरूपण—कविवर विद्यापति ने राधा और कृष्ण के माध्यम से तत्कालीन 'समाज में व्याप्त प्रणय-केलियों की बड़ी ही भावोन्मादमयी झाँकियाँ अंकित की हैं। इन झाँकियों में मानव-हृदय के अन्तर्गत व्याप्त 'काम' अथवा मूल वासना का अत्यन्त सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है। इसीलिए इन प्रणय-चित्रों में कवि ने कहीं राधा-कृष्ण को राज-पथ पर एक-दूसरे को देखकर वेसुध होता हुआ दिखाया है, कहीं उन्हें एक-दूसरे के दर्शन के लिए लालायित दिखाया है, कहीं नायक को नायिका के अंग-प्रत्यंगों तथा हाव-भावों की चर्चा करते हुए दिखाया है, तो कहीं नायिका की भाव-भंगियों से पीड़ित नायक को बेचैन अंकित किया है। इतना ही नहीं, नायिका भी बड़ी ही रस विदग्धा है, वह भी नायक के रूप-सौन्दर्य में उलझी हुई दिन-रात उससे मिलने के लिए आतुर अंकित की गई है। वह भी अपने मर्मस्थल में व्याप्त कसक का वर्णन करती हुई नायक के रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा करती हुई दिखाई गई है। इतना ही नहीं, इन प्रणय-केलियों का वर्णन करते हुए कवि ने काम-कौशला नायिका को नायक के साथ औघट घाट पर जाने के लिए भी उत्सुक दिखाया है। इसीलिए कहीं वह 'करु धरु कस मोहे पारे' कहकर नायक से हाथ पकड़कर उस पार पहुँचा देने का आग्रह करती है और कहीं रात में नायक के द्वारा मार्ग में रोकी जाने पर तथा नायिका का अंचल पकड़कर खींचने पर नायक को रोकती हुई नायिका इस प्रकार कह रही है—"हे माधव! हम और तुम एक ही गाँव में रहते हैं, यह राहजनी का कार्य मत करो। हे कन्हैया! मेरा आँचल छोड़ दो. मैंने यह नई साड़ी पहनी है, छीना-झपटी में यह फट जायेगी और इसके फट जाने से सारे जगत् में अपयश फैल जायेगा। इसलिए मुझे नंगी मत करो। मेरे साथ की सखियाँ आगे चली गई हैं, मैं अकेली रह गई हूँ और यह समय बड़ा भयानक हो रहा है; क्योंकि एक ओर तो अँधेरी रात है, दूसरे बिजली चमक रही है।"[2] साथ ही एक-दूसरे गीत में और भी सुन्दर

---

१. ऐसन रस नहिं पाओब आरा। इथे लागि रोए गरए जलधारा॥

२. कुंज भवन सयँ निकसिल रे, रोकल गिरधारी।
एकहि नगर बस माधव हे, जनि कर बटमारी॥
छाँड़ कन्हैया मोर आँचर रे, फाटत नव सारी।
अपयस होएत जगत भरि हे, जनि करिअ उघारी॥
संग क सखि अगुआइलि रे, हम एक सरि नारी।
दामिनि आए तुलाएल हे, एक राति अँधारी॥

प्रणय-क्रीड़ा की ओर संकेत करते हुए कवि ने लिखा है कि नायक ने पारे ले जाने का आश्वासन देकर नायिका को अपनी नौका पर चढ़ा लिया है, परन्तु नौका को मँझधार में लाकर रोक लिया है। उस समय नायिका कह रही है—"नाव को चलने दो, तीक्ष्ण धार में क्यों इसे रोक रहे हो। यदि पार न ले जाकर बीच में ही नौका को रोकोगे, तो मुझे किनारे पहुँचकर जीती न पाओगे। तुम पार-उतराई के रूप में रुपये-पैसे तो लेते नहीं, किन्तु हँस-हँसकर न जाने क्या-क्या बोल रहे हो, जिसे सुनकर मेरे प्राण काँप रहे हैं। मैं अपने-आप यहाँ पर तुम्हारे हाथों बिकने चली आई ? ऐसा जान पड़ता है कि मेरे पापों ने ही मुझे इस तरह फँसा दिया है। अभी तक मैं दूसरों की हँसी उड़ाया करती थी, इसी कारण विधाता ने फंदे में मुझे भी फँसा दिया है और छूटने की कोई आशा नहीं है।"[1]

इस प्रकार कवि ने प्रणय-क्रीड़ाओं का चित्रण करते हुए नायक एवं नायिका की अनेक काम-केलियों का चित्रण किया है, जिनमें कहीं क्रिया-विदग्धा नायिका गुरुजनों के साथ जाती हुई अपना हार तोड़कर रास्ते में फेंक देती है और इस बहाने से पीछे रुककर नायक से मिलती है, कहीं नायक को संकेत-स्थल पर पहुँचने का संकेत करती है, तो कहीं एकान्त में नायक से भेंट हो जाने पर अपयश का बहाना बनाती हुई भी काम-केलि के लिए उत्सुक दिखाई देती है। इसी तरह नायक की छीना-झपटी, चोरी-चुपके नायिका को देखने, उसके आधे अंगों को देखकर अपने मित्रों से उनकी चर्चा करने, नौका पर चढ़ाकर नायिका को तंग करने आदि से सम्बन्धित कितने ही ऐसे गीत मिलते हैं, जिनमें कवि विद्यापति ने काम-क्रीड़ाओं का अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण किया है और जो मानव हृदय के रहस्य का उद्घाटन करने में बड़े ही सफल दिखायी देते हैं।

इन गीतों में प्रेम की रंगरेलियाँ हैं, युवा-हृदय के उन्मुक्त क्रिया-व्यापार हैं, अनुरंजनकारी वासना का सहज उद्रेक है, भावों की उल्लासमयी स्वच्छन्द गति है और कामना का तीव्र वेग है। निस्संदेह ये गीत देश की तत्कालीन समृद्धि एवं वैभव के प्रतीक हैं।

(ङ) **स्तुति-वर्णन**—विद्यापति ने अपने पदों में केवल काम-विलास में निरत नायक-नायिकाओं के रूप-सौन्दर्य एवं प्रणय-केलियों के ही चित्र अंकित नहीं किये हैं, अपितु कुछ ऐसे भी गीत लिखे हैं, जिनमें तत्कालीन समाज की आस्तिकता, धार्मिक भावना, भक्ति आदि का भी वर्णन मिलता है। ऐसे गीतों में कवि के विभिन्न देवी-

---

[1] नाव डोलाब अहीरे, जिबइत न पाओब तीरे, खर नीरे लो।
खेबा न लेअए मोले, हँसि हँसि की दहुँ बोले जिव डोले लो॥
किए बिके ऐलहुँ आपे, बेढ़िलिहु मोहि बड़ सापे, मोरे पापे लो।
करितहुँ पर-उपहासे परिलिहुँ तिन्हि विधि फाँसे, नहीं आसे लो॥

देवताओं की स्तुतिपरक पद आते हैं। इन पदों में कहीं शिव की, कहीं विष्णु की, कहीं कृष्ण की, कहीं दुर्गा की, कहीं सरस्वती की, कहीं जानकी की और कहीं गंगा की प्रार्थना की गई है। वैसे विद्यापति को शैव माना जाता है और शैव होते हुए भी उन्हें विभिन्न देवी देवताओं का उपासक बताया जाता है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि भारत में धार्मिक हिन्दुओं के यहाँ राम, कृष्ण, विष्णु, सीता, राधा, लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा आदि सभी देवी-देवताओं की उपासना का प्रचार है। तत्कालीन सामाजिक स्थिति का अवलोकन करते हुए विद्यापति ने विभिन्न देवी-देवताओं के निमित्त प्रार्थनाएँ लिखी हैं, जो मिथिला में आज भी घर-घर गाई जाती हैं। विद्यापति ने सबसे सुन्दर चित्रण शिव का किया है। शंकर की प्रार्थना करते हुए कवि ने उनके स्वरूप की जो विलक्षण झाँकी प्रस्तुत की है, वह अत्यन्त आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक है। एक स्तुति में कवि शिव के अर्द्धनारीश्वर रूप की मार्मिक झाँकी अंकित करते हुए कह रहा है—"हे शंकर ! तुम्हारी जय हो। हे त्रिपुरारी ! तुम्हारी जय हो और हे अर्द्धनारीश्वर। तुम्हारी जय हो। तुम्हारा आधा शरीर तो धवल है और आधा गौर वर्ण का है। आधा शरीर स्तन-युक्त है और आधा स्तन-रहित है। तुम्हारी माला में से भी आधी माला तो हड्डियों की है और आधी गजमुक्तओं की है। तुम्हारा आधा शरीर चन्दन-चर्चित है और आधा विभूति से विभूषित है। तुम्हारी आधी बुद्धि तो सचेत है और आधी भंग आदि के कारण मत्त है। तुम्हारी आधी काया पर रेशमी वस्त्र सुशोभित है और आधी काया पर मूँज की मेखला पड़ी है। तुम आधे योगी हो और आधे भोग-विलासी। तुम्हारी आधी देह वस्त्रों से ढकी है और आधी नग्न है। तुम्हारे आधे मस्तक पर चन्द्रमा विराजमान है और आधे पर सिन्दूर-बिन्दु शोभा दे रहा है। तुम्हारा आधा रूप भयानक है और आधा जगत् को आकर्षित करने वाला है।"[1] इस प्रकार कवि ने कितने सुन्दर ढंग से यहाँ अर्द्ध-नारीश्वर भगवान् शिव के स्वरूप की मनोहर छवि अंकित की है, जिसमें शिव और पार्वती की परम्परागत सभी शारीरिक विशेषताएँ विद्यमान हैं।

इसी प्रकार कवि ने एक दूसरी स्तुति में विष्णु और शिव दोनों का एक साथ वर्णन किया है, जिसमें दोनों के स्वरूप की मार्मिक झाँकी अंकित करते हुए कवि ने दोनों में एकात्म भाव की स्थापना की है और बताया है कि "हे हर ! तुम भी अच्छे हो और हे हरि ! तुम भी अच्छे हो तो तथा तुम दोनों की कलाएँ भी अच्छी हैं। तुम

---

[1] जय जय सङ्कर त्रिपुरारि। जय अध पुरुष जयति अध नारि॥
आध धवल तन आधा गोरा। आध सहज कुच आध कठोरा॥
आध हड़माल आध गजमोती। आध चानन सोहे आध विभूती॥
आध चेतन मत आधा भोरा। आध पटोर आध मुँज डोरा॥
आध जोग आध भोग विलासा। आध पिधान आध नग बासा॥
आध चान आध सिंधुर सोभा। आध विरूप आध जग लोभा॥

दोनों एक ही हो, क्योंकि कभी हरि रूप में तुम पीताम्बर धारण कर लेते हो, तो कभी हर रूप में व्याघ्र चर्म पहन लेते हो। ऐसे ही कभी तुम पाँच मुख वाले बन जाते हो, तो कभी चार भुजाओं वाले हो जाते हो। कभी तुम गोकुल में गायें चराने लगते हो, तो कभी डमरू बजाकर भीख माँगने लगते हो। कभी तुम गोविंद बनकर गोपियों के साथ दानलीला करते हुए उनसे महादान की याचना करते हो, तो कभी काँख और कान में सर्वत्र भस्म भर लेते हो। तुम्हारे एक ही शरीर ने दो स्थानों पर अपना निवास बना लिया है, तभी तो कभी तुम बैकुण्ठ में रहते हो, तो कभी कैलाश पर्वत पर।"[1] इस तरह कवि दोनों में साम्य स्थापित करते हुए दोनों को एक ही सत्ता के दो रूप मानकर उनकी प्रार्थना कर रहा है।

ऐसी ही अनेक महेश-बानियों एवं भक्त-पदों की रचना विद्यापति ने की है, जिनका गायन तीज-त्यौहारों पर आज भी मिथिला के गाँव-गाँव में प्रचलित है। इनमें से कुछ पद ऐसे भी हैं, जिनका सम्बन्ध शिव-विवाह, शिवजी के रहन-सहन आदि से भी है। ऐसे ही कुछ पद दुर्गा, गंगा आदि की स्तुतियों के रूप में भी मिलते हैं। ये सभी पद कवि के समय में प्रचलित भक्ति-भावना के द्योतक हैं। इनमें कही शिव एवं विष्णु की एकता का प्रतिपादन किया गया है, तो कहीं दुर्गा एवं सरस्वती की अभिन्नता स्थापित की गई है। इतना ही नहीं, उसी एक शक्ति को विभिन्न रूपों में व्यक्त हुआ देखकर उसी को दुर्गा, सरस्वती, सूर्य की आभा, गंगा, ब्रह्माणी, लक्ष्मी आदि विभिन्न नामों से पुकारा गया है और ऐसा करके भेद में अभेद स्थापित करने का बड़ा ही सुन्दर प्रयास किया गया है, जो शैव एवं शाक्त मतानुयायियों का 'अभेदवाद' कहलाता है। इस प्रकार विद्यापति के स्तुति सम्बन्धी पदों में तत्कालीन लोकाचार के साथ-साथ तत्कालीन मैथिल समाज में व्याप्त भक्ति-भावना एवं दार्शनिक विचारधारा का भी पता चल जाता है।

(च) युद्ध-वर्णन—तत्कालीन साहित्य की वीरगाथामयी प्रवृत्ति के अनुसार विद्यापति ने भी युद्ध का अत्यन्त सजीव एवं चित्ताकर्षक वर्णन किया है, जिसमें ढोल एवं डंके का घनघोर घोष, रण-भेरी का कोलाहल, शंखनाद आदि के साथ-साथ घोड़ों की हिनहिनाहट, हाथियों की चिंघाड़, तलवारों की खटखटाहट, शृगालों की हू-हू ध्वनि तथा भूत-प्रेत एवं बेतालों के रुधिर पान, नृत्य-गान आदि का दृश्य अंकित हुआ है। इस युद्ध-वर्णन में विशेषता यह है कि कवि ने लोक-भाषा की सरल पदावली में ही युद्ध-क्षेत्र का बड़ा ही जीता-जागता चित्र अंकित कर दिया है। कवि के इस युद्ध-क्षेत्र के चित्र में उसके आश्रयदाता राजा शिवसिंह की वीरता, शूरता, पराक्रमशीलता

---

[1] भल हर भल हरि तुअ कला। खन पित बसन खनहिं बघछला॥
खन पंचानन खन भुज चारि। खन संकर खन देव मुरारि॥
खन गोकुल भए चराइअ गाय। खन भिख माँगिअ डमरू बजाय॥
खन गोविंद भए लिअ महादान। खनहि भसम भरे कांख बो कान॥
एक सरीर लेल दुह बास। खन बैकुंठ खनहि कैलास॥

आदि को भली प्रकार से देखा जा सकता है। कवि इस युद्ध का वर्णन करता हुआ कह रहा है—"राजा शिवसिंह ने अपने प्रबल एवं प्रचंड पराक्रम द्वारा दूरस्थित दुर्भेद्य दुर्ग बलपूर्वक आघात करके गिरा दिये और बादशाह के राज्य की सीमा तक भयंकर युद्ध दिखाई देने लगा। उस समय ढोल का घोर गम्भीर शब्द, डंके का भयंकर निनाद, रणभेरी का कोलाहल, शंख का नाद तथा कड़खों का आतंक तीनों भुवनों में भर गया। उस समय राजा का प्रताप पर्वत से झरते हुए झरने के समान, वायु में उड़ते हुए गरुड़ के समान और सूर्य के तेज के समान सर्वत्र छा गया। स्वर्णमय सुमेरु पर्वत के शिखर भी कांप उठे। पृथ्वी धूल से परिपूर्ण हो गई और आकाश धूल से ढक गया। उस क्षण हाथी, घोड़े तथा पैदल सेना का भार कौन सहन करता! तलवारों की भयंकर खटखटाहट देखकर ऐसा जान पड़ता था, मनो बिजली की छटा तरंगित हो रही हो। उस समय वर्षा काल का-सा भयानक दृश्य दिखाई देने लगा। करोड़ों घोड़े अपनी टापों से भूमि को रोंद रहे थे और भयंकर तीरों की वर्षा से सभी दिशाएँ भर गई थीं। अंध कूप में कंबध जा गिरा। उस क्षण शृगाल हू-हू की भयंकर ध्वनि करने लगे, भूत-प्रेत तथा वेताल रुधिर पी-पीकर उन्मत्त होते हुए उठने-गिरने लगे और उधर राजा की सेना सीमा को पार करके शत्रु-दल का विनाश करने लगी जिससे सारा भू-मण्डल नर-मुण्डों से मुंडित हो गया। इस तरह राजा शिवसिंह के वीरतापूर्ण सुन्दर कार्य से उत्पन्न कीर्ति सुन्दर चन्द्र-कला के समान चारों ओर फैल गई। राजा ने रघुवंशी राम की भाँति अपने धर्म की रक्षा की और दधीचि के समान दान देकर इस कार्य में दधीचि के गौरव की रक्षा की। ऐसा सुकवि नव-जयदेव विद्यापति गायन करते हैं।"[१]

---

१. दूर दुग्गम रमसि भंजेओ, गाढ़ गढ़ गूड़िय गंजेओ ।
पातसाह ससीम सीमा समर दरस ओ रे ॥
डोल तरल निसान सद्दहि, भेरि कोहल संख नद्दहि ।
तीनि भुवन निकेत केतिक सान भरिओ रे ॥
कोह नीर पयान चलिओ, वायु मध्ये राय गरुओ ।
तरनि तेअ तुलाधार परताप गहिओ रे ॥
मेरु कनक सुमेरु कम्पिय, धरनि पूरिय गगन झम्पिय ।
हस्ति तुरए पदाति पयभर कमन सहिओ रे ॥
तरल तर तरवारि रंगे, बिज्जुदाम छटा तरंगे ।
घोर घन संघात वारिस काच दरसेओ रे ॥
तुरए कोटिअ चाप चूरिअ, चारि दिसि सौं विदिस पूरिअ ।
बिषम सार अषाढ़ धरा धरानि भारिओ रे ॥
अंध कुअ कंबध लाइअ, फेरिबी फफ्फरिस गाइअ ।
रुहिर मत्त परेत भूत बेताल बिछलिओ रे ॥

(क्रमशः)

इस प्रकार विद्यापति की पदावली में वस्तु-वर्णन की विविधता के दर्शन होते हैं। उसका अधिक भाग तो शृंगार एवं प्रेम से परिपूर्ण पदों से ही भरा हुआ है, जिनमें आन्तरिक जगत् की अपेक्षा बाह्य जगत् का ही चित्रण अधिक हुआ है। किन्तु कुछ भाग ऐसे पदों से भी परिपूर्ण हैं, जिनमें भक्ति, शौर्य एवं वीरता के गीतों के साथ-साथ तत्कालीन समाज की मनोवृत्ति का चित्रण भी किया गया है। उदाहरण लिए ऐसे पद वे हैं, जिनमें कहीं बाल-विवाह का वर्णन मिलता है और कहीं विवाह के अवसर पर गाने के लिए हास्य, व्यंग्य, विनोद का पुट मिलता। ऐसे गीत ब्रज-प्रदेश में भी प्रचलित हैं। इन गीतों में शिव या गौरी के माध्यम से वर एवं वधू तथा उनके माता-पिता आदि पर व्यंग्य किया जाता है। ऐसे गीत विद्यापति ने भी लिखे हैं, जो लोक-गीतों की स्वस्थ परम्परा के द्योतक हैं तथा जिनसे हिन्दी के लोक-गीतों की दीर्घकालीन परम्परा का भी पता चल जाता है।

(२) **भाव एवं रस का निरूपण**—विद्यापति के पदों में भावों की विविधता के साथ-साथ शृंगार का ही आधिक्य दृष्टिगोचर होता है। शृंगार को रसराज माना जाता है। इसके रसराजत्व का मूल कारण यह है कि इसमें अन्य सभी रसों से अधिक भावों का समावेश देखा जाता है और यह रस मानव-जीवन की मूल भावना अथवा काम-वासना का ऐसा रंगीन चित्र अंकित करता है, जिसे देखकर प्रत्येक मानव का हृदय तरंगित हुए बिना नहीं रहता। विद्यापति ने इसी मूल भावना को प्रस्तुत करने वाले शृंगार का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इस शृंगार के दो भेद माने गये हैं, जिनमें से पहला संभोग अथवा संयोग-शृंगार कहलाता है, और दूसरे को विप्रलम्भ अथवा वियोग-शृंगार कहते हैं। विद्यापति ने शृंगार रस के दोनों भेदों का सांगोपांग वर्णन किया है, जो इस प्रकार है :

(क) **संयोग-वर्णन**—संयोग जीवन का हास है, यह भावों की मधुर मन्दाकिनी है, जिसमें स्नान करके मानव-हृदय आनन्द-विभोर हो जाता है। संयोग में स्वप्न-लोक के आनन्द-निर्झर कल-कल-ध्वनि से निनाद करते हुए प्रभावित होते हैं और यह जीवन की मधुर बेला का सुरभित उच्छ्वास है। इसी कारण यह कवियों एवं सहृदयों को सर्वाधिक आकृष्ट करता रहा है और इसी कारण सभी भाषाओं में संयोग-वर्णन की प्रचुरता मिलती है। विद्यापति ने भी इसी कारण अत्यधिक तन्मय होकर संयोग-पक्ष का अत्यन्त मादक एवं मनमोहक वर्णन किया है, जिसमें कहीं रति-क्रीड़ा की आनन्दमयी छवि है, तो कहीं स्पर्श-सुख का भावोन्मादपूर्ण चित्रण है, कहीं सुखद शय्या पर साथ-साथ शयन का मादक चित्रण है, तो कहीं नखक्षत, दन्तक्षत, चुम्बन, परिरम्भण आदि

पार परिपंथ गंजिअ, भूमि मंडल मुंड मण्डिय।
चारु चन्द्र कलेव चित्ति सुकेत की तुलिओ है रे॥
राम रूप स्वधम्भ सिक्खिअ, दान दप्प दधीचि रक्खिअ।
सुकवि नव जयदेव भनिओ रे॥

विभिन्न काम-केलियों का उन्मुक्त वर्णन है, कहीं अभिसार का वर्णन है, तो कहीं रति-गोपन की वैदग्ध्यपूर्ण युक्तियों का मनोहारी चित्रण है, कहीं मान करने की शिक्षा दी गई है, तो कहीं मान-मोचन की विधियाँ बताई गई हैं; कहीं नदी, सरोवर या वन की काम-क्रीड़ाओं के चित्र अंकित किये गये हैं, तो कहीं शास्त्रोक्त विपरीत रति का भी उल्लेख किया गया है। इस तरह विद्यापति ने संयोग काल से सम्बन्धित विविध व्यापारों, विभिन्न चेष्टाओं, अनेकानेक हाव-भावों, अगणित काम-क्रीड़ाओं आदि का उल्लेख अपने पदों में किया है।

सर्वप्रथम कवि ने नायक से मिलने के पूर्व ही नायिका के सुसज्जित होने एवं अन्य प्रकार की तैयारी करने का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है एक पद में राधा को उसकी सखियाँ समझा रही हैं—"हे सखी! श्रीकृष्ण के विलास-गृह में जाने से पूर्व अपने केश और बिन्दी को तो सजा लो और फिर आँखों में काजल लगा लो और देखो, जब तुम कृष्ण के समीप जाओ, तब वस्त्र से अंगों को छिपा लेना तथा वहाँ जाकर पहले नायक से दूर ही खड़ी रहना, जिससे वे उत्सुक होकर तुम्हारी ओर स्वयं बढ़ें। जब तुम बातें करो, तब मुख मोड़कर ही बातें करना तथा बार-बार लज्जा दिखाना। अपनी टेढ़ी कनखियों से ही उनके हृदय में कामदेव को जाग्रत करना तब अपने आधे उरोजों को ढके रखना और उनका आधा भाग ही खुला रखना जिसे वे देख सकें। अपनी नीबी-बन्धन को क्षण-क्षण में मजबूत करती रहना तथा बार-बार कुछ रूठने का भी भाव दिखाना। काम-केलि का कुछ रस बचा रखना, जिससे वे अतृप्त होकर बार-बार तुम्हारे पास आएँ। अब हम तुम्हें काम-केलि की अधिक शिक्षा क्या दें, स्वयं कामदेव ही गुरु बनकर तुमसे इसका सब भेद कहेगा।"[1] इसी प्रकार की अन्य कितनी ही शिक्षाओं का वर्णन विद्यापति ने किया है जो सखियों के द्वारा नायिका को दी गई हैं और जिनमें नायिका को काम-क्रीड़ा के लिए पूर्णतया तैयार किया गया है। नायिका के अतिरिक्त नायक को भी मिलने से पूर्व शिक्षा दी गई है। चतुर सखियाँ नायक कृष्ण को भी समझा रही हैं—"हे कृष्ण! आज ही यह नायिका हमारे साथ तुमसे काम-क्रीड़ा करने के लिए आई है। इसलिए यह भयभीत सी होकर हमसे चिपटती हुई तथा काँपती हुई आई है। हे कन्हैया! सुनो, हम निश्चयपूर्वक कह रही हैं कि वैसे हमने सब तरह इसे समझा दिया है, फिर भी इसके हृदय को हम नहीं समझा पाई हैं। वैसे भीतर से यह प्राणों से अधिक तुम्हें चाहती

---

[1] प्रथमहि अलक तिलक लेव साजि। चंचल लोचन काजर आंजि॥
जाएव वसन आँग लेब गोए। दूरहि रहब तें अरधित होए॥
मेरि बोलब सखि रहब लताए। कुटिल नयन देव मदन जगाए॥
झाँपब कुच दरसाओब आध। खन-खन सुदृढ़ करब निधि बाँध॥
मान करब किछु दर सब भाव। रस राखब तें पुन-पुन आव॥
हमकि सिखाओबि अओ रस रंग। अपनहि गुरु भए कहत अनंग॥

है, किन्तु उसे बाहर भयवश प्रकट नहीं करती। अत: इसके साथ सहज भाव से ही रति-क्रीड़ा करना, तभी यह केलि-विलास में चतुर नायिका का कर्त्तव्य निभा सकती है।"[1] इसी प्रकार सखियाँ नायक कृष्ण को प्रथम समागम के अवसर पर नायिका के साथ हठ न करने, सरल व्यवहार करने, जबर्दस्ती उसकी बाँह न पकड़ने, अनुराग के साथ आलिंगन करने, प्रीति-पूर्वक बातें करके समीप बैठने आदि की शिक्षाएँ देती हैं।

तदनन्तर कवि ने प्रथम समागम का बड़ा ही भावोन्मादपूर्ण वर्णन किया है—"नायिका सखियों के आश्वासन पर नायक के समीप सर्वप्रथम जाती है। उसका प्रियतम प्रफुल्लित हृदय से उसका स्वागत करता है और अपने हाथों से उसे पकड़ लेता है। परन्तु छूते ही वह नायिका चन्द्र-किरण के स्पर्श से मलिन कमलिनी की भाँति कुम्हला जाती है और बराबर 'नहीं-नहीं' कहती है। उसकी आँखों से आँसू झरने लगते हैं। प्रियतम के आलिंगन करते ही थर-थर काँपने लगती है।"[2] इत्यादि अनेक स्थितियों के चित्र कवि ने बड़ी ही सजीवता के साथ अंकित किए हैं, जिनमें कहीं मुग्धा नायिका की भयभीत स्थिति का, कहीं मुँह ढँककर सोने का, कहीं ऐंठने का, कहीं रूठने का, कहीं बलपूर्वक रति-क्रीड़ा करने आदि का वर्णन मिलता है। एक पद में तो कवि ने प्रथम मिलन के अवसर पर मुग्धा नायिका से मुक्त होने का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। नायक कृष्ण नायिका राधा से सुरत-दान माँग रहे हैं, किन्तु भोली-भाली राधा कह रही है—"हे चतुर! सुनो, मेरी नीवी का बन्धन छोड़ दो, मेरी गाँठ में अभी सुरत-धन नहीं है। मैंने तो आज ही 'सुरत' का नाम सुना है, न जाने 'सुरत' क्या काम करता है? फिर भी, जहाँ मिलेगा, वहीं इस 'सुरत' की खोज करूँगी। सखियों से पूछूँगी कि 'सुरत' घर में है भी या नहीं। हे माधव! एक बार मेरी बात तो सुनो! मैं 'सुरत' की खोज सखियों में करूँगी और माँगकर भी ला दूँगी।"[3] इस तरह नायिका विनय करके नायक से छुट्टी माँग रही है।

---

१. सुरते सिंगारि आज धनि आधेलि परसत थर-थर काँप।
सुनु हे कान्हु कहिए अवधारि।
सकल काज हम बुझल बुझाएल न गन बुझल अन्तर नारि।
अन्तर जीउ अधिक करि मानए बाहर न गन तरा से।
कह कवि सेखर सहज दिषय रत विदगधि केलि-विलासे॥

२. सखि परबोधि समय तल आनि। पिय हिय हरिस धएल निज पानि॥
छुवइत बालि माँलिन भइ गेल। विधु-कर मलिन कमलिनी मेलि॥
नहिं-नहिं कहइ नयन झर नोर। सूति रहिल रहि सयनक ओर॥
आँचल लेइ बदन पर झाँप। थिर नहि होइअ थर-थर काँप॥

३. सुन-सुन नागर निबि बंध चोर। गाँठि ते नहिं सुरत धन मोर॥
सुरत क नाम सुनल हम आज। न जानिए सुरत करए कौन काज॥
सुरत क खोज करब जहाँ पाब। घर कि अछए नाहिं सखि रे सुधाब॥
बेरि एक माधव सुनु मझु बानि। सखि सयँ खोजि माँगि देब आनि॥
विनति करए धनि माँगे परिहार। नागरि-चातुरि भन कवि कंठहार॥

तदनन्तर कवि के पदों में अभिसार का अत्यन्त सजीव चित्रण मिलता है। कवि ने अभिसार के समय नायिका के मार्ग में बाधक एवं साधक—सभी प्रकार की वस्तुओं का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। प्राय: अभिसार की दृष्टि से दो प्रकार की नायिकाएँ होती हैं—कृष्णाभिसारिका तथा शुक्लाभिसारिका। जो नायिका कृष्णपक्ष के अन्धकार में अपने घर से दूरस्थ प्रियतम से मिलने जाती है, वह कृष्णाभिसारिका कहलाती है और जो शुक्ल पक्ष की छिटकती हुई चाँदनी में अपने प्रियतम से मिलने घर से दूर जाती है, वह शुक्लाभिसारिका कहलाती है। कृष्णाभिसारिका के लिए अन्धकार घिरना, घनघोर बादल का छा जाना, गुरुजनों का निद्रामग्न होना आदि साधक वस्तुएँ मानी गई हैं और चन्द्रमा का निकल आना, प्रकाश होना आदि बाधक माने गये हैं। इसी तरह शुक्लाभिसारिका के लिए चन्द्रमा के प्रकाश का फैलना साधक है और अन्धकार होना बाधक माना गया है। कवि ने साधक एवं बाधक सभी वस्तुओं का वर्णन करते हुए 'अभिसार' के बड़े ही सजीव चित्र अंकित किये हैं। एक गीत में कवि ने कृष्णाभिसारिका के अभिसार का बड़ा ही सजीव चित्र अंकित करते हुए लिखा है—"आकाश में भयोत्पादक घने बादल छा रहे हैं, बिजली चमक रही है। बिजली के गिरने से झन-झन का शब्द भी सुनाई पड़ रहा है, और हवा भी बड़ी तीव्र गति से बह रही है। हे सखी! आज तो दुर्दिन हो गया। मेरे प्रिय जल्दी ही संकेत-स्थल पर चले गये और इधर चंचल बादल घनघोर गर्जन के साथ-साथ झर-झर बरस रहे हैं। वहाँ कृष्ण अकेले ही कैसे मेरी राह देखते होंगे—यह स्मरण करते ही मेरा शरीर थर-थर काँपता हुआ पराधीन हो रहा है। इसी समय गुरुजनों के नेत्रों को अन्धकार ने ढँक लिया है। अतएव हे सखी! अब क्या सोचती हो, जल्दी चलो जीवन के मध्य अग्रसर हो जाओ तथा विघ्नों की चिन्ता न करके शीघ्र ही अभिसार करो।"[1] इसके साथ ही कवि ने शुक्लाभिसारिका के अभिसार का भी बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। एक गीत में नायिका स्वयं कह रही है—"हे सखी! आज

---

[1] गगन अब घन मेह दारुन सघन दामिनि झलकई।
कुलिस पातन सबद झनझन पवन खरतर बल गई।
सजनी आजु दुरदिन भेल।
कंत हमार नितांत अगुसरि संकेत कुंजहि गेल।
तरल जलधर बरखि झरझर गरज घनघोर।
साम नागर एकले कइसन पंथ हेरह मोर।
सुमिरि मझु तनु अबस भेल जनि अथिर थर-थर काँप।
इ मझु तनु अवस भेल जनि अथिर थर थर काँप।
इ मझु गुरुजन नयन दारुन, घोर तिमिरहि झाँप।
तुरित चलं अब किए विचारत, जीवन मझु अगुसार।
कबी सेखर वचन अभिसार, किए से विघिन-विथार।

मैं अभिसार के लिए अवश्य जाऊँगी। इसके लिए न तो अपने गुरुजनों की परवाह करूँगी और न अपने वचन को ही तोड़ूँगी। मैं अपने सम्पूर्ण अंगों पर चंदन का लेप करूँगी और गजमुक्ताओं के आभूषण धारण करूँगी। मेरे अंजन से रहित दोनों नेत्र स्वच्छ प्रकाश करेंगे। मैं अपने शरीर को श्वेत वस्त्रों से ढककर धीरे-धीरे चलूँगी और जब आकाश में चन्द्रमा उदित होकर सब ओर अपना प्रकाश फैला देगा, तब चलूँगी। मैं मार्ग में किसी की चिन्ता न करूँगी। न तो मैं किसी को देखने से रोकूँगी और न कहीं छिपूँगी। अधिक चोरी से छिपा हुआ प्रेम ही प्रेम का मूल-स्रोत होता है।"[1] इस प्रकार कवि ने अभिसार के बड़े ही सजीव चित्र अंकित किये हैं, जिनमें कहीं-कहीं तो बाधक वस्तुओं को भी साधक के रूप में ही अंकित किया है। जैसे एक नायिका घने अंधकार में अपने प्रियतम से मिलने जा रही थी, तुरन्त मार्ग में एक सर्प उसके पैरों में लिपट गया तो नायिका इसे भी अपना हित ही समझने लगी, क्योंकि सर्प के लिपट जाने से उसके नूपुरों की ध्वनि बन्द हो गई।[2] इतना ही नहीं, कवि ने "पुरुष क वेष कएल अभिसार' कहकर नायिका को पुरुष का वेष बनाकर अभिसार करते हुए अंकित किया है। साथ ही ग्रीष्म की तप्त वेला में भी नायिका को अभिसार हेतु जाते हुए बताया गया है। कवि के इस अभिसार-वर्णन में नायक तथा नायिका दोनों की उभय-पक्षी प्रीति का बड़ा ही मार्मिक चित्रण मिलता है तथा यहाँ परकीया के प्रेम का ही चित्रण अधिक हुआ है, जिसमें तीव्रता है, लगन है, अनुरागाधिक्य है और है दुर्वार गति, जिसके बल पर एक कामिनी अपने मन के रथ पर सवार होकर बाधाओं की तनिक भी परवाह न करती हुई प्रियतम से मिलने के लिए आतुर होकर जाती हुई अंकित की गई है।

अभिसार के अतिरिक्त कवि ने संयोग-शृंगार के अन्तर्गत ही रति-गोपन सम्बन्धी व्यापार का बड़ा ही सजीवता के साथ उल्लेख किया है रति गोपन के लिए नायिका बड़ी-बड़ी कुशल युक्तियों का सहारा लेती है। कहीं वह स्वप्न के बहाने से रति को छिपाती है, कहीं होंठ पर क्षत के चिह्न को भ्रमर द्वारा दंशित बताकर बहाना करती है, कहीं उरोजों पर अंकित नख-क्षत को मयूर के द्वारा नाखून मार

---

[1] सखि हे, आज जांयब मोहि।
घर गुरुजन डर न मानव वचन चूकब नाहिं॥
चानन आनि-आनि अंग लेपब भूषन कए गजमोति।
अँजन विहुन लोचन-जुगुल धरत धवल जोति॥
धवल बसन तनु झँपाएब गमन करब मन्दा।
जइयो सगर गगन ऊगत सहस-सहस चन्दा॥
न हम काहुक डीठि निबारवि न हम करब ओत।
अधिक चोरी पर सयं करअ एहे सिनेह क सोत॥

[2] चरन बेढ़लि फनि हित मानलि धानि नेपुर न करए रोर॥

देने का बहाना बनाती है। कभी वह यह बहाना करती है कि फूल तोड़ते समय भ्रमर ने मेरे होठों पर अपना डंक मार दिया है, कभी यह कहती है कि मेरे उरोजों को तोते ने दाड़िम समझा और उसी ने अपनी चोंच मारकर यह घाव कर दिया है। कभी वह यह बहाना बनाती है कि मैं तैर कर नदी पार कर रही थी, तभी नदी में मेरा कुण्डल गिर पड़ा। उसे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते शाम हो गई और रात के अँधेरे में मुझे आना पड़ा तो मार्ग में काटों में उलझने से मेरे उरोजों पर क्षत हो गये। एक पद में वह रति को छिपाती हुई अपनी सखी से कह रही है कि "मैंने कौतूहलवश कमल के फूल को अपना शिरोभूषण बनाने के लिए जैसे ही नाल-सहित तोड़ा, वैसे ही कमल-कोष में से क्रोधित भ्रमर ने निकल कर मेरे होंठ में काट लिया। सिर पर भारी घड़ा था, जिससे सिर स्थिर न रह सका और मेरे केश अस्त-व्यस्त हो गये। मैं सखियों से पीछे रह गई थी, जिससे तेजी से चलने के कारण मेरी साँस तेज चलने लगी। मार्ग में मेरे निन्दकों ने मेरे कलंक का प्रचार करना शुरू कर दिया था, परन्तु मैंने वही उत्तर दे दिया और क्रोध के कारण मैं अधीर हो गई, जिससे मेरी आवाज भर्राई सी हो गई है।"[1] इसी तरह और भी अनेक प्रकार की रति-गोपन सम्बन्धी बातें विद्यापति के पदों में मिलती हैं, जिसमें उक्ति-वैचित्र्य के साथ-साथ नारी की विदग्धता के मनमोहक चित्र भी बड़ी ही मार्मिकता के साथ अंकित हैं।

कवि ने काम शास्त्र के आधार पर 'मान' एवं मान-भंग सम्बन्धी पद भी लिखे हैं। इन पदों में नायिका सखी से मान करने की शिक्षा लेकर नायक के सम्मुख मान करती है और शपथ दिलाने पर भी अपना मान नहीं छोड़ती। नायक की सखियाँ उसे हर तरह से समझाती हैं और प्रियतम से मिलने तथा प्रिय की मनोव्यथा दूर करने की सलाह देती हैं, फिर भी नायिका अपना मान नहीं छोड़ती। उसके मान का कारण यह है कि नायक कृष्ण रात को किसी और नायिका के समीप रहे हैं और उनकी लाल-लाल आँखें, हृदय पर लगी केसर, होठों पर लगे काजल, मस्तष्क पर लगे महावर आदि के कारण उनकी कलई खुल गई है। परन्तु कृष्ण भी बड़े ही चतुर नायक हैं। वे भी रति-गोपन की बड़ी युक्तियाँ जानते हैं। इसी कारण राधा के सामने अपनी चोरी छिपाते हुए कह रहे हैं—"हे सुन्दरी! मेरी बातों को ध्यान से सुनो, बिना ही अपराध के मुझसे अन्यथा बातें मत करो। देखो, मैंने रात भर जागकर महादेव जी की पूजा की है, इसीलिए आने में देरी हो गई। पूजा के समय ही कस्तूरी

---

[1] कौतुल कमल नाल सयँ तोरल करए चाहल अवतंसे।
रोष कोष सयँ मधुकर अओल तेहि अधर करु दंसे॥
गरुअ कुम्भ सिर थिर नहिं थाकए तें उधसल केस-पास।
सखि जन सयँ हम पाछे पड़िलहु तें भेल दीघ उसास॥
पथ अपवाद पिसुन पर चारल तथिहु उत्तर हम देला।
अमरख चाहि धैरज नहिं रहले तै गदग सर भेला॥

और केशर लग गई हैं। मन्त्रों का अधिक उच्चारण करने के कारण ही होठों की लालिमा जाती रही है और रात भर पूजा में जागने से आँखें लाल हो गई हैं। इसी से तुम मुझे चोर कह रही हो।"[१] इतना ही नहीं, आगे चलकर चतुर नायक की शपथ का बड़ा ही विशद वर्णन किया है। पहले तो नायक कृष्ण राधा का मान-मोचन करने के लिए उसके उरोज रूपी स्वर्ण के घड़ों तथा हार रूपी सर्पिणी पर हाथ रखकर शपथ खाते हैं, क्योंकि सोना और सर्प छूकर शपथ खाना प्रामाणिक माना जाता है। इतने पर भी विश्वास न हो तो फिर स्वयं अपने दण्ड की भी व्यवस्था करते हैं। यह दण्ड की व्यवस्था बड़ी ही अद्भुत एवं विचित्र है इसमें कृष्ण कहते हैं कि "यदि मेरे वचन पर विश्वास न हो तो मुझे भुजा रूपी जंजीर से बाँधकर, मार-पीटकर जंघाओं के नीचे डालकर उरोज-रूपी भारी पत्थर मेरे हृदय पर रख देना और दिन-रात हृदय रूपी कारावास में बाँधकर रखना।"[२] इस मान सम्बन्धी पदों में नायिका राधा अपने नायक कृष्ण को विलासी, लम्पट, पिशुन, गँवार, शठ आदि तक कह डालती है और ऐसे नायक के पास रहने की अपेक्षा अपने यौवन को जला डालने का भी विचार करती है। उधर नायक कृष्ण राधा का मान भङ्ग करने के लिए कभी उसके पैरों पर लेटते हैं, कभी बहाने बनाते हैं और कभी जोगी का वेश बनाकर अपने छद्मवेश द्वारा राधा का मान-मोचन करते हैं। मान-मोचन के बारे में कृष्ण एक पद में योगी का वेश धारण करके राधा की सास को चकमा देकर तथा राधा पर दुष्ट ग्रहों का प्रभाव बताकर उसे वन में शिव-लिंग की पूजा करने तथा वहीं बीज मन्त्र का दान देने की बात कहते हैं एक दूसरे पद में ओझाइन का रूप धारण कर राधा का मान भङ्ग करते हैं। इतना ही नहीं, कवि ने संयोग पक्ष का वर्णन करते हुए 'विदग्ध विलास' के अन्तर्गत शास्त्रोक्त विपरीत रति का भी वर्णन किया है, जिसमें नायिका के शरीर के वस्त्र गिरने, उरोजों के उलटने, नितम्बों के डगमगाने, कंकण-किंकणी की आवाज होने, वेगपूर्वक श्वास चलने आदि का वर्णन किया है।

इस प्रकार विद्यापति ने संयोग शृंगार का वर्णन अत्यन्त मादक एवं मार्मिक

---

[१] सुन सुन सुन्दरि करि अवधान। बिनु अपराध कहसि काहे आन॥
पुज लौं पसुपति जामिनि जागि। गमन बिलम्ब भेल तेहि लागि॥
लागल मृगमद कुंकम दाग। उचरइत मन्त्र अधर नहिं राग।
रजनि उजागरि लोचन घोर। ताहि लागि तोहे मोसे बोलसि चोर॥

[२] ए धनि मानसि करह संजात
तुअ कुच हेम घट हार भुजंगिनि ताक उपर धर हात।
तेहे छोड़ि जदि हम परसब कोय। तूअ हार-नागिनि काटब मोय॥
हमर बचन यदि नहिं परतीत। बुझि करह साति जे होय उचीत॥
भुज-पास बाँधि जघन-तर-तारि। पयोधर-पाथर हिय दह भारि॥
उरकारा बाँधि राख दिन-राति। विद्यापति कह उचित इह साति॥

है। उसमें काम-शास्त्र का अनुसरण किया गया है और साहित्य-शास्त्रों में वर्णित काम-क्रीड़ाओं के आधार पर पद-रचना की गई है। इन पदों में कवि ने काम-विदग्ध नायक-नायिका की रति-क्रीड़ा, प्रणय-लीला, हास-विलास, प्रेम-व्यापार आदि का स्वच्छन्दता के साथ वर्णन किया है। इनमें कहीं मिलने की तैयारियाँ हो रही हैं, तो कहीं विभिन्न काम-क्रीड़ा चल रही हैं। कहीं कृष्ण राधा का शृङ्गार कर रहे हैं तो कहीं राधा कृष्ण को चोली पहना रही है, उनके केश सँवार रही है, उनकी नीवी बाँध रही है और किंकण पहना रही है। इस तरह आनन्द एवं उल्लासमय जीवन की विविध झाँकियाँ इन संयोग सम्बन्धी पदों में विद्यमान हैं, जिनमें 'सुरत' के पूर्व की तैयारी से लेकर 'सुरतान्त' की अस्त-व्यस्त अवस्था तक का वर्णन कवि ने बड़े ही मोहक एवं प्रभावशाली ढंग से किया है।

(ख) **विरह-वर्णन**—संयोग और वियोग जीवन के दो पहलू हैं। दोनों से जीवन परिपूर्ण होता है और दोनों से ही एक-दूसरे के महत्त्व का ज्ञान होता है, क्योंकि संयोग यदि आह्लादमय प्रभात है तो वियोग विषादमयी संध्या है, संयोग यदि हास है तो वियोग अश्रु है, संथोग यदि वसन्त है तो वियोग पतझड़ है, संयोग यदि शीतल जल की धारा है तो वियोग अग्नि की तप्त लपट है। और जिस तरह संध्या से प्रभात का, अश्रु से हास का, पतझड़ से वसन्त का और तप्त अग्नि से शीतल जल को धारा का महत्त्व ज्ञात होता है, उसी तरह संयोग से विरोग का महत्त्व प्रतीत होता है। यही वियोग विरह भी कहलाता है। इस विरही में कितनी कसक, कितनी पीड़ा, कितनी वेदना एवं कितनी व्यथा होती है, इसका अनुभव या तो विरह-जन ही करते हैं या फिर कवि ही कर सकते हैं, क्योंकि कवि अपनी कल्पना एवं अनुभूति के सहारे अगम्य लोक में भी विचरण कर सकता है।

शास्त्रीय दृष्टि से विरह विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत आता है। साहित्य-शास्त्र में विरह के चार भेद बताये गये हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। विद्यापति ने इन चारों भेदों में केवल मान तथा प्रवाह सम्बन्धी विरह का ही वर्णन किया है। इनमें से भी प्रवास सम्बन्धी विरह अधिक मार्मिक है। वैसे भी विरह का यही भेद सबसे अधिक व्यथा, पीड़ा एवं वेदना को उत्पन्न करने वाला माना गया है, क्योंकि 'प्रवास' के कारण प्रेमी के हृदय को दो प्रकार के दुःख निरन्तर सताया करते हैं। एक तो वह प्रिय के अभाव से दुःखी रहता है और दूसरे वह प्रिय के दुखों का अनुमान करके सदैव कष्ट झेला करता है। विद्यापति ने अपने विरह-वर्णन में नायिका को प्रिय के अभाव में अत्यधिक दुःखी चित्रित किया है। अतएव यहाँ प्रवास-जन्य विरह में से भी पहले प्रकार के विरह की ही अधिक व्यंजना हुई है।

विद्यापति ने विरह का वर्णन वहाँ से आरम्भ किया है, जहाँ नायिका विविध हास-विलासमयी क्रीड़ाओं के बीच में अचानक अपने प्रियतम के विदेश-गमन की चर्चा सुनती है, तो वह विह्वल एवं बेचैन हो उठती है, उस पर वज्र सा टूट पड़ता

है और वह हतबुद्धि होकर यह भी नहीं समझ पाती कि अब कैसे प्रियतम को विदेश जाने से रोका जाय। इस समय एक ओर तो उसका यौवन पूर्ण विकास को प्राप्त है और दूसरी ओर उसका प्रियतम विदेश जा रहा है। इन दोनों कष्टों के बीच में यह पिसने लगती है और यहाँ तक सोचने लगती है कि "जेहि खन हन मन जाएव चितव हमहु मरब धसि आगी" अर्थात् जिस क्षण वे जाने की सोचेंगे, मैं आग में कूदकर मर जाऊँगी। इतना ही नहीं, वह 'माधव, तोहे जनु जाइ विदेस' कहकर नायक को विदेश जाने से रोकना चाहती है और "वनहि गमन करु होएति दोसर मति बिसरि जाएव पति मोरा" कहकर यह भी सूचित कर देती है कि वन में जाते ही तुम्हारी बुद्धि बदल जायेगी तथा तुम मुझे भूल जाओगे। किन्तु फिर भी नायक कृष्ण उसे रात को अकेला सोता हुआ छोड़कर मथुरा चले जाते हैं और चकवा-चकवी का यह जोड़ा बिछुड़ जाता है। उनके गमन का समाचार पाते ही नायिका राधा बड़ी दुःखी होती और कहती है कि "कल शाम को ही तो ही प्रियतम ने मुझसे कहा था कि मैं मथुरा जाऊँगा" किन्तु मुझ हतभागिनी को इसका पता भी नहीं चला, नहीं तो मैं योगिनी का वेश धरकर उनके साथ अवश्य चली जाती। अरे, रात में एक शय्या पर तो मैं उनके साथ सोई हुई थी, किन्तु पता ही नहीं चला कि वे किस समय मुझे छोड़कर चले गये और चकवा का यह जोड़ा बिछुड़ गया। आज प्रियतम के बिना सूनी शय्या मेरे हृदय को व्यथित कर रही है। हे सखी! मैं प्रार्थना करती हूँ कि मेरे लिए चिता तैयार कर दो।"[1]

विरह के कारण विद्यापति की नायिका संतप्त तो अधिक दिखाई देती है, परन्तु उस संताप का सबसे प्रबल कारण यह कि वह युवती है और प्रिय के चले जाने से उसका यौवन व्यर्थ ही चला जायेगा। यहाँ उसे न तो अन्य किसी अपने कष्ट का ध्यान जाता है और न वह प्रियतम के ही किसी कष्ट के कारण दुःखी है, अपितु उसे रह-रहकर उसे यही ध्यान आता है कि "जोबन बिनु तन, तन बिनु जोवन की जोबन पिय दूरे" अर्थात् यौवन के बिना शरीर व्यर्थ है, शरीर के बिना यौवन व्यर्थ है, और जब प्रियतम दूर हों तो यह शरीर और यौवन दोनों ही व्यर्थ हैं, क्योंकि फिर यौवन का होगा? अब उसे फूलों पर रमण करते हुए भ्रमर संतप्त करते हैं, कुहू-कूहू करती कोयल सताती है; कस्तूरी, चन्दन, कुंकुम आदि के लेप अच्छे नहीं लगते

---

[1] कालि कहल पिया ए साँझहि रे, जाएब मौयँ मारुअ देस।
मोय अभागलि नहिं जानलि रे, संग जहतओं जोगिन वेस।
हृदय मोर बड़ दारुन रे, पिया बिनु बिहरि न जाए।
एक सयन सखि सूतल रे, आछल बालम निस मोर।
न जानल कति खन तेजि गेल रे, बिछुरल चकेवा जोर।
सून सेज हिय सालए रे, पिया बिनु घर मोयँ आजि।
विनति करओं सह लोलिनि रे, मोहि देर अगिहर साजि।

चन्द्रमा जलाने लगता है और वह यही सोचती है कि "पिया विसलेख अनल जो वसिए विपति चिन्हिए भल मन्दा" अर्थात् प्रियतम के वियोग में, मैं यदि आग में कूद जाती और तब दूसरों को मेरे कष्ट का पता चलता तो अच्छा रहता। किन्तु वह क्या करे ? उसकी नींद जाती रहती है, सारे सुख नष्ट हो जाते हैं, दिन गिनते-गिनते उसके नाखून घिस जाते हैं, राह देखते-देखते उसकी आँखें अन्धी हो जाती हैं, किन्तु उसका परदेशी प्रियतम लौटकर नहीं आता।

विद्यापति ने अपने विरह-वर्णन के अन्तर्गत शास्त्रोक्त ग्यारह काम-दशाओं का भी बड़ी सुन्दरता के साथ वर्णन किया है। साहित्य-शास्त्रों में 'अभिलाषा', 'चिन्ता', 'स्मरण', 'गुण-कथन', 'व्याधि', 'मूर्च्छा', 'उद्वेग', 'प्रलाप', 'जड़ता', 'उन्माद', और 'मरण' नामक ग्यारह काम-दशाओं का उल्लेख मिलता है। विद्यापति के पदों में उक्त सभी काम-दशाएँ विरहिणी के अन्तर्भावों को प्रगट करती हुई बड़ी मार्मिकता के साथ अभिव्यक्त हुई हैं, क्योंकि कहीं पर विरहिणी नायिका "मन करे तहाँ उड़ि जाइअ जहाँ हरि पाइअ रे" कहकर प्रियतम के समीप उड़कर पहुँचने की 'अभिलाषा' व्यक्त कर रही है, तो कहीं वह "ई नव यौवन विरह गमाओब कि करव से पिया गेहे" कह कर यह 'चिन्ता' प्रकट कर रही है कि यदि मैंने अपनी यह नई जवानी विरह में ही गँवा दी तो प्रियतम घर आकर ही क्या करेंगे ? कहीं विरहिणी "एक सयन सखि सूतल रे आछल बालम निसि मोर" कहकर उस रात्रि का 'स्मरण' कर रही है, जिस रात्रि में वह प्रियतम के पास ही शय्या पर सोई हुई थी, किन्तु उसे सोता हुआ ही छोड़कर उसका प्रियतम परदेश चला गया था, तो कहीं वह 'पहले पिय मोर सुख मुख हेरि हेरि" आदि कहकर अपने प्रियतम के 'गुण-कथन' में लीन दिखाई देती है। इसी प्रकार कहीं "सून सेज हिअ सालए रे पिया बिनु घर मोयँ आजि" कहकर विरहिणी की 'व्याधि' नामक अवस्था का चित्रण मिलता है, तो कहीं "मुरुछि खसल महि न रहिलि थीर" कहकर विरहिणी की 'मूर्च्छा' का वर्णन किया गया है इसी भाँति कहीं "आबए साओन बरखि माओन घन सोहाओन, वारि पंचसर-सर छुटते रे कइसे जीअए बिरहन नारि" कहकर उस विरहणी की 'उद्वेग' नामक काम-दशा का चित्र अंकित किया गया है, तो कहीं "कह तू कह सखि तु बोल सखि रे हमर पिया कौन देस रे" कहकर उस विरहिणी की 'प्रलाप' नामक दशा का चित्रण किया गया है। ऐसे ही "सखि खब आए खेलाओल रंग करि तसु मन किचुओं न बोधे" कहकर कवि ने उस विरहिणी की 'जड़ता' को चित्रित किया है तो "अनुखन माधव सुमरइत सुन्दरि भेलि मधाई" कहकर कवि ने विरहिणी की 'उन्माद' नामक दशा का वर्णन किया है और "हा हरि हा हरि कहतहि बेरि अब जिउ करब समाधा" कहकर कवि ने विरहिणी की मरण दशा की ओर भी संकेत किया है।

इस तरह शास्त्रोक्त सभी काम-दशाएँ इन विरह के पदों में विद्यमान हैं, किन्तु इन पदों में शास्त्रोक्त दशाओं के अतिरिक्त विरहिणी की अन्य दशाएँ कहीं अधिक मार्मिकता एवं स्वाभाविकता के साथ अंकित दिखाई देती हैं क्योंकि विद्यापति ने

अपनी तीव्र अनुभूति एवं गहन भाव-तल्लीनता के साथ विरहिणी की स्थिति का अध्ययन करके उसकी विभिन्न परिस्थितियों में जो-जो विभिन्न दशाएँ होती हैं, उनका वर्णन बड़ी ही कुशलता के साथ किया है। उदाहरण के लिए विरहिणी की उस शक्ति को ले सकते हैं, जिसमें वह यह कल्पना कर रही है कि "मैंने अपनी आँखों के जल से सींचकर अपनी आशा रूपी लता को लगाया था। अब उस लता का फल परिपक्व होकर तरुणावस्था को पहुँच गया है और मेरे अंचल में भी नहीं समाता। हे सखी ! वास्तव में वह जाने के समय मेरे कच्चे फल को ही देख गये थे, जिसे देखकर उन्हें निराशा हुई थी, किन्तु वह फल दिन-प्रतिदिन तरुण होता चला जा रहा है और अभी तक उन्हें यह ज्ञात नहीं हुआ है।"[1] विरहिणी के इस कथन में वैसे काम की प्रबलता है, फिर भी उसके कथन में कितनी बेबसी एवं कितनी व्यग्रता है—यह देखते ही बनता है।

ऐसे ही कवि ने विरहिणी की उस दयनीय दशा की ओर भी संकेत किया है, जिसके फलस्वरूप वह समाज में अपने को अत्यन्त निरादृत एवं तिरस्कृत पाती है, क्योंकि समाज में उसी नारी का सम्मान होता है, जिसका पति उसके साथ होता है। वह नारी प्रतिष्ठा प्राप्त करती है, जो जो पति के साथ रहती है। पति के बिना न उसे कोई घर में और न बाहर ही आदर देता है, क्योंकि पति के बिना वह रस-विहीन पुष्प तथा जल-रहित तालाब की भाँति उपेक्षणीय हो जाती है। इसी कारण विरहिणी कह रही है कि "अब मैं फीकी एवं रसविहीन पुष्प की तरह हो गई हूँ। भला जल-रहित तालाब को कोई पूछता है ? हे सखी ! मेरी यह प्रार्थना तुम आर्त्त स्वर में उनसे कहना, क्योंकि सज्जन का कथन कभी निष्फल नहीं होता। जब तक धन अपने हाथ में रहता है, तब तक सभी इष्ट-मित्र उसका आदर करते हैं। वैसे ही धन वालों का आदर सर्वत्र होता है, पर बेचारे धन-हीन को कोई नहीं पूछता।"[2]

इसके अतिरिक्त कवि ने विरहिणी को प्रत्येक ऋतु में अत्यन्त पीड़ित एवं व्यथित दिखाया है। वर्षा ऋतु तो विरही जनों के लिए अत्यधिक दाहक मानी गई है। मेघदूत का यक्ष जब आषाढ़ के प्रथम दिन प्रगाढ़ वेदना एवं तीव्र संताप का शिकार

---

[1] आसक लता लगाओल सजनी नयन क नीर पटाय।
से फल अब तरुनत भेल सजनी आँचर तर न समाय।
काँच साँच पहु देखि गेल सजनी तसु मन भेल कुहभान।
दिन-दिन फल तरुनत भेल सजनी अहु खन न करु गेआन।

[2] अब भेल झाल कुसुम रस छूछ। बारि विहून सर केओ नहिं पूछ॥
हमरि ए विनती कहब सखि रोय। सुपुरुष वचन अफल नहिं होय॥
जाबे रहइ धन अपना हाथ। ताँबे से आदर संग साथ॥
धनिक क आदर स सब कहँ होय। निरधन बापुर पुछय न कोय॥

बन गया था, फिर भला विद्यापति की विरहिणी वर्षा काल में कैसे जीवित रह सक है ? इसीलिए तो वह पुकार रही है—"के पतिआ लए जाएत रे मोरा प्रियतम पा सिह नहि सहए असह दुख रे भेल साओन मास।" विरहिणी की इस पुकार में, इ विवशता में एवं इस प्रलाप में कितनी व्यथा एवं वेदना भरी हुई है जिसे अपनी ती अनुभूति के सहारे कवि ने व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त कवि ने 'बारहमासे' भी वर्णन किया है और बारह मास के विरह की उत्कट वेदना का चित्र अंकित कर हुए कवि ने जो मार्मिक कल्पनाएँ की हैं, वे सहृदयों को भाव-विभोर कर देती है इस 'बारहमासे' में असाढ़ से लेकर जेठ मास तक का वर्णन किया गया है। इसमें माघ मास का वर्णन तो अत्यन्त हृदयद्रावक है, क्योंकि माघ के महीने में भयंकर शी पड़ रहा और उधर नायिका बारीक चोली में शिशिर की भयंकर शीतलता मुकाबला करती हुई कह रह रही है—"माघ के महीने में अत्यधिक बर्फ पड़ने लगे बारीक चोली में मेरे उन्नत उरोज हैं और उन पर हार भी हैं। उधर सौभाग्यव स्त्रियाँ तो अपने-अपने प्रिय की गोद में सो गईं, किन्तु विधाता की कुदृष्टि से मेरा भाग्य-फूट गया है, क्योंकि मुझसे ही विधाता रूँठा हुआ है।"[1] विरहिणी की उक्ति में कितनी टीस, कितनी कसक एवं कितनी वेदना भरी हुई है, क्योंकि शीतकाल एक संयोगी व्यक्ति के हृदय को विकम्पित कर देता है, तब फिर वियो व्यक्ति की हालत क्या होती होगी, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। सौभाग्यवती स्त्रियों की दशा से अपनी दशा की तुलना करने पर एक विरहिणी का हाल हो सकता है, इसकी सजीव कल्पना कवि विद्यापति ने ही की है। इसी त कवि ने वर्षा, शरद, शिशिर, हेमंत, वसंत, ग्रीष्म आदि ऋतुओं में विरहिणी की दशा होती है, वह प्रियतम के बिना कैसी तड़पती है, कैसे बेचैन होती है और तरह अपने यौवन के विकास को देखकर उसे भी फटकार लगाती है आदि-आदि के बड़े ही भावोन्मादपूर्ण चित्र अंकित किए हैं।

विद्यापति ने अश्रु बहाती हुई वियोगिनी की नदी में स्नान करके तप करने वाली योगिनी से जो तुलना की है, वह अत्यन्त चमत्कारपूर्ण है। उसमें कह रहा है—"आँखों के अश्रुओं से नदी का निर्माण करके वह चन्द्रमुखी उसी में करती है। कमल-नाल को माला बनाकर रात-दिन तुम्हारा ही नाम जपती रहती हे कृष्ण ! वह विरहिणी राधा वृन्दावन में तपस्या कर रही है। उसकी हृदय वेदी पर काम रूपी अग्नि जलती रहती है। वह प्राणों की समिधा बनाकर स्मरण को अग्नि बनाकर अपना ही होम कर रही है। हे कृष्ण ! अब तुम्हें ही का भागी बनना पड़ेगा। वह केश रूपी कुशा को सँभाल कर हाथ में रखती है अपने उरोजों को फलोपहार बना रही है। इस तरह हे कृष्ण ! वह युवती तु

---

१. माघ मास घन पड़ए तुसार। झिलमिल केचुआँ उनत थन हार॥
पुनमति सूतल पियतम कोर। विधि वस दैव बाम भेल मोर॥

ही बाट जोट रही है।"[1] विद्यापति के इस वर्णन में विरह की गम्भीरता के स्थान पर कामुकता की प्रधानता है, क्योंकि कवि ने विरहिणी के हृदय में व्याप्त विरह-वेदना की तीव्रता के स्थान पर उनके अङ्ग-अङ्ग में व्याप्त कामाग्नि का ही वर्णन किया है।

इतना ही नहीं, कवि ने अपने विरह-वर्णन में संस्कृत कवियों की प्राचीन परम्परा का भी अनुसरण किया है, जिसके फलस्वरूप यहाँ पर भी विरहिणी रात्रि में चन्द्रमा को दूर करने के लिए काजल से राहु का चित्र बनाती है, मलय पवन को भगाने के लिए काले सूर्य का चित्र बनाती है, कामदेव को डराने के लिए शिव-शिव कहती है अथवा उरोज रूपी शिव की आराधना करती है कोयल को दूर भगाने के लिए कौआ को खीर देकर निकट बुलाती है। इतने पर भी कवि ने विरहिणी की क्षीणावस्था का तथा उसकी तल्लीनता का बड़ा की सजीव वर्णन किया है। विरहिणी की भाव-तल्लोनता एवं प्रेम की पराकाष्ठा का चित्र अंकित करते हुए कवि ने विरहिणी राधा को इतना भाव-विभोर दिखाया है कि वह रात-दिन माधव-माधव रटते-रटते अपने को माधव ही समझने लगती है और 'माधव-माधव' रटने के स्थान पर 'राधा-राधा' पुकारने लगती है, परन्तु होश आते ही फिर वह अपने माधव के लिए विकल हो जाती है। इस तरह दोनों ही अवस्थाओं में वह विरह से अत्यन्त व्यथित अंकित की गई है।[2]

सारांश यह है कि विद्यापति ने विरहावस्था का बड़ा ही सजीव एवं मार्मिक वर्णन किया है, जिसमें कवि की गहन अनुभूति, तीव्र संवेदना, मनोभावों के चित्रण की अपूर्व क्षमता, भाव-निरूपण की अद्भुत कला, वर्णन-कुशलता, भाव-सरसता आदि के दर्शन होते हैं, परन्तु कवि विरह की गहन स्थिति के चित्रण की अपेक्षा विलासिता एवं कामुकता के प्रदर्शन में ही अधिक संलग्न दिखाई देता है। उसने विलासिता की पृष्ठभूमि से ही सम्पूर्ण विरह-व्यथा को अंकित किया है और कामातुरता के आधार पर ही विरहिणी की वेदना को परखने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि हृदय

---

[1] लोचन नीर तटनि निरमाने। करए कलामुखि तथिहि सनाने।
सरस मृनाल करइ जपमाली। अहोनिस जप हरिनाम तोहारी।
वृन्दावन कान्हु धनि तप करई। हृदय-वेदि मदनानल बरई।
जिव कर समिधि समर कर आगी। करति होम वध होएब भागी।
चिकुर बरहि रे समरि कर लेअइ। फल उपहार पयोधर देअई।
भनइ विद्यापति सुनहु मुरारी। तुअ पथ हेरइत अछि वर नारी।

[2] अनुखन माधव माधव सुमरइत सुन्दरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि विसरल अपने गुन लुबुधाई॥
राधा सयँ जब पुनतहि माधव माधव सयँ जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहि टूटत बाढ़त विरहक बाधा॥

की गूढ़ दशाओं का चित्र प्रस्तुत करने की अपूर्व क्षमता रखते हुए भी कवि एक विरहिणी की मार्मिक व्यथा को कामुकता एवं विलासिता से परे विशुद्ध प्रेम की पृष्ठभूमि पर स्थापित नहीं कर सका है। उसके सम्पूर्ण विरह-वर्णन में काम-पीड़ा की गंध आती है, विरह-वेदना की नहीं; उसमें काम-आराधना की प्रबलता दिखाई देती है, प्रिय-आराधना की नहीं; वह विरहिणी प्रियतम के दूर चले जाने के कारण उतनी दुःखी नहीं है, जितनी कि अपने यौवन के उपेक्षित रहने से दुःखी है। अतः विद्यापति के विरह-वर्णन में कामुकता एवं विलासिता का ही आधिक्य है।

(३) **प्रकृति-चित्रण**—प्रकृति मानव की चिर सहचरी है। मानव के सम्पूर्ण दुःख-सुख, आशा-आकांक्षा, आनन्द-उल्लास आदि में प्रकृति का बड़ा हाथ रहा है। इसीलिए मानव आरम्भ से प्रकृति से प्रेरणा लेता आया है और उसने अपने हृदयोद्गारों में प्रकृति के मंजुल रूप की बड़ी ही मनोरम झाँकियाँ अंकित की हैं। किन्तु प्राचीन कवि प्रकृति के स्वतन्त्र एवं उन्मुक्त रूप के चित्रण में उतने लीन दिखाई नहीं देते, जितने कि उसके उद्दीपन रूप पर विमोहित हुए हैं। प्रायः सभी प्राचीन कवियों को प्रकृति भावों को उद्दीप्त करती हुई दी दिखाई दी है। इसका मूल कारण यह है कि साहित्य-शास्त्रों में प्रकृति को उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। इसी कारण शास्त्राज्ञा का पालन करते हुए इन प्राचीन कवियों ने प्रकृति को कभी स्वच्छन्द एवं स्वतन्त्र रूप से देखने की चेष्टा नहीं की, अपितु सभी कवि प्रकृति को उद्दीपन-विभाव के झरोखे से ही देखते रहे, जिसके फलस्वरूप हिन्दी की प्राचीन कविताओं में प्रकृति कहीं पर भी न तो उन्मुक्त हास-विलास करती हुई दिखाई देती है और न कहीं उसकी स्वतन्त्र क्रीड़ाएँ ही दृष्टिगोचर होती हैं, वरन् वह केवल विरही जनों को संतप्त करती हुई अथवा भोगी जनों को और भी अधिक उन्मत्त एवं मदमत्त बनाती हुई ही दिखाई देती है। परन्तु विद्यापति ने अपने कुछ पदों में प्रकृति के स्वतन्त्र एवं आलम्बन रूप का भी चित्रण किया है। इसीलिए विद्यापति का प्रकृति-चित्रण आलम्बन एवं उद्दीपन दोनों रूपों में मिलता है।

आलम्बन रूप में प्रकृति की मनोरम झाँकी अंकित करते हुए विद्यापति ने 'वसंत' का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है। 'वसन्त' वर्णन के अन्तर्गत कवि ने ऋतुराज के जन्म से लेकर उसकी राज्य-प्राप्ति तक का उल्लेख बड़ी ही सजीवता एवं कुशलता के साथ किया है। कवि का कथन है कि माघ मास में शुक्ला पंचमी पूर्णगर्भा होकर नौ महीने तथा पाँच दिन में सोलह अंगों एवं बत्तीस लक्षणों से युक्त बालक 'वसंत' को जन्म देती है।[1] वसंत रूपी बालक के जन्म लेते ही यह स्वाभाविक है कि 'जन्मोत्सव' मनाया जाता है, जिसमें युवतियाँ प्रफुल्लित मन से नाचती हैं, मंगल-गान होते हैं और

---

[1] माघ मास सिरि पंचमी गँजाइलि नवम मास पंचम हरुआई।
सुभ खन बेरा सुकुल पक्ख हे दिनकर उदित समाई।
सोरह संपुन बतिस लखन सह जनल लेल रितुराई॥

मानवती स्त्रियाँ भी मान को छोड़कर रसमय गान गाती हैं।[१] तदनन्तर बालक को नाना प्रकार की वस्तुएँ पहनाई जाती हैं और उसे विभिन्न स्वास्थ्यवर्द्धक पदार्थ सेवन कराये जाते हैं। यहाँ पर भी कमल की पंखुड़ियों में मधु लाकर भ्रमरगण बालक को मधु दे रहे हैं, पद्मनाल को तोड़कर बालक की कटि में सूत बाँधा गया है, केशर ने उसे व्याघ्र-नख पहनाया है, नव किसलयों की शय्या उसके लिए तैयार की गई है, बालक के तकिये के लिए कदम्ब की मालाएँ रखी गई हैं, पास में बैठी हुई भ्रमरियाँ लोरियाँ गा रही हैं, धतूरा और पलाश-पुष्प बालक की जन्म-पत्री तैयार कर रहे हैं और नक्षत्र तथा राशि का विचार कर रहे हैं तथा गणित-गणना में चतुर कोयल ने बालक का नाम 'वसन्त' रखा है।[२] इस तरह वसन्त के जन्म से लेकर नामकरण-संस्कार तक का वर्णन बड़ा ही मार्मिक, स्वाभाविक एवं प्रभावोत्पादक है, जिसमें मानवीकरण के साथ-साथ प्रकृति के आलम्बन रूप की बड़ी ही मनोमोहक झांकी अंकित की गई है।

जब धीरे-धीरे बालक वसन्त तरुण होता है और ऋतुराज की पदवी धारण करता है। ऋतुओं का राजा होते ही वह 'वसन्त' अब बड़ी शान के साथ राजाओं के से सभी चिह्न धारण करता है। वह पीठल के नूतन पत्रों का सिंहासन बनाता है, चम्पा के फूलों का छत्र धारण करता है और आम्रमंजरी का किरीट अपने सिर पर धारण करता है। अब उसके दरबार में कोयल पंचम स्वर में गायन करती है, मयूर नृत्य दिखाते हैं, भ्रमर बाजे जाते हैं और द्विज (पक्षी) वृन्द आकर आशीर्वादसूचक मन्त्र पढ़ते हैं।[3] राजा बनते ही 'वसन्त' अपना झंडा और अपने अस्त्र-शस्त्रों को सँभालता है तथा एक सुन्दर सेना का संगठन भी करता है। इसी कारण वह कुन्द-वल्ली की पताका बनाता है, पाटल के पत्ते का तरकश धारण करता है, जिसमें अशोक के पत्तों के बाण रखे जाते, पलाश के पत्तों का धनुष बनाया जाता है, जिस पर लवंग-लता की प्रत्यंचा चढ़ाई जाती है और मधु मक्षियों की एक सुगठित सेना सजाई जाती है। शिशिर ऋतु पर आक्रमण करने की तैयारी की जाती है और उसे निर्मूल कर

---

१. नाचए जुवति जना हरखित मना जनमल बाल मधाई हे।
मधुर महारस मंगल गाएव मानिनि मान उड़ाई हे।

२. मधु लए मधुकर बालक दएहलु कमल-पंखरी लाई।
पओनार तोरि सूत बाँधल काँट केसर कएलि बघनाई।
नव नव पल्लव ज ओछाओल सिर दल कदम्बक माला।
वैसल भमरी हरवङ गाएव चक्का चन्द निहारा।
कनअ केसुअ सुति-पत्र लिखिए हलु रासि नछत कए लोला।
कोकिल गनित-गुनित चल जानए रितु वसंत नाम थोला।

३. नव आसन नव पीठल पात। कांचन कुसुम छत्र धरु माथ।
मौलिक रसाल-मुकुल भेल ताय। समुख हि कोकिल पंचम गाय।
सिखिकुल नाचत अलिकुल यंत्र। द्विजकुल आन पढ़ आसिस मन्त्र।

दिया जाता है, क्योंकि उसने कमल को सता रखा था। 'वसन्त' शिशिर पर आक्रमण करके कमल का उद्धार करता है और कमल अपने नूतन पत्तों का वन्सत को आसन समर्पित करता है।[1] इसी प्रकार कवि ने 'वसन्त' के विवाह, हास-विलास आदि का भी बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है, जिसमें नूतनता, स्वाभाविकता, सरसता एवं प्रभावोत्पदकता के साथ-साथ कवि की वर्णन-कुशलता के भी दर्शन होते हैं। यहाँ प्रकृति के आलम्बन रूप की बड़ी ही मनोरम कल्पना की गई है, जो हिन्दी के प्राचीन साहित्य में सर्वथा नवीन है।

विद्यापति ने प्रकृति के आलम्बन रूप की अपेक्षा उद्दीपन रूप का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया है। प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण प्रायः दो प्रकार से किया जाता है—एक तो संयोग के अवसर पर 'षड्ऋतु-वर्णन' करने की प्रथा प्रचलित है और दूसरे, वियोग के अवसर पर 'बारहमासा' का वर्णन' किया जाता है विद्यापति ने दोनों ही प्रकार की पद्धतियाँ अपनायी हैं। संयोग-शृंगार का वर्णन करते हुए कवि ने 'षड्ऋतुओं' की बड़ी मनोरम झाँकियाँ अंकित की हैं। इसी कारण 'अभिसार' के लिए जाती हुई नायिका को 'गगन अब घन मेह दारुन, सघन दामिनि झलकई' वाली वर्षाऋतु भावों को उद्दीप्त करती हुई जान पड़ती है और इसी कारण वह भयंकर वर्षा की भी चिन्ता न करके दुर्दिन में भी अपने प्रियतम के पास दौड़ी चली जाती है। इसी तरह वसन्त की 'छोटि मधुमास रजनि' अधिक उत्साहवर्द्धक प्रतीत होती है, ग्रीष्म ऋतु में 'तपन का ताप तपन भेल महितल' भी उसके पति के समीप जाने से नहीं रोक पाता और वह इच्छा रूपी रथ पर सवार होकर 'तप्त ताप' की भी चिन्ता न करती हुई मिलन के लिए बढ़ी चली जाती है। इसी तरह ग्रीष्म ऋतु भी भावों को उद्दीप्त करती हुई चित्रित की गई है। वसन्त के दिनों का तो कहना ही क्या? यह ऋतु तो 'मधुर जुवति जन संग, मधुर मधुर रसरंग' करने की मानी गई है। कवि ने वसन्त ऋतु का उद्दीपन रूप में बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है, जिसमें नृत्य-गान के साथ-साथ रस-रंग का भी वर्णन बड़े आकर्षक ढङ्ग से किया है।

कवि ने विप्रलम्भ-शृंगार के अन्तर्गत 'बारहमासे' का वर्णन करके प्रकृति के उद्दीपन रूप की बड़ी सुन्दर झाँकी अंकित की है, जिसमें असाढ़ से लेकर जेठ तक के महीने में वियोगिनी किस तरह व्यथित रहती और ये महीने किस तरह उसके भावों को उद्दीप्त करके उसे बेचैन बनाते रहते हैं—ये सभी बातें अंकित की गई हैं। जैसे सावन के महीने का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—"सावन का महीना आया, मूसलाधार वर्षा होने लगी। अँधेरी रात होने के कारण मार्ग तक नहीं

---

[1] कुन्द बल्ली तरु धएल निसान। पाटल तून असोक-दल बान।
किंसुक लवंग-लता एक संग। हेरि सिसुर रित आगे दल भंग।
सैव साजल मधुमखिका कूल। सिसिरक सबहु कएल निरमूल।
उधरत सरसिज पाओल प्रान। निज नवदल करु आसन दान।

दिखता। चारों ओर बिजली चमकती दिखायी देती है। ऐसे समय में विरहिणियों के तो जीवित रहने में भी संदेह है।"[1]

वियोग के समय यहाँ पर भी प्रकृति विरहिणी के शरीर को संतप्त करती हुई दिखाई गई है। इसी कारण विरहिणी को कुंज-कुटीर के नवीन पुष्प, कोयल का पंचम गान, मलय-पवन, पूर्णिमा का चन्द्र, वसन्त-रजनी, पुष्पों पर भ्रमरों का मधुपान आदि तीव्र वेदना पहुँचाते हुए अंकित किए गए हैं। विरह के समय नायिका को वर्षा की बूँदें बाण-सी प्रतीत होती हैं और वर्षा की सुहावनी रात भी उसके लिए भयंकर प्रतीत होती है, क्योंकि उसका घर पति के बिना सूना है और उधर 'झंपि घन गरजंति सन्तत भुवन भरि बरसन्तिया' ऐसे समय में उसे 'दारुन काम' सताए तो आश्चर्य ही क्या! ऐसे ही वर्षा ही क्या, शरद भी उसे बहुत सताती है। इसी से वह अपनी 'मुख-रुचि' शशि को सौंप देती है, नेत्रों का कटाक्ष हिरन को दे देती है, केश-पाश चमरी मृग को दे देती है और एक-एक करके सभी अंगों का सौन्दर्य शरद को सौंप देती है। प्रकृति के ऐसे ही मादक एवं उद्दीपन कारक चित्र विद्यापति ने अधिक अंकित किए हैं, जिनमें आलंकारिकता के साथ-साथ प्राचीन परम्परा का ही अनुसरण किया गया है।

(४) **अलंकार-विधान**—विद्यापति की पदावली में सादृश्यमूलक अलंकारों का ही प्राधान्य है और ये सभी अलंकार भावों की विशद अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुए हैं, केवल भाषा की सजावट के लिए नहीं आए हैं। इसमें कवि की वाणी का सौन्दर्य मुखरित हुआ है, भावों की तरंगें प्रवाहित हुई हैं और कल्पना का मधुर स्वर गुंजायमान हुआ है। विद्यापति का अलंकार-विधान दृश्य-चित्रण एवं भाव-निरूपण में बड़ा ही सहायक सिद्ध हुआ है। विद्यापति ने बड़ी ही सुन्दर एवं सजीव **'उपमाओं'** द्वारा दृश्य-विधान किये हैं। जैसे—एक बालिका तथा नवयुवती के क्रमशः विकसित उरोजों की स्थिति को कवि ने उपमा द्वारा कितनी सजीवता के साथ स्पष्ट कर दिया है—

"पहलि बदरि सम पुन नवरंग"

इतना ही नहीं, एक बालिका धीरे-धीरे किशोरी होती है और धीरे-धीरे युवती बनती है। उसके उरोजों के विकास की भी यही स्थिति होती है। वे भी क्रमशः विकास को प्राप्त होते हैं। कवि ने अपनी उपमाओं द्वारा इस क्रमिक विकास को कितने सजीव ढंग मे व्यक्त किया है—

पहिल बदरि कुच पुन नवरंग। दिन-दिन बाढ़ए पिडए अनंग।
से पुनि भए गेल बीजक पोर। अब कुच बाढल सिरिफल जोर।

---

[1] साओन मास बरसि घन बारि, पंथ न सूझे निस अँधियारि।
चौदिसि देखिए बिजुरी रेह, से सखि कामिनि जीवन सन्देह।

अर्थात् यौवन के स्पर्श-काल में उस बाला के उरोज छोटे-छोटे बेर के समान थे, फिर बढ़कर वे नारंगी के तुल्य हो गये। वे दिन-प्रतिदिन बढ़ते रहे और कामदेव भी उसे पीड़ित करता रहा। धीरे-धीरे वे बढ़कर बिजौरा नीबू जैसे हो गये और अब वे बढ़कर श्रीफल के समान हो गये हैं।

विद्यापति ने अपनी उपमाओं द्वारा अंग-सौन्दर्य के चित्रण में सजीवता उत्पन्न की है तथा उपमाओं के सहारे पदार्थों की वस्तुस्थिति का ठीक-ठीक ज्ञान कराया है। उदाहरण के लिए 'चिकुर निकर तम सम' कहकर कवि ने काले घने केशों की श्यामता, सचिक्कणता, गहनता आदि का चित्र सा उपस्थित कर दिया है। इसी तरह 'आनन सरद सुधाकर सम', 'दमन लता सम तनु सुकुमार', सिंदूर तिलक तरनि सम भास', 'अधर विम्ब सन', 'केहरि सम कटि', 'कनक-सम्भु सम कुच' आदि उपमाओं में तो कवि ने परम्परागत उपमानों का ही प्रयोग किया है, किन्तु 'साओन घन सम झर दु नयान' पद में कवि ने सावन के मेघ के समान दोनों आँखों का जो बरसना बताया है, वह कितना भावानुकूल है तथा कितना चित्रोपम है। इसी तरह 'बैसाख तपे खर मरन समान' कहकर वैशाख की तीव्र उष्णता, असह्य तप्तता एवं विषम भयंकरता की समता मृत्यु से करके तथा 'तोहर विरह दिन छन-छन तनु छिनु चौदिस चाँद समान' कहकर विरह में अत्यन्त क्षीण नायिका की समता चतुर्दशी के चन्द्रमा से करके कवि ने कितनी उपयुक्त एवं समीचीन उपमाओं का प्रयोग किया है।

विद्यापति ने 'उत्प्रेक्षा' अलंकार द्वारा बड़ी ही सारगर्भित कल्पनाएँ की हैं। जैसे—'पीन पयोधर नख-रेख देल, कनक कुम्भ जनि भगनहु भेल' कहकर कवि ने कल्पना की है कि पुष्ट उरोजों पर नख-क्षत होने से ऐसा जान पड़ता है, मानो सोने के घड़े भग्न हो गये हों; 'पीन पयोधर दूबर गता, मेरु उपजल कनक लता' कहकर कवि कल्पना कर रहा है, कि शरीर से दुर्बल एवं पुष्ट उरोजों वाली बाला को देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो सोने की लता में पर्वत जैसे फल लग गये हों, 'कुच जुग परसि चिकुर फुजि परस लता अरुझायल हारा' कहकर कवि वर्णन कर रहा है कि बाला के काले केशों के बीच वक्षस्थल पर पड़े मुक्ताहार के श्वेत मोती ऐसे चमक रहे हैं, मानो सुमेरु पर्वत के ऊपर चन्द्रमा को पीछे छोड़कर समस्त तारे उग आये हों; 'चिकुर गरए जलधारा, जनि मुख-ससि डर रोअए अँधारा' कहकर कवि सद्यःस्नाता बाला के केशों से गिरती हुई जलधारा के बारे में कल्पना कर रहा है, मानो चन्द्रमा के डर से अंधकार रो रहा हो, 'सजल चीर रहे पयोधर सीमा, कनक बेलि जनि पड़ि गेल हीमा' कहकर कवि कल्पना करता है कि सद्यःस्नाता बाला के उरोजों पर जो भीगा श्वेत वस्त्र पड़ा है वह ऐसा जान पड़ता है मानो स्वर्णलता पर बर्फ पड़ गई हो; 'चिकूर गरए जलधारा, मेह बरसि जनु मोति हारा' कवि ने सद्यःस्नाता के केशों से गिरते हुए जल के बारे में कल्पना की है मानो मेघ से मोतियों की लड़ियाँ बरस रही हों तथा अत्मन्त रूप-सौन्दर्य-सम्पन्न बाला के द्वारा घायल नायक की दशा पर विचार करते हुए कवि 'मेघ माल सयँ तड़ित लता जनि हिरदय सेल दई गेल' कहकर कल्पना

कर रहा है कि मानो मेघमाला में चमकती हुई बिजली के तुल्य चमककर वह बाला प्रेमी हृदय में भाला चुभो गई हो। ऐसी ही अनेक सरस एवं सजीव कल्पनाओं में कवि ने उत्प्रेक्षा अलंकार की योजना की है, जो सर्वथा भावानुकूल है और पाठकों के सम्मुख एक साकार चित्र-सा उपस्थित करने में पूर्णतया सशक्त एवं सक्षम है।

विद्यापति ने 'रूपक' अलंकार की बड़ी ही प्रभावोत्पादक योजना की है। साधारण रूपकों में तो कवि परम्परागत उपमानों का ही प्रयोग करता हुआ दिखाई देता है। जैसे—मुख के लिए चन्द्र, नेत्रों के लिए मृग-कमल-खंजन आदि, नासिका के लिए कीर, होठों के लिए विम्बा फल, दाँतों के लिए दाड़िम वीज, अंग-यष्टि के लिए कनक लता, अंग-कांति के लिए विद्युत्, कमर के लिए सिंह-कटि, जंघाओं के लिए कदलि-स्तम्भ आदि। परन्तु सांगरूपकों की योजना में कवि ने बड़ी ही कुशलता का परिचय दिया है। विद्यापति के कितने ही पदों में सांगरूपकों की बड़ी ही सफल योजना दिखाई देती है। जैसे—'त्रिवलि तरंगिनि पुर दुग्गम जानि मनमथ पत्र पठाऊ' वाले पद में कवि ने त्रिवली को नदी, बाला के शरीर को दुर्गम नगर, कामदेव को नृप, यौवन को सेनापति, वसंत को सेना, बाला के कर्ण-भूषण को चक्र, टीका को अंकुश, चंदन-लेप को कवच, नेत्रों को धनुष, कटाक्षों को वाण आदि कहा है और इस रूपक द्वारा शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित बाला को रणस्थल में यौवन रूपी सेनापति से युद्ध करने के लिए सन्नद्ध दिखाया है। ऐसे ही 'बड़ कौसलि तुअ राधे, किनल कन्हाई लोचन आधे' नामक पद में कवि ने ऋतुपति वसन्त को व्यापारी, कामदेव को दलाल कोयल को ब्राह्मण, पराग को स्याही, भ्रमर-पद को कलम, चन्द्रमा को साक्षी (गवाह) तथा काम-क्रीड़ा को बही बनाया है और इस तरह वस्तु के खरीदने का बड़ा ही मर्म स्पर्शी सांगरूपक बनाकर कवि ने चमत्कार के साथ-साथ सरलता उत्पन्न की है। इसी भाँति 'माई हे सीत-बसंत विवाद' वाले पद में कवि ने सूर्य को मध्यस्थ, कोकिल को साक्षी, कोमल किसलय को विजय-पत्र, भ्रमरों को अक्षर पंक्तियाँ, वसंत को वादी और शीत को प्रतिवादी बताया है और इस सांगरूपक द्वारा वसंत की शिशिर पर विजय दिखाकर राजाओं की तरह उसका विजय-पत्र लिखवाया है। इसी भाँति 'लोचन नीर तटनि निरमाने, करए कलामुखि तथिहि सनाने' वाले पद में कवि ने विरहिणी राधा का तपस्विनी बाला के साथ रूपक बाँधा है, जिसमें आँसुओं की धारा ही नदी है, कमल-नाल ही सुमरनी है, हृदय ही वेदी हैं, काम-पीड़ा ही ज्वाला है, प्राण ही समिधा हैं, स्मरण ही अर्चियाँ है, केश ही कुशा हैं, उरोज ही फलोपहार हैं और इस तरह राधा रात-दिन कृष्ण के लिए तपस्या करती हुई चित्रित की गई है। इस प्रकार विद्यापति ने अपने सांगरूपकों में बड़ी ही कला-चातुरी के साथ वस्तु-स्थिति एवं भावों का निरूपण किया है, जो सर्वथा सहृदय-संवेद्य होने के साथ-साथ सर्वसाधारण के लिए भी अत्यन्त सरस एवं प्रभावोत्पादक है।

विद्यापति की अलंकार-योजना में 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार का भी महत्व-पूर्ण स्थान है। यद्यपि इस अलंकार की योजना में कवि में संस्कृत की परम्परा का

ही अनुसरण किया है, फिर भी कवि की यह योजना बड़ी ही मार्मिक है, क्योंकि इसके द्वारा कवि ने 'नख-शिख' को प्रणाली को जीवित रखा है और अंग-सौन्दर्य के चित्रण में हिन्दी-साहित्य को संस्कृत-साहित्य के समकक्ष पहुँचा दिया है। उदाहरण के लिए, 'माधव की कहब सुन्दरि रूपे' वाला पद ले सकते हैं, जिसमें 'कनक कदलि पर सिंह समारल तापर मेरु समाने, मेरु ऊपर दुइ कमल फुलायला नाल बिना रुचि पाई' कहकर कवि ने कनक कदलि, सिंह, मेरु, कमल आदि द्वारा क्रमशः इनके उपमेय —जंघा, कमर, वक्षस्थल, उरोज आदि की ओर संकेत किया है। इसी तरह, 'सजनी अपरुब पेखल रामा, कनकलता अवलम्बन ऊअल हरिन, हीन हिम धामा' कहकर कवि ने रूपकातिशयोक्ति अलंकार द्वारा केवल कनकलता और हरिन हिमधामा आदि उपमानों से उनके उपमेय क्रमशः अंग-यष्टि, कलंक तथा मुख की ओर संकेत कर दिया है ऐसे ही 'आसक लता लगाओल सजनी नयन क नीर पटाय, से फल तरुनत भेल सजनी आँचर तर न समाय' कहकर कवि ने 'फल' नामक उपमान द्वारा उरोजों की ओर संकेत करके बड़ी मार्मिकता के साथ रूपकातिशयोक्ति अलंकार की योजना की है। ऐसे ही अनेक स्थलों पर कवि ने अपने पदों में इस अलंकार द्वारा भाव-प्रवणता एवं सरसता की वृद्धि की हैं।

उक्त अलंकारों के अतिरिक्त विद्यापति ने और भी कितने ही अलंकारों की बड़ी सरस योजना की है। जैसे—'कतन वेदन मोहि देसि मदना' वाले पद में भ्रान्ता-पह्नुति अलंकार, 'सरसिज विनु सर सर विनु सरसिज की सरसिज बिनु सूरे' में विनोक्ति अलंकार, 'चानन भेल विषय सर रे, भूषन भेल भारी, तथा 'रगड़ल चानन मृगमद कुंकुम सभ तेजलि तुअ लागी' में विरोधाभास, 'माधव कठिन हृदय परवासी' वाले पद में चन्द्रमा को भगाने के लिए विरहिणी का काजल से राहु बनाना, मलयानिल के लिए सर्प बनाना, कामदेव के लिए शिव-पूजन करना, फिर भी उनसे मुक्ति न होना—में विषादन अलंकार, 'हरिन इंदु अरविंद करनि हेम पिक बूझल अनुमानी, नयन बदन परिमल गति तन रुचि अओ अति सुललित बानी' में यथासंख्य या क्रम अलंकार, 'कनक-लता अरविंदा, दमना माँझि उगलि जनि चंदा' तथा 'केहु कहै सैबल छपला, केहु बोले नहिं मेघ झपला' आदि में संदेह अलंकार, 'कबरी भय चामरि गिरि-कंदर, मुख-भय चाँद अकासे' वाले पद में व्यतिरेक के साथ-साथ अतिशयोक्ति अलंकार तथा 'सैसब बापुर सीमा छाड़ल जऊबन बाँधल फेर' में मानवीकरण अलंकार द्वारा कवि ने अद्भुत चमत्कार के साथ-साथ भावों के निरुपण में सरलता एवं मार्मिकता का भी समावेश किया है।

निष्कर्ष यह है कि विद्यापति के अलंकार-विधान में कोई मौलिकता तो नहीं है, क्योंकि बहुधा परम्परागत अलंकारों तथा उपमानों का ही प्रयोग हुआ है, परन्तु सांगरूपकों की योजना में अवश्य ही नवीनता के दर्शन होते हैं। इन रूपकों में कवि ने अपनी अद्भुत प्रतिभा एवं उर्वर कल्पना का परिचय दिया है तथा ये सांगरूपक शास्त्रीय दृष्टि से भी सर्वथा पूर्ण एवं त्रुटि रहित हैं, क्योंकि आदि से अन्त तक

इनमें सम्बन्ध-निर्वाह सर्वथा उपयुक्त एवं समीचीन दिखाई देता है। 'सागरूपकों' के निर्वाह की दृष्टि से तो विद्यापति जायसी एवं सूर से भी आगे बाजी मार ले गये हैं, क्योंकि 'सूर' सांगरूपकों का निर्वाह ठीक-ठीक नहीं कर पाये हैं और जायसी में इतनी नवीनता एवं मौलिकता के दर्शन नहीं होते। निस्संदेह विद्यापति की अलंकार-योजना सर्वथा भावानुकूल है, उसमें दृश्य-विधान की अपूर्व क्षमता है, वह बिम्ब प्रस्तुत करने में भी पूर्ण सक्षम है और उसमें प्रभावोत्पादकता, भाव-प्रेषणीयता, चित्रोपमता एवं नवीनता के भी दर्शन होते हैं।

पदावली की भाषा

विद्यापति की 'पदावली' हिन्दी और बंगला की मध्यवर्तिनी मैथिली भाषा में लिखी गई है। मैथिली भाषा बंगला की अपेक्षा हिन्दी के अत्यधिक निकट है, क्योंकि मैथिली भाषा की क्रिया, संज्ञा, सर्वनाम आदि व्याकरण के रूप पूर्वी हिन्दी से पूर्णतया मिलते-जुलते हैं। जैसे, मैथिली की भूतकालिक क्रियाओं के प्रयोग 'गेल', 'भेल', 'लेल', उद्वेगल', 'मिलावल' आदि पूर्वी हिन्दी की भोजपुरी भाषा में प्रयुक्त 'सूतल', 'लूटल' आदि से मिलते हैं; संज्ञापदों में से कंचन, पयोधर, थम्भ, जओबन, पिअतम, सिंगार, अभिलास, गोआरी, कन्हैया, आँचर, सजनी, नयन, आनन, बेआधि भेखज, पंचवान, पीव, परान (प्राण), भामिनि, कोइल आदि अनेक शब्द ऐसे हैं, जो हिन्दी की पूर्वी बोलियों में भी पूर्णतया प्रचलित हैं और 'मोहि', 'तोहि', 'मए' 'मोर', 'हमर', 'तोंह', 'तुव', 'जे', 'तसु', 'ओहु', 'अपन' आदि सर्वनामों के रूप भी ऐसे ही हैं, जिनका प्रयोग पूर्वी हिन्दी में पर्याप्त मात्रा में मिलता है। इसी तरह यदि हिन्दी की साहित्यिक पूर्वी भाषा 'अवधी' से मैथिली की तुलना की जाय तो पूर्णतया ज्ञात होगा कि मैथिली का सम्बन्ध बंगला से नहीं, अपितु हिन्दी से ही है। जैसे—

(१) अवधी में मूल धातु के उपरान्त 'ब' लगाकर वर्तमान काल एवं भविष्य काल की क्रियाओं के रूप बनाये जाते हैं। मैथिली में भी यही बात दिखाई देती है—

अवधी—करब पिरीत कठिन है काजा।
मैथिली—धनिबल जानि करब रति रंग।

(२) अवधी में 'अइ' या 'आइ' प्रत्यय द्वारा भी वर्तमान काल की क्रिया बनाई जाती है। मैथिली में भी यही नियम मिलता है—

अवधी—जो सुलगाइ लेइ सो चेला।
मैथिली—निरजन उरज हेरइ कत्त बेर।

(३) अवधी में 'हु' प्रत्यय द्वारा विधिलिंग की क्रिया का निर्माण होता है। मैथिली में भी यही विधि अपनायी जाती है—

अवधी—नैनहिं जानहु नीयरे।
मैथिली—भइन विद्यापति सुनहु सयानि।

(४) अवधी में 'हि' प्रत्यय द्वारा निश्चय का बोध कराया जाता है। मैथिली में भी इसी 'हि' प्रत्यय द्वारा निश्चय प्रकट किया जाता है—

अवधी—भलेहि अंग अछरी तोर राता।
मैथिली—पहिलहि बेउठि सयनक-सीम।

(५) अवधी में 'सकना' के स्थान पर 'पारना' शब्द का प्रयोग किया जाता है। मैथिली में भी यही क्रिया 'सकना' के अर्थ में प्रयुक्त होती है—

अवधी—बूझि लेहु जो बूझे पारहु।
मैथिली—लखए न पारिअ जेठ-कनेठ।

(६) अवधी में संस्कृत-शब्दों के अन्तर्गत प्रयुक्त 'य' के स्थान पर प्रायः 'ज' का प्रयोग मिलता है। मैथिली में भी यही प्रवृत्ति विद्यमान है—

अवधी—जोगी जती तपा संन्यासी। (योगी, यति)
मैथिली—भुज जुग चाँप जीब जो साँच। (युग)

(७) अवधी में 'ष' तथा 'क्ष' के स्थान पर प्रायः 'ख' का प्रयोग मिलता है। मैथिली में भी यही प्रवृत्ति मिलती है—

अवधी—एक निमिख दुख कीन नहिं। (निमिष)
मैथिली—भूखन वसन मलीन भेलना। (भूषन)
अवधी—ततखन पहुँचे आइ महेसू। (तत्क्षण)
मैथिली—अब सब खन रह आँचर हात। (क्षण)

(८) अवधी में 'क', 'कै', 'कर', 'केर' चिह्नों द्वारा सम्बन्ध कारक का बोध कराया जाता है। मैथिली में भी यही प्रथा प्रचलित है—

अवधी—प्रेम क बचन मीठ कै माना।
मैथिली—सुरत क नाम सुनल हम आज।

(९) अवधी में संस्कृत संयुक्ताक्षरों के अन्तर्गत 'इ', 'उ' तथा 'ए' के उपरान्त 'अ' का उच्चारण प्रचलित है। मैथिली में भी यही बात पाई जाती है—

अवधी—करन बंध उपबीत बिआहा। (ब्याह)
मैथिली—हेरइत पुनि मोर हरल गिआन (ज्ञान)

(१०) अवधी की ही भाँति मैथिली में 'दिनअर', 'ससहर', 'भुअल', 'विसहर', 'पुहुमि' आदि मिलते हैं।

(११) अवधी की ही भाँति मैथिली में भी 'लकार' के स्थान पर 'रकार' वाले शब्दों का प्रयोग मिलता है—

अवधी—अव करि फनिग भृंग कै करा। (कला)
मैथिली—तापर उपजल बिजुरि लता। (बिजली)

उक्त साम्यों के आधार पर स्पष्ट पता चलता है कि विद्यापति की पदावली जिस मैथिली भाषा का प्रयोग हुआ है वह हिन्दी की विभाषा होने की पूर्ण क्षमत

रखती है तथा भोजपुरी और अवधी की ही भाँति वह भी हिन्दी की एक 'बोली' है, क्योंकि उसके संज्ञा-रूपों एवं क्रिया-पदों की प्रवृत्ति हिन्दी के ही सर्वथा अनुकूल है। वैसे इस भाषा का विकास मागधी प्राकृत के क्षेत्र में हुआ है, परन्तु इसका झुकाव अर्द्ध-मागधी से प्रभावित भोजपुरी, अवधी आदि अपनी सजातीय भाषाओं की ओर ही है। अतएव भाषाविज्ञान की दृष्टि मे भी यह 'हिन्दी' की ही एक बोली मानी जानी चाहिए।

विद्यापति की भाषा में सबसे बड़ी विशेषता उसकी 'कोमल-कान्त पदावली' की है। यद्यपि जयदेव के 'गीत-गोविन्द' की भाषा बड़ी ही ललित एवं कोमल मानी गई है और विद्यापति की पदावली को उसी से प्रभावित माना जाना है, फिर भी इसकी अपनी विशेषता है, क्योंकि इसका पद-विन्यास, इसका शब्द-चयन एवं इसकी वर्ण-मैत्री सर्वथा अद्भुत एवं अनुपम है। इसमें तत्कालीन लोकभाषा का माधुर्य विद्यमान है। वैसे विद्यापति संस्कृत एवं अपभ्रंश के विद्वान् थे। परन्तु 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा' के आधार पर आपने अपने पदों की रचना 'देशी-वाणी' अर्थात् 'लोक-भाषा' में की। विद्यापति की यह लोक-भाषा कोमलता एवं मधुरता के लिए विख्यात है। इसमें शब्दों को इतना मसृण बनाकर रखा गया है कि भाषा में सुकुमारता, कोमलना एवं सचिक्कणता आ गई है। यथा—

ससन-परस खसु अम्बर रे पेखल धनि देह।
नव जलधर-तर संचर रे जनि बिजुरी॥

उक्त पद में एक से व्यंजनों के द्वारा कवि ने भाषा को कोमल-कान्त पदावली से संयुक्त करके इस तरह सुसज्जित किया है कि उसमें मधुर नाद-सौन्दर्य भी सहज ही उपस्थित हो गया है। इसके लिए कवि ने अनुप्रास का भी सहारा लिया है, जिससे कोमल वर्णों की सहज मैत्री स्थापित हो गई है और स्वर एवं व्यंजन अपने-अपने भावों के अनुकूल ढलकर सरिता की अजस्र धारा के समान भावों के प्रभाव में योग देते हुए दिखाई पड़ते हैं तथा जिसमें आये हुए द्वित्व वर्णों ने भाषा को सहज ही नादात्मक सौन्दर्य से युक्त बना दिया है—

बाजत द्रिग-द्रिग धौद्रिम द्रिमिया।
नटति कलावति माति श्याम संग कर करताल प्रबन्धक ध्वनिया।
डम-डम डफ डिमिक डिमि मादल रुनुझुनु मंजीर बोल।

उक्त पंक्तियों में स्पष्ट ही बाजों की ध्वनि शब्दों से ही अभिव्यक्त हो रही है। इसी तरह कवि कहीं-कहीं तो एक या दो ही व्यंजनों द्वारा ऐसी सुन्दर नादात्मक ध्वनि उत्पन्न करने में समर्थ हुआ है कि उसके पदों में से बिना ही गाये स्वतः राग-रागनियाँ फूटती-सी जान पड़ती हैं और उनकी मधुर गूँज कवि के पदों में स्पष्ट सुनाई पड़ती है। जैसे, केवल 'र' और 'स' द्वारा उत्पन्न कोमल-कान्त पदावली की मधुर गूँज देखिए—

रिपुपति-राति रसिक रसराज, रसमय रास रभस सस माँझ।
रसमति रमनि रतन धनिराहि, रास रसिक सह रस अवगाहि।

भाषा के उक्त सौन्दर्य के अतिरिक्त उसमें लाक्षणिकता एवं व्यंग्य का सृजन करने के लिए कवि ने लोकोक्तियों एवं मुहावरों का बड़ा ही सजीव प्रयोग किया है। इनसे एक ओर तो भाषा में अर्थ-गाम्भीर्य की सृष्टि हुई है और दूसरी ओर अत्यधिक मात्रा में उक्ति-चमत्कार भी उत्पन्न हो गया है। जैसे, 'अवसर बहला रह पचताव' (अवसर चूकने पर केवल पछताना ही पड़ता है), 'असमय आस न पूरय काम' (कामदेव असमय में किसी की आशा पूर्ण नहीं करता) 'कूप न आबए पथिक के पास' (कुआँ कभी प्यासे के समीप नहीं आता), 'आनक वेदन नइ बुझ आन' (दूसरे का दुःख दूसरा नहीं जानता), 'आरति गाहक महग बेसाह' (जिस गाहक को किसी वस्तु की आवश्यकता होती है वह महँगा ही खरीदता है), 'काँच काँचन क जानय मूल' (काँच सोने का मूल्य नहीं जानता), 'कुदिना हितजन अनहित रे थिक जगत सोभाव' (यह संसार का स्वभाव है कि बुरे दिनों में हितैषी भी शत्रु हो जाते हैं), 'धएले रतन अधिक मुल होए' (रखे हुए रत्न का अधिक मूल्य होता है), 'धनिक क आदर सब तहँ होअ' (धनवान का सर्वत्र आदर होता हैं), 'भेक न पिबए कुसुम मकरन्द' (मेंढक कभी मकरन्द का पान नहीं करता), 'रोपि न काटिअ विषहुक गाछ'(विष-वृछ को भी लगातार कभी नहीं काटना चाहिए), 'वानर मुँह की सोभए पान' (क्या बन्दर के मुँह में कभी पान शोभा पाता है) इत्यादि अनेक लोकोक्तियों एवं मुहावरों के प्रयोग द्वारा विद्यापति ने अपनी भाषा का शृंगार किया है।

सारांश यह है कि विद्यापति की पदावली में लोक-भाषा का प्रयोग होते हुए भी साहित्यकता है, आलंकारिकता है, सरसता है, और सुकुमारता है। इस भाषा में छोटे-छोटे वाक्यों के अन्तर्गत अत्यन्त गहन एवं गम्भीर भावों को अत्यन्त सफलता के साथ व्यक्त किया गया है। 'कीर्ति लता' की यह गर्वोक्ति बालचन्द विज्जावइ भाषा, दहु न लग्गइ दुज्जन हासा। ओ परमेसर हर सिर सोहइ, ई निच्चय नाअर मन मोहइ' निश्चय ही विद्यापति की पदावली भाषा के लिए भी सर्वथा युक्ति-संगत दिखाई देती है, क्योंकि यह भी चन्द्रमा की भाँति पीयूषवर्षिणी है, सरिता की भाँति प्रवाहमयी है, मृदंग ध्वनि की भाँति नादात्मक ध्वनि से परिपूर्ण है तथा मलय-पवन की भाँति मधुर भावों की सुगन्धि से परिपूर्ण है। निस्संदेह विद्यापति की भाषा 'देसिल बअन' होकर भी नगरों के मन को मुग्ध करने वाली है और कोमल-कान्त पदावली से युक्त होने के साथ-साथ मधुर राग एवं संगीत के कोमल स्वरों से सुसज्जित है।

विद्यापति—भक्त या शृंगारी कवि

विद्यापति की पदावली के आधार पर हिन्दी के विद्वानों में यह वाद-विवाद अभी तक चलता रहता है कि विद्यापति को भक्त-कवियों की कोटि में गिनना चाहिए अथवा शृंगारी-कवियों की कोटि में। जिस समय जयदेव के 'गीत-गोविन्द' की परम्परा

में विद्यापति के पदों का अध्ययन किया जाता है अथवा बंगाल के वैष्णव कवियों की परम्परा का अनुशीलन किया जाता है या विद्यापति की महेश-वानियाँ अथवा शिव-की नचारी आदि को आधार बनाया जाता है उस समय विद्यापति भक्त कवि जान पड़ते हैं, क्योंकि 'गीत-गोविन्द' की ही भाँति विद्यापति के पदों में भी राधाकृष्ण के संयोग एवं वियोग की स्थितियों का रसात्मक चित्रण मिलता है, क्योंकि इनके गीतों के आधार पर ही बंगाल के वैष्णव कवि चंडीदास ने अपने गीतों की रचना की थी और चैतन्य महाप्रभु प्रायः विद्यापति के पदों को गाते-गाते भाव-विभोर हो जाते थे। इसके अतिरिक्त शिव, गंगा, देवी आदि की स्तुतियाँ भी इन्हें भक्त कवि सिद्ध करती हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि पदावली में राधा-कृष्ण के संयोग-वियोग का जो चित्रण मिलता है, उसके आधार पर क्या विद्यापति को वैष्णव-भक्त अथवा कृष्ण-भक्त कवि ही कहा जा सकता है ?

इस प्रश्न पर विचार करते हुए सर्वप्रथम डॉ० ग्रियर्सन ने लिखा है कि "अब विद्यापति के पदों पर विचार करना शेष है। वे सब के सब लगभग वैष्णव पद या भजन हैं और ऐसी अवस्था में वे साहित्य के एक ऐसे अंग हैं जिनसे भारतीय साहित्य के सभी विद्यार्थी परिचित हैं।........'ईश्वर ही प्रेम है' यह पाश्चात्य और पूर्व देश का समान सिद्धान्त है। परन्तु इनके रूप तत्त्वतः भिन्न हैं। पश्चिम के शीतल प्रदेशों में रहने वाले ईश्वरीय प्रेम को पिता और पुत्र के अभिन्न प्रेम का रूप देकर ही सन्तुष्ट रहे, परन्तु उष्ण प्रदेश के सत्यान्वेषियों ने साधक एवं साध्य के श्रेष्ठ प्रेम को सर्वेश्वरी राधा और सर्वेश्वर कृष्ण का रूप दिया।.......विद्यापति के देदीप्यमान पदों को हिन्दू भक्त काम-वासना का तनिक भी अनुभव न करके उसी तरह पढ़ते हैं, जिस तरह सोलोमन के गीतों को ईसाई पादरी पढ़ा करते हैं।"[1]

---

[1] "It now remains to consider the matter of Vidyapti's poems. They are nearly Vaishnva hymns or bhajans and as such belong to a class well known to students of modern Indian Literature........'God is love' is alike the motto of the Eastern and of the Wertern Worlds, while the form of love proposed is essentially different. The people of a colder western clime have contented themselves with comparing the inaflable love of God to that of a father to his childern, for the warmer climes of the tropics have led the seekers after truth to compare the love of worshipper for worshipped to that of the Supreme Mistress Radha for her Supreme Lord Krishna........ the glowing stanzas fo Vidyapati are read by the devout Hindu with as little of the part of human sensuousness as the song of Soloman is by the Christian priest."

—Jr. R. A. S. 1881, p. 36

डॉ० ग्रियर्सन के आधार पर प्रो० जनार्दन मिश्र ने भी विद्यापति के पदों को वैष्णव भक्ति से ओत-प्रोत कहकर उनमें रहस्यवाद की प्रवृत्ति का प्राधान्य स्वीकार किया है तथा राधा और कृष्ण के रूप में जीवात्मा एवं परमात्मा के मिलन एवं विरह की झाँकी देखते हुए लिखा है कि "विद्यापति के समय में रहस्यवाद का मत जोरों पर था। उसके प्रभाव से बचकर निकलना और किसी अधिक निष्कंटक मार्ग का अवलम्बन करना, इन्हें शायद अभीष्ट न था; अथवा अभीष्ट होने पर भी तुलसीदास की तरह अपने वातावरण के विरुद्ध जाने की शक्ति इनमें न थी। इसलिए स्त्री और पुरुष के रूप में जीवात्मा और परमात्मा की उपासना की जो धारा उमड़ रही थी, उसमें इन्होंने अपने को बहा दिया।"[1]

अब यदि विद्यापति की विचारधारा के बारे में तनिक गहराई के साथ अध्ययन किया जाय, तो पता चलेगा कि न तो वे वैष्णव कवि हैं और न राधा-कृष्ण के भक्त, अपितु वे शैव हैं, क्योंकि मिथिला में 'उगना' की किंवदन्ती प्रचलित है, जिसमें 'उगना' के रूप में स्वयं शिवजी विद्यापति की भक्ति से प्रसन्न होकर उनके नौकर के रूप में रहते थे और एक दिन उनकी स्त्री ने रुष्ट होकर 'उगना' को मारना चाहा, तो विद्यापति चिल्ला उठे—"हाँ, हाँ यह क्या कर रही हो ? साक्षात् शिव पर प्रहार करती हो ! उसी दिन से उगना रूप शिव अन्तर्धान हो गये और विद्यापति उनके विरह में पागल हो गये। जो भी हो, इससे यह तो निर्विवाद सत्य है कि विद्यापति कृष्ण-भक्त नहीं थे। मिथिला में भी सभी इन्हें शैव मानते हैं, कोई भी इन्हें कृष्ण-भक्त नहीं स्वीकार करता। दूसरे, इनके शिव-सम्बन्धी पद भी इसी बात के साक्षी हैं कि विद्यापति शैव थे, कृष्ण-भक्त नहीं। वैसे भी जहाँ तक भक्ति-भावना का प्रश्न है, महेश-बानियों में अथवा शिव-स्तुतियों में ही विद्यापति की भक्ति-भावना का स्रोत उमड़ता हुआ दृष्टिगोचर होता है, उनके राधा-सम्बन्धी पदों में कहीं भी भक्ति-भावना के दर्शन नहीं होते, क्योंकि इन पदों में न तो राधा आद्या शक्ति अथवा सर्वेश्वरी है और न कृष्ण विष्णु अथवा सर्वेश्वर हैं।

इसके अतिरिक्त जिस समय विद्यापति ने अपने पदों की रचना की, उस समय न तो मिथिला में कृष्ण-भक्ति की ही चर्चा थी और न कीर्तन का ही प्रचार था। कीर्तन का प्रचार तो चैतन्य महाप्रभु के समय में बंगाल के अन्तर्गत सबसे पहले हुआ और फिर बाद में सारे उत्तरी भारत में वह कीर्त्तन की पद्धति फैली। इसके साथ ही विद्यापति के समय में रहस्यवादी विचारधारा का भी प्रचार न था। विद्यापति तो राजा शिवसिंह के दरबारी कवि थे और उनकी फरमाइश पर उनके मनोरंजन हेतु पदों की रचना किया करते थे। इसलिए उनके राधा-कृष्ण की काम-क्रीड़ाओं में, अठखेलियों में, सुरत-विहार में, अभिसार में, विरह में कहीं भी राधा और कृष्ण की भक्ति-भावना के दर्शन नहीं होते। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि

---

[1] विद्यापति, पृ० ३३

"विद्यापति के पद अधिकतर शृंगार के ही हैं, जिनमें नायिका और नायक राधा-कृष्ण हैं।.........आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गये हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने 'गीत-गोविन्द' के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है, वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी।"[1] डा० उमेश मिश्र ने भी ठीक ही कहा है कि "मिथिला में विद्यापति को कोई वैष्णव कवि नहीं कहता और न कोई इन्हें भक्त ही कहता है। सभी इन्हें शृंगारिक कहते आये हैं।"[2] इसी भाँति पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी विद्यापति को शृंगारी कवि ही मानते हुए लिखा है कि "विद्यापति ने हिन्दी में जन-भाषा में, शृंगार-रस के क्षेत्र के लिए मर्यादा बाँधकर चाहे कृष्ण-भक्त कवियों का उतना उपकार न किया हो, पर शृंगार-काल के कवियों के लिए वे बहुत बड़ा उपकार कर गये। विद्यापति का काव्य—भक्ति-काव्य है या नहीं, इस पर बहुत वाद-विवाद हुआ है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि विद्यापति का कृष्ण-काव्य-सूरदास का या अन्य कृष्ण-भक्त कवियों का सा कृष्ण-काव्य नहीं है। यह यदि भक्ति-काव्य माना भी जा सकता है तो वैसा ही, जैसा बिहारी का, पद्माकर का था।"[3] इसी भाँति डा० रामकुमार वर्मा ने भी विद्यापति को शृंगारी कवि मानते हुए स्पष्ट लिखा है कि "विद्यापति ने राधा-कृष्ण का जो चित्र खींचा है, उसमें वासना का रंग बहुत ही प्रखर है। आराध्य देव के प्रति भक्त का जो पवित्र विचार होना चाहिए, वह उसमें लेशमात्र भी नहीं है। सख्यभाव से जो उपासना की गई है, उसमें कृष्ण तो यौवन में उन्मत्त नायका की भाँति हैं और राधा यौवन की मदिरा में मतवाली एक मुग्धा नायिका की भाँति। राधा का प्रेम—भौतिक और वासनामय प्रेम है। आनन्द ही उद्देश्य है और सौन्दर्य ही उसका कार्य-कलाप। यौवन ही से जीवन का विकास है। अँग्रेजी कवि वायरन के समान विद्यापति का भी यही सिद्धान्त है कि 'यौवन के दिन ही गौरव के दिन हैं।"[4]

सारांश यह है कि विद्यापति भक्त नहीं, अपितु शृंगारी कवि हैं। इनके राधा और कृष्ण के प्रेम-सम्बन्धी पदों में सर्वत्र भौतिक एवं वासनामय प्रेम की ही प्रधानता है। इनके वय-सन्धि, नखशिख, सद्यःस्नाता, प्रेम-प्रसंग, दूती, नोंकझोंक, सखी-शिक्षा मिलन, सखी-सम्भाषण, कौतुक, अभिसार, छलना, मान, मान-भंग, विदग्ध-विलास, वसंत, विरह, भावोल्लास आदि से सम्बन्धित समस्त पदों में भौतिक प्रेम एवं काम-वासना का ही प्राधान्य है, कहीं भी जीवात्मा एवं परमात्मा के मिलन एवं विरह की ओर ध्यान नहीं जाता और न कहीं तनिक भी भक्ति-भावना की ही सुगन्ध आती है। ये सभी पद शृंगार-रस से आप्लावित हैं, इनमें वासना की वेगवती सरिता प्रवाहित

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ५७।
[2] विद्यापति ठाकुर, पृ० ९२।
[3] विद्यापति—भूमिका, पृ० ८-९।
[4] हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ५०८।

हो रही है और इनमें आत्मा एवं परमात्मा के आध्यात्मिक जगत् की अपेक्षा विलास-वासना एवं कामुकता के भौतिक जगत् का ही चित्रण है, जिसमें कहीं कामी नायक लुक-छिपकर कामिनी नायिका के अंग-सौन्दर्य को देख-देखकर उन्मत्त हो रहा है, कहीं उसके साथ काम-क्रीड़ाएँ कर रहा है और कहीं कामिनी नायिका अपने प्रिय के विरह में तड़प रही है, अपने यौवन को कोस रही है कामाग्नि में जल रही है तथा प्रिय से मिलने के लिए आतुर होकर मदन के तीक्ष्ण बाण का शिकार हो रही है। इस प्रकार इन सम्पूर्ण पदों में शृंगार का ही प्राधान्य है भक्ति का नहीं, वासनात्मक प्रेम का ही बाहुल्य है आध्यात्मिक प्रेम का नहीं, और कामोद्दीपक भावों का ही प्राचुर्य है साधन सम्बन्धी भावों का नहीं। अतएव विद्यापति के इन पदों में रहस्यवाद के दर्शन करना व्यर्थ है, सख्य-भाव की उपासना को ढूँढ़ना मिथ्या है और जीवात्मा-परमात्मा के सम्बन्ध की स्थापना करना कोरी खींचतान है। इनमें तो मानव की मूल भावना—काम—का सांगोपांग चित्र अंकित किया गया है और इनका सम्बन्ध लौकिक जगत् से है, पारलौकिक से नहीं, क्योंकि इनमें जीवन के भौतिक आनन्द का उज्ज्वल रूप अंकित है।

तीन

कबीरदास

- Imp 84 सन्त-काव्यधारा में कबीर का स्थान ●
- कबीर की भक्ति-भावना ●
- कबीर के दार्शनिक विचार ●
- Imp 84 कबीर का रहस्यवाद ●
- कबीर के रहस्यवाद की स्थितियाँ ●
- कबीर के रहस्यवाद की विशेषताएँ ●
- कबीर का समाज-सुधारक रूप ●
- कबीर की काव्य-कला ●
- कबीर की साखियों का महत्त्व ●
- कबीर की उलटबाँसियाँ ●
- Imp. 84 कबीर की भाषा ●

३

कबीरदास

सन्त-काव्यधारा में कबीर का स्थान

हिन्दी में सन्त-कवि जिस विचारधारा को लेकर अपनी वाणियों की रचना में प्रवृत्त हुए हैं, उसका मूल स्रोत चौरासी सिद्धों एवं नव नाथों की रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है। बौद्धधर्म के अन्तर्गत मतभेद बढ़ जाने पर यहाँ बौद्धधर्म से सम्बन्धित विभिन्न सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनमें से हीनयान एवं महायान नामक दो सम्प्रदाय अधिक प्रसिद्ध हुए। हीनयान में नैतिकता की प्रधानता थी और कुछ विशिष्ट वर्ग वाले व्यक्ति ही इसमें सम्मिलित होते थे। जबकि महायान सम्प्रदाय के द्वार सभी वर्ग एवं सभी जातियों के लिए खुले थे। इसलिए हीनयान की अपेक्षा महायान सम्प्रदाय थोड़े ही समय में जनसाधारण को आकृष्ट करके लोकप्रिय हो गया। वैसे इस सम्प्रदाय में बुद्ध को अवतार मानकर उनकी पूजा का प्रचार आरम्भ हुआ, तान्त्रिक साधना को महत्त्व दिया जाने लगा, जिससे मन्त्र-तन्त्र, डाकिनी-शाकिनी आदि की सिद्धि की ओर ध्यान दिया गया; पंच मकार, भैरवी चक्र आदि की उपासना होने लगी और गुह्य साधनाओं के महत्त्व की ओर आकर्षण बढ़ने लगा। इनमें से ही वज्रयानी चौरासी सिद्ध हुए, जो अपनी चमत्कारपूर्ण सिद्धियों द्वारा जनता के श्रद्धास्पद बन गये। इनमें अधिकांश सिद्ध नीच जाति के थे। इन सिद्धों ने अपनी वाणियों द्वारा जाति-पाँति के भेद-भाव को मिटाने का प्रयत्न किया, तत्कालीन धार्मिक आडम्बरों एवं वेद-विहित यज्ञ-अनुष्ठानों आदि का विरोध किया, सभी वर्णों एवं वर्गों के व्यक्तियों को वेदाध्ययन करने एवं साधना-उपासना करने के लिए प्रेरित किया तथा बाह्य साधना की अपेक्षा अन्तःसाधना पर बल देते हुए इन्द्रिय-निग्रह, प्राणयाम, योग-साधना आदि के महत्त्व का प्रतिपादन किया।

सिद्धों की ही भाँति नाथ-सम्प्रदाय के साधकों ने भी योगाभ्यास पर बल देते हुए योग की साधना को महत्त्व प्रदान किया और हठयोग, राजयोग, ध्यान-योग आदि

योग-सम्बन्धी साधनाओं के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का प्रचार किया। नाथ-सम्प्रदायों में गुरु गोरखनाथ सबसे प्रमुख योगी हुए। उन्होंने संयम, आसन, मुद्रा, कुंडलिनी का ऊर्ध्वगमन, नादानुसंधान आदि आन्तरिक साधना पर जोर देते हुए बाह्याचार का विरोध किया। इस प्रकार सन्त मत को पल्लवित करने में चौरासी सिद्धों एवं नव नाथों ने बड़ा ही योग प्रदान किया, क्योंकि आन्तरिक साधना की जिस पद्धति का प्रचार उक्त सिद्धों एवं नाथों ने किया, उसी को विकसित करने का कार्य सन्तों ने आगे चलकर किया। साथ ही वर्ण-भेद वर्ग-भेद आदि को मिटाकर सम्पूर्ण जातियों, वर्णों एवं निम्न से निम्न कोटि के व्यक्तियों के लिए उपासना, साधना एवं भक्ति को सुलभ बनाने का जो कार्य इन सिद्धों एवं नाथों ने आरम्भ किया था, वही कार्य सन्तों द्वारा आगे चलकर सम्पन्न हुआ। अतएव सिद्धों और नाथों को ही सन्त-मत की नींव डालने वाला माना जाना चाहिए।

सन्त-मत के उद्भव एवं विकास का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि यद्यपि सन्तों की विचारधारा का श्रीगणेश सिद्धों एवं नाथों की वाणियों से ही हो गया था, तथापि इस परम्परा का आरम्भ नामदेव से माना जाता है। ये महाराष्ट्र के सन्त थे और जाति के दर्जी थे। इन्होंने पर्याप्त देशाटन करके जाति-पाँति का विरोध करते हुए सर्वव्यापी निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर जोर दिया था। इनके उपरान्त त्रिलोचन, सदन, बेनी और रामानन्द आते हैं; इनमें से रामानन्द का नाम अधिक प्रसिद्ध है। ये यद्यपि स्मार्त्त वैष्णव थे, फिर भी इन्होंने जाति-पाँति का विरोध करके सभी जातियों के लिए भक्ति के द्वार खोले और धना, पीपा, सेन, रैदास, कबीर आदि निम्न जाति के व्यक्तियों को अपना शिष्य बनाकर सन्त काव्यधारा को प्रवाहित करने में बड़ा योगदान किया।

रामानन्द के शिष्य कबीर के अतिरिक्त धरमदास, गुरु नानक, शेख फ़रीद, मलूकदास, दादूदयाल, धरणीदास, हरिदास, रज्जब, सुन्दरदास, यारीसाहब, दरियासाहब, बुल्लासाहब, चरनदास, भीखासाहब. गरीबदास जगजीवनदास, दयाबाई सहजोबाई, तुलसीदास, पलटूदास, आदि कितने ही सन्त-कवि हुए हैं, जिन्होंने अपनी भाव विभोर वाणियों द्वारा आध्यात्मिक साधना एवं सामाजिक अभ्युत्थान के प्रति अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं तथा बाह्याडम्बर, माया-मोह, कनक और कामिनी, मांसाहार, तीर्थाटन आदि का विरोध करते हुए जीवन को संयम, दया, क्षमा संतोष, ईश्वर-विश्वास आदि से सम्पन्न बनाने का आग्रह किया है, पारस्परिक भेद भाव को दूर करने की सलाह दी है और निराकार ब्रह्म की उपासना पर जोर देते हुए मन्दिर मस्जिद के पाखंडपूर्ण आचार-विचार का घोर विरोध किया है। परन्तु इन सभी सन्तों में से 'कबीर' की वाणी सबसे अधिक सशक्त एवं सक्षम जान पड़ती है। कबीर ने तत्कालीन समस्त धर्म-साधनाओं, उपासना-पद्धतियों, साधना-प्रणालियों आदि का गहन अध्ययन करके अपने विचार प्रकट किये हैं। साथ ही वे उच्च कोटि के साधक भी रहे हैं। इसी कारण उनकी वाणी में अनुभव, ज्ञान, कल्पना तथा साधना का सम्मिश्रण

दिखाई देता है और इसलिए कबीर की वाणी अन्य सन्तों की अपेक्षा कहीं अधिक मार्मिक, प्रभावोत्पादक एवं हृदयस्पर्शी जान पड़ती है । कबीर की विशिष्टता का सबसे बड़ा कारण यह है कि कबीर में एक ओर अद्वैतवाद का समावेश है, तो दूसरी ओर वे सूफीमत की प्रेम-साधना से भी ओतप्रोत दिखाई देते हैं और उनमें मुस्लिम एकेश्वरवाद की भावना भी विद्यमान है । ऐसे ही एक ओर वे सिद्धों एवं नाथ-सम्प्रदाय के हठयोग की साधना तथा सहजयानी सिद्धों की 'सहज' भावना से परिपूर्ण दिखाई देते हैं, तो दूसरी ओर रामानन्द की भक्ति-भावना एवं वैष्णव मत से भी पूर्णतया प्रभावित हैं । ऐसे ही एक ओर वे बौद्धों की मध्यम-प्रतिपदा के अनुयायी दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर निरंजनी साधुओं एवं तांत्रिकों से भी प्रभावित जान पड़ते हैं । इतना होने पर भी कबीर ने सभी सम्प्रदायों एवं मतमतान्तरों का सार ही ग्रहण किया है. वे किसी भी एक सम्प्रदाय के बनकर नहीं रहे हैं । यही एक 'सन्त' की सबसे बड़ी पहचान है और इसमें 'कबीर' खरे उतरे हैं । इसी कारण कबीर को ही सन्त-मत का प्रमुख प्रवर्त्तक माना जाता है और इसलिए वे सन्त-काव्यधारा के प्रमुख कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं ।

अन्य सन्तों की भाँति कबीर का काव्य भी सरल एवं सुबोध जनभाषा में मिलता है, परन्तु उसमें स्पष्टता एवं प्रभावोत्पादकता कहीं अधिक है । वह सरलता सत्यता, व्यावहारिकता एवं स्पष्टवादिता के लिए प्रसिद्ध है । उसमें मार्मिक पाखंडों, सामाजिक कुरीतियों अनाचारों, पारस्परिक विरोधों आदि को दूर करने की अपूर्व शक्ति है, उसमें समाज के अन्तर्गत क्रान्ति उत्पन्न करने की अद्भुत क्षमता है और उनमें चित्तवृत्तियों को परिमार्जित करके हृदय को उदार बनाने की अनुपम सामर्थ्य है । इस प्रकार कबीर का साहित्य जन-जीवन को उन्नत बनाने वाला है, मानवतावाद का पोषक है, विश्वबन्धुत्व की भावना को जाग्रत करने वाला है । विश्व-प्रेम का प्रचारक है, पारस्परिक भेदभाव को मिटाने वाला है तथा प्राणिमात्र में प्रेम का संचार करने वाला है । इसलिए कबीर अन्य सन्तों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रसिद्ध हैं । वे एक महान् साधक हैं, उच्चकोटि के सुधारक हैं, निर्गुण भक्ति के प्रबल प्रचारक हैं तथा हिन्दी-संत-काव्य के प्रतिनिधि कवि हैं । इसी कारण हिन्दी की सन्त-काव्यधारा में उनका स्थान सर्वश्रेष्ठ माना जाता है ।

कबीर की भक्ति-भावना

भारतीय भक्ति-धारा के अन्तर्गत वैष्णव भक्ति के दो रूप मिलते हैं— सगुण-भक्ति और निगुण-भक्ति । कबीर निर्गुण भक्तिमार्ग के अनुयायी थे और वैष्णव भक्त थे । रामानन्द से शिष्यत्व ग्रहण करने के कारण कबीर के हृदय में वैष्णवों के लिए अत्यधिक आदर था । इसी कारण कबीर ने 'मेरे संगी द्वै जणा, एक वैष्णव एक राम' कहकर वैष्णवों की प्रशंसा की है तथा 'कबीर धनि ते सुन्दरी, जिनि जाया वैसनों पूत' कहकर उस माता तक को धन्य कहा है, जिसने वैष्णव पुत्र को जन्म दिया है । वैष्णवों के प्रति अधिक श्रद्धा एवं आदर होने के कारण ही कबीर ने शाक्तों की बड़ी निन्दा की है और यहाँ तक कहा है कि 'साकत बाभंण मति मिलै, बैसनों

मिलै चंडाल' अर्थात् ब्राह्मण यदि शाक्त है तो कबीर उससे मिलना पसंद नहीं करते, जबकि यदि कोई चांडाल होकर भी वैष्णव भक्त है तो उससे बड़ी प्रसन्नता के साथ मिलना पसंद करते हैं। कबीर की यह वैष्णव भक्ति एक ओर तो भारतीय अद्वैतवादी भावना से प्रभावित थी और दूसरी ओर इस पर मुसलमानी एकेश्वरवाद का भी प्रभाव था। इसका मूल कारण यह था कि कबीर एक ऐसी भक्ति-धारा को प्रवाहित करना चाहते थे, जिसे सभी वर्ग एवं सभी वर्ण के व्यक्ति बिना किसी हिचकिचाहट अपना सकें। उस समय हिन्दू और मुसलमानों में पारस्परिक वैमनस्य एवं ईर्ष्या-द्वेष अत्यधिक बढ़ रहे थे। अतः कबीर ने अपनी निर्गुण भक्ति का आश्रय लेकर दोनों जातियों की पारस्परिक कटुता एवं वैमनस्य की भावना को दूर करके एक ऐसी सामान्य भक्ति का प्रचार किया, जिसमें राम और रहीम, कृष्ण और करीम महादेव और मुहम्मद की एकरूपता स्थापित करके एक ईश्वर की उपासना पर जोर दिया गया था और ईश्वर की एकता के आधार पर मानव मात्र की एकता का प्रचार किया गया था। कबीर की इस निर्गुण भक्ति में निम्नलिखित विशेषताएँ विद्यमान हैं :—

(१) **परमात्मा की एकता**—कबीर की भक्ति का मूल आधार परमात्मा की एकता है। यद्यपि मुसलमानों में एक ईश्वर को ही माना गया है और हिन्दुओं में भी विभिन्न देवी-देवताओं के अन्तर्गत एक ही ब्रह्म एक ही शक्ति की कल्पना की गई है, तथापि मुसलमान तो उस ईश्वर को केवल जगत् का नियामक, शासक एवं अधिपति मानते हैं और हिन्दुओं में वहुदेवोपासना का प्रचार होने के कारण उस ईश्वर को कहीं राम, कहीं कृष्ण, कहीं शिव, कहीं दुर्गा, कहीं सरस्वती, कहीं राधा आदि अनेक रूपों में देखा जाता है। अतएव कबीर ने मुसलमानों के एकेश्वरवाद तथा हिन्दुओं के वहुदेववाद के विरुद्ध एक ईश्वर का प्रचार किया, जो घट-घट वासी हैं, सर्वत्र रमा हुआ है और निर्गुण एवं निराकार है। इसलिए कबीर ने 'मुसलमान का एक खुदाई, कबीर का स्वामी रह्या समाई' कहकर मुसलमानों के उस एकेश्वरवाद का विरोध किया है, जिसके अनुसार खुदा को बन्दे से पृथक् सातवें असमान पर बैठा हुआ माना जाता है और 'अपरंपार के नाउँ अनंत' तथा 'जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप-कुरूप' आदि कहकर हिन्दुओं की बहुदेवोपासना का विरोध करते हुए एक ईश्वर के अनेक नाम बताये हैं तथा उसे निर्गुण एवं निराकार बताया है। इस प्रकार कबीर ईश्वर-सम्बन्धी भावना में एकता की स्थापना करते हुए एक निराकार ईश्वर की उपासना पर जोर देते हैं; उसे सर्वव्यापी, सर्वनियन्ता, सर्वोपरि एवं परात्परब्रह्म कहकर बुद्धि मन और वाणी से सर्वथा अगम एवं अगोचर बताते हैं तथा 'हमरै राम रहीम करीमा केसौ अलह राम सति सोई, बिसमिल मेटि बिसंभर एकै और न दूजा कोई" कहकर राह-रहीम, कृष्ण करीम, राम-अल्लाह, बिसमिल-विश्वंभर आदि सबकी एकता स्थापित करते हुए परमात्मा की एकता पर जोर देते हैं।

(२) **माधुर्य भाव**—कबीर की भक्ति-भावना में माधुर्य-भाव की भक्ति का पु

मिलता है, क्योंकि कबीर ने भक्ति में विभोर होकर आत्मा एवं परमात्मा के पारस्परिक वियोग का जो वर्णन किया है, उसमें वैसी ही विरह की तीव्रता दिखाई देती है, जैसी माधुर्य-भाव की भक्ति में देखी जाती है । भले ही इस विरह-जन्य तीव्रता पर सूफी-मत का प्रभाव हो, परन्तु इसमें भारतीय माधुर्य भावना का ही आधिक्य दृष्टिगोचर होता है । इसी कारण कबीर की आत्मा अपने निर्गुण एवं निराकार परमात्मा के लिए विरह-व्यथित नारी की भाँति छटपटाती हुई अंकित की गयी है । उसे न दिन में सुख मिलता है, न रात में, न जागने पर सुख मिलता है और न स्वप्न में, न धूप में सुख मिलता है और न छाँह में । वह तो राम के वियोग में रात-दिन पीव-पीव रटती रहती है, राम की ही बाट जोहती रहती है, राम से मिलने के लिए तरसती रहती है तथा उसके मन में क्षण-भर भी विश्राम नहीं मिलता ।[1] कबीर की आत्मा एक विरहिणी की भाँति राम के दर्शनों के लिए बार-बार उठती है और दुर्लब होने के कारण गिर-गिर पड़ती है तथा 'मूवाँ पीछैं देहुगे, सो दरसन किहि काम' कहकर अपनी तीव्र उत्सुकता भी प्रकट करती है इतना ही नहीं, वह तो यहाँ तक तैयार है कि अपना शरीर जलाकर उसको भस्म कर देगी, जिससे उसका धुआँ आकाश में छा जाय । सम्भव है, उस धुँए को देखकर ही वे राम उस विरहिणी पर दया कर दें और अपने कृपा-वारि की वर्षा करके उसकी वियोगाग्नि को बुझा दें ।[2] इस तरह विरहिणी की भाँति अत्यन्त व्यथित आत्मा का चित्रण करके कबीर ने माधुर्य-भाव की भक्ति को अपनाया है । इसलिए यहाँ कृष्ण के वियोग में विह्वल गोपियों की भाँति कबीर की आँखों में भी अपने प्रियतम राम की राह देखते-देखते झाँई पड़ने लगी है' राम को पुकारते-पुकारते जीभ पर छाले पड़ गये हैं, आँखों से रहँट की भाँति आँसू निरन्तर बहते रहते हैं और पपीहे की भाँति जीभ रात-दिन 'पीव-पीव' पुकारती रहती है । कबीर की यह प्रेमा-भक्ति माधुर्य भावना से ओत-प्रोत है और इसमें ईश्वरासक्ति का उत्कट रूप विद्यमान है । अतएव निर्गुण ब्रह्म के प्रति भक्ति-भावना प्रकट करते हुए भी कबीर ने उसमें माधुर्यभाव का बड़ा ही सुन्दर समावेश किया है ।

(३) **नाम-स्मरण**—कबीर की भक्ति-भावना में नाम-स्मरण का अत्यधिक महत्त्व माना गया है । वैसे तो सगुण एवं निर्गुण सभी भक्त कवि परमात्मा से भी अधिक परमात्मा के नाम का महत्त्व बताते हैं' परन्तु निर्गुण भक्तों के नाम की महिमा का अधिक बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है । वे तो नाम को ही ब्रह्म मानते हैं और इसीलिए नाम के स्मरण को अत्यधिक महत्त्व देते हैं परन्तु वह स्मरण हृदय

---

[1] वासुरि सुख नाँ रैणि सुख, नाँ सुख सुपिनै माँहि ।
कबीर बिछुट्या राम सूँ, नाँ सुख धूप न छाँहि ॥
बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम ।
जिव तरसै तुझ मिलन कूँ, मन नाहीं विश्राम ॥

[2] यह तन जालौं मसि करूँ, ज्यूँ धूवाँ जाइ सरग्गि ।
मति वै राम दया करै, बरसि बुझावै अग्गि ॥

से होना चाहिए, मन लगाकर करना चाहिए तथा ऐसा होना चाहिए कि स्मरण करते-करते होठों से भले ही नाम न निकले, परन्तु अंग-अंग में वह नाम व्याप्त हो जाय। वे ऐसे स्मरण का विरोध करते हैं, जिसमें माला तो हाथ में फिरती है और जीभ मुख में फिरती है, परन्तु मन दस दिशाओं में घूमता फिरता है।[1] वे तो चाहते हैं कि स्मरण ऐसा होना चाहिए कि अपने आराध्य देव का स्मरण करते-करते साधक उसी का रूप ग्रहण कर ले। उसमें अहंकार न रहे और उसकी आत्मा उद्‌बुद्ध होकर परमात्मा का साक्षात्कार कर ले, जिससे उसे अपने अन्तर्गत तथा बाहर सर्वत्र उसी एक ब्रह्म का रूप दिखाई दे। इसे सन्तों ने 'अजपा जाप' कहा है। कबीर ने भी इसकी ओर संकेत किया है और बताया है कि तेरा नाम-स्मरण करते-करते मैं भी तेरा ही रूप हो गया हूँ, अब मुझ में मैं' नहीं रही है अब तो मैं जिधर देखता हूँ उधर तेरा ही रूप दृष्टिगोचर होता है।[2] यही वह स्मरण है, यही वह जाप है, जो 'अजपा जाप' कहलाता है तथा जिसके अनुसार साधक बाह्य स्मरण का परित्याग करके आन्तरिक स्मरण में लीन हो जाता है और सर्वत्र उसी एक ईश्वर की सत्ता का आभास देखने लगता है। इसी कारण कबीर को अपने ही 'लाल' की 'लाली' सर्वत्र दिखाई देती थी और इसी कारण वे भी उस 'लाली' में 'लाल' होकर अजपा-जाप में लीन रहे आते थे।[3] इस प्रकार कबीर ने नाम-स्मरण का महत्त्व बताते हुए निष्काम भाव से 'राम' का नाम जपने पर जोर दिया है और नाम जपते-जपते नाम से एकाकार हो जाने का आग्रह किया है।

(४) **गुरु की महत्ता**—कबीर की भक्ति में गुरु को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। कबीर की दृष्टि में गुरु 'गोविन्द' से भी बढ़कर है, क्योंकि 'हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर' कहकर कबीर ने गुरु को सबसे बड़ा आश्रय-स्थान माना है, जो ईश्वर के रूठने पर भी भक्त की रक्षा करता है, किन्तु गुरु की उच्च कोटि का होना चाहिए। वह ज्ञान का भण्डार होना चाहिए, उसमें शिष्य के पथ-प्रदर्शन की पूर्ण क्षमता होनी चाहिए और वह भी सच्चा साधक होना चाहिए। ऐसे गुरु को कबीर ने 'सतगुरु के नाम से अभिहित किया है तथा उसकी अनन्त महिमा का गुण-गान किया है, क्योंकि वह अनन्त उपकार करने वाला होता है, उसमें अनन्त दृष्टि प्रदान करने की शक्ति होती है और वह उस अनन्त एवं असीम ब्रह्म का साक्षात्कार कराने में समर्थ होता है।[4] 'सतगुर' अपने शिष्य को ज्ञान का ऐसा दीपक प्रदान करता है, जिससे वह

---

[1] माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माँहि।
मनुवाँ तो दस दिसि फिरै, सो तो सुमिरन नाँहि॥

[2] तूँ तूँ करता तूँ भया, तुझ में रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखूँ तित तूँ॥

[3] लाली मेरे लाल की, जित देखूँ उत लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गयी लाल॥

[4] सतगुरु की महिमा अनत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार॥

ठीक मार्ग पर चल सके और वेद-विहित एवं लौकिक मार्ग का आँख बन्द करके अनुसरण न करे।[1] यदि 'सतगुरु' से भेंट नहीं होती, तो भक्ति के मार्ग में कोई भी साधक सफल नहीं होता। इसलिए अज्ञानी गुरुओं के लिए कबीर ने चेतावनी दी है कि जो स्वयं अन्धे हैं, वे भला अपने शिष्यों का उद्धार कैसे कर सकते हैं? यदि कोई अन्धा व्यक्ति किसी अन्धे को ठेलकर मार्ग पर चलायेगा, तो उसका परिणाम यह होगा कि गुरु और शिष्य दोनों कुएँ में गिरेंगे।[2] अतएव कबीर ने केवल 'सतगुरु' की ही सेवा करने के लिए आग्रह किया है और इस गुरु-सेवा को भक्ति का एक अनिवार्य साधन घोषित करते हुए 'गुरु-सेवा ते भक्ति कमाई' कहकर कबीर ने स्वयं गुरु-सेवा के द्वारा ही भगवद्भक्ति की प्राप्ति की ओर संकेत किया है।

(५) **मध्यम मार्ग का अनुसरण**—कबीर यह नहीं चाहते थे कि कोई भगवान् की भक्ति के लिए घर-द्वार छोड़कर वन में जाय और वहाँ निराहार रहकर घोर तप करे अथवा अपने अंगों को सुखाकर भगवान् में भजन के लीन हो। वे तो भगवान् बुद्ध की भाँति 'मध्यम मार्ग' के अनुगामी थे। बुद्ध जी ने जिस प्रकार बताया था कि वीणा के तारों को अधिक कस दिया जाय तो वे टूट जायेंगे और यदि ढीला रखा जाय तो उनसे कोई ठीक स्वर नहीं निकल सकता, उसी प्रकार यदि शरीर को अधिक कष्ट देकर अथवा तपस्या द्वारा क्षीण बनाकर या उपवास आदि करके भगवान् के भजन में लगाया जायेगा तो भक्ति-साधना अधिक दिन नहीं चल सकती और यदि विषय-भोगों में लीन रहकर भजन करने की चेष्टा की जायगी, तो इन्द्रियाँ विषयों में लीन रहने के कारण भगवान् के भजन की ओर उन्मुख नहीं होंगी। अतः दोनों अतियों का परित्याग करके एक साधक भक्त को आसक्ति छोड़कर मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। इसमें वह गृहस्थी के अन्दर ही काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों पर विजय पाता हुआ अनासक्त होकर भगवद्भजन में लीन रह सकता है। उसे एकान्त वन या जंगल में जाने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि मन को वश में रखने वाला व्यक्ति गृहस्थ होकर भी वैराग्यपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकता है और यदि वन में एकान्त वास करने वाले व्यक्ति का मन पर नियंत्रण नहीं है तो वह वैरागी होकर भी विषयाक्त गृहस्थ बन जाता है। इसलिए कबीर ने "एक वैरागी गृह में, इह गृही में वैराग" कहकर उक्त मत का समर्थन किया है और मध्यम-मार्ग का अनुसरण करते हुए अपने घर में ही रहकर भगवद्भक्ति में लीन होने का आग्रह किया है।

(६) **आचरण की शुद्धता**—कबीर की भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सदाचार पर अधिक जोर दिया गया है। कबीर ने सदाचार को भक्ति

---

१. पीछैं लागा जाइ था, लोक वेद के साथ।
आगैं थे सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथ॥

२. जाका गुरु भी अँधला, चेला खरा निरंध।
अन्धै अन्धा ठेलिया, दून्यूँ कूप पड़ंत॥

के प्रमुख अंग के रूप में स्वीकार किया है। इस सदाचार की प्राप्ति के लिए कबीर ने आचरणों को शुद्ध करने का आग्रह किया है। यह आचरण की शुद्धता तभी सम्भव है, जबकि एक साधक सम्पूर्ण विकारों को उत्पन्न करने वाली दो वस्तुओं—कनक और कामिनी का परित्याग करे। कबीर ने 'एक कनक और कामिनी, दुर्गम घाटी दोय' कहकर कनक और कामिनी को भक्ति-मार्ग के लिए महान् विघ्न सिद्ध किया है और बताया है कि ये दोनों ही मानव मात्र के शत्रु हैं इनमें से कामिनी तो मानव के तीन सुखों का विनाश कर देती है, क्योंकि कामिनी के कारण ही मानव भक्ति, मुक्ति और ज्ञान में प्रवेश नहीं कर पाता।[1] इतना ही नहीं कभी 'कामिणि काली नागिणी' कह कर कामिनी को काली नागिन, कभी 'कामणि मीनों खांड़ि की, जे छेड़ौं तौं खाइ' कहकर खांड़ की बनी मधुर मछली कहा है। साथ ही कनक और कामिनी दोनों की निन्दा करते हुए कभी इन्हें 'विष फल' और कभी 'अग्नि की झाल' बताया है तथा इनसे बचकर एक भक्त को काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को छोड़ते हुए विशुद्ध आचरण रखने की सलाह दी है। कबीर ने आचरण की शुद्धता के लिए कुसंगति के त्याग पर भी जोर दिया है और सत्सति के महत्त्व का प्रतिपादन किया है कबीर की दृष्टि में सज्जनों की संगति से ही मानव शुद्धाचरण की ओर प्रवृत्त हो जाता है और इसी से मानव की दुर्मति का विनाश होकर उसे कुमति की प्राप्ति होती है।

(७) **प्रपत्ति-भाव का अनुगमन**—कबीर की भक्ति में प्रपत्ति भाव को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। 'प्रपत्ति' का शाब्दिक अर्थ है—अनन्य भक्ति। वायुपुराण में 'प्रपत्ति' के छः अंग माने गये हैं—(१) अपने इष्टदेव के अनुकूल गुणों को धारण करने का संकल्प, (२) उसके प्रतिकूल गुणों का त्याग, (३) इष्टदेव द्वारा रक्षा का विश्वास, (४) रक्षक का गुण-गान, (५) आत्मसमर्पण और (३) दैन्य।[3] कबीर की भक्ति में उक्त 'पट् विधा शरणागतिः' पूर्णतया विद्यमान है, क्योंकि कबीर के सम्पूर्ण पदों एवं साखियों में निर्गुण एवं निराकार ब्रह्मा के गुणों का ही वर्णन मिलता है। कबीर ने काम, क्रोध, लोभ, मोह, माया आशा, तृष्णा आदि के परित्याग का वर्णन करके भगवान् के प्रतिकूल गुणों को छोड़ने की सलाह दी है 'अब मोहि राम भरोसो तेरा' कहकर कबीर ने स्पष्ट ही भगवान् द्वारा भक्त की रक्षा में विश्वास प्रकट किया है। 'राम नाँव ततसार है, 'राम कहें भला होइगा' या कबीरराम ध्याइ लै

---

१. नारि नसावै तीन सुख, जा नर पासै होय।
भगति मुकति निज ज्ञान में, पैसि न सकई कोय॥

२. कबीर संगति साधु की, बेगि करीजै जाइ।
दुरमति दूरि गँवाइ सो, देशी सुमति बताइ॥

३ अनुकूलस्य संकल्प प्रतिकुलस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वर्णनं तथा।
आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

आदि कहकर कबीर ने अपने रक्षक 'राम' के गुणों की महिमा का अत्यधिक वर्णन किया है । 'तन-मन-जीवन सौंपि सरीरा' या 'तन-मन-धन मेरा रामजी के ताइँ' कहकर कबीर ने अपने इष्टदेव के प्रति पूर्णतया आत्म समर्पण का भाव प्रकट किया है और 'तुम समान दाता नहीं, हम से नहीं पापी' अथवा 'माधौं मैं ऐसा अपराधी' या 'माधौं कब करिहौ दाया' आदि कहकर कबीर ने अपने दैन्य का निवेदन भी पर्याप्त मात्रा में किया है ।

(८) **हठयोग का मिश्रण**—कबीर की भक्ति-भावना में हठयोग का भी मिश्रण मिलता है । कबीर ने भक्ति की तरंग में आकर स्थान-स्थान पर 'इड़ा', 'पिंगला', 'सुषुम्ना', 'कुण्डलिनी', 'अष्टचक्र' आदि का वर्णन किया है और इनका सम्बन्ध भक्ति से स्थापित करते हुए अपने पदों में हठयोग एवं प्रेमा-भक्ति का अद्भुत समन्वय किया है । इसीलिए कहीं 'अष्ट कमल दल चरखा डोलै' कहा गया है, तो कहीं 'प्रेम भगति हिंडोलना सब सन्त करैं विश्राम' बताया गया है, जिसमें 'चन्द सूर दोइ खम्भवा, बंक नालि की डोरि' पड़ी हुई है, कहीं 'चन्द सूर दोइ तूंबा करिहूँ चित चेतन की डांडी' और 'सुषमन तंती बाजण लागी, इहि विधि त्रिष्णां छाँड़ी' कहा गया है तो कहीं 'षट चक्र कँवल वेधा जारि उजारा कीन्हा' का स्वर सुनाई पड़ता है । इसीलिए कबीर ने कभी 'सुन्नि मंडल में घर किया' कहा है तो कभी 'गगल मंडल सीगीं बाजै' बताया है और कभी 'अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंक नालि रस पीवै' कहकर चन्द्र-नाड़ी से झरने वाले अमृत रस का वर्णन किया है । इस प्रकार हठयोग का स्थान-स्थान पर वर्णन करके अपनी निर्गुण-भक्ति का निरूपण किया है ।

इसी प्रकार कबीर की भक्ति-भावना का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उसमें निष्काम भाव की प्रबलता है, निर्गुण ब्रह्म के प्रति अटूट श्रद्धा एवं विश्वास प्रकट किया गया है, बाह्य साधनों की अपेक्षा आंतरिक साधनों पर जोर देते हुए मानसिक पूजा एवं मानसिक ध्यान को महत्त्व प्रदान किया गया है, शुद्धाचरण एवं सत्याचरण पर जोर दिया गया है, मूर्तिपूजा एवं अवतारवाद का खण्डन करते हुए केवल नाम-स्मरण द्वारा ब्रह्म के साक्षात्कार करने का आग्रह किया गया है, भगवान् के गुण-कीर्तन को महत्त्व देते हुए भक्त के आत्म-समर्पण को भक्ति का अनिवार्य अंग घोषित किया गया है तथा सत्संगति, साधु-सेवा, इन्द्रिय-निग्रह, संयम, वैराग्य, अनासक्त भाव, माया एवं तृष्णा का परित्याग, गुरु-सेवा, माधुर्य-भाव आदि का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए सहज एवं सरल रूप में दीनता एवं विनम्रता के साथ भगवान् की भक्ति को अपनाने का आग्रह किया गया है ।

कबीर के दार्शनिक विचार

कबीर ने अपने दार्शनिक विचारों को अत्यन्त सरल तथा सीधी-सादी भाषा में जनता के सामने प्रस्तुत किया है । इसी कारण कबीर के विचारों की ओर शिक्षित वर्ग उतना आकृष्ट नहीं होता, जितना कि अशिक्षित एवं अल्पशिक्षित वर्ग आकृष्ट होता है । कबीर ने इन विचारों में जन-साधारण के हृदय तक पहुँचने की अपूर्व क्षमता

है, क्योंकि कबीर ने दर्शन के गूढ़ातिगूढ़ सिद्धान्तों एवं विचारों को अत्यन्त सरल एवं सुबोध बनाकर जनता के समक्ष रखा है और रात-दिन व्यवहार में आने वाले पदार्थों के उदाहरणों द्वारा उन्हें समझाने की चेष्टा की है। संक्षेप में, कबीर के दार्शनिक विचार इस प्रकार हैं :—

(१) ब्रह्म—कबीर ने एक ऐसे ब्रह्म की कल्पना की है, जो निर्गुण एवं सगुण दोनों से परे है।[१] जिसके न मुख है, न मस्तक है; न रूप है और न कुरूप, अपितु जो पुष्प की सुगन्धि से भी पतला होने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म है[२] वह मन एवं वाणी से अगोचर है, अलख एवं निरंजन है, उसका वर्णन नहीं हो सकता, केवल वह अनुभव की ही वस्तु है। वह अनन्त ज्योति स्वरूप है तथा नाम-ग्राम आदि से सर्वथा रहित है। यद्यपि उसे तत्, परमतत्त्व, अलख, अरूप, अनाम, सबद, सहज, ग्यान, अनन्त उनमन, हरि, राम, शिव, ब्रह्म आदि कितने ही नामों से अभिहित किया जाता है, तथापि कोई भी नाम उसका ठीक-ठीक बोध नहीं करा पाता, क्योंकि वह अरूप एवं अनाम है, निरंजन एवं निराकार है तथा अगम एवं अगोचर है। वह अनन्त तेजयुक्त है और उसका वह तेज सूर्यों की माला के तुल्य प्रतीत होता है। वह स्वयं प्रकाश-रूप है। इसी से सूर्य एवं चन्द्र के बिना ही वह अनन्त प्रकाश-युक्त रहता है। उस ब्रह्म का तेज कैसा है? इसका वर्णन करना सर्वथा असम्भव है। वह तो कथन का विषय नहीं, अपितु अनुभव का विषय है, क्योंकि स्वयं देखने पर ही ज्ञात होता है।[३] वह पिण्ड एवं ब्रह्मांड में सर्वत्र व्याप्त है। वह सत्य स्वरूप है और उसने ब्रह्मांड के रूप में अपनी लीला का विस्तार कर रखा है। वह एक बाजीगर के समान स्वाँग करता रहता है, जब चाहता है तभी इस स्वाँग को सकेल कर वह फिर अपने रङ्ग में ही रम जाता है।[४] इस तरह वह सम्पूर्ण ब्रह्म सृष्टि में व्याप्त है और सम्पूर्ण सृष्टि उस ब्रह्म में लीन है।[५] उसने इस सृष्टि में अपने को ऐसा छिपा लिया है कि उसे कोई पहचान नहीं पाता, जबकि वह सदैव सृष्टि के अन्तर्गत विद्यमान रहता है।[६] इस तरह वह अपने मध्य ही स्वयं छिपा बैठा है[७] और सबके अन्दर विद्यमान होकर भी सर्वोपरि है।

---

[१] निर्गुण सगुण से परे, तहाँ हमारी ध्यान ।

[२] जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप ।
पुहुप बास तें पातरा, ऐसा तत्त अनूप ॥

[३] पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान ।
कहिबे कूँ सोभा नहीं देख्या ही परवान ॥

[४] बाजीगर डंक बजाई, सब खलक तमासे आई ।
बाजीगर स्वांग सकेला, अपने रंग रमै अकेला ॥

[५] खालिक खलक खलक मँहि खालिक पूरि रह्यो सब ठाईं ।

[६] कहन सुनन कौं जिहि जग कीन्हा ।
जग भूलाँन सो किनहूँ न चीन्हा ॥

[७] आपण माँझे आप छिपाया ।

(२) जीव—कबीर ने जीवात्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया है, अपितु उसे परमतत्त्व का ही एक लघु रूप माना है। इसी कारण कबीर ने जीवात्मा को न तो मनुष्य बताया है और न देव, न इसे योगी और यती कहा है और न इसे अवधूत बताया है, न इसे माता कहा है और न पुत्र, न इसे गृही बताया है और न उदासी, न इसे राजा कहा है न रंक, न इसे ब्राह्मण कहा है और न बढ़ई, न इसे तपस्वी कहा है और न शेख, अपितु इसे 'राम' का अंश मानकर यह घोषित किया है कि जिस प्रकार कागज के ऊपर से स्याही का चिह्न नहीं मिटता, उसी प्रकार यह भी नित्य एवं निर्विकार रूप से विद्यमान रहता है।[१] कबीर का मत है कि केवल माया के वशीभूत होकर ही यह जीवात्मा संसार में जन्म-मरण के चक्कर में पड़ता रहता है। वैसे यह परम तत्त्व का ही रूप है और वह परमात्मा इस जीवात्मा में निरन्तर अद्वैत भाव से विद्यमान रहता है। जब तक इस दृश्य जगत् का आवरण इस जीवात्मा पर पड़ा रहता है, तब तक यह परमात्मा से यह पृथक् होकर यहाँ जगत् में भटकता रहता है, परन्तु जैसे ही यह भ्रम दूर हो जाता है, वैसे ही यह जीवात्मा स्वयं को ब्रह्म समझने लगता है, फिर उसे 'हम सब मांहि सकल हम माँही' का आभास होने लगता है और 'हमथे और दूसरा नाहीं' का अनुभव होने पर वह पूर्ण अद्वैत भाव में स्थित हो जाता है। कबीर ने जीवात्मा एवं परमात्मा के अद्वैत भाव को अनेक स्थानों पर प्रदर्शित किया है तथा बूँद और समुद्र का उदाहरण देकर यह स्पष्ट घोषित किया है कि ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर आत्मा परमात्मा में और परमात्मा आत्मा में पूर्णतः लीन हो जाता है ओर फिर दोनों में कोई अलग अस्तित्व नहीं रहता है।[२]

(३) जगत्—कबीर की दृष्टि में जगत् का भी कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। केवल माया के कारण इनकी सत्ता दृष्टिगोचर होती है, वैसे यह सर्वथा मिथ्या है और इस पर नाम तथा रूप का आरोप होने के कारण सत्य-सा दिखाई पड़ता है, अन्यथा इस जगत् का मूल अधिष्ठान भी परब्रह्म ही है, क्योंकि जिस तरह स्वर्ण से अनेक आभूषण बनते हैं उसी तरह जगत् के इन समस्त नामरूपात्मक पदार्थों की उत्पत्ति भी उसी ब्रह्म से होती है और अन्त में ये सभी पदार्थ उसी ब्रह्म में समा जाते हैं।[3]

---

[१] ना इहु मानसु ना इहु देउ।
ना इहु जती कहावै केउ॥
ना इहु जोगी ना अवधूता।
ना इहु माइ न काहू पूता॥
× × ×
कहै कबीर इहु राम को अंसु।
जस कागद पर मिटै न मंसु॥

[२] हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हेराय।
बूँद समानी समुद में, सो कत हेरी जाइ॥

[३] जैसे कंचन के भूषन ये कहि गालि तबाहिंगे।
ऐसे हम लोक वेद के बिछरे सुन्निहि माँहि समाहिंगे॥

इसी तरह यह सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत् एक घड़े के समान है, जो ब्रह्म रूपी जल में रखा है और अन्दर तथा बाहर वही एक ब्रह्म रूपी जल भरा हुआ है, किन्तु जैसे ही यह घड़ा फूटता है और इसका जल बाहर के जल में मिल जाता है, वैसे ही यह नामरूपात्मक जगत् भी अन्त में उसी ब्रह्म में लीन हो जाता है।[1] इसी कारण कबीर ने जगत् को असत्य एवं मिथ्या बताते हुए "दुनियाँ भाँड़ा दुःख का' कहकर इसे दुःख का घर' घोषित किया है, 'यहु ऐसा संसार है जैसा सेंवल फूल' कहकर इसकी नश्वरता की ओर संकेत किया है और 'दिवस चारि का पेषणां, विनसि जाइगा काल्हि कहकर इसकी क्षणभंगुरता की घोषणा की है। इस प्रकार कबीर ने अद्वैत वेदान्त-दर्शन की भाँति विवर्तवाद का आश्रय लेकर माया के अध्यारोप द्वारा जगत् की स्थिति स्वीकार की है, जो सर्वथा मिथ्या है और तनिक भी सत्य नहीं है। ब्रह्म का ज्ञान होते ही माया का आवरण हट जाता है और फिर वह ब्रह्म की ही सत्ता सर्वत्र रह जाती है।

(४) **माया**—कबीर ने उस 'माया' को परब्रह्म की एक ऐसी रहस्यमयी शक्ति माना है, जो विश्वमयी नारी के रूप में प्रकट होकर सम्पूर्ण जीवों को ठगती एवं फँसाती रहती है। यह ऐसी ठगिनी है कि सदैव त्रिगुणमयी 'फाँस' हाथ में लिए रहती है और बड़ी मीठी वाणी बोलती है। इस ठगिनी का परित्याग करने के लिए कोई लाख चेष्टा करे, फिर भी यह उसका पीछा नहीं छोड़ती। यह जल थल और आकाश में सर्वत्र व्याप्त है तथा नानारूप धारण करके जप-तप एवं योग-साधना में विघ्न डालती रहती। यह बड़ी 'डाइन' है और काम, क्रोध, मोह, मद और मत्सर नामक इसके पाँच पुत्र हैं, जो जीवों को सदैव सताते हैं और नाना प्रकार के नाच नचाते रहते हैं। इसे कबीर ने 'रमैया की जोरू' कहा है' जिसने सारे संसार को लूट लिया है। यह बड़ी मीठी है, इसी कारण इसे छोड़ना बड़ा कठिन है। वैसे इसका निर्वाचन करना बड़ा कठिन है। इसी कारण इसे वेदान्त में अनिर्वचनीय कहा गया है। कबीर ने भी इसे 'आंगणि बेलि अकासि फल', 'अणव्यावर का दूध', 'ससा सींग की धुनिहड़ी', 'रमै बांझ का पूत' आदि कहकर इसकी अनिर्वचनीयता की ओर संकेत किया है। साथ ही इसके स्वरूप का विवेचन करते हुए बताया है कि इसे आगे-आगे से जितना नष्ट किया जाता है; पीछे-पीछे से यह उतनी ही हरी होती जाती है।[2] यह माया रूपी बेलि ऐसी विचित्र है कि काटो तो और हरी-भरी हो जाती है, यदि सींचो तो कुम्हला जाती है। इसी कारण त्रिगुणमयी माया के गुणों का वर्णन

---

[1] जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यहु तत कथौ गियानी ॥

[2] आगैं आगैं दौं जलै, पीछैं हरिया होइ।

करना सर्वथा कठिन है।[1] इस प्रकार कबीर ने 'कीड़ी कुंजर में रही समाई, आदि कहकर माया को सर्वत्र व्याप्त बताते हुए इसे साधना-पथ में अनेक विघ्न डालने वाली सिद्ध किया है और बताया है कि जब तक माया से छुटकारा नहीं मिलता तब तक जीव मुक्त नहीं होता, क्योंकि यही माया बुद्धि में भेद उत्पन्न करती है, मन को भ्रमित करके विषयों को ओर प्रवृत्त कर देती है और जीवात्मा एवं परमात्मा के मध्य उपस्थित होकर दोनों में पृथक्ता उत्पन्न कर देती है। केवल 'सतगुरु' की कृपा से ही इससे मुक्ति मिलती है और माया से मुक्ति मिलने पर ही जीवात्मा एवं परमात्मा का मिलन होता है।[2] इस तरह कबीर ने माया को वेदान्त की अविद्या की ही भाँति निरूपित किया है, जो त्रिगुणात्मिका है, संसार को भ्रमित करने वाली है तथा जो 'कनक और कामिनी' के रूप में प्रकट होकर जीवात्मा को परमात्मा से पृथक् करती रहती है।

सारांश यह है कि कबीर के दार्शनिक विचारों पर अद्वैतवादी वेदान्त दर्शन का अत्यधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण कबीर ने ब्रह्म और जीव तथा ब्रह्म और जगत् सभी की अद्वैतता का प्रतिपादन किया है और माया की अनिर्वचनीयता का उल्लेख करते हुए जगत् के मिथ्यात्व को अत्यन्त बढ़ा-चढ़ाकर बताया है। वैसे शंकराचार्य की भाँति कबीर ने भी जगत् को व्यावहारिक दृष्टि से सत्य माना है, किन्तु वस्तुतः वह मिथ्या ही है, क्योंकि जगत् का कोई भी पदार्थ सदैव विद्यमान नहीं रहता। कबीर के उक्त दार्शनिक विचारों पर उपनिषदों का भी प्रभाव पड़ा है इसी कारण वृहदारण्यक उपनिषद् के 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य' की भाँति कबीर ने भी ब्रह्म को बाहर ढूँढ़ने की बजाय अपने भीतर ही ढूँढ़ने का आग्रह किया है,[3] 'अयमात्मा ब्रह्म' की भाँति कबीर ने भी आत्मा को ही परमात्मा बताया है, और दोनों में एकत्व स्थापित किया है, 'अहं ब्रह्मास्मि' की भाँति कबीर ने भी प्रत्येक जीव को परमात्मा का ही रूप घोषित किया है और छांदोग्य उपनिषद् के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म की भाँति कबीर ने भी सम्पूर्ण दृश्य-जगत् को ब्रह्म बताया है।

कबीर का रहस्यवाद

रहस्यवाद क्या है? इस प्रश्न का उत्तर विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूप में दिया है। जैसे पं० रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि 'जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात

---

[1] जे काटौं तौ डहडही, सींचौं तौ कुम्हिलाइ।
इस गुणवंती बेलि का, कुछ गुंण कहा न जाइ॥

[2] कबीर माया मोहनी, जैसे मीठी खाँड़।
सतगुरु किरपा भई, नहीं तो करती भाँड़॥

[3] मोकों कहाँ ढूँढ़ें बन्दे, मैं तो तेरे पास में।

प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है' उसे रहस्यवाद कहते हैं।[1] डा० श्यामसुन्दरदास के मतानुसार 'चिन्तन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद कविता के क्षेत्र में जाकर कल्पना और भावुकता का आधार पाकर रहस्यवाद का रूप पकड़ता है।[2] डा० रामकुमार वर्मा के विचार से 'रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल-सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहां तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता।'[3] महाकवि जयशंकर प्रसाद की दृष्टि में 'अपरोक्ष अनुभूति' समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा 'अहं' का 'इद्म' से समन्वय कर देना ही रहस्यवाद कहलाता है।[4] सुश्री महादेवी वर्मा के कथनानुसार 'अपनी सीमा को असीम तत्त्व में खो देना' ही रहस्यवाद है।[5] डा० गुलाबराय जी के विचार से 'तत्त्वज्ञान जब भावनापूर्ण अनुभूति का विषय बन जाता है, तभी रहस्यवाद की उत्पत्ति होती है। असीम और ससीम के सम्बन्ध में गूँगे के गुड़ की-सी अनिचर्वचनीयता रहती है, जो रहस्यमय हो जाती है।[6] डा० गोविन्द त्रिगुणायत के मत से 'रहस्यवाद ब्रह्म के आध्यात्मिक स्वरूप से आत्मा की भावात्मक ऐक्यानुभूति के इतिहास का प्रकाशन है।'[7] अतः इस दृश्य जगत् में व्याप्त उस अव्यक्त एवं अगोचर सत्ता से आत्मा के रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने को रहस्यवाद कहा जाता है। इसी कारण एक रहस्यवादी कवि कभी उस अव्यक्त सत्ता को जानने की जिज्ञासा प्रकट करता है, कभी उससे आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करके उसके साथ आनन्दपूर्वक आँख-मिचौनी खेलता है और कभी उससे वियुक्त होकर व्यथित एवं बेचैन होता हुआ इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। इस तरह रहस्यवाद के अन्तर्गत एक कवि उस विराट् सत्ता के प्रति अपने ऐसे भावोद्गारों को व्यक्त करता है, जिनमें सुख-दुःख आनन्द-विषाद, हास-रुदन, संयोग-वियोग आदि घुले-मिले रहते हैं और वह अपनी ससीमता को अव्यक्त शक्ति की असीमता में लीन करके व्यापक एवं अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव किया करता है।

विद्वानों ने रहस्यवाद की विभिन्न स्थितियों का उल्लेख किया है। कुमारी अंडरहिल ने रहस्यवाद की छः स्थितियाँ बताई हैं—(१) जाग्रति (Awakening of the Soul), जिसमें आत्मा परमात्मा के बारे में सुनकर जाग्रत एवं सचेत होती

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ६६८।

[2] कबीर-ग्रन्थावली (भूमिका), पृ० ५६।

[3] कबीर का रहस्यवाद, पृ० ७।

[4] काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ६९।

[5] महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० १३२।

[6] हिन्दी-काव्य-विमर्श, पृ० ४३।

[7] कबीर की विचारधारा, पृ० २३६।

है। (२) आत्मशुद्धि (Purgation), जिसमें आत्मा अपनी ससीमता और अपूर्णता को पहचानती है और योग आदि के द्वारा स्वयं पर नियन्त्रण करती है। (३) आत्म-प्रकाश (Illumination), जिसमें आत्मा एक विचारावस्था में होती है और उसमें हर्षातिरेक की भावना भी देखी जाती है। (४) अन्धकारमयी स्थिति (Dark night of the soul), जिसमें आत्मा विघ्नों का सामना करती है और परमात्मा के वियोग में दुःख, वेदना आदि का अनुभव करती है। (५) अन्तर्मुखी प्रवृत्ति (Introspection), जिसमें आत्मा अन्तर्मुखी होकर परमात्मा से मिलने के लिए तैयार हो जाती है, और (६) दैवी दृश्य (Vision), जिसमें आत्मा और परमात्मा का पूर्णतया मिलन हो जाता है।[1] डा० रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की केवल तीन स्थितियाँ बताई हैं—(१) जिज्ञासा, जिसमें आत्मा परमात्मा के विषय में सुनकर उससे सम्बन्ध जोड़ने के लिए अग्रसर होती हैं; (२) प्रयत्न, जिसमें आत्मा परमात्मा से प्रेम करती हुई उससे मिलने के प्रयत्न करती है; (३) मिलन, जिसमें आत्मा और परमात्मा का एकीकरण हो जाता है।[2] डा० प्रेमनारायण शुक्ल ने रहस्यवाद की पाँच स्थितियों का उल्लेख किया है—(१) प्रभु के प्रति जिज्ञासा, कुतूहल अथवा विस्मय की भावना; (२) प्रभु का महत्त्व और उसकी अनिर्वचनीयता; और (५) प्रभु से एकाकारिता।[3]

रहस्यवाद की जिन विभिन्न स्थितियों का उल्लेख ऊपर किया गया है और जिनके आधार पर एक रहस्यवादी कवि अपने काव्य में रहस्यात्मक प्रवृत्तियों का उल्लेख करता है, उन सबका समीकरण करने पर कुछ सामान्य रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं, जिन्हें निम्नलिखित शीर्षकों में बाँटा जा सकता है :

१—विश्वव्यापी अज्ञात शक्ति के प्रति जिज्ञासा की भावना,
२—उस सत्ता के महत्त्व का प्रदर्शन,
३—उसके दर्शन या मिलन का प्रयत्न,
४—भौतिक विघ्न एवं वेदना की विवृत्ति,
५—उस अव्यक्त सत्ता का आभास या दर्शन,
६—संसार की वास्तविकता का ज्ञान अथवा अपरोक्ष अनुभूति,
७—आत्मा और परमात्मा का चिर मिलन।

कबीर के रहस्यवाद की स्थितियाँ

उपर्युक्त शीर्षकों के आधार पर जब कबीर के रहस्यवाद का अध्ययन किया जाता है, तब पता चलता है कि कबीर ने भी इन सभी रहस्यवादी स्थितियों का उद्घाटन बड़े सुन्दर एवं सजीज ढंग से किया है। यथा—

---

[1] रहस्यवाद और हिन्दी कविता, पृ० १३६-३७

[2] कबीर का रहस्यवाद, पृ० १२-१४।

[3] हिन्दी साहित्य में विविध वाद, पृ० ४४२।

(१) **जिज्ञासा की भावना**--कबीर निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म के उपासक हैं। वैसे उनकी दृष्टि में न तो उनके इष्टदेव का कोई रूप है और न कोई आकार फिर भी यह सर्वत्र विद्यमान है, सारी दुनिया में व्याप्त है, और कोई भी स्थान ऐसा नहीं है जहाँ उसका अस्तित्व न हो। कबीर की यह आस्तिक्य बुद्धि ही अपने इष्टदेव के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करती है और इसी से वे यह जानना चाहते हैं कि वह ब्रह्म कैसा है, कहाँ है और किस तरह अपनी सम्पूर्ण क्रियायें करता रहता है ? वास्तव में कोई भी व्यक्ति उसका मर्म नहीं जानता। इसलिए तो उपनिषदों में 'नेति', 'नेति' कहकर असमर्थता प्रकट की गई है और इसी कारण कबीर भी बड़े वेचैन रहे आते हैं और यह जानना चाहते हैं कि यह शब्द कहाँ लीन हो जाते हैं ? जब ब्रह्मांड और पिंड कुछ नहीं है तब फिर पंच तत्त्व कहाँ लीन हो जाते हैं ? ऐसे ही जब इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना आदि नाड़ियाँ ही नहीं हैं, तो फिर समस्त गुण कहाँ समा जाते हैं ?[1] इस जिज्ञासा में लीन होकर कभी तो कबीर स्वयं ही चिन्तन करते हुए जान पड़ते हैं, कभी अपनी जिज्ञासा को अन्य विचारकों के सामने भी प्रकट कर देते हैं और यह जानना चाहते हैं कि जिस ब्रह्म के न रूप है, न रेखा है और न जिसका वर्ण है वह क्या है ? यह ब्रह्मांड तथा ये प्राण कहाँ से आते हैं ? मृत जीव कहाँ जाकर विलीन हो जाता है ? जीवों की समस्त इन्द्रियाँ कहाँ विश्राम करती हैं ? व्यक्ति के अन्दर जो जीवात्मा 'राम' 'राम' कहता रहता है वह मरने पर कहाँ चला जाता है[2] आदि-आदि अनेक प्रश्न कबीर के मस्तिष्क में भी कुतूहल, जिज्ञासा एवं विस्मय की भावना जाग्रत करते रहते हैं, जिसके समाधान के लिए कबीर की आत्मा छटपटाती सी जान पड़ती है। यह रहस्यवाद की पहली स्थिति है, जिसका वर्णन कबीर ने पर्याप्त मात्रा में किया है।

(२) **महत्त्व-प्रदर्शन**--ब्रह्म की जिज्ञासा एवं कुतूहल में निरन्तर लीन रहने पर एक रहस्यवादी कवि धीरे-धीरे उस अव्यक्त के बारे में कुछ समझने लग जाता है। वह उसे और अधिक जानने के लिए किसी अच्छे पथ-प्रदर्शक अथवा 'सतगुरु' की शरण में पहुँच जाता है और वह पथ-प्रदर्शक गुरु अपने हाथ में ज्ञान की कमान लेकर उससे प्रेम सहित ऐसा उपदेश रूपी बाण चलता है कि वह शिष्य के हृदय में

---

[1] सन्तो धागा टूटा गगन विनसि गया, सबद जु कहाँ समाई।
ए संसा मोहि निसदिन व्यापै, कोइ न कहै समझाई ।।
नहीं ब्रह्मांड प्यंड पुनि नाहीं, पंचतत्त भी नाहीं।
इला प्यंगुला सुषमन नाहीं, ए गुण कहाँ समाहीं।

[2] सो कछू चारहु पंडित लोई,
जाकै रूप न रेष वरण नहीं कोई।
उपजै प्यंड प्रान कहाँ थैं आवै, मुवा जीव जाइ कहाँ समावै ।।
इन्द्री कहाँ करहि विश्रामां, सो कत गया जो कहता रामा ।।

लगता है[1] और सतगुरु के द्वारा मूँठ तानकर कसकर चलाये हुए वाण के लगते ही शिष्य के हृदय में ईश्वर-प्रेम की दावाग्नि सी प्रज्वलित हो उठती है, वह सांसारिक आवरणों के समान वस्त्रों को उतार कर फेंक देता है तथा संसार से बिरक्त होकर ईश्वर-प्रेम में तन्मय हो जाता है।[2] फिर तो वह उस अव्यक्त सत्ता के महत्त्व का वर्णन करते-करते नहीं अघाता, वह अद्‌भुत एवं अलौकिक सत्ता सर्वत्र व्याप्त होकर भी कहीं दिखाई नहीं देती, उसका परिचय मन, बुद्धि एवं वाणी से प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है और उसका वर्णन करना 'गूँगे का गुड़' है। फिर भी कबीर उसके महत्त्व का वर्णन करते हुए कभी उसे 'पुहुप वास से पातरा' कहकर उसकी सूक्ष्माति-सूक्ष्म स्थिति की ओर संकेत करते हैं, तो कभी उसे 'तेज पुंज पारस मणी' कहकर उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं। इतना ही नहीं, उस अव्यक्त सत्ता को कबीर ने एक ऐसी रसायन बताया है, जिससे स्पर्श मात्र से सारा शरीर कंचन बन जाता है।[3] इसी प्रकार कहीं कबीर ने उस अव्यक्त को 'सुरति सरूप' कहकर 'अनन्त लोक में रमि रहा' बताया है, कहीं रूप-रेखा-हीन उस पुरुष विदेह को 'गगन मण्डल के मध्य में' निवास करते हुए कहा है, कहीं उसे 'राई तें पर्वत करे, पर्वत राई माँहि' कहकर सर्वशक्तिमान सिद्ध किया है, कहीं 'साहब-सा समरथ नहीं, गरुआ गहिर गँभीर' कहकर उसे सर्वसामर्थ्यवान् बताया है, कहीं 'ज्यों तिल माहीं तेल है, ज्यों चकमक में आगि' कहकर उस सत्ता को सर्वत्र विद्यमान बताया है और कहीं उस सत्ता को इतना भक्तवत्सल एवं शरणागत-रक्षक सिद्ध किया है कि 'जिसकी वह रक्षा करता है उसे यहाँ कोई मार नहीं सकता। यदि सारा संसार भी उसका शत्रु हो जाय तो भी उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता।'[4] इस तरह विभिन्न रूप से कबीर ने उस अव्यक्त सत्ता की महत्ता, गुरुता एवं श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है।

(३) **दर्शन एवं मिलन का प्रयत्न**—कबीर जानते हैं कि उनका प्रियतम ब्रह्म अरूप एवं अनाम है, निर्गुण एवं निराकार है तथा सर्वत्र विद्यमान होकर भी अव्यक्त है। परन्तु एक जिज्ञासू साधक की भाँति वे उस ब्रह्म से मिलने के लिए अत्यन्त व्यथित एवं बेचैन दिखाई देते हैं। इसका कारण यह है कि इस महा ठगनी माया ने उन्हें उनके प्रियतम ब्रह्म से पृथक् कर दिया है और इसीलिए एक विरहिणी की भाँति

---

[1] सतगुरु लई कमाँण करि, बाँहण लागा तीर।
एक जु बाह्या प्रीति सूँ, भीतरि रह्या सरीर॥

[2] सतगुरु मार्‌या बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि।
आंग उघाड़े लागिया, गई दवा सूँ फूटि॥

[3] सबै रसायण मैं किया, हरि सा और न कोइ।
तिल इक घट में संचरै, तौ सब तन कंचन होइ॥

[4] जाकौ राखे साइयां, मारि न सक्कै कोय।
बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय॥

छटपटाते हुए अपने प्रियतम से मिलने के लिए उत्सुक दिखाई देते हैं। यही कारण है कि जिस प्रकार कोई वियोगिनी मार्ग के किनारे खड़ी होकर पथिकों से अपने परदेशी प्रियतम के बारे में पूछती है कि वे कब यहाँ आकर मिलेंगे, उसी प्रकार कबीर भी अपने प्रियतम राम से बिछुड़कर अपने गुरु से पूछते हैं कि मुझे मेरे प्रियतम का कुछ तो संदेश सुनाओ कि वे कब आकर मुझसे मिलेंगे।[1] हे राम! मैं तो न जाने कितने दिनों से तुम्हारी बाट जोह रहा हूँ, तुमसे मिलने के लिए मेरे प्राण तरस रहे हैं और मन अत्यन्त बेचैन हो रहा है।[2] तदनन्तर कबीर मिलने के लिए अथवा अपने प्रिय के दर्शन प्राप्त करने के लिए बड़े अद्भुत प्रयत्न करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। प्रिय से मिलने के हेतु वे अपने शरीर को भस्म कर देना चाहते हैं, जिससे शरीर से उठा हुआ धुआँ आकाश में छा जाय और सम्भव है कि उस धुएँ को देखकर ही वह निर्मोही प्रियतम पसीज जाय तथा अपनी कृपा-वारि की वर्षा करके इसकी विरहाग्नि को बुझा दे।[3] इतना ही नहीं; मिलने के प्रयत्न में कबीर शरीर को जलाकर राख कर डालना चाहते हैं और यह प्रकट करते हैं कि उस राख की स्याही बनाकर अपनी हड्डियों की लेखनी से अपने प्रियतम राम के पास चिट्ठी लिखकर भेजूँ। सम्भवतः तभी उन्हें मेरा स्मरण हो सकेगा और वे मुझसे मिलने आ सकेंगे।[4] इस प्रकार कबीर ने सूफी कवियों की भाँति विरह को ईश्वर से मिलाने वाला स्वीकार किया है। इसी कारण तो कबीर कहते हैं कि "ईश्वर के इस विरह को साधारण विरह मत कहो, क्योंकि यह विरह तो स्वयं ईश्वर रूप है। जिसके हृदय में यह विरह नहीं है, उस हृदय को तो श्मशान समझना चाहिए।"[5] इतना ही नहीं, विरह स्वयं कबीर से कह रहा है कि तू मुझे कभी मत छोड़ना, क्योंकि मैं ही तुझे उस परब्रह्म के तेज में लीन कर दूँगा।[6] यही कारण है कि कबीर ने अपने प्रियतम से मिलने के लिए इस विरह की शरण ली है और रात-दिन इसी आध्यात्मिक विरह में लीन रहकर कष्ट उठाते हुए दृष्टिगोचर

---

१. विरहिनि ऊभी पन्थ सिरि, पन्थी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आइ॥

२. बहुत दिनन की जोहती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कूँ, मन नाहीं विश्राम॥

३. यहु तन जालौं मसि करूँ, ज्यूँ धुवां जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करैं, वरसि बुझावै अग्गि॥

४. यहु तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ।
लेखणि करूँ करंक की, लिखि-लिखि राम पठाउँ॥

५. विरहा विरहा मत कहौ, विरहा है सुलतान।
जा घट विरह न संचरै, सो घट जान मसान॥

६. बिरह कहै कबीर सौं, तू जिन छांड़ै मोहि।
पारब्रह्म के तेज में, तहाँ लै राखौ तोहि॥

होते हैं कबीर का यह प्रयत्न प्रेम की चरमावस्था का द्योतक है, क्योंकि इसमें दाम्पत्य प्रेम का मधुर अमृत मिला हुआ है तथा इसके द्वारा रहस्यवाद की स्थिति का भी बड़ा ही सरल एवं स्वाभाविक निरूपण हुआ है।

(४) **भौतिक विघ्न एवं वेदना की विवृत्ति**—कोई भी प्राणी उस अव्यक्त एवं अगोचर सत्ता का साक्षात्कार सरलता एवं सुगमता से नहीं कर पाता। उसे मार्ग में अनेक विघ्नों का सामना करना पड़ता है और जैसे-जैसे वह साधना के पथ पर अग्रसर होता है वैसे ही वैसे अनेक कष्टों को भी सहन करना पड़ता है। कबीर ने भी अपने साधना-पथ के अनेक विघ्नों एवं कष्टों का उद्घाटन किया है। सबसे पहले तो कबीर ने उस ठगिनी माया का उल्लेख किया है, जो बड़ी मीठी है, जिसका छोड़ना बड़ा कठिन है और जो अज्ञानी पुरुष को तो खूब बहका-बहका कर खाती रहती है।[१] जो माया स्वभाव से ही व्यभिचारिणी है, मोहिनी है और सभी जीवों को धोखे में डालती रहती।[२] यह 'मोर तोर की जेवड़ी' है तथा यह इतनी विश्वासघातिनी है कि इसके आकर्षण के कारण ही भक्त भगवान का भजन नहीं कर पाता, क्योंकि जैसे ही एक साधक अपनी साधना में तत्पर होता है वैसे ही यह माया उसे अनेक प्रलोभन दिखाकर अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है तथा अनेक वासनाओं और आशाओं को उत्पन्न करके भक्त और भगवान के बीच में अन्तर डाल देती है।[३] यह ऐसी पापिन है कि एक वेश्या की भाँति संसार रूपी हाट में जीवों को फँसाने का फंदा लेकर बैठी रहती है।[४] इस माया से छुटकारा पाना बड़ा कठिन है। इसके दो प्रमुख रूप हैं—कंचन और कामिनी। इन दोनों के रूप में यह सभी को ठगती रहती है। इस माया के कारण ही काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार सताते रहते हैं, इसी कारण साधक कुसङ्गति में फँस जाता है, उसका इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं रहता और वह जन्म-मरण के चक्कर में पड़कर संसार में भटकता रहता है। इस प्रकार कबीर ने साधक के मार्ग में आने वाले अनेक विघ्नों का उल्लेख करते हुए उनसे बचने की सलाह दी है तथा सर्वसाधारण के लिए भौतिक विघ्नों का बड़ा ही सजीव एवं मर्मस्पर्शी चित्र अंकित किया है।

(५) **अव्यक्त एवं अगोचर सत्ता के दर्शन का आभास**—रहस्यवाद की आगामी स्थिति वह है जब साधक माया-मोह पर विजय प्राप्त करके मार्ग के समस्त भौतिक विघ्नों को कुचलता हुआ अपने साधना के पथ में आगे बढ़ता है और सांसारिक प्रपंचों

---

[१] मीठी मीठी माया तजी न जाई।
अग्यानी पुरुष को भोलि भोलि खाई॥

[२] माया ऐसी मोहिनी भाई, जैसे जिय तेने डहकाई।

[३] जाणों जे हरि कौं भजौं, मोमनि मोहां आस।
हरि बिचि घाले अन्तरा, माया बड़ी बिसास॥

[४] कबीर माया पापिणी, फन्द लै बैठी हाटि।

से तनिक ऊपर उठकर आध्यात्मिक जगत् में पहुँच जाता है। उस समय उसके हृदय में ज्ञान-ज्योति का तीव्र आलोक भर जाता है और वह अन्धकार से परिपूर्ण जगत् से दूर एक अनन्त आलोकपूर्ण दिव्य शक्ति का दर्शन करने लगता है। कबीर ने इस स्थिति का भी बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है। कबीर कह रहे हैं कि "हमने बिना देह एवं आकार का एक अद्‌भुत कौतुक देखा है तथा बिना सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश का दर्शन किया है।"[1] वह प्रकाश असीम एवं अनन्त है और उसे देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो सूर्य की सेना हो अथवा अनेक सूर्य एक साथ उदित हो रहे हों।[2] वह तेज या प्रकाश कैसा है, यह बताना शोभा नहीं देता, बस देखने से ही ज्ञात हो सकता है; अर्थात् वह कथन का विषय नहीं, अपितु अनुभव का विषय है।[3] यह ज्योति उस परब्रह्म की जगमगा रही है, जो अगम एवं अगोचर है। वहाँ किसी प्रकार किसी व्यक्ति की गति नहीं है। वह पाप-पुण्य, छुआछूत आदि सब से परे है और कबीर उसी के सम्मुख नतमस्तक हो रहा है।[4] कबीर कह रहे हैं कि "जब मैं सीमा का उल्लंघन करके उस निस्सीम एवं निराकार ब्रह्म में प्रवृत्त हो गया तो वहाँ जाकर मैंने एक ऐसा कमल देखा, जो फुल के बिना ही फूला हुआ है। ऐसे दृश्य को कौन ख सकता है? वही जो उस ब्रह्म का एकनिष्ठ-सेवक है।"[5] इस प्रकार कबीर ने उस अव्यक्त एवं अगोचर सत्ता के दर्शन का वर्णन बड़े ही प्रभावशाली ढंग से किया है।

(६) **सांसारिक ज्ञान एवं अपरोक्ष अनुभूति**— साधक को जब उस अव्यक्त सत्ता का आभास होने लगता है, तब उसके हृदय में ज्ञान की ज्योति निरन्तर जगमगाती रहती है और वह संसार की वास्तविकता को भली-भाँति समझने लगता है। उसकी यह अपरोक्ष अनुभूति जगत् की वास्तविकता का उद्‌घाटन करती है और संसार के भ्रमित प्रणियों का मार्ग-दर्शन करती है। कबीर ने अपनी इस अपरोक्ष अनुभूति का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। कबीर कह रहे हैं कि जिस उत्कटता और तीव्रता के साथ मन माया-जन्य विषयों में रमता है उतनी ही उत्कटता और तीव्रता के साथ यदि वह राम में रम जाए, तो वह साधक तारामण्डल से भी परे वहाँ पहुँच सकता है जहाँ

---

१. कौतुक दीठि देह बिन, रवि ससि बिना उजास।

२. कबीर तेज अनन्त का, मानौं ऊगी सूरज सेणि।

३. पारब्रह्म के तेज का, कैसा है, उनमान।
कहिबे कूँ सोभा नहीं, देख्या ही परवान॥

४. अगम अगोचर गमि नहीं, तहाँ जगमगै ज्योति।
जहाँ कबीरा बन्दिगी, तहाँ पाप पुन्य नहीं छोति॥

५. हदे छाँड़ि बेहदि गया, हुवा निरन्तर वास।
कँवल जु फूल्या फूल बिनु, को निरषै निज दास॥

से वह आया है अर्थात् उस ब्रह्म में लीन हो सकता है।[1] अरे, प्रभु को जिसने जिस रूप में पहिचाना है उसको तदनुरूप ही लाभ प्राप्त हुआ है। जब तक मनुष्य पानी में प्रवेश नहीं करता, तब तक भला ओस चाटने से कहीं किसी की प्यास बुझती है?[2] इसलिए देखो, यहाँ पर राम-नाम की लूट हो रही है, जितना जिससे लूटा जाय उतना लूट लो, क्योंकि यह शरीर नष्ट हो जायेगा और फिर केवल पश्चाताप ही करना पड़ेगा।[3] कारण यह है कि राम का गुण-गान करने से त्रिगुणात्मक माया का पाश कट जाता है। अरे, रात-दिन वियोग का अनुभव करते हुए भी तुम राम का नाम क्यों नहीं लेते? यदि रात-दिन राम का ध्यान नहीं करोगे तो हरि-दर्शन का दुर्लभ संयोग कैसे प्राप्त कर सकोगे।[4] अरे, तुम्हारा यह कारवाँ जो नगर की ओर आ रहा है, उस पर दस द्वारों से होकर पाँच चोर घुस रहे हैं और यमराज युद्ध करके तुम्हारे गढ़ को नष्ट किए डालता है। इसलिए तुम भगवान का भजन करो।[5] इसी तरह कबीर ने विषयों के परित्याग, कुसंगति को छोड़कर सत्संगति के लाभ, साधु-सेवा, मन का नियन्त्रण, मिथ्याडम्बर, पाखण्ड तथा अन्धविश्वास के परित्याग आदि पर जोर देते हुए सदाचरण, सत्याचरण एवं सहजाचरण करने की सलाह दी है और संसार के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करके भौतिक जीवन की अपेक्षा आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने का आग्रह किया है। कबीर की इस अनुभूति का मूलाधार प्रत्यक्ष जीवन है। कबीर ने 'तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता हूँ आँखों की देखी' कहकर अपनी इस अपरोक्ष अनुभूति की वास्तविकता को स्पष्ट कर दिया है। इस तरह कबीर ने रहस्यवाद की इस स्थिति का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है।

(७) **चिर मिलन**—रहस्यवाद की अन्तिम स्थिति आत्मा और परमात्मा का 'चिर मिलन' मानी गई है। कबीर ने बड़े ही ओजस्वी शब्दों में इस अन्तिम स्थिति का भी उद्‌घाटन किया है। इस मिलन की अवस्था का रूपक बाँधते हुए कबीर ने स्वयं को दुलहिन बताया है तथा राम को प्रियतम कहा है और विवाह होने पर जिस प्रकार पति-पत्नी परस्पर मिलते हैं, उसी प्रकार अत्यन्त प्रेमपूर्वक आत्मा और परमात्मा का

---

१. जैसे माया मन रमैं, यूँ जे राय रमाइ।
तौ तारामण्डल छाँड़ि करि, जहाँ के सो तहाँ जाइ॥

२. जिहि हरि जैसा जाँणियाँ, तिन कूँ तैसा लाभ।
ओसों प्यास न भाजई, जब लग धँसै न आभ॥

३. लूटि सकै तो लूटियो, राम नाम की लूटि।
पीछैं ही पछिताहुगे, यह तन जैहै छूटि॥

४. गुण गायें गुण नाम कटै, रटै न नाम वियोग।
अहनिसि हरि ध्यावै नहीं, क्यूँ पावै दुर्लभ जोग॥

५. कबीर पाटण कारिवाँ, पंच चोर दस द्वार।
जम राणौ गढ़ भेलिसी, सुमरि लै करतार॥

मिलन हो रहा है तथा जिस प्रकार एक पत्नी अपने पति के साथ शय्या पर शयन करती है, उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा दोनों एक होकर शयन कर रहे हैं।[1] इतना ही नहीं, इस मिलन का चित्र विवाह की सम्पूर्ण पद्धति द्वारा और भी स्पष्ट किया है, जिसमें कबीर अपने को दुलहिन सम्बोधन करके कह रहे हैं कि "अब मंगला चार गाओ, हमारे घर राजा राम पति के रूप में आए हैं। अब मैं शरीर और मन से रति करूँगी। मेरे प्रियतम के साथ पंच तत्त्व बराती बनकर आये हैं और मुझ युवती के साथ विवाह करने के लिए राज राम दूल्हा बनकर आये हैं। मैं अपने शरीर सरोवर पर ही वेदी बनाऊँगी और स्वयं ब्रह्मा आकर वेद-मन्त्रों का उच्चारण करेंगे। तदनन्तर रामदेव के साथ मेरी भाँवरें पड़ेंगी। मेरे अहोभाग्य हैं। तैंतीस कोटि देवता और अट्टासी हजार मुनि सभी मेरे विवाह को देखने आए हैं और मैं एक अविनाशी पुरुष से ब्याह करके उसके साथ जा रही हूँ।"[2] विवाह के उपरान्त सुहागरात में जिस प्रकार पत्नी प्रियतम से मिलती है, उसी प्रकार 'अंक भरे मर भेंटिया, मन में नाहीं धीर' कहकर कबीर ने उस सुहागरात के दृश्य को प्रकट किया है। यह मिलन बड़ा ही अनुपम एवं अद्भुत होता है और इसके उपरान्त एक अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि होती है। कबीर ने इस आनन्द की ओर संकेत करते हुए कहा है कि "भगवान की शीतल संगति के कारण मेरे हृदय में विद्यमान मोह की ताप मिट गई है। अब हृदय में साक्षात्कार हो जाने के कारण मैं रात-दिन सुख की निधि प्राप्त कर रहा हूँ।"[3]

इसके साथ ही आत्मा आनन्द में सलीन होने के उपरान्त ब्रह्म के साथ पूर्णतया एकाकार हो जाती है और आत्मा तथा परमात्मा में पूर्णतया तादात्म्य स्थापित हो जाता है। कबीर ने इस तादात्म्यावस्था का बड़ा ही भावपूर्ण वर्णन किया है। कबीर कह रहे हैं कि जब मेरी आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य हो गया तब फिर हम

---

१. बहुत दिनन थे प्रीतम पाए, भाग बड़े घर बैठे आए।
मन्दिर माँहि भया उजियारा, लै सूती अपना पिव प्यारा॥

२. दुलहिन गावौ मंगलचार, हम घरि आये हो राजा राम भरतार।
तन रति करि मैं मन रति करहूँ, पंच तत्त बराती।
रामदेव मोहि ब्याहन आये, मैं, जोबन मैं माती॥
सरीर सरोवर वेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार॥
रामदेव संग भाँवरि लैहूँ, धनि-धनि भाग हमार।
सुरि तेतिस कोटिक आये, मुनियर सहस्र अठासी।
कहैं कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरुष एक अविनासी॥

३. हरि संगति सीतल भआँ, मिटी मोह की ताप।
निसि वासर सुख निधि लहा, अन्तर प्रगटा आप॥

दोनों में कोई अन्तर नहीं रहा। अब यदि प्रियतम मरेंगे तो फिर प्रियतमा भी मरेगी, अन्यथा वह भी प्रियतम के समान अमर रहेगी।[1] परन्तु प्रियतम तो अमर एवं अविनाशी हैं, फिर भला प्रियतमा या आत्मा को कौन मार सकता है। इसी कारण तो कबीर पुकार उठे हैं कि "हम नहीं मरेंगे, यह संसार मरेगा, क्योंकि हमें तो जीवन-दान देने वाला अविनाशी ब्रह्म प्राप्त हो गया है।"[2] इस प्रकार कबीर ने पूर्ण एकाकार की स्थिति का उल्लेख करते हुए स्पष्ट घोषित किया है कि "राम कबीरा एक भए हैं कोउ न सकै पछाणि।" यही रहस्यवाद की अन्तिम स्थिति है, जिसके भक्त और भगवान, साधक और साध्य तथा जीव और ब्रह्म दोनों एक हो जाते हैं, दोनों का भेद मिट जाता है और दोनों में पूर्ण अद्वैत की स्थापना हो जाती है।

कबीर के रहस्यवाद की विशेषताएँ

इस प्रकार कबीर के रहस्यवाद की विभिन्न स्थितियों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि (१) कबीर के रहस्यवाद में अनुभूति का प्राधान्य है, जिसके परिणाम स्वरूप कबीर ने आस्तिकता, जिज्ञासा, माधुर्य भावना, अन्तर्मुखी साधना, विरह-मिलन, अद्वैतावस्था आदि का चित्रण बड़े मनोयोग के साथ किया है। (२) कबीर की रहस्य-भावना में दार्शनिकता का पुट मिलता है, जिसके फलस्वरूप बुद्धि और भावना दोनों का समान रूप से समावेश दिखाई देता है। (३) कबीर के रहस्यवाद पर धार्मिकता का भी प्रभाव परिलक्षित होता है, इसी कारण वे वैष्णव धर्म एवं वैष्णवी भक्ति की ओर झुके हैं। (४) कबीर की रहस्य-भावना पर सूफी रहस्यवादी कवियों का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, इसी कारण वे दाम्पत्यभाव को लेकर विरह एवं मिलन के चित्र अंकित करने में सफल सिद्ध हुए हैं। (५) कबीर का रहस्यवाद व्यष्टि-मूलक एवं वैयक्तिक होते हुए भी लोक-कल्याणकारी है और मानव मात्र को प्रेरणा देने वाला है। (६) कबीर के रहस्यवाद में ब्रह्मज्ञान, योग, वेदान्त आदि का समावेश हुआ है। (७) कबीर के रहस्यवाद में आत्मा और परमात्मा के भावात्मक तादात्म्य का बड़े ही सजीव ढंग से निरूपण किया गया है। (८) कबीर की रहस्य-भावना में आत्मा की चारों अवस्थाओं—कुमारी, सुन्दरी, विरहिणी और सती का मार्मिक विवेचन मिलता है। (९) कबीर के रहस्यवाद में हठयोग-सम्बन्धी पदावली का प्रयोग अधिक हुआ है, जिसके फलस्वरूप कहीं-कहीं कबीर की वाणी अधिक अस्पष्ट एवं क्लिष्ट हो गई है, परन्तु हठयोग का ज्ञान प्राप्त करते ही प्रक्रियाएँ सहज ही समझ में आ जाती हैं। (१०) कबीर ने साधनात्मक रहस्यवाद को अधिक अपनाया है, वैसे भावात्मक रहस्यवाद का भी एकान्तिक अभाव नहीं है।

---

[1] हरि मरिहैं तो हमहुँ मरिहैं। हरि न मरें तो हम काहे को मरिहैं।।

[2] हम न मरै मरिहै संसारा। हमको मिला जियावन हारा।।

सारांश यह है कि कबीर के रहस्यवाद में भारतीय एवं विदेशी दोनों प्रेम-पद्धतियों का समावेश होने के कारण एक ओर वेदान्त के अद्वैतवाद के दर्शन होते हैं, तो दूसरी ओर ईसाई सन्तों तथा सूफी रहस्यवादियों की भाँति आत्मा और परमात्मा का मिलन पति-पत्नी के रूप में भी दृष्टिगोचर होता है, फिर भी कबीर ने अपनी रहस्य-भावना को व्यक्त करने के लिए न तो सूफी प्रेमगाथाओं का सहारा लिया है और न अद्वैतवादी दार्शनिकों की भाँति आत्मा की जीवन्मुक्तावस्था का ही चित्रण किया है। इतना ही नहीं, कबीर के रहस्यवाद में न तो ईसाई सन्तों के से भावोद्गार मिलते हैं और न चौरासी सिद्धों एवं नव नाथों की भाँति यौगिक साधना का चमत्कार ही दृष्टिगोचर होता है, अपितु कबीर ने अपनी सहज अनुभूति के सहारे अव्यक्त एवं अगोचर सत्ता के प्रति अपने रहस्यपूर्ण उद्गार व्यक्त किये हैं, उसके प्रति जिज्ञासा प्रकट की है, उससे विरह निवेदन किया है और उसके साथ मिलने पर अद्भुत एवं अनुपम आनन्द की प्राप्ति का निरूपण किया है। इस तरह कबीर का रहस्यवाद भौतिक न होकर आध्यात्मिक है, सीमित न होकर असीम है, भावात्मक न होकर साधनात्मक है, सामाजिक न होकर वैयक्तिक है तथा पौराणिक एवं परम्परागत न होकर स्वानुभूतिमूलक है।

कबीर का समाज-सुधारक रूप

कबीर के समय में उत्तरी भारत के अन्तर्गत हिन्दू और मुसलमान दो बड़ी जातियाँ निवास करती थीं और इन दोनों में ही अपने-अपने आचारों, रीति-रिवाजों, सामाजिक एवं धार्मिक मान्यताओं आदि के बारे में दृढ़ता एवं कट्टरता विद्यमान थी, जिसके परिणामस्वरूप दोनों जातियाँ परस्पर एक-दूसरे से लड़ती रहती थीं, द्वेष एवं वैमनस्य रखती थीं और कोई भी किसी से समझौता करने को तैयार न थी। उस समय हिन्दू-धर्म और इस्लाम-धर्म के ठेकेदार भोली-भाली जनता को बहका कर अनेकानेक पाखंडों, बाह्याचारों, अन्धविश्वासों एवं मिथ्या आडम्बरों में फँसाये रखते थे और अपने-अपने मत की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए पारस्परिक मनोमालिन्य एवं ईर्ष्या-द्वेष को प्रश्रय देते थे। इन संकीर्ण विचारों के कारण उस समय समाज का सन्तुलन बिगड़ रहा था कुरीतियों एवं कुप्रथाओं का बोलबाला था, धार्मिक अव्यवस्था बढ़ती जा रही थी, सामाजिक विषमता देश में घर कर रही थी और रूढ़िवादी विचाधारा पनप रही थी। अतएव उस समय किसी ऐसे महात्मा या धर्म-प्रवर्त्तक अथवा सामाजिक नेता की आवश्यकता थी, जो दोनों धर्मों की बुराइयों का अध्ययन करके उनसे ऊपर उठकर बुराइयों को दूर कर सके, हिन्दू और मुसलमान दोनों में समता स्थापित सके और सामाजिक अव्यवस्था को दूर करके समाज में सुन्दर एवं सुदृढ़ व्यवस्था स्थापित कर सके ऐसे ही संक्रान्ति-युग में महात्मा कबीर का प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने तत्कालीन अव्यवस्था, आडम्बरप्रियता, मिथ्यावादिता, अहंकार-प्रियता, रूढ़िवादिता तथा मिथ्या धार्मिकता का भली प्रकार अध्ययन करके उन्हें दूर करने का बीड़ा उठाया।

कबीर के समय में हिन्दू-धर्म एवं हिन्दू-समाज के अन्तर्गत पौराणिक धर्म सम्बन्धी परम्पराएँ प्रचलित थीं, जिसके फलस्वरूप हिन्दू जनता पौराणिक आचार-विचार-सम्पन्न धार्मिक क्रियाओं में सतत लीन रही आती थी। उसमें पूजा-पाठ, यज्ञानुष्ठान, कर्म-कांड आदि का बोलबाला था, परन्तु इनके पीछे जो तत्त्ववाद अन्तर्निहित था वह उसकी दृष्टि से पूर्णतया लुप्त हो चुका था। इसीलिए कर्मकांड, तीर्थाटन, व्रत-उपवास, कथावार्त्ता, वेदाध्ययन, यज्ञ-होम आदि में आडम्बरप्रियता अथवा मिथ्या प्रदर्शन के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रहा था। इन कार्यों के द्वारा पुराण-पंथी पंडित एवं कर्मकांडी ब्राह्मण अपने यजमानों को ठगते रहते थे, वे तत्त्वज्ञानी न होकर उल्टे-सीधे कर्म कराने वाले अशिक्षित एवं अर्द्ध शिक्षित थे तथा बाह्याचारों में जनता को लीन रखकर अपना उल्लू सीधा किया करते थे। कबीर ने हिन्दू धर्म के उक्त मिथ्या आडम्बर एवं पाखंड का डटकर विरोध किया, हिन्दू-धर्म के ठेकेदार इन पण्डितों को कसाई कहकर इनकी पोल खोलना आरम्भ किया तथा उनके कुकर्मों, नीच करतूतों, मिथ्या कृत्यों आदि का उल्लेख करके उन्हें जनता का कट्टर शत्रु घोषित किया।[1]

उस समय हिन्दूओं में विभिन्न सम्प्रदाय एवं अनेक मत-मतांतर प्रचलित थे। कोई शैव मत का अनुयायी था तो कोई शाक्त मत का, कोई जंगम-जती था तो कोई उदासी, कोई नाथपंथी था तो कोई तांत्रिक, कोई जैनी था तो कोई बौद्ध और कोई वैष्णव था तो कोई निरगुनिया। परन्तु सभी दुराचारों में लीन थे, मांसाहारी थे, मदिरा पान करते थे, व्यभिचारी थे, अनाचारी थे और अपनी-अपनी धुन में मस्त रहकर दूसरों को दोषी बताया करते थे। कबीरने उन सभी मतावलम्बियों की विभिन्न क्रियाओं एवं उपासना-पद्धतियों का उल्लेख करके उनके कुकृत्यों का पर्दाफाश किया, उनके मिथ्याहंकार एवं मिथ्याडम्बर का विरोध करके जनता को उनसे सचेत एवं सावधान रहने का आग्रह किया) और बताया कि ये सभी मदमाते होकर मिथ्याचार में लीन रहे आते हैं और इन्हें स्वयं ही यह पता नहीं है कि इनके घर में चोर चोरी करने में लगा हुआ है।[2] कबीर ने इन सभी साधु-संन्यासियों, योगी-यतियों, ऋषि-मुनियों आदि के

---

[1] साधो पाँडे निपुन कसाई।
बकरी मारि भेड़ि को धाये, दिल में दरद न आई॥
करि अस्नान तिलक दै बैठे, विधि सौं देवि पुजाई।
आतम मारि पलक में बिनसे, रुधिर की नदी बहाई॥
अति पुनीत ऊँचे कुल कहिए, सभा माहिं अधिकाई।
इनसे दिच्छा सब कोई माँगे, हँसि आवै मोहिं भाई॥

[2] इक पढ़हिं पाठ एक इक भ्रमै उदास, इक नगन निरंतर रहैं निवास।
इक जोग जुगति तन हौंहि खीन, ऐसो राम नाम संगि रहैं न लीन॥
इक दूहिं दीन एक देहि दान, इक करैं कलापी सुरा पान।
सब मदमाते कोऊ न जाग, संगही चोर घरै मुसन लाग॥

आडम्बरों का विरोध किया और 'माला पहरयाँ कुछ नहीं काती मन के साथ' कहकर उनके माला धारण करने को मिथ्या बताया, 'मूँड़ मुड़ावत दिन गए अजहूँ न मिलिया राम' कहकर उनके केश मुड़ाने को मिथ्या बताया, 'छापा तिलक बनाइ कें दगध्या लोक अनेक' कहकर उनके तिलक-छापे आदि की व्यर्थता सिद्ध की, 'पापी पूजा बैसि करि भखै मांस मद दोइ' कहकर उनके पूजा-पाठ की खिल्ली उड़ाई तथा 'नांगे फिरें जोग जे होई बन का मृग मुकति गया कोई' कहकर उनके नंगे रहकर योग-साधना करने का मजाक उड़ाया। इतना ही नहीं, कबीर ने हिन्दुओं में फैली हुई मिथ्या परम्पराओं का भी खुलकर विरोध किया। इसीलिए कबीर ने 'पाहन पूजे हरि मिलैं तो मैं पूजूँ पहार' कहकर मूर्ति-पूजा का निषेध किया। 'ना दसरथ घर ओतरि आवा' कहकर अवतारवाद का विरोध किया, 'तीरथ गए तें बहि मुये बूड़े पानी न्याह' कहकर तीर्थाटन का विरोध किया और 'अन को त्यागैं मन नहिं हटकें पारन करें सगोती' कहकर हिन्दुओं के व्रत-उपवास पर व्यंग्य किया। इस तरह कबीर ने बड़ी निर्भीकता एवं निडरता के साथ हिन्दुओं के पूजा-पाठ, व्रत-उपासना, तीर्थाटन, विभिन्न धार्मिक वेश-भूषा आदि का विरोध करके इन मिथ्याचारियों को फटकार और समाज में व्याप्त अन्धविश्वास, बाह्याचार, जड़ता, रूढ़िग्रस्तता एवं मिथ्याडम्बर के विरुद्ध आवाज उठाई।

हिन्दुओं की ही भाँति मुसलमानों में भी मिथ्या आचार-विचार एवं बाह्याडम्बरों का बोलबाला था। इस्लाम-धर्म के अनुयायियों को कबीर ने प्रायः 'तुर्क' नाम से अभिहित किया है और इस मत के ठेकेदारों को 'काजी, मुल्ला, शेख, दरवेश' आदि नामों से पुकारा है। इनमें से दिखावे के लिए हज करने वाले को 'शेख' कहा है, नमाज पढ़ने वाले, झूठी बंदगी करने वाले तथा खुदा की इबादत करते हुए भी अपनी जिह्वा के स्वाद के लिए गोहत्या करने वाले को 'काजी' कहा है, मस्जिद पर चढ़कर 'अजाँ' देने वाले तथा रोजा रखने वाले को 'मुल्ला' कहा है और 'कुरान' पढ़कर जनता को बहकाने वाले को 'मौलवी' बताया है। इन सभी को धर्म के वास्तविक ज्ञान से रहित कहकर कबीर ने इन्हें मिथ्याचारी, मांसाहारी, व्यभिचारी तथा भोली-भाली जनता के प्रवंचक सिद्ध किया है। इसी कारण कबीर ने 'दिन भर रोजा धरत हो, रात हनत हो गाय' कहकर इनके रोजे का मजाक उड़ाया है, 'बकरी मुरगी किन फुरमाया, किसके हुकुम तुम छुरी चलाया' कहकर इनके पशु-वध का विरोध किया है, 'कांकर पाथर जोरि कैं मसजिद लयी चुनाइ, ता चढ़ि मुल्ला बाँग दै बहरा हूआ खुदाइ' कहकर 'अजाँ' पर करारा व्यंग्य किया है, 'जो रे खुदाय मसीत बसतु है, अवर मुलुक किहि केरा' कहकर मस्जिद को केवल खुदा का घर मानने वालों पर करारा व्यंग्य किया है; 'जोरी करि जिबहै करि करते हैं जो हलाल' कहकर इनके 'हलाल' की खिल्ली उड़ाई है, 'काजी कौन कतेब बखानै' कहकर काजी के ऊपर चोट की है तथा 'हौं तो तुरक किया कार सुंनति और तिसौं का कहिए' कहकर 'सुन्नत' पर करारा व्यंग्य किया है। इस तरह कबीर ने बड़े कटु शब्दों में व्यंग्य-प्रहार किये हैं और उनकी सभी आलोचनाएँ

अत्यन्त रूखी एवं नीरस जान पड़ती हैं, परन्तु इनमें सहानुभूति एवं सच्चाई भरी हुई है, क्योंकि कबीर ने बड़ी ईमानदारी के साथ दोनों धर्मों एवं दोनों समाजों की बुराइयों को उनके सामने प्रस्तुत किया है।

कबीर केवल कटु आलोचक ही नहीं हैं, अपितु एक सच्चे समाज-सुधारक भी हैं और उनकी इस आलोचना में सन्तुलित समदृष्टि एवं अद्भुत सुधार-भावना भी विद्यमान है। यही कारण है कि कबीर ने जो कुछ कहा है, निष्पक्ष होकर कहा है, निर्द्वन्द्व एवं निर्भीक होकर कहा है और 'अरे इन दोऊ राह न पाई' कहकर दोनों ही मिथ्या मार्ग-गामियों को ठीक राह पर लाने का प्रयत्न किया है। इसलिए कबीर ने छुआछूत का विरोध करके ऊँच-नीच की भावना को बुरा बताया है और हिन्दुओं में व्याप्त वर्ण-व्यवस्था की खिल्ली उड़ाकर मानव-मात्र की एकता एवं समानता पर जोर दिया है। इतना ही नहीं 'सो हिन्दू सो मुसलमान जाका दुरुस रहे ईमान' कहकर कबीर ने स्पष्ट घोषणा की है कि जिसका ईमान दुरुस्त है, जो अपने धर्म पर सत्य के साथ आरूढ़ है। वही हिन्दू या मुसलमान है। पाखंडी एवं मिथ्याचारी व्यक्ति न हिन्दू है और न मुसलमान। इसलिए पाखंड एवं मिथ्याडम्बरों का विरोध करके कबीर ने सत्य एवं शुद्ध आचरण का भाव पैदा किया है, 'एक ज्योति से सब उत्पन्ना, कौन बाम्हन कौन सूदा' कहकर हिन्दू मात्र की समता पर जोर दिया है, भूला भरसि परै जिनि कोई, कोई हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई, कहकर हिन्दू तथा मुसलमान दोनों की एकता स्थापित की है तथा 'हिन्दू-तुरक की एक राह है, सतगुरु इहै बतायी' कहकर दोनों में अभिन्नता का अभाव उत्पन्न किया है।

अतः कबीर ने सम्पूर्ण समाज में व्याप्त वैषम्य का विरोध करके उसमें साम्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। परोपकार, सेवा, क्षमा, दान, धैर्य अहिंसा आदि का प्रचार करके जन-जीवन में शुद्धचारण एवं सात्विकता की वृद्धि पर जोर दिया है मिथ्या आडम्बर एवं पाखण्डों का विरोध करके आन्तरिक साधना एवं अन्तःकरण की शुद्धि के महत्त्व का प्रतिपादन किया है पशु-वध या गो-वध का विरोध करके जन-साधारण में अहिंसा एवं सहिष्णुता का प्रचार किया है, व्रत, उपवास आदि का विरोध करके सहज साधना एवं सरल जीवन व्यतीत करने का प्रचार किया है, सामाजिक अधःपतन का उल्लेख करके समाज में नैतिकता एवं सदाचार की प्रतिष्ठा की है, सामाजिक एवं धार्मिक विद्रूपताओं के प्रति आक्रोश व्यक्त करके समाज को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है, धर्म एवं ईश्वर की एकता का प्रतिपादन करके हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य स्थापित किया है, निर्गुण एवं निराकार की ब्रह्म उपासना का प्रचार करके जनता में व्याप्त कटुता एवं विषमता को दूर करते हुए मानव मात्र के हृदय में आध्यात्मिकता का बीजारोपण किया है तथा तत्कालीन समाज एवं धर्मों की तीक्ष्ण एवं कटु आलोचना करके जनता को सत्य-मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया है। इस तरह कबीर ने अपनी मर्मस्पर्शी वाणी द्वारा तत्कालीन धार्मिक पाखंडों एवं सामाजिक कुरीतियों को

दूर करके जन साधारण को सरल-जीवन, सत्याचरण, सात्विक व्यवहार, पारस्परिक एकता, समता आदि की ओर उन्मुख करने का जो सराहनीय कार्य किया है, इसी के परिणामस्वरूप वे एक उच्च कोटि के समाज-सुधारक कहलाते हैं।

कबीर की काव्य-कला

कबीर एक कवि होने की अपेक्षा उच्च कोटि के साधक थे, सत्य के उपासक थे और ज्ञान के अन्वेषक थे। इसलिए उन्होंने काव्य के लिए काव्य नहीं लिखा, अपितु सत्य एवं ज्ञान का निरूपण करने के लिए अथवा उस परम पुरुष का सन्देश देने के लिए काव्य को अपना माध्यम बनाया है। यही कारण है कि कबीर ने जो कुछ कहा है उसमें गहन अनुभूति के साथ-साथ सत्यान्वेषण एवं तथ्यों का ही बाहुल्य है, उनकी वाणी में साहित्य के नवरसों की अपेक्षा आध्यात्मिक रस का प्राधान्य है और उनका समस्त साहित्य एक जीवन्मुक्त सन्त के गूढ़ एवं गम्भीर अनुभवों का भण्डार है, फिर भी कबीर की उस-गुरु-गम्भीर वाणी में कवित्व उमड़ रहा है और उनकी अभिव्यक्ति में काव्य-कला का उच्च रूप विद्यमान है।

कबीर के बारे में प्रसिद्ध है कि 'मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ', फिर भी पर्याप्त मात्रा में कबीर का साहित्य मिलता है। अभी तक लगभग ५७ ग्रन्थ ऐसे उपलब्ध हो चुके हैं, जो कबीर कृत कहलाते हैं।[1] वैसे कबीर की समस्त रचनाओं को दो प्रकार के संग्रहों में विभक्त किया गया है—बानी और बीजक। बानी के भी तीन भाग किये गये हैं—साखी, सबद और रमैनी। बीजक में भी उक्त तीनों भाग मिलते हैं, किन्तु उसमें साखी एवं सबदों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। बानी की अपेक्षा बीजक का संग्रह पीछे हुआ जान पड़ता है। कबीर के इन सभी संग्रहों में सर्वत्र सिद्धान्तों एवं उपदेशों का ही प्राधान्य हैं। कबीर ने प्रायः गुरु-महिमा, सन्त-महिमा, सत्पुरुष-निरूपण, योगाभ्यास, भक्तों की महिमा, सत्य-वचन, माया का निरूपण नाम-सुमिरन की महिमा, सत्यगति के लाभ, कुसंगति की हानियाँ, साधु की महिमा संसार की असारता, नारी-निन्दा, ईश-विनय आदि पर ही अधिक कहा। उनका समस्त साहित्य धर्म, समाज, आचरण, नैतिकता तथा व्यवहार-सम्बन्धी विषयों का भण्डार है। कबीर ने कटु आलोचना-पद्धति को अपनाकर बड़ी निर्भीकता एवं तेजस्विता के साथ पंडित-पुजारी, मुल्ला-मौलवी, अवधूत-वैरागी आदि सभी को फटकारा है और सभी धर्मों को बाह्याडम्बरों में अनैतिक आचरणों की घोर निन्दा की है। अपनी स्पष्टवादिता एवं निष्पक्षता के कारण ही कबीर का साहित्य जनसाधारण की दृष्टि में अत्यन्त महान् एवं प्रभावशाली है।

कबीर के साहित्य में उच्च कोटि के समन्वयवाद की झाँकी मिलती है, क्योंकि कबीर ने तत्कालीन जनजीवन में व्याप्त पारस्परिक वैषम्य को दूर करके उसके स्थान

---

[1] हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २५८।

पर साम्य एवं ऐक्य स्थापित करने का बड़ा ही सराहनीय कार्य किया है। इसी कारण कबीर के साहित्य में हिन्दू-धर्म तथा इस्लाम-धर्म में समता स्थापित करने का प्रयत्न हुआ है, हिन्दुओं के विभिन्न मतों एवं सम्प्रदायों में एकता स्थापित करने की चेष्टा हुई है, वर्ण-भेद एवं वर्ग-भेद को दूर कर करके जाति-पाँति एवं छुआछूत भावना को नष्ट-करने का प्रयत्न हुआ है, परब्रह्म एवं अनिर्वचनीय सत्ता के साथ सर्वसाधारण की आत्मीयता स्थापित कराने का प्रयत्न हुआ है और इन प्रयत्नों के द्वारा हिन्दू और मुसलमानों में, ब्राह्मणों और शूद्रों में, ज्ञानी और अज्ञानियों में, कर्मकाण्डी और वैरागियों में, भक्तों और योगियों में, गृहस्थी और संन्यासियों में तथा धर्मी और विधर्मियों में समन्वय स्थापित करते हुए ऐहिकता एवं आध्यात्मिकता में, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति में, सुरति एवं निरति में, बुद्धि एवं हृदय में, गार्हस्थ्य एवं वैराग्य में, भक्ति और ज्ञान में, श्रेय और प्रेय में, ब्रह्म और जीव में, ब्रह्म और जगत् में, लोक और वेद में, साधना और अनुभूति में, यौगिक क्रिया और नित्य-नैमित्तिक कर्मों में, आन्तरिक साधना एवं बाह्याचारों में तथा त्याग और भोग में अद्‌भुत समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की गई है।

कबीर में हृदय की सच्चाई एवं अनुभूति का प्राधान्य है, जिसे कबीर ने प्रतीकों के माध्यम से बड़ी सजीवता एवं मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया है। कबीर का यह प्रतीक-विधान दैनिक जीवन से सम्बन्धित सामग्री पर आधारित है, क्योंकि कबीर ने ऐसे ही प्रतीकों को चुना है, जिनका सम्बन्ध उनके दैनिक व्यवहार की वस्तुओं से है। कबीर के इन प्रतीकों को हम पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं। पहले वे प्रतीक हैं, जिनका सम्बन्ध दैनिक व्यवहार की वस्तुओं से है; जैसे—घड़ा, पानी, करघा, ताना-बाना, चरखा, फिरकी, धागा आदि। दूसरे प्रतीक वे हैं: जिनका सम्बन्ध प्राकृतिक पदार्थों से है, जैसे—चन्द्रमा, चातक, सिंह, गाय, बिलाव, चूहा, चींटी, कली, तरुवर, शाखा, गंगा, जमुना आदि। तीसरे प्रतीक वे हैं, जिनका सम्बन्ध हमारे पारिवारिक जनों से जैसे—माता, पिता, पुत्र, नारी, पति आदि; और चौथे प्रतीक वे हैं, जिनका सम्बन्ध सामाजिक जीवन से है; जैसे—स्वामी, सेवक या गुलाम, ग्राहक, बेचने वाला, हाट, बाजार, चोर-लुटेरे, सुनार बढ़ई माली आदि; और पाँचवें प्रतीक वे हैं, जो पारिभाषिक हैं; जैसे—अजपा, सहज, नाद, बिन्दु, शून्य, हरि, निरंजन आदि।

कबीर ने इन प्रतीकों के द्वारा अपनी गहन अनुभूति को बड़ी ही सजीवता के साथ अभिव्यक्त किया है। इसीलिए कबीर ने इन प्रतीकों के द्वारा आत्मा को हंस, सती, विरहिणी, सुन्दरी आदि कहा है; इड़ा नाड़ी को गंगा, चन्द्रमा और वरुणा कहा है; पिंगला नाड़ी को जमुना, सूर्य आदि कहा है; सुषुम्ना को सरस्वती नदी, बंकनालि आदि कहा है, मन को मृग, मेंढक, मंजार, मूसा, मर्कट आदि कहा है। गुरु को सिकलीकर, सुनार, हंस, पारली, चंदन आदि कहा है। संसार को समुद्र, वन, वाटिका, हाट आदि कहा है, अस्तित्वहीन माया को अनुपम बेल, अनब्यायी गाय का दूध,

खरगोश के सींग की ध्वनि, बाँझ के पुत्र का रमण करना आदि कहा है ।[१] इतना ह
नहीं, दाम्पत्य जीवन सम्बन्धी प्रतीकों द्वारा आत्मा और परमात्मा के मिलन का चि
बड़ी ही मार्मिकता के साथ अंकित किया है । इसलिए दुलहिन को आत्मा का प्रती
कहकर भरतार राम को ब्रह्म का प्रतीक माना है और कहीं उन्हें विवाह क
दिखाया है, कहीं 'तन-रति' एवं 'मन-रति' करते दिखाया है, कहीं शय्या पर सा
साथ शयन करते हुए दिखाया है और कहीं गाढ़ालिंगन करते हुए चित्रित किया है
ऐसे ही कहीं चींटी, चावल एवं दाल के प्रतीकों द्वारा यह स्पष्ट किया है कि भौति
तत्त्व पर आश्रित अहंकार के साथ आत्मतत्त्व कभी नहीं टिक सकता, उनमें से कि
एक को पृथक् होना ही पड़ेगा ।[२] ऐसे ही माली तथा कलियों के प्रतीकों द्वारा,
दावानल की लकड़ी और लुहार के प्रतीकों द्वारा[४] तथा तरुवर, बढ़ई और पखेरू
प्रतीकों द्वारा[५] संसार की क्षणभंगुरता के साथ-साथ यह भी स्पष्ट किया है कि प्रत्ये
सांसारिक जीव की मृत्यु आवश्यक होगी । अतः उसे सचेत एवं सावधान होकर उ
परम पिता का स्मरण करना चाहिए और उसी में लीन होने की चेष्टा करनी चाहिए
इस प्रकार कबीर ने अपने प्रतीकों द्वारा उच्च कोटि के काव्य का निर्माण किया है

कबीर ने अलंकारों की प्रयत्नपूर्वक योजना नहीं की है, परन्तु अनायास
बड़े-बड़े सुन्दर सांगरूपक बनाये हैं, यमक और श्लेष का प्रयोग किया है तथा उ
और उत्प्रेक्षाओं के साथ-साथ व्यतिरेक, विशेषोक्ति, अर्थान्तरन्यास आदि अनेक अ
कारों को अपनाया है । इन अलंकारों के सहज प्रयोग द्वारा कबीर ने अद्भुत ग
अनुपम सौन्दर्य एवं अलौकिक काव्यानुभूति को व्यक्त किया है । कबीर का का
पिंगल और अलंकार-शास्त्र के आधार पर निर्मित नहीं हुआ है, और इसी से कुछ विद्वा
आलोचक उन्हें 'ठोक पीटकर बने हुए कवि' मानते हैं, क्योंकि कबीर के काव्य में मा
एवं प्रसाद गुण का अभाव है, कल्पनाओं की क्लिष्टता है, पद-विन्यास में चातुर्य न
है, भाषा में लिंग, वचन, कारक आदि के नियमों का पालन नहीं हुआ है, त
विभिन्न भाषाओं की खिचड़ी बना दिया गया है, उनकी पद-योजना परिमार्जित ए

---

१. आंगणि बेल अकास फल, अणव्यावर का दूध ।
ससा सींग की धुनहणी, रमै बाँझ का पूत ।।

२. चींटी चावल लै चली, बिच में मिलि गई दार ।
कह कबीर दोउ ना मिलै, एक लै दूजी डार ।।

३. माली आवत देखिकर, कलियाँ करी पुकार ।
फूले-फूले चुनि लिए, काल्हि हमारी बार ।।

४. दौं की दाधी लाकड़ी, ठाढ़ी करै पुकार ।
मति बस पड़ौं लुहार के, जालै दूजी बार ।।

५. बाढ़ी आवत देखि कै, तरुवरि डोलन लाग ।
हमें कटै की कछु नहीं, पंखेरू घर भाग ।।

परिष्कृत नहीं हैं और ऐसा जान पड़ता है कि खंजड़ी और तानपूरे पर तान लगाते हुए जो भी पद जैसा बन गया, उसी रूप में उसे गा दिया गया है, उसमें मात्रा, वर्ण आदि के ठीक-ठीक प्रयोग पर ध्यान नहीं दिया गया है।

इतना होने पर भी कबीर हिन्दी के प्रतिनिधि कवि हैं, क्योंकि इनके काव्य में कला-पक्ष भले ही शिथिल हो, परन्तु भाव पक्ष कहीं अधिक उन्नत एवं उत्कृष्ट है। इनमें भावुकता एवं स्पष्टवादिता पर्याप्त मात्रा में है। यद्यपि कबीर एक संदेश देने के लिए ही यहाँ आये थे, तथापि उन्होंने अपनी उर्वर प्रतिभा द्वारा उस संदेश को इतना मर्मस्पर्शी एवं हृदयग्राही बना दिया है कि कबीर की वाणी में सर्वसाधारण को एक अलौकिक आनन्द की उपलब्धि होती है। उनके काव्य की स्वाभाविकता, सरलता एवं भावात्मकता ने सभी भारतीयों को आकृष्ट किया है और उनकी उत्कृष्ट भावना एवं गम्भीर कल्पना ने काव्य-क्षेत्र में उन्हें मूर्धन्य स्थान प्रदान किया है। कबीर ने सीधी-सादी भाषा में संयोग और वियोग के जो भावुकतापूर्ण चित्र अंकित किये हैं, सरल एवं सुबोध प्रतीकों द्वारा जीवन की जिन गहन अनुभूतियों को चित्रित किया है, प्रभावशाली रूपकों द्वारा जो आत्मा और परमात्मा के मधुर मिलन को अभिव्यक्त किया है और हृदय पर सीधे चोट करने वाली भाषा में जो तत्कालीन समाज एवं धर्म की कटु आलोचना की है, इन सभी को देखकर यह कहना पड़ेगा कि कबीर निस्संदेह एक प्रतिभा-सम्पन्न महाकवि थे, वे काव्यरूढ़ियों के जानकार न होकर भी अनुभवी शब्द-चितेरे थे, काव्य-कला के मर्मज्ञ न होकर भी शब्द शिल्पी थे और संगीत के पंडित न होकर भी हिन्दी की दिव्य एवं अलौकिक कविता के गायक थे।

कबीर की साखियों का महत्त्व

कबीर की रचनाओं में सबसे अधिक महत्त्व साखियों का माना जाता है। 'साखी' शब्द संस्कृत के 'साक्षी' शब्द का अपभ्रंश रूप है और साक्षी का अर्थ है—गवाही; अर्थात् जो कुछ स्वयं देखा है या अनुभव किया है उसे सचाई या ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करना ही साक्षी देना कहलाता है। इस आधार पर कबीर की 'साखी' का तात्पर्य भी उनके साक्षात् या प्रत्यक्ष अथवा यथार्थ ज्ञान से लगाया जा सकता है। जिस प्रकार एक साक्षी देने वाला व्यक्ति अपनी आँखों से देखी हुई सच्ची घटना को दूसरों के सम्मुख प्रकट करता है, उसी प्रकार कबीर ने भी अपने साक्षात् अनुभव को, यथार्थ ज्ञान को अथवा प्रत्यक्ष अनुभूति को साखियों के द्वारा जनता के सम्मुख प्रकट किया है। इस दृष्टि से 'साखी' का अर्थ महात्माओं एवं महापुरुषों के आप्त वचन से है। इन साखियों में महात्माओं के उपदेशों एवं ज्ञान-ध्यान की बातों के साथ-साथ उन उलझनों को भी सुलझाने के विचार रहते हैं, जो हमारे दैनिक जीवन में पग-पग पर आती रहती हैं तथा जिनके कारण हम भ्रम एवं संदेह में फँस जाते हैं। इस प्रकार हमें दैनिक जीवन की नैतिक, आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक उलझनों के सुलझाने के लिए, भ्रम एवं संदेह के निवारण के लिए तथा त्रुटि एवं भूलों के सुधारने

के लिए जिस ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है, वह इन साखियों में है, इसीलिए 'साखी' ज्ञान की आँख कहलाती है और इन साखियों में विद्यमान ज्ञान के बिना संसार के प्रपंच के मुक्ति नहीं मिलती ।[1]

कबीर ने साखी के महत्त्व की चर्चा स्थान-स्थान पर की है। कबीर ने कहा है कि पदों का ज्ञान करने से केवल मन को हर्ष प्राप्त होता है, परन्तु 'साखी' के कहने से आनन्द की उपलब्धि होती है,[2] इसलिए पदों की अपेक्षा साखी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। कबीर ने इन साखियों के कहने का अभिप्राय भी घोषित किया है और बताया है कि परम पिता परमात्मा ने कबीर को यह प्रेरणा प्रदान की कि वे साखी कहें, सम्भव है भवसागर के प्राणियों में से कोई इन साखियों द्वारा किनारे पर जा लगे।[3] इससे सिद्ध है कि साखियाँ मानव मात्र को संसार के बन्धनों से मुक्त करके आवागमन के चक्कर से छुड़ाने वाली हैं। साथ ही कबीर ने यह भी घोषित कर दिया है कि जो व्यक्ति 'साखी' तो कहता है, परन्तु साखी को ग्रहण नहीं करता अथवा उसके अनुकूल आचरण नहीं करता, वह मोक्ष रूपी नदी के जल में ही बहता रहता है और उसके पैर तक नहीं टिकते अर्थात् वह मोह से निकल नहीं पाता।[4] इस तरह इन साखियों में कबीर ने प्रामाणिक एवं प्रत्यक्ष अनुभव से सम्बन्धित उन विचारों को रखा है जिनके अनुकूल आचरण करने से मानव-मात्र का कल्याण हो सकता है।

कबीर ने अपनी साखियों का विभाजन अङ्गों में किया है। जैसे—गुरुदेव कौ अङ्ग, सुमिरण कौ अङ्ग, विरह कौ अङ्ग, ग्यान-विरह कौ अङ्ग, परचा कौ अङ्ग, माया कौ अङ्ग आदि। इसमें गुरु की महत्ता, नाम-स्मरण की महत्ता, ज्ञान-प्राप्ति की महत्ता आदि का प्रतिपादन करते हुए यह समझाया गया है कि सतगुरु की कृपा से ही मानव सांसारिक प्रपंचों से मुक्त होकर भगवद् भजन की ओर अग्रसर होता है, भगवान् के स्मरण द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति होती है और मन का नियंत्रण करके जब हरि-स्मरण किया जाता है, तभी साधक को मुक्ति लाभ होता है। इस तरह गुरु-महिमा, परमात्मा की सर्वव्यापकता, संसार की नश्वरता, मन की शुद्धि, माया का प्रपंच, मिथ्या आडम्बर का परित्याग आदि का विवेचन करते हुए कबीर ने इन साखियों द्वारा

---

[1] साखी आँखी ज्ञान की, समुझि देखि मन माँहि।
बिन साखी संसार का, झगरा छूटत नाँहि॥
—कबीर बीजक, ३५३

[2] पद गायें मन हरषिया, साखी कह्यां आनन्द।

[3] हरिजी यहे बिचारिया, साखी कहौ कबीर।
भौ सागर मैं जीव है, जे कोई पकड़ै तीर॥

[4] साखी कहैं गहै नहीं, चाल चली नहिं जाय।
सलिल मोह नदिया बहै, पाँव नहीं ठहराय॥

मानवों को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुक्त किया है तथा मोक्ष-साधन के उपाय बताये हैं ।

कबीर की ये सखियाँ मानव की सदाचार एवं शुद्धाचरण की शिक्षा देती हैं । इनमें कबीर ने समझाया है कि मनुष्यों को सदैव ऐसी वाणी वोलनी चाहिए, जिसमें तनिक भी अहंकार की भावना न हो, जिससे अपने शरीर को शान्ति मिले और सुनने वाले को भी सुख प्राप्त हो ।[1] कवीर कहते हैं कि कभी मूर्ख का साथ नहीं करना चाहिए, जैसे लोहा कभी जल पर तैर नहीं सकता, वैसे ही अज्ञानी या मूर्ख भी कभी सात्विकता एवं सदाचार से पूर्ण नहीं होता, वह दुष्कर्मों से लदा हुआ लोहे के समान सदैव भारी ही बना रहता है । उसके विपरीत अच्छे व्यक्तियों का साथ सदैव करना चाहिए, जैसे स्वांति नक्षत्र की एक बूँद केले में गिरकर कपूर बन जाती है और सीप में गिरकर मोती बन जाती है, परन्तु साँप के मुँह में गिरने पर हलाहल विष बनती है, वैसे ही सत्संगति से कोई व्यक्ति अच्छा एवं नेक बनता है तथा कुसंगति से पापी, दुराचारी एवं दुष्ट वनता है ।[2] इसीलिए सत्संगति के महत्त्व को वताते हुए कवीर ने आगे कहा है कि सज्जनों की संगत कभी निष्फल नहीं होती । सज्जनों के सम्पर्क में आने से एक तुच्छ व्यक्ति नीम से उत्तम चन्दन बन जाता है और फिर उसे कोई नीम नहीं कहता ।[3] बाह्य शुद्धि के साथ-साथ कवीर ने आन्तरिक शुद्धि के लिए भी बहुत कुछ समझाया है और सत्संगति के साथ-साथ अपने मन को वश में करने के लिए आग्रह किया है । कवीर ने बताया है कि यह मन बड़ा प्रबल है, यही गोरख है, यही गोविंद है और यही औघड़ साधु है अर्थात् इसी के द्वारा साधक गुरु गोरखनाथ बन सकता है, गोविन्द बन सकता है और सच्चा साधु बन सकता है । यदि इसी मन को नियन्त्रण में रखा जाय, तो निसंदेह साधक स्वयं कर्त्ता या ब्रह्म बन जायेगा ।[4] इस तरह वाह्य एवं आन्तरिक शुद्धि द्वारा कवीर ने अपनी साखियों में मानव मात्र को सदाचारी बनने एवं शुद्धाचरण करने की सलाह दी है ।

कवीर की साखियों में सूक्ष्म अनुभूतियों पर दर्शन का रंग चढ़ा हुआ दृष्टिगोचर होता है । इसीलिए कवीर ने छोटे-छोटे दोहों में ब्रह्म और जीव की अद्वैतता, जगत् और ब्रह्म का अभेद तथा माया के द्वारा ब्रह्म और जीव एवं ब्रह्म और जगत्

---

[1] ऐसी वाणी बोलिए, मन का आपा खोइ ।
अपना तन सीतल करै, औरन कौं सुख होइ ॥

[2] मूरखि संग न कीजिए, लोहा जलि न तिराइ ।
कदली सीप भुजंग मुख, एक बूँद तिहुँ भाइ ॥

[3] कबिरा संगति साधु की, कदे न निरफल होइ ।
चन्दन होसी बाँवना, नींव न कहसी कोइ ॥

[4] मन गोरख मन गोविन्दौ, मन हीं औघड़ होइ ।
जे मन राखै जतन करि, आपै करता सोइ ॥

की भिन्नता आदि का प्रतिपादन बड़े ही सुन्दर एलं सजीव ढंग से किया है। कबी की ये साखियाँ वेदान्त के अद्वैतवाद की पोषक हैं। इसीलिए इनमें संसार के मिथ्या का प्रतिपादन बड़े ही उग्र रूप में मिलता है, माया के प्रपंच को खूब बढ़ा-चढ़ा समझाया गया है, माया के त्रिगुणात्मक रूप से बचने की सलाह दी गई है तथा उचि एवं उपयुक्त प्रतीकों द्वारा आत्मा-परमात्मा के मिलन, साधक की विरहानुभूति, हठयो की साधना. माया का प्रपंक, ब्रह्मानन्द की प्राप्ति आदि का निरूपण किया गया है उदाहरण के लिए हठयोग की साधना का यह वर्णन लिया जा सकता है, जिसमें कबी कह रहे हैं कि आकाश या सिर में सहस्रार चक्र के रूप में एक ऐसा कुआँ है, जिस मुख नीचे की ओर है और कुण्डलिनी के रूप में पनिहारी नीचे पड़ी हुई है। कुण्डलि को उद्बुद्ध करके जो साधक सुषुम्ना के मार्ग से उस सहस्रार चक्र तक पहुँच सक है, वही ब्रह्मानन्द रूपी जल को पीने का अधिकारी होता है।[1] ऐसे ही आत् परमात्मा के मिलन को कबीर ने बड़े ही रोचक ढंग से समझाते हुए बताया है सुरति निरति में लीन हो गई, जाप अजपा-जाप में लीन हो गया और साकार निराकार ब्रह्म में लीन हो गया। इस तरह आत्मा पूर्णतया परमात्मा में समा गई इसी भाँति कबीर ने दार्शनिक तथ्यों को सखियों में बड़ी सरलता के समझाया है।

कबीर की साखियाँ अधिकतर दोहा छन्द में ही मिलती हैं, परन्तु कुछ साखि दोहे के अतिरिक्त चौपाई, श्याम उल्लास, हरिपद, गीता, सार तथा छप्पय छन्द में मिलती हैं। साहित्यिक दृष्टि से इनमें उच्चकोटि के काव्य के भी दर्शन होते 'विरहिणी कौ अंग' विप्रलम्भ शृङ्गार की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट है, उसमें कबीर विरह की तीव्रानुभूति का वड़ा ही मर्मस्पर्शी निरूपण किया है। ऐसे ही 'पतिव्रता अङ्ग' भी रहस्य-भावना की दृष्टि से उच्चकोटि के कवित्व का उदाहरण है। साखियों में कबीर ने दोहा जैसे छोटे से छन्द में उक्ति-वैचित्र्य, भाव-गाम्भीर्य अर्थ-सौष्ठव का चमत्कार दिखाया है। सभी साखियाँ जीवन की भावात्मक कल्पनात्मक विवेचना से परिपूर्ण हैं, इनमें, सच्ची अनुभूति के साथ-साथ काव्य-प्रति का कौशल भी विद्यमान है तथा ये साखियाँ उच्च कोटि के व्यंग्य से परिपूर्ण होने कारण हृदय पर सीधी चोट करती हैं।

सारांश यह है कि कबीर की साखियाँ वैयक्तिक अनुभूतियों का भण्डार प्रगल्भता एवं प्रभविष्णुता में बेजोड़ हैं, सहज स्वाभाविक सौन्दर्य से ओतप्रोत अयत्नसाधित हैं तथा ज्ञान और भक्ति, नैतिकता और व्यावहारिकता. दार्शनिकता

---

१. आकासे मुखि औंधा कुआँ, पाताले पनिहारि।
ताका पाँणी को हंसा पीवै, विरला आदि विचार॥
२. सुरति समांणी निरति मैं, अजपा माँहै जाप।
लेख समांणां अलेख मैं, यूँ आपा माँहै आप॥

भावुकता, आध्यात्मिकता और लौकिकता का समुच्चय है। इन साखियों के द्वारा सर्वसाधारण को उस सर्वशक्तिमान का परिचय देकर उम शक्ति के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए साधना के अज्ञात एवं अक्षय स्रोतों का द्वार खोल दिया गया है और जन-साधारण को एक ऐसा आलोक प्रदान किया गया है, जिससे सभी भूले-भटके व्यक्ति सत्य मार्ग की ओर उन्मुख हो सकते हैं। इनके द्वारा पारस्परिक वैमनस्य को दूर करते हुए मानव मात्र के हृदय में एकता, समता तथा सहज प्रेम की भावनाएँ जाग्रत की गई हैं, जिनसे विश्वबन्धुत्व की भावना को वल मिला है तथा मानव स्वयं ही मानवता के प्रेम को अपनाने के लिए अग्रसर हुआ है। निस्संदेह कबीर की ये साखियाँ मानव को आत्म-निरीक्षण की ओर उन्मुख करती हैं; शुद्धाचरण करने के लिए बाध्य करती हैं; सन्तोष, उदारता, परोपकार, सेवा आदि को अपनाने का आग्रह करती हैं; अनासक्तिपूर्ण कर्मों द्वारा मुक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा देती हैं तथा दुष्कर्मों के परित्याग एवं सत्कर्मों के अपनाने की भावना जाग्रत करती हुई मानव मात्र में आध्यात्मिकता, नम्रता, ईश्वर विश्वास, सच्चरित्रता, सामाजिक एकता, भगवद्भक्ति का संचार करती हैं। इसीलिए कबीर की साखियाँ वाणी के अद्भुत सौंदर्य से ओत-प्रोत हैं और इनमें कबीर का सर्वजयी व्यक्तित्व विद्यमान है।

कबीर की उलटबाँसियाँ

'उलटवाँसी' शब्द की व्युत्पत्ति अभी तक सन्देहास्पद ही है। डा० पीताम्बरदत्त वड़थ्वाल का मत है कि "आध्यात्मिक अनुभव की अनिर्वचनीयता के कारण साधक को कभी-कभी परस्पर विरोधी उक्तियों द्वारा व्यक्त करने का ढङ्ग अपनाना पड़ता है; जैसे 'चन्द्रविहीन चाँदनी', 'सूर्यविहीन सूर्य-प्रकाश' आदि और उसके आधार पर ऐसे गूढ़ प्रतीकों की सृष्टि हो जाती है, जिन्हें 'उलटबाँसी' या 'विपर्यय' कहते हैं। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने गुरु गोरखनाथ की 'उलटी चरचा' के आधार पर 'उलटवाँसी' शब्द को 'उलट' तथा 'अंश' के योग से बना हुआ सिद्ध किया है, जिसका सम्बन्ध ऐसी रचना से होगा जिसके किसी न किसी अंश में उल्टी बातें मिलती हों।[1] इसके उपरान्त चतुर्वेदीजी ने पुनः लिखा है कि "उलटवाँसी शब्द के इस अर्थ का समर्थन उसे 'उलटा' एवं 'वाँस' शब्दों द्वारा निर्मित मानकर भी किया जा सकता है जिस दशा में उसका ठीक-ठीक शब्दार्थ वैसी रचना के अनुसार होगा जिसका बाँस (पार्श्व-भाग या अङ्ग) उलटा या विपरीत ढङ्ग का पाया जाय। परन्तु यदि इसके मूल रूप की कल्पना इसके 'वाँसी' से अनुस्वार हटाकर केवल 'उलटबासी' मात्र भेष में की जाय, तो इसका तात्पर्य उस रचना से हो सकता है, जो उसके 'वकवास', 'लोटवास' आदि के समान किसी 'उलटवास' शब्द के आधार पर निर्मित होने के कारण, व्यर्थ की उलट-पुलट सूचित करने वाले उदाहरणों से भरी हो।"[2] डा० सरनामसिंह शर्मा

---

[1] कबीर-साहित्य की परख, पृ० १५२।

[2] वही, पृ० १५२।

ने 'उलटबाँसी' शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ दी हैं—एक तो उलटबाँसी संयुक्त शब्द और दूसरी 'उलटबाँस' से सम्बन्धित। पहले शब्द 'उलटबाँ' का अर्थ 'उलटी और 'सी' का अर्थ समान अतएव 'उलटबाँसी' का अभिप्राय हुआ 'उलटी हुई प्रती होने वाली उक्ति।' आपने दूसरी व्युत्पत्ति के बारे में बताया है कि 'परमपद' अध्यात्म-लोक में रहने वाले का निवास वास्तव में 'उलटबास' है। इससे सम्बन्धि वाणी 'उलटबासी' वाणी कहला सकती है। आध्यात्मिक अनुभूतियाँ लोक-विपरी अनुभूतियाँ होती हैं और उन अनुभूतियों को व्यक्त करने वाली वाणी लोक-दृष्टि उलटी प्रतीत होती है, वास्तव में उलटी नहीं होती। इस शब्द में 'बा' के ऊपर सानुनासिकता दिखाई पड़ती है, वह अकारण है।[1]

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'उलटबाँसियों' का सम्बन्ध 'सन्ध्या-भाषा' स्थापित किया है। उनका मत है कि सहजयानियों में इस प्रकार की उल्टी वानि को सन्ध्या-भाषा कहा जाता था। महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री के मत 'सन्ध्या-भाषा' वह है, जिसका कुछ अंश समझ में आये और कुछ अस्पष्ट रहे; अर्था अन्धकार और प्रकाश के बीच की-सी भाषा को 'सन्ध्या-भाषा कह सकते हैं। कु विद्वान् संधिदेश की भाषा से अर्थ लगाते हैं और संधिदेश बिहार की पूर्वी तथा बंगा की पश्चिमी सीमा से लेते हैं। श्रीयुत विधुशेखर भट्टाचार्य ने 'सन्ध्या-भाषा' 'सन्धा-भाषा' कहा है, जिसका अर्थ है—अभिसन्धि-सहित या अभिप्राय-युक्त भाषा। डा० त्रिगुणायत के मत से 'सन्ध्या-भाषा' उस विशेष प्रकार की अभिव्यंजना-प्रणा के लिए प्रयुक्त हुई है, जिसके सहारे तांत्रिकों की भाँति सिद्ध लोग भी वामाचार उसी प्रकार छिपाने में समर्थ होते थे, जिस प्रकार सन्ध्या उजियारे को।[3]

इस प्रकार 'उलटबाँसी' शब्द विपरीत तथा अस्पष्ट कथन का द्योतक प्रती होता है, क्योंकि कबीर ने स्वयं इन्हें 'उलटा वेद' कहा है और इस प्रकार के उल एवं अस्पष्ट कथन ऋग्वेद से लेकर सिद्धों तक की बानियों में बराबर मिलते हैं। जै अथर्ववेद में लिखा है कि जो भी विद्वान् इस सुन्दर एवं गतिशील पक्षी के भीत निहित रूप को जानता हो, वह बताये कि उस पक्षी की इन्द्रियाँ अपने शिरोभाग द्वार दूध देती है और चरणों से जल पिया करती हैं।[4] इसी प्रकार की विपरीत एवं अस्प बानियाँ उपनिषदों में भी मिलती हैं। ईशोपनिषद् में लिखा है कि वह चलता है औ

---

१. कबीर : एक विवेचन, पृ० ३२२।

२. कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

३. कबीर की विचारधारा, पृ० ३९६।

४. ईह बवीतु य ईयंग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वैः।
शीर्ष्णः क्षीरे दुहते गावो अस्य वब्रि बसाना उदकं पदायुः।।
—अथर्ववेद ९।९।५

नहीं भी चलता, वह दूर है और पास भी है तथा वह सबके भीतर भी है और बाहर भी है।[1] ऐसे ही उलटे तथा अस्पष्ट कथन सिद्धों एवं नाथ-योगियों में भी मिलते हैं। ढेण्ढणपा सिद्ध ने कहा है कि बैल ब्याता है और गाय बाँझ रहती है तथा बछड़ा तीन समय दुहा जाता है।[2] गुरु गोरखनाथ ने कहा है कि पानी में अग्नि लगी हुई है, मछली पहाड़ पर है और खरगोश जल में है। प्यासों के लिए रहट बहने लगी है और शूल से निकलकर काँटा नष्ट हो गया है।[3] इस तरह यह उलटी एवं विपरीत तथा अस्पष्ट कथन की प्रणाली अत्यन्त प्राचीनकाल से मिलती है। हो सकता है कि इसमें यह रहस्य छिपा हो कि सिद्ध एवं गुरु अपने भक्तों में जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए तथा उन्हें आश्चर्य-चकित करने के लिए ऐसी अटपटी एवं विचित्र बानियों का प्रयोग करते हों। परन्तु भारत में इनकी एक सुदीर्घ परम्परा मिलती है तथा इनमें किसी न किसी प्रकार के आध्यात्मिक संकेत का भी उल्लेख मिलता है।

कबीर ने भी कितनी ही उलटबाँसियाँ लिखी हैं, जो रहस्यात्मक होने के साथ-साथ अटपटी, विचित्र एवं आश्चर्य-चकित करने वाली हैं। इनमें भी उसी विपरीत एवं अस्पष्ट कथन का प्राधान्य है तथा ये भी आध्यात्मिक अनुभूति से परिपूर्ण होने के कारण किसी न किसी प्रकार के तात्त्विक रहस्य की ओर संकेत करती हुई जान पड़ती हैं। ये सभी उलटबाँसियाँ लोक-व्यवहार एवं प्राकृतिक नियमों के सर्वथा विरुद्ध प्रतीत होती हैं, किन्तु इनके सांकेतिक अर्थ पर ध्यान देने से पता चलता है कि इनके अन्तर्गत भी किसी न किसी तात्त्विक सिद्धान्त का विवेचन मिलता है। सुविधा की दृष्टि से इनको चार भागों में बाँटा जा सकता है :

(१) विरोधमूलक उलटबाँसियाँ,
(२) रूपकमूलक उलटबाँसियाँ,
(३) प्रतीकात्मक उलटबाँसियाँ, तथा
(४) अद्भुत रसमूलक उलटबाँसियाँ।

(१) **विरोधमूलक उलटबाँसियाँ**—कबीर ने विरोधमूलक उलटबाँसियाँ ही अधिक लिखी हैं, जिनमें लोकाचार के विरुद्ध असंगत पद-योजना को अधिक अपनाया गया है तथा जिनमें विरोधाभास, विभावना, असंगति, विषम, विशेषोक्ति आदि विरोध-मूलक अलङ्कारों का ही प्राधान्य है। यद्यपि कबीर की विरोधमूलक उलटबाँसियाँ लोक-दृष्टि से पूर्णतया उलटी दिखाई देती हैं, तथापि ये उलटी नहीं हैं, अपितु इनमें

---

[1] तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥—ईश०, ५।

[2] बलद बिआअल गविआ बाँझे।
पिटा दुहिए ए तिना साँझे ॥—चर्यापद ३३।

[3] डूंगरि मंछा जलि सुसा, पाणी में दौ लागा।
अरहट बहे तुसालवाँ, सूलै काँटा भागा ॥—गोरखबानी, पद २०।

सांकेतिक शब्दों के अन्तर्गत आध्यात्मिक अनुभूति भरी हुई है और वे किसी न किसी प्रकार के तात्त्विक सिद्धान्त का निरूपण करती हैं । उदाहरण के लिए, माया की अनिर्वचनीयता एवं अस्तित्वहीनता का विवेचन करते हुए कबीर ने असंगति अलङ्कार के सहारे कहा है—

आँगणि बेलि अकासि फल, अणव्यावर का दूध ।
ससा सींग की धुनहड़ी, रमैं बाँझ का पूत ।।

इनका अभिप्राय यह है कि माया उस लता के समान है जो संसार के आँगन में लगी है तथा जिसका फल आकाश में लगता है । वह माया बिना ब्याई हुई गाय के दूध, खरगोस के सींग से निकली हुई ध्वनि तथा वन्ध्या के पुत्र के क्रीड़ा करने के तुल्य अस्तित्वहीन है, क्योंकि न तो बिना ब्याई हुई गाय दूध देती है, न खरगोस के सींग होते हैं और न वन्ध्या के पुत्र होता है । इस तरह विरोधमूलक बातों द्वारा कबीर ने माया की अस्तित्वहीनता, असम्भवता एवं अनिर्वचनीयता आदि का तात्त्विक विवेचन किया है । ऐसे ही 'आकासे मुख औंधा कुँआ पाताले पनिहार' या 'जे काटौं तो डहडही, सींचौ तौ कुम्हलाइ' या 'जालण आँणी लाकड़ी ऊठी कूँपल मेल्हि' अथवा 'आगैं-आगैं दौं जलै पीछै हरिया होइ' आदि विरोधमूलक पदावलियों द्वारा कबीर ने माया के अद्भुत एवं आश्चर्य-चकित करने वाले कार्यों का विवेचन किया है ।

(२) **रूपकमूलक उलटबाँसियाँ**—विरोधमूल उलटबाँसियों के अतिरिक्त कबीर ने ऐसी भी उलटबाँसियाँ लिखी हैं, जिनमें सांगरूपक का अद्भुत चमत्कार मिलता है । इन रूपकों में आध्यात्मिक अनुभूति को अधिक स्पष्ट एवं सुबोध बनाने की चेष्टा की गई है तथा इनके द्वारा सांसारिक व्यवहार को भी बड़ी सजीवता के साथ अङ्कित किया गया है । उदाहरण के लिए—ढेंकुली के वर्णन को ले सकते हैं, जिसमें सुरत को ढेंकुली, लय को रस्सी, मन को ढेंकुली चलाने वाला, सहस्रार चक्र को कमल कूप तथा ब्रह्मानन्द को प्रेमजल कहकर कबीर ने कितने सुन्दर सांगरूपक द्वारा अपनी उलटबाँसी प्रस्तुत की है—

सुरत ढीकुली लेज ल्यौ, मन नित ढीलन हार ।
कँवल कुवाँ मैं प्रेम रस, पीवै बारम्बार ।।

इसी प्रकार एक दूसरी उलटबाँसी में कबीर ने गङ्गा-जमुना नदी, नदी के घाट तथा घाट पर स्थित मन्दिर के रूप में इड़ा, पिंगला रूपी गङ्गा-जमुना नदियाँ, सहज और शून्य के प्रति लगन रूपी दोनों घाट, उन पर ब्रह्मरंध्र रूपी मन्दिर का वर्णन करते हुए सांगरूपक द्वारा सहज-समाधि में लीन योगी की अवस्था का चित्र इस तरह अङ्कित किया है—

गङ्ग जमुन उर अन्तरै, सहज सूंनि ल्यौ घाट ।
तहाँ कबीरै मठ रच्या, मुनि जन जोवैं बाट ।।

इसी तरह 'हरि के खारे बड़े पकाये, जिनि जारे तिन खाये', अथवा 'सन्तो भाई आई ज्ञान की आंधी रे' अथवा हिंडोलना का वर्णन करते हुए 'चन्द सूर दोइ खंभवा बंकनालि की डोरि, झूलैं पंच पियारियाँ, तहाँ झूलैं जीय मोरि' आदि पदों में कबीर ने सुन्दर-सुन्दर सांगरूपकों द्वारा जो उलटवाँसियाँ कही हैं, उनमें आध्यात्मिक संकेत के साथ-साथ अद्‌भुत कवित्व भी विद्यमान है। इन रूपकों को देखकर ही श्री राहुल सांकृत्यायन ने सभी उलटवासियों को 'रूपक' कहा है।[1] परन्तु कबीर ने सभी उलटवाँसियों में रूपकों का ही प्रयोग नहीं किया है, अन्य अलंकार भी अपनाये हैं। निस्सन्देह उक्त सांगरूपक कबीर की उद्‌भट कवित्व-शक्ति एवं उर्वर प्रतिभा के द्योतक हैं।

(३) **प्रतीकमूलक उलटबासियाँ**—कबीर की उलटवाँसियों में प्रतीकों का प्रयोग अत्यधिक हुआ है। इन प्रतीकों में आध्यात्मिक अनुभूति के साथ-साथ कबीर की गूढ़तम भावना एवं रहस्यात्मक विचारों का भी सुन्दर सम्मिश्रण मिलता है। कबीर ने नगर की रक्षा अथवा शासन का प्रश्न उठाते हुए एक बड़ी सुन्दर प्रतीकात्मक उलटवाँसी लिखी हैं—

कैसैं नगरि करौं कुटवारी, चंचल पुरिष विचषन नारी।
बैल बियाइ गाइ भई बांझ, बछरा दूहे तीन्यों साँझ ।।
मकड़ी धरी माषी छछिहारी, मांस पसारि चील्ह रखवारी ।।
मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोबै साँप पहरइयाँ ।।
निति उठि स्याल स्यंघसूँ झूझै, कहै कबीर कोइ बिरला बूझै ।।

उक्त पद में कबीर ने अद्‌भुत मानवेतर प्राणियों के प्रतीकों द्वारा उनके अस्वाभाविक व्यापारों का वर्णन किया है, जिसके परिणामस्वरूप नगर के शासन-प्रबन्ध में उत्पन्न बाधा की ओर भी संकेत किया है। इस पद के अन्तर्गत प्रतीकों की भरमार है, जिनमें से 'नगर' मानव शरीर का, 'पुरुष और नारी' मन और कामना के, 'बैल' विकृत मन का, 'वंध्या गाय' सात्विक बुद्धि की, 'बछरा' इन्द्रियों का, 'माया' मकड़ी की, 'माखी' इच्छा की 'मांस' विषयों का, 'मूसा' मन का 'बिल्ली' दुर्मति की, 'सर्प' संशय का, 'स्याल' जीव का और 'स्यंघ' काल का प्रतीक है। इन प्रतीकों द्वारा मानव-शरीर के अन्तर्गत उत्पन्न बाधाओं का उल्लेख करते हुए कबीर ने संसार के प्रपंच में ग्रस्त जीव की दीन-हीन अवस्था का सारगर्भित वर्णन किया है।

(४) **अद्‌भुत रस-प्रधान उलटबासियाँ**—कबीर की कुछ उलटवाँसियाँ अद्‌भुत एवं अलौकिक वर्णनों से युक्त होने के कारण अद्‌भुत रस से भी परिपूर्ण है। इन उलटवाँसियों में कबीर ने प्रतीकों का आश्रय तो अवश्य लिया है, परन्तु इनके द्वारा कवि ने ऐसे-ऐसे अद्‌भुत चित्रों को अंकित किया है, जिनको देखते ही आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है और जिनका अर्थ सरलता से समझ में नहीं आता। ये उलट-

---

[1] सरस्वती (भाग ३२), ७१५-७१९।

बाँसियाँ गोपन शैली में लिखी गई हैं और इनमें कबीर की गहन एवं अनिर्वचनीय अनुभूति का ही प्राधान्य है । जैसे—

एक अचम्भा देखा रे भाई । ठाढ़ा सिंह चरावै गाई ।।
पहले पूत पीछे भई माइ। चेला के गुरु लागै पाइ ।।
जल की मछली तरवर ब्याई । पकड़ि बिलाई मुरगै खाई ।।

—इत्यादि

ये उलटबाँसियाँ निस्सदेह भक्तों के हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न करके पुनः आश्चर्यचकित करने के उद्देश्य से लिखी गई जान पड़ती हैं । इनका अर्थ लगाना अत्यन्त कठिन है और कबीर के कथनानुसार उक्त पद का अर्थ लगाने वाले को त्रिभुवन सूझ सकता है ।[1] ऐसी उलटबाँसियाँ कहीं अधिक अस्पष्ट, अटपटी एवं अन्धकारपूर्ण हैं, इनमें कबीर के सिद्धान्तों को समझने में अवश्य ही बड़ी बाधा उपस्थित हुई है ।

अतः कबीर की उलटबाँसियों में विभिन्न विषय भरे पड़े हैं, उनमें सांसारिक भ्रम, माया-प्रपंच, लौकिक व्यवहार आदि के साथ-साथ साधनात्मक रहस्यों, ज्ञान-विरह, सहानुभूति, आत्मज्ञान, सृष्टि, मन आदि का वर्णन मिलता है । इनके द्वारा कबीर ने सर्वसाधारण को किसी न किसी प्रकार का सन्देश दिया है । इनमें कबीर ने कहीं वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, नागरिक एवं ग्रामीण जीवन का चित्र अंकित किया है, तो कहीं विविध प्राणियों एवं प्राकृतिक पदार्थों के कार्यों एवं व्यापारों का निरूपण किया है । ऐसे ही कहीं घर, विपिन, उद्यान, शरीर आदि के रूपकों द्वारा सैद्धान्तिक निरूपण किया है, तो कहीं कमल, चरखा, बेल, नगर, कोतवाल आदि के प्रतीकों द्वारा साधना-पथ के रहस्यों का उद्घाटन किया है । इस तरह कबीर की उलटबाँसियाँ भले ही 'उलटी बात', 'अस्पष्ट कथन' या 'उलटी रीति' की द्योतक हों, परन्तु इनमें कबीर के सिद्धान्तों के साथ-साथ आध्यात्मिक अनुभव की अनिर्वचनीयता विद्यमान है और इनमें लौकिक तत्त्वों के सहारे अलौकिक तथ्यों का बड़ा मर्मस्पर्शी वर्णन मिलता है ।

9. Imp

कबीरदास की भाषा

की व्यवस्थित सधुक्कड़ीपन ।

कबीर मूलतः काशी के रहने वाले थे और काशी में मुख्यतया भोजपुरी बोली जाती है । उधर कबीर ने स्वयं भी 'हम पूरब के पुरबिया' अथवा 'हमारी बोली पूरब की'[2] कहकर अपनी भाषा की ओर संकेत किया है, जिससे स्पष्ट पता चलता है कि कबीर की भाषा पूर्वी हिन्दी है । भाषा विज्ञान की दृष्टि से तो पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी नामक तीन बोलियाँ आती हैं ! परन्तु भोजपुरी भी हिन्दी की ही पूर्वी बोली है, जो बनारस, मिर्जापुर, जौनपुर, गाजीपुर, बलिया,

---

[1] कहै कबीर या पद कौं बूझै, ताकूँ तीन्यूँ त्रिभुवन सूझै ।

[2] हिन्दी भाषा का इतिहास—डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ५६ ।

गोरखपुर, बस्ती, आजमगढ़, शाहाबाद, चंपारन, सारन तथा छोटा नागपुर तक बोली जाती है और जिसे प्राचीन काशी जनपद की बोली माना गया है।[1] साथ ही कबीर की बानियों में भी भोजपुरी के 'खम्भवा', 'पऊवा', 'पहरवा', 'खटोलवा' आदि संज्ञापद तथा 'पावल', 'राखल', 'लूटल', 'सूतल' आदि क्रियापद मिलते हैं। इसके अतिरिक्त डा० रामकुमार वर्मा का मत है कि "कबीर के पद मूलरूप में सम्भवतः भोजपुरी में ही थे। बाद में उन्हें पछाहीं भाषा में परिवर्तित किया गया है।"[2] इसका एक कारण यह भी दिखाई देता है कि कबीर तो बे-पढ़े-लिखे थे, उन्होंने तो स्वयं पद लिखे नहीं। उनके शिष्य-समुदाय ने उनकी समस्त बानियों को संकलित-किया। अतएव हो सकता है कि शिष्यों ने पूर्वी भाषा में कही हुई बानियों को पश्चिम के व्यक्तियों के लिए भी बोध-गम्य बनाने के लिए पश्चिमी भाषा का रूप दे दिया हो। अतः ऐसा जान पड़ता है कि कबीर की मूल बानियाँ पूर्वी हिन्दी में ही रही होगी।

इसके अतिरिक्त जब हम कबीर की बानियों के उपलब्ध रूपों पर विचार करते हैं, तब पता चलता है कि अभी तक कबीर की बानियों के दो ही प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। इनमें से एक तो डा० श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'कबीर-ग्रन्थावली' है, जो सं० १५६१ तथा सं० १८८१ की हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर तैयार की गई है तथा दूसरी प्रामाणिक पुस्तक 'सन्त कबीर' है, जिसका सम्पादन डा० रामकुमार वर्मा ने बड़े ही परिश्रम के साथ किया है। इन दोनों ग्रन्थों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि कबीर की भाषा में अनेक बोलियों का सम्मिश्रण है, क्योंकि उसमें कहीं 'अंखणियाँ', 'जीमड़ियाँ', 'कसाइयाँ', 'दुखड़ियाँ', 'रतड़ियाँ' आदि पंजाबी बोली के शब्द विद्यमान हैं, तो कहीं 'विसूरणाँ', 'रोवण', 'सजणाँ', 'जाँणि', 'छाँणि', 'सतांणी', 'आपण', 'रैणा' आदि राजस्थानी बोली के शब्द भी अत्यधिक मात्रा में अपनाये गये हैं। ऐसे ही कहीं उसमें 'लेट्यौ', 'बट्यौ', 'पकर्यों', 'चल्यौ' आदि ब्रज बोली के रूप मिलते हैं, तो कहीं 'जाऊँगा', 'आऊँगा', 'लागा', 'भागा', 'मिलाउँगा', 'चित लाऊँगा', 'मूल मिलाऊँगा', 'धागा टूटा' आदि शुद्ध खड़ी बोली के शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। ऐसे ही कहीं 'मोर', 'तोर', 'मंदला बजावा', 'दुख पाव' आदि अवधी के शब्दों का रूप विद्यमान है, तो कहीं 'सूतल', 'लूटल', पावल', 'राखल' आदि भोजपुरी के शब्द भीं मिल जाते हैं। इतना ही नहीं, पीर, मुरीद, काजी, दरवेश, मुल्ला, कुरान, खुदाई, खालिक, दरोगा, हाजिराँ, अकलि, अलह, पाक, नापाक आदि अरबी-फारसी के शब्द भी कबीर ने अत्यधिक मात्रा में अपनाये हैं। इस प्रकार कबीर की भाषा में बंगला, बिहारी, मैथिली, भोजपुरी, अवधी, ब्रज, खड़ी, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, सिन्धी, लहँदा, अरबी, फारसी आदि सभी बोलियों को चढ़ाकर पकाया हुआ 'सधुक्कड़ अन्नकूट' विद्यमान है, वह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र

---

[1] हिन्दी भाषा का इतिहास डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ६७।

[2] हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २६२-२६३।

है, उसमें लिंग, वचन, कारक आदि किसी प्रकार का बन्धन नहीं है और न उसके शब्दों को छील-छालकर या किसी एक भाषा के साँचे में ढालकर ही सुन्दर एवं सुडौल बनाया गया है।

कबीर की भाषा के इस मिश्रित रूप के कारणों का पता लगाने पर ज्ञात होता है कि कबीर ने देशाटन पर्याप्त मात्रा में किया था और वे जिस स्थान पर जाते थे, उसी स्थान की बोली को अपनाकर अपना प्रवचन करने लगते थे। यदि उन्हें पंजाबियों के बीच प्रवचन करना होता था, तो वे पंजावी वोली के शब्दों का प्रयोग करते हुए वोलते थे और यदि उन्हें राजस्थान-निवासियों के वीच उपदेश करना पड़ता था, तो वे राजस्थानी के शब्दों का व्यवहार करते हुए बोलते थे। ऐसे ही यदि वे मुसलमानों के वीच में उपदेश करते थे तो अरवी-फारसी के शब्दों का प्रयोग करते थे और यदि उन्हें पंडितों एवं शिक्षितों के बीच में बोलना पड़ता था, तो वे तत्सम् शब्दों का प्रयोग किया करते थे। इसलिए समय, स्थान एवं अधिकारी पात्र के अनुकूल वोलने के कारण कबीर की भाषा में विविधता के दर्शन होते हैं। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि जिस समय कबीर ने 'संसकरित जैसे कूपजल, भाषा वहता नीर' की घोषणा करके लोकभाषा को ही अपने विचार प्रकट करने का माध्यम बनाया था, उस समय अपभ्रंश भाषाएँ साहित्यिक क्षेत्र से विदा हो रही थीं और लोकभाषाएँ पनपकर उनका स्थान ग्रहण कर रही थीं। उस काल की लोकभाषाओं में यद्यपि अपने-अपने स्थान की विशेषताएँ विद्यमान थीं, फिर भी वे किसी संकुचित एवं संकीर्ण सीमाओं में आवद्ध नहीं हुई थीं और उनके वोलने एवं समझने वाले सारे उत्तरी भारत में वंगाल से लेकर सिन्धु प्रदेश तक मिल जाते थे। उधर कबीर को अपने विचारों का प्रचार जनता में करना था और जनता उस समय उस 'लोकभाषा' की ओर उन्मुख हो रही थी, जिसमें बंगाल, बिहार, अवध, ब्रज, राजस्थान, पंजाब, गुजरात, सिन्ध आदि सभी प्रदेशों में व्यवहृत बोलियों के शब्द विद्यमान थे। इसलिए कबीर ने जनता की उसी भाषा को अपनी बानियों का माध्यम बनाया, जो जन-साधारण की भाषा थी और जिसमें सभी प्रदेशों की बोलियों के शब्द विद्यमान थे। कबीर की भाषा के सम्मिश्रण का एक तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि कबीर के शिष्य-प्रशिष्य उत्तर में बंगाल से लेकर सिन्धु एवं गुजरात प्रदेश तक फैले हुए थे और उनमें हिन्दू और मुसलमान सभी जाति के व्यक्ति थे। फिर कबीर तो 'मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ' के अनुसार अपनी बानियों को लिखते न थे, उनके शिष्य ही उन्हें स्थान-स्थान पर लिखा करते थे। अतएव उन अनुलिपि-कर्त्ताओं ने भी उन बानियों में अपनी-अपनी बोली का पुट दे दिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसके अतिरिक्त, इस सम्मिश्रण का चौथा कारण यह भी हो सकता है कि कबीर के शिष्य-प्रशिष्य भिन्न-भिन्न वर्ग एवं भिन्न-भिन्न प्रान्तों के थे। वे जब कभी कबीर की बानी को अपने विचारों की पुष्टि के लिए उद्धृत करते होंगे, तब उसमें अपनी विशेषता, अपने प्रान्त की विशेषता तथा अपने अशिक्षित होने

की विशेषता भी जोड़ देते होंगे, क्योंकि जब बहुत से शिक्षित व्यक्ति ही किसी कवि के उद्धरण को अपनी बोली के अनुकूल ढालकर बोला करते हैं, तब फिर कबीर के शिष्य तो प्रायः अशिक्षित जन ही थे। अतः उनसे ऐसी भूल हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। यही कारण हैं कि कबीर की वानियों की भाषा में एकरूपता नहीं हैं, वह विभिन्न वोलियों का मिश्रित रूप बन गई है और उस पर कहीं पूरबी और कहीं पछाहीं रंग चढ़ा हुआ दृष्टिगोचर होता है।

इतना होने पर भी कबीर की भाषा में सरलता एवं सादगी है, उसमें नूतन प्रकाश देने की अद्‌भुत शक्ति है और वह आडम्बरप्रियता एवं अलंकृति से बहुत दूर है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर की सांकेतिक एवं प्रतीकात्मक वर्णन-प्रणाली को देखकर कबीर की भाषा की गणना 'सन्ध्या-भाषा' की परम्परा में की है। परन्तु डा० सरनामसिंह का मत है कि "कबीर की भाषा को सन्ध्या-भाषा से सम्बन्धित कदापि नहीं किया जा सकता, क्योंकि सन्ध्या-भाषा के प्रवर्त्तकों (सिद्धों) का जो लक्ष्य था, उससे कबीर का लक्ष्य सर्वथा भिन्न था। जबकि पहले लोग भोली-भाली जनता को भ्रान्ति में डालना चाहते थे, कबीर उसे शान्ति के पथ पर ले जाना चाहते थे। सिद्धों की भाषा गुमराह करने वाली थी और कबीर की भाषा राह दिखाने वाली थी।"[1] इसलिए कबीर की भाषा को 'संध्या-भाषा' कहना कदापि उचित नहीं है। कबीर की भाषा तो उस स्रोतस्विनी के समान प्रवाहित हुई है, जो ऊबड़-खाबड़ पर्वतीय मार्गों में भी अपनी राह बनाती हुई कल-कल निनाद के साथ आगे बढ़ती चली जाती है।

अतएव कबीर की भाषा के बारे में यह कहा जा सकता है कि वह सांकेतिक एवं प्रतीकात्मक होते हुए भी ओजपूर्ण है, रहस्यात्मक होते हुए भी सशक्त है, अनगढ़ एवं विकृत होते हुए भी मर्मस्पर्शिनी है, सधुक्कड़ी एवं वैविध्यपूर्ण होकर भी प्रवेग एवं प्रेषणीयता से ओतप्रोत है, उसमें कहीं-कहीं क्लिष्टता एवं दुर्बोधता होते हुए भी प्रसाद गुण है और वह अपरिष्कृत एवं अपरिमार्जित होते हुए भी विलक्षण प्रभाव एवं अद्‌भूत चमत्कार से परिपूर्ण है। कबीर की भाषा में व्यंग्य करने एवं चुटकी लेने की अपूर्व क्षमता है, उसमें सीधा वार करने की अद्‌भुत शक्ति है और वह ऐसी गहरी चोट करती है, कि चोट खाने वाला धूल झाड़कर चल देने के सिवाय और कुछ नहीं सोच पाता। उसमें स्वेच्छानुकूल अभिव्यक्ति का अपूर्व गुण है और निश्चय ही उसमें कबीर को 'वाणी का डिक्टेटर' बनाने की विलक्षण शक्ति है। इसी कारण यह स्पष्ट है कि कबीर की भाषा ओजपूर्ण है, तेजस्वितापूर्ण है और वह बाह्याडम्बरों से सुसज्जित न होकर भी अनुपम उक्ति-वैचित्र्य एवं अद्‌भूत अर्थ-सौष्ठव से परिपूर्ण है।

---

[1] कबीर एक विवेचन, पृ० २६९।

चार

मलिक मुहम्मद जायसी

सूफी प्रेम-काव्य-धारा में जायसी का स्थान ●
जायसी की प्रबन्ध-कल्पना ●
पदमावत का महाकाव्यत्व ●
पदमावत का काव्य-सौष्ठव ●
वस्तु-वर्णन ●
प्रकृति-चित्रण ●
भाव एवं रस का निरूपण ●
अलंकार-निरूपण ●
छन्द-योजना ●
जायसी की प्रेम-पद्धति ●
9m/084 जायसी का विरह-वर्णन ●
जायसी का रहस्यवाद ●
कबीर और जायसी के रहस्यवाद की तुलना ●

४

मलिक मुहम्मद जायसी

सूफी प्रेम-काव्य-धारा में जायसी का स्थान

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत सूफी प्रेम-काव्य-धारा का आरम्भ मुल्ला दाऊद की 'चन्दायन' नामक प्रेम-कथा से माना जाता है। यद्यपि जायसी की 'पदमावत' में कुछ अन्य प्रेम-कथाओं का भी उल्लेख मिलता है; जैसे 'सपनावति', 'मुगुधावति', 'मिरगावति', 'खण्डावति', 'मधुमालति' तथा 'प्रेमावति',[1] तथापि इनमें से केवल 'मृगावती' और 'मधुमालती' ही उपलब्ध हैं। शेष कथाएँ अभी तक प्राप्त नहीं हुई हैं। मुल्ला दाऊद की 'चन्दायन' नामक प्रेम-कथा का भी उल्लेख अब्दुल कादिर बदायूँनी के 'मुतखवुतवारीख' नामक इतिहास-ग्रन्थ में ही मिलता है, जिसमें बताया गया है कि हिन्दवी की मसनवी में 'नूरक व चन्दा' के प्रेम का वर्णन मुल्ला दाऊद ने किया था।[2] इससे अधिक इस रचना के बारे में भी कोई विवरण नहीं मिलता। हिन्दी के उपलब्ध प्रेम-काव्यों में से कुतबन की 'मिरगावती' सबसे प्राचीन रचना है। उसमें गणपति देव के राजकुमार और कंचनपुर के राजा रूपमुरारि की पुत्री मृगावती के प्रेम की कथा को बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यह रचना हिजरी सन् ९०९ अथवा ई०

---

[1] विक्रम धँसा प्रेम के बारा, 'सपनावति' कहँ गयउ पतारा।
मधू पाछ 'मुगुधावति' लागी, गगनपूर होइगा बैरागी॥
राजकुंवर कंचनपुर गयऊ, 'मिरगावति' कहँ जोगी भयऊ।
साध कुंवर 'खण्डावत' जोगू, 'मधुमालति' कर कीन्ह वियोगू॥
'प्रेमावति' कहँ सुरसरि साधा, उषा लगि अनिरुध बर बाँधा।
—जायसी ग्रन्थावली, पृ० १०७-१०८

[2] मुतखबुतवारीख (भाग २), पृ० २५०।

सन् १५०३ की मानी जाती है। इसके साथ ही सं० १५०० से १५५० (१०४३ ई० से १४७३ ई०) के बीच में नारायणदास तथा रत्नरंग कृत 'छिताईवार्ता' मिलती है जिसमें अलाउद्दीन और देवगिरि के राजा रामदेव की लड़की छिताई को आधार बनाकर काव्य-रचना की गई है। इसके अनन्तर सूफी प्रेम-काव्यों में सबसे प्रसिद्ध जायसी कृत 'पदमावत' काव्य आता है। इसका रचनाकाल हिजरी सन् ९२७, सन् १५२० ई० है। इसके अनन्तर मंझन कृत 'मधुमालती' काव्य मिलता है, जो हि० सन् ९५२ की रचना है तथा जिसमें कनेसर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर तथा महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती के प्रेम की कथा वर्णित है। इसके उपरान्त उसमान कृत 'चित्रावली' काव्य आता है, जो हि० सन् १०२२ की रचना है तथा जिसमें पाल के राजा धरनीधर के पुत्र सुजान और रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली के प्रेम की कथा दी गई है। तदुपरान्त जानकवि कृत २१ सूफी प्रेम-काव्य मिलते हैं, जिनके नाम क्रमशः रत्नावती, लैला-मजनू, रतन-मंजरी, नल-दमयन्ती, पहुप-वरिषा, कमलावती, छविसागर, कामलता, कलावती, छीता, रूपमंजरी, मोहिनी चन्द्रसेन, सीलनिधान, कामरानी, पीतमदास, कला-कलन्दर की कथा, देवलदेवी, कनकावती, कौतूहल सुमरराह तथा बुद्धिसागर हैं।[1] इनमें से 'कनकावती', 'कामलता' तथा 'छीता' अधिक प्रसिद्ध हैं। 'कनकावती' में भरथनेर के राजकुमार परमरूप तथा सिंघपुरी की राजकुमारी कनकावती के प्रेम की कथा है, 'कामलता' में हंसपुरी नगरी के राजा रसाल तथा सुन्दरपुरी की शासिका कामलता के प्रेम की कथा है, तथा छीता में देवगिरि के राजा की पुत्री छीता तथा राजाराम के प्रेम की कथा मिलती है तथा इस कथा पर जायसी के 'पदमावत' का पर्याप्त प्रभाव है, क्योंकि 'पदमावत' की भाँति छीता में भी अलाउद्दीन के आक्रमण आदि का वर्णन किया गया है। जानकवि के ही समकालीन कवि शेखनवी कृत 'ज्ञानदीप' नामक प्रेम-काव्य मिलता है, जिसमें रानी देवजानी तथा राजा ज्ञानदीप के प्रेम-सम्बन्ध का वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर कवि कासिमशाह कृत 'हंस-जवाहिर' नामक प्रेम-काव्य उपलब्ध होता है, जो हिजरी सन् ११४९ की रचना है तथा जिसमें बलखनगर के सुलतान बुरहानशाह के राजकुमार हंस तथा चीन देश के राजा आलमशाह की पुत्री जवाहर के प्रेम का वर्णन मिलता है। इसके बाद कवि नूरमुहम्मद कृत 'इन्द्रावती' और 'अनुराग बाँसुरी' नामक प्रेम-काव्य मिलते हैं, जिनका रचनाकाल क्रमशः हि० सन् ११५७ तथा ११७८ है और जिनमें से 'इन्द्रावती' में कालिंजर के राजा भूपति के पुत्र राजकुँअर तथा आगमपुर नगर के राजा जगपति की कन्या इन्द्रावती के प्रेम का वर्णन है और 'अनुराग बाँसुरी' में मूरतिपुर' नगर के राजा जीव के पुत्र अन्तःकरण तथा स्नेहनगर के राजा दर्शनराय की पुत्री सर्वमंगला के प्रेम की गाथा वर्णित है। तदनन्तर कवि निसार कृत 'यूसुफ-

---

[1] **जायसी के परवर्ती हिन्दू सूफी कवि और काव्य—डॉ० सरला शुक्ला, पृ० १३९।**

जुलेखा' काव्य मिलता है, जिसकी रचना हि० सन् १२०५ में हुई थी और जिसमें किनआँ नगर नवी याकूब के पुत्र यूसुफ और पश्चिम देश के सुलतान तैमूर की पुत्री जुलेखा के प्रेम की कथा वर्णित है। यह कथा शामी परम्परा पर आधारित है। इसके पश्चात् ख्वाजा अहमद कृत 'नूरजहाँ' काव्य मिलता है, जो हि० सन् १३१३ की रचना है तथा जिसमें सरनद्वीप के अन्तर्गत ईरानगढ़ नगर के सुल्तान मलिकशाह के पुत्र कुरशेदशाह और खुतन शहर के सुल्तान खबरशाह की पुत्री नूरजहाँ के प्रेम की कथा वर्णित है। इसके अनन्तर शेख रहीम कृत 'प्रेमरस' नामक प्रेम-काव्य मिलता है, जो हि० सन् १३१३ की रचना है तथा जिसमें रूपनगर के राजा रूपसेन की पुत्री चन्द्रकला और वहाँ के मन्त्री मधुसेन के पुत्र प्रेमा के प्रेम का वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् कवि नसीर कृत 'प्रेमदर्पण' नामक प्रेम-काव्य मिलता है, जो हि० सन् १३३५ की रचना है तथा इसमें भी यूसुफ और जुलेखा के प्रेम का ही वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त अलीमुरीद कृत 'कुँवरावत', हुसेन अलीन उपनाम सदानन्द कृत 'पुहुपावती' तथा शाहजनक अली सलोनी कृत 'प्रेम चिनगारी' नामक प्रेम-काव्य भी उपलब्ध होते हैं।

सूफियों के उक्त सभी प्रेम-काव्य प्रवन्धकाव्य हैं और इनमें सर्वत्र राजकुमारों एवं राजकुमारियों के प्रेम का वर्णन मिलता है। इनके कथानक भी प्रायः काल्पनिक घटनाओं पर ही आधारित हैं, किन्तु कहीं-कहीं ऐतिहासिक घटनाओं को भी जोड़ दिया गया है। ये सभी कवि अपने कथानक की घटनाओं को यथावत् स्वाभाविक रूप में अन्त तक ले जाने की चेष्टा करते हैं, साथ ही कथा के अन्तर्गत आध्यात्मिक विचारों का पुट भी देते चलते हैं तथा कथा की समाप्ति पर अपनी-अपनी कथा को एक रूपक का अंग बना देते हैं। इस तरह सभी सूफी प्रेमकाव्य एक कथा-रूपक (Allegory) के ढंग पर निर्मित हुए हैं। अब यदि जायसी के पूर्ववर्ती कवि शेख कुतवन के 'मृगावती' काव्य को देखें, तो पता चलेगा कि न तो उसमें कथा की सुन्दर योजना ही है और न उतना काव्य-सौष्ठव ही है जितना कि जायसी के 'पदमावत' में दृष्टिगोचर होता है। उसके अतिरिक्त जायसी के परवर्ती प्रेम-काव्य तो पूर्णतया 'पदमावत' से ही प्रभावित जान पड़ते हैं। उसमान का 'चित्रावली' काव्य तो 'पदमावत' की ही छाया मात्र है।[1] इसी तरह अन्य सूफी कवियों में भी 'पदमावत' को ही अपना आदर्श वनाया गया है और उसी के अनुसार घटनाओं एवं सूफी सिद्धान्तों की योजना की गई है। इतना ही नहीं, 'पदमावत' की ही भाँति इन परवर्ती काव्यों में नायक-नायिका के संयोग-वियोग, आमोद-प्रमोद, विघ्न-बाँधा आदि का उल्लेख किया गया है। फिर भी कोई परवर्ती सूफी कवि जायसी की समता को प्राप्त नहीं हो सका है, क्योंकि जायसी का 'पदमावत-काव्य' सर्वथा अनुपम एवं अद्वितीय है, उसमें सरल एवं आलंकारिक भाषा के अन्तर्गत इतिवृत्तात्मकता के साथ-साथ रसात्मकता एवं

---

[1] हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३२१।

कौतूहल की जैसी सृष्टि की गई है, वैसी अन्यत्र कहीं किसी सूफी काव्य में दृष्टिगोचर नहीं होती। इसके साथ ही जायसी ने नागमती के विरह का जैसा मनोवैज्ञानिक एवं मर्मस्पर्शी वर्णन किया है, वैसा कोई भी अन्य सूफी कवि नहीं कर सका है। इतना ही नहीं, जायसी को लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम के वर्णन में भी अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है। जायसी कृत 'पदमावत' समस्त सूफी काव्यों में सर्वश्रेष्ठ है, उसमें प्रेम-काव्य का सुन्दर एवं सजीव आदर्श प्रस्तुत किया गया है तथा भारतीय जीवन-पद्धति के साथ-साथ सूफी सिद्धान्तों का अदभुत सम्मिश्रण किया गया है। अतएव अपनी उर्वर कल्पना, प्रखर प्रतिभा एवं उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति के कारण ही जायसी हिन्दी के सम्पूर्ण सूफी कवियों में मूर्धन्य स्थान के अधिकारी हैं और इसी कारण वे हिन्दी की सूफी प्रेत्र-काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि हैं।

जायसी की प्रबन्ध-कल्पना

आचार्य वामन ने पूर्वापर सम्बन्ध की दृष्टि से काव्य के दो भेद किए हैं—अनिबद्ध काव्य और निबद्ध काव्य। इनमें से अनिबद्ध काव्य 'मुक्तक' कहलाता है और निबद्ध को 'प्रबन्धकाव्य' कहते हैं।[1] इसके साथ ही आचार्य वामन ने मुक्तक तथा प्रबन्ध को क्रमशः मुकुट एवं माला के तुल्य कहा है।[2] इससे स्पष्ट है कि मुक्तक में मुकुट के समान विशृंखलता एवं स्वतन्त्रता रहती है तथा प्रबन्धकाव्य माला के तुल्य सुसम्बद्ध एवं सुगठित होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी मुक्तक एवं प्रबन्धकाव्य का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि "यदि प्रबन्धकाव्य एक विस्तृत वनस्थली है, तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता।"[3] इस तरह प्रबन्धकाव्य में सुसम्बद्धता, पूर्वापर सम्बन्ध तथा एक तारतम्य होता है। प्रबन्ध काव्य के लिए आवश्यक तत्त्वों का विवेचन करते हुए आनन्दवर्धनाचार्य ने 'ध्वन्यालोक' में—(१) ऐतिहासिक या कल्पित वृत्त, (२) प्रासंगिक कथा-योजना, (३) नाटकीय संधि-संध्यंगों की योजना, (४) रसात्मक वर्णनों का प्राधान्य तथा (५) अलंकारों की रसानुरूप योजना नामक पाँच तत्त्व आवश्यक बताये हैं।[4] अरस्तू ने एक प्रबन्ध-काव्य के लिए सात बातें आवश्यक बताई हैं—(१) कथानक की नाटकीय ढंग से योजना, (२) उसमें किसी पूर्ण कार्य का उल्लेख, (३) कथा में आरम्भ, मध्य एवं अवसान की योजना, (४) कथानक का सरल या मिश्रित, नैतिक या कष्टपूर्ण होना, (५) त्रासदी की भाँति उसमें भी परिवर्तन, अनुसन्धान एवं आपत्तियों की योजना, (६) भव्य एवं आकर्षक शैली और (७) प्रासंगिक कथाओं की सुसम्बद्ध योजना।[5]

---

[1] अनिबद्धं मुक्तकं निबद्धं प्रबन्धरूपमिति प्रसिद्धिः।

—काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १।३।२७

[2] काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १।३।२८

[3] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २४७

[4] हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० ३१।१०-१४

[5] पोइटिक्स, पृ० ४६-४८

इसके अतिरिक्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्ध काव्य के लिए दो ही आवश्यक तत्त्व स्वीकार किये हैं—(१) इतिवृत्तात्मकता और (२) रसात्मकता। इतिवृत्तात्मकता से तात्पर्य ऐसी मुख्य कथा से है, जो आदि से अन्त तक चलती है तथा रसात्मकता से अभिप्राय उन प्रासंगिक वस्तु वर्णनों से है, जिनमें जीवन-दशा के मार्मिक चित्र प्रस्तुत किए जाते हैं और जो हृदय को रमाने की सामर्थ्य रखते हैं।[1] इस प्रकार विभिन्न विद्वानों के विचारों का अध्ययन करने के उपरान्त यह पता चलता है कि एक प्रबन्ध-काव्य के लिए निम्नलिखित पाँच बातें आवश्यक प्रतीत होती हैं—

१. उसमें आदि, मध्य एवं अवसान सहित एक प्रकथन-पूर्ण सानुबन्ध मुख्य कथा होनी चाहिए,
२. उसमें प्रासंगिक कथाओं की सुसम्बद्ध योजना होनी चाहिए,
३. उसमें रसात्मक वस्तु-वर्णनों का प्राधान्य होना चाहिए,
४. प्रासंगिक कथाओं एवं वस्तु-वर्णनों का मुख्य कथा से पूर्णतः सम्बन्ध-निर्वाह होना चाहिए, और
५. 'कार्य' की दृष्टि से समस्त इतिवृत्त में एकरूपता होनी चाहिए।

(१) **प्रकथन-पूर्ण सानुबन्ध कथा**—प्रबन्धकाव्य के इस प्रथम तत्त्व के आधार पर जब 'पदमावत' पर विचार किया जाता है तब पता चलता है कि इसमें पद्मावती और राजा रत्नसेन के विरह एवं मिलन की एक सुसम्बद्ध कथा है, जिसमें राजा रत्नसेन के योगी होकर सिंहलद्वीप की यात्रा करने से लेकर पद्मावती के चित्तौड़ आगमन तक की कथा पूर्णतया कल्पित है, किन्तु चित्तौड़ में राजा रत्नसेन द्वारा राघवचेतन के निकाले जाने से लेकर पद्मावती के सती होने तक की कथा ऐतिहासिक आधार पर नियोजित है। इसके साथ ही पद्मावती के जन्म से लेकर राजा रत्नसेन द्वारा सिंहलगढ़ के घेरने तक की घटनाओं को कथा का 'आदि भाग' कह सकते हैं, पद्मावती और रत्नसेन के विवाह से लेकर दोनों के सिंहलद्वीप के प्रस्थान तक की घटना को कथा का 'मध्य भाग' कहा जा सकता है, और राघवचेतन के चित्तौड़ से निकाले जाने से लेकर पद्मावती के सती होने तक की घटनाओं को कथा का 'अवसान' कह सकते हैं। इस प्रकार 'पदमावत' की सानुबन्ध कथा आदि, मध्य और अवसान से भी सम्बद्ध है और उसमें कथा-प्रवाह आदि से अन्त तक अबाध गति से प्रवाहित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। सारी कथा प्रकथन-पूर्ण है, क्योंकि कवि ने कथोपकथनों के साथ-साथ कथात्मक शैली के आधार पर ही इस प्रेमाख्यान को पद्य रूप दिया है, जिसके परिणामस्वरूप कथा में जितनी भी घटनाओं की योजना की गई है, वे सभी घटनाएँ कथा के प्रवाह को आगे बढ़ाती हुई मुख्य कथानक को इतिवृत्तात्मक रूप प्रदान करती हैं और कथा की धारावाहिकता में पूर्ण योग देती हैं। इससे सम्पूर्ण कथा शृंखलाबद्ध हो गई है और कथा-प्रवाह कहीं भी खण्डित नहीं हुआ है।

---

[1] **जायसी ग्रन्थावली (भूमिका), पृ० ६८।**

(२) **प्रासंगिक कथा-योजना**—प्रवन्धकाव्य की कथावस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारिक और प्रासंगिक। मुख्य कथा को 'आधिकारिक' कथावस्तु कहते हैं और उससे भिन्न जो अन्य कथाएँ बीच-बीच में आती हैं, उन्हें 'प्रासंगिक' कथावस्तु कहते हैं। 'पदमावत' में कितनी ही प्रासंगिक कथाएँ आई हैं; जैसे—हीरामन तोता तथा ब्राह्मण का वृत्तान्त, महादेवी-पार्वती के आगमन का वृत्तान्त, समुद्र और लक्ष्मी का वृत्तान्त, राघवचेतन का वृत्तान्त, अलाउद्दीन के चित्तौड़ आक्रमण का वृत्तान्त, गोरा-बादल की कथा, राजा देवपाल और उसकी दूती की कथा आदि। परन्तु विशेषता यह है कि ये सभी प्रासंगिक कथाएँ आधिकारिक कथा से सुसम्वद्ध हैं, किसी का भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है और ये सभी कथाएँ मुख्य कथा के प्रवाह को आगे बढ़ाने में समर्थ हुई हैं। आचार्य शुक्ल ने कथा-योजना की दृष्टि से दो प्रकार के प्रबन्ध काव्य वताए हैं—(१) "व्यक्ति-प्रधान;' जैसे—रघुवंश, बुद्धचरित आदि तथा (२) घटना-प्रधान; जैसे—कुमार-सम्भव, किरातार्जुनीय, शिशुपाल वध आदि। इनमें से व्यक्ति-प्रधान प्रबन्धकाव्य में 'नायक के जीवन की सारी मुख्य घटनाओं का वर्णन गौरव-वृद्धि या गौरव-रक्षा के ध्यान से अवश्य कहीं कुछ उलट-फेर के साथ होता है तथा घटना-प्रधान प्रबन्धकाव्य में कवि की दृष्टि किसी मुख्य घटना पर होती है और उसका सारा वस्तु-विन्यास उस घटना के उपक्रम के रूप में होता है।"[1] इस दृष्टि से 'पदमावत' दूसरी कोटि का प्रबन्धकाव्य है। इसमें सारी घटनाएँ एक ही मुख्य घटना को दृष्टि में रखकर चली हैं और वह मुख्य घटना है—राजा रत्नसेन और पद्मावती का इहलोक एवं परलोक में अनन्य मिलन। अतएव सारी प्रासंगिक कथाएँ यहाँ पूर्णतया सुसम्बद्ध हैं।

(३) **रसात्मक वस्तु-वर्णन**—'पदमावत' की कथा के अन्तर्गत कवि ने ऐसे अनेक स्थल चुन लिए हैं, जिनमें उसने अपने वस्तु-वर्णन का कौशल दिखाया है तथा जो रसात्मक होने के कारण पाठकों की रागात्मिका प्रकृति का उद्बोधन करते हुए उनके हृदय को भाव-विभोर करने में पूर्ण समर्थ हैं। इनमें से सिंहलद्वीप-वर्णन, पद्मावती के रूप-सौंदर्य का वर्णन, जलक्रीड़ा-वर्णन, राजा रत्नसेन की सिंहलद्वीप-यात्रा-वर्णन, पद्मावती तथा रत्नसेन के विवाह का वर्णन, चित्तौढ़गढ़-वर्णन, षड्ऋतु एवं बारहमासे के साथ-साथ नागमती के विरह का वर्णन, बादशाह के भोज का वर्णन, गोरा-बादल के युद्ध का वर्णन, नागमती तथा पद्मावती के सती होने का वर्णन आदि प्रसिद्ध हैं, जो 'पदमावत' के रमणीय स्थल हैं तथा जिनमें प्राकृतिक छटा के साथ-साथ मानव की सौन्दर्यानुभूति के भी दर्शन होते हैं, जिन्हें पढ़ते ही हमारी रागात्मिका-वृत्ति झंकृत हो उठती है तथा हम भाव-विभोर होकर आनन्द-वारिधि में डुबकियाँ लगाने लगते हैं। उदाहरण के लिए, पद्मावती के रूप-सौन्दर्य का वर्णन ले सकते हैं जिसमें कवि ने पद्मावती को अद्भुत एवं अलौकिक सौन्दर्य से युक्त सिद्ध करते

---

[1] जायसी ग्रन्थावली (भूमिका) पृ० ७३।

के लिए उसके काले-काले सहज सचिक्कण केशों के बारे में लिखा है कि पद्मावती मानो मालती पुष्प है और उसके केश उस पुष्प पर मँडराने वाले भ्रमर हैं; अथवा ये केश जहरीले नागों की भाँति लहराते हुए उसकी सुगन्धि ले रहे हैं और जब वह अपने जूड़े को खोलकर बालों को झाड़ने लगती है तब उसके केशों की श्यामता के कारण स्वर्ग और पाताल में सर्वत्र अन्धकार छा जाता है।[1] ऐसे ही उसकी माँग का वर्णन करते हुए लिखा है कि बिना सिंदूर के पद्मावती की श्वेत माँग ऐसी लगती है, जैसे दीपक की ज्योति अथवा अँधेरी रात में उजियारी पगडण्डी; अथवा कसौटी पर कसी हुई स्वर्ण की रेखा अथवा बादल में चमकती हुई दामिनी की रेखा या नीले आकाश में सूर्य की कोई विशेष चमकती हुई किरण अथवा श्याम रङ्ग की यमुना के बीच सरस्वती की श्वेत रङ्ग की पतली धारा।[2] ऐसे ही बाँके नयनों का वर्णन करते हुए लिखा है कि उन नेत्रों के चलते ही सारा संसार डोलायमान हो जाता है और बड़ी-बड़ी स्थिर वस्तुएँ पल भर में उलट जाती हैं, क्योंकि उन नेत्रों में संसार के भँवर-चक्र की-सी ऐसी गति है कि जब वे फिरते हैं तो अपनी लपेट में आकाश को भी डुबो देते हैं।[3] ऐसे ही पद्मावती की नासिका को खड्ग, तोता, तिल के फूल से भी अधिक सुन्दर बताते हुए कहा है कि समस्त फूल इस आशा में अपने अन्दर सुगन्ध धारण करते हैं कि शायद वह हमें अपनी अनुपम नासिका से लगाकर हमारी सुगन्ध ग्रहण कर ले।[4] उसके सुन्दर एवं रङ्गीन होठ अमृत रस से परिपूर्ण हैं तथा बिम्बाफल भी उसके होठों के सौंदर्य से लज्जित होकर वन में जाकर फलने लगे हैं।[5] उसके दाँतों की ज्योति जिस दिन निर्मित हुई थी, उसी दिन संसार की अन्य बहुत-सी ज्योतियाँ प्रकट हुई थीं। उसी ने सूर्य, चाँद और तारों को अपनी ज्योति प्रदान की है और माणिक्य, मोती तथा अन्य रत्न पदार्थ भी उसी की ज्योति से देदीप्यमान हैं।[6] ऐसे ही जायसी ने पद्मावती की अमृत रस-पूर्ण रसना, सुन्दर कपोल, सुडौल गर्दन, कोमल कलाई, स्वर्णिम वक्षस्थल, चन्दन चर्चित उदर, लहराती हुई वेणी, सुगन्धित शरीर, गम्भीर नाभि, मांसल एवं पुष्ट नितम्ब, सूक्ष्म कटि आदि का अत्यन्त सरस एवं सजीव वर्णन

---

१. भँवर केस वह मालति रानी, बिसहर लुहिर लेहिं अरघानी।
बेनी छोरि झारु जौं बारा, सरग पतार होइ अँधियारा।
२. बिनु सेंदुर अस जानहु दिया, उजिअर पंथ रैनि महँ किया।
कंचन रेख कसौटी कसी, जनु घन महँ दामिनि परगसी।
सूरुज किरनि जस गगन बिसेखी, जमुना माँझ सरसुती देखी।
३. जग डोलै डोलत नैनाहाँ, उलटि अड़ार जाहिं पल माहाँ।
जबहिं फिराबहिं गगन गहि बोरा, अस वै भँवर चक्र के जोरा।
४. पुहुप सुगंध करहिं एहि आसा, मकु हिरकाइ लेइ हम्ह पासा।
५. अधर सुरङ्ग अमिअ रस भरे, बिम्ब सुरङ्ग लाजि बन फरे।
६. जेहि दिन दसन जोति निरमई, बहुतै जोति जोति ओहि भई।
रवि ससि-नखत दिपहिं ओहि जोती, रतन पदारथ मानिक मोती।

करते हुए उसके नख-शिख का दिव्य एवं अलौकिक सौंदर्य-युक्त निरूपण किया है। जायसी के अन्य वस्तु-वर्णन भी ऐसे ही अद्भुत सौंदर्य के साथ-साथ सरल एवं सजीव हैं।

(४) **सम्बन्ध-निर्वाह**—प्रबन्धकाव्य में सबसे बड़ी विशेषता ही यह होती है कि उसमें जितनी भी प्रासङ्गिक कथाएँ आई हों तथा जितने भी वस्तु-वर्णन हों, उन सबका सम्बन्ध मुख्य एवं आधिकारिक कथा से हो तथा वे मुख्य कथा के प्रवाह में बाधक न होकर साधक हों। इस दृष्टि से जब 'पदमावत' की प्रासङ्गिक कथाओं एवं वस्तु-वर्णनों पर विचार किया जाता है तो पता चलता है कि इसकी प्रासङ्गिक कथाएँ आधिकारिक कथा को अग्रसर करने में पूर्णतया सहायक सिद्ध हुई हैं। जैसे, हीरामन तोता की कथा द्वारा कवि ने उसके पांडित्य एवं पथ-प्रदर्शक कार्य की महत्ता को प्रदर्शित किया है, जिससे वह आगे चलकर राजा रत्नसेन और पद्मावती को मिलाने में सहायक होता है। महादेव एवं पार्वती के आगमन की कथा द्वारा कवि ने भारत की प्राचीन परम्परा के साथ अपनी कथा का सम्बन्ध स्थापित किया है, क्योंकि भारत में पहले से ही ये बातें प्रचलित थीं कि योगियों एवं सिद्धों की परीक्षा महादेव एवं पार्वती लिया करते हैं और जब उनकी परीक्षा में कोई योगी उत्तीर्ण हो जाता है, तब वे उसे सिद्धि प्राप्त कराने में पूर्ण सहयोग प्रदान करते हैं। समुद्र और लक्ष्मी के वृत्तांत द्वारा कवि ने पुनः साधना-पथ की बाधाओं के साथ-साथ नायक एवं नायिका के अनन्य प्रेम की परीक्षा का अवसर निकाल लिया है, जिसमें नायक उत्तीर्ण होकर नायिका को पुनः प्राप्त कर लेता है। राघवचेतन के वृत्तान्त द्वारा कवि ने पुनः प्रेम-मार्ग की बाधाओं का उल्लेख करके अलाउद्दीन के आक्रमण तथा राजा के बन्दी होने के द्वारा नायक-नायिका के विछोह का अवकाश निकाल लिया है तथा वीरपाल और उसकी दूती के वर्णन द्वारा नायिका के प्रेम की दृढ़ता का विवेचन किया है। इस तरह सभी प्रासंगिक कथाएँ मुख्य कथा-प्रवाह को आगे बढ़ाती हुई प्रबन्ध के सम्बन्ध-निर्वाह में साधक सिद्ध हुई हैं। यही दशा वस्तु-वर्णनों की भी है। सिंहलद्वीप का वर्णन, चित्तौड़गढ़ का वर्णन, पद्मावती का नख-शिख-वर्णन, विरह-वर्णन, युद्ध-वर्णन आदि सभी रसात्मक स्थल मुख्य कथा में सरसता का संचार करते हुए कथा-प्रवाह को मधुर एवं मर्मस्पर्शी बनाने में सफल सिद्ध हुए हैं। इन रसात्मक वस्तु-वर्णनों के द्वारा मुख्य कथा रोचक, मनोहर एवं सहृदय संवेद्य हो गई है। उसकी शुष्कता एवं नीरसता जाती रही है तथा उसमें भावात्मकता एवं रसात्मकता का प्राधान्य हो गया है और कहीं भी कथा विशृंखलित नहीं हो सकी है।

(५) **कार्य की दृष्टि से एकरूपता**—'पदमावत' का 'कार्य' अथवा 'उद्देश्य' है—राजा रत्नसेन की मृत्यु होने पर पद्मावती और नागमती का सती होना दिखाकर लौकिक प्रेम को उस अलौकिक जगत् की वस्तु बना देना, जहाँ अनन्त शांति एवं चिर मिलन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जायसी ने अपने इसी 'कार्य' के आधार पर सम्पूर्ण प्रबन्ध-काव्य की योजना की है और सारी प्रासङ्गिक कथाओं एवं रसात्मक

वर्णनों के द्वारा इसी महान् उद्देश्य की पूर्ति करके अपने काव्य की समाप्ति की है। इसी 'कार्य' पर दृष्टि रखते हुए जायसी ने नाटक की सन्धियों के समान अपनी सम्पूर्ण कथा को विभिन्न भागों में विभक्त किया है और सम्पूर्ण प्रासङ्गिक कथाओं को माला के मनकों की भाँति इसी एक कार्य-सूत्र में पिरो दिया है। इतना अवश्य है कि नाटकीय सन्धियों की योजना के लिए जिस तरह प्रबन्धकाव्य विभिन्न वर्गों में विभक्त रहते हैं, उस तरह 'पदमावत' को सर्गों में विभक्त नहीं किया गया है, क्योंकि यह तो मसनवी पद्धति पर लिखा हुआ प्रबन्धकाव्य है और इसी कारण इसके कथानक है सन्धियाँ स्पष्ट दिखाई नहीं देतीं, फिर भी 'पदमावत' का कथानक कार्यान्विति से परिपूर्ण है, इसकी सारी कथाएँ एवं सभी वर्णन एक 'कार्य' की ओर ही इंगित कर रहे हैं और कवि ने कथानक के आदि, मध्य और अवसान द्वारा कार्य-संकलन की ओर पूर्ण ध्यान दिया है। वैसे सिंहलद्वीप से लौटते हुए समुद्र के तूफान का प्रसङ्ग तथा देवपाल की दूती का प्रसङ्ग 'कार्य' की दृष्टि से कुछ दूर की वस्तु दिखाई देती हैं, परन्तु ध्यान से देखा जाय तो पता चलेगा कि इन दोनों प्रसङ्गों द्वारा जायसी ने केवल भाग्य की अस्थिरता, संयोग की आकस्मिकता, विरह-विह्वलता एवं लोभ के विरुद्ध शिक्षा देने की ही योजना नहीं की है,[1] अपितु समुद्र से प्राप्त पाँच रत्नों के कारण ही अलाउद्दीन द्वारा राजा के बन्धन में पड़ने तथा देवपाल के कारण ही राजा की मृत्यु का वर्णन करके 'कार्य' के साथ ही उक्त घटनाओं का प्रबन्ध जोड़ दिया है।

अतः स्पष्ट है कि जायसी के 'पदमावत' में विभिन्न घटनाओं का वर्णन होकर भी सुसम्बद्धता है, रोमांचक एवं साहसिक कार्यों का उल्लेख होकर भी स्वाभाविकता है, अलौकिक एवं अतिमानवीय तत्त्वों का समावेश होकर भी जीवन की यथार्थता है, उपदेशात्मक एवं सैद्धान्तिक विवेचनों की भरमार होकर भी सरलता एवं मार्मिकता है, भौतिकता एवं अश्लीलता का पुट होकर भी आध्यात्मिकता है और सूफी पद्धति का अनुसरण होकर भी भारतीय प्रेम, वीरता एवं वैराग्य का सफल सामंजस्य है। इसी कारण जायसी की प्रबन्ध-कल्पना उच्च कोटि की है और जायसी का 'पदमावत' मानव-जीवन की विविधता के साथ-साथ रसात्मक वर्णनों एवं आध्यात्मिक संकेतों से परिपूर्ण एक सफल प्रबन्धकाव्य है।

पदमावत का महाकाव्यत्व

जायसी का प्रबन्धकाव्य 'पदमावत' मसनवी पद्धति पर लिखा हुआ महाकाव्य है। अतः इसमें सर्गबद्धता तो नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण कथा वस्तु-वर्णनों एवं घटनाओं के आधार पर खण्डों में विभाजित है। जैसे, सिंहलद्वीप-वर्णन-खण्ड, जन्म-खण्ड, मानसरोदक-खण्ड, रत्नसेन-जन्म-खण्ड, नख-शिख-खण्ड, पदमावती-वियोग-खण्ड, राजगढ़-छेका-खण्ड, बादशाह-चढ़ाई-खण्ड, गोरा-बादल-युद्ध-खण्ड आदि। इस प्रकार इनकी

---

[1] जायसी-ग्रन्थावली (भूमिका), पृ० ७४।

सम्पूर्ण कथा ५८ खण्डों में विभक्त है। इसका कथानक मुख्यतया दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। रत्नसेन द्वारा पद्मावती की प्राप्ति और पद्मावती को लेकर चित्तौड़ आने तक की कथा इसका पूर्वार्द्ध है, जो पूर्णतया काल्पनिक है तथा राघव-चेतन के चित्तौड़ निष्कासन से लेकर सती-खण्ड तक कथा का उत्तरार्द्ध है, जो ऐतिहासिक आधार पर स्थित है। अतः इसकी कथा में कल्पना और इतिहास का सुन्दर समन्वय मिलता है और वह कथा रत्नसेन तथा पद्मावती की अनन्य प्रेम-गाथा के साथ-साथ कुमारियों की स्वच्छन्द क्रीड़ा, पति के विदेश गमन पर पत्नी के शोक, प्रेम-मार्ग के कष्ट, प्रिय के दण्ड सम्बन्धी सम्वाद को सुनकर प्रियतमा की करुण सहानुभूति, प्रिय के विच्छेद पर पत्नी की विरहावस्था, युद्ध-वर्णन, प्रियतमा की सतीत्व-परीक्षा, प्रिय की मृत्यु पर प्रियतमाओं का सहगमन आदि से परिपूर्ण होने के कारण गुरुता एवं गम्भीरता से ओतप्रोत है।

इस काव्य का नायक राजा रत्नसेन उत्साह, शौर्य, पराक्रम, दया-दाक्षिण्य, स्वाभिमान आदि श्रेष्ठ गुणों से विभूषित एक क्षत्रियकुलोद्भव वीर पुरुष है तथा इसकी नायिका पद्मावती अद्भुत एवं अलौकिक रूप-सौंदर्य के साथ-साथ अनुपम प्रेम, शौर्य, तेज, पतिपरायणता, दया, क्षमा, प्रेम की अनन्यता, आदि गुणों से युक्त होकर एक उच्चकुलोद्भव क्षत्रिय वंश की राजकुमारी है। इसमें श्रृंगार, वीर, शान्त, अद्भुत आदि सभी रसों का सजीव वर्णन मिलता है, किन्तु श्रृंगार एवं वीर रस का ही प्राधान्य है। नाटक की सभी सन्धियों की योजना तो दृष्टिगोचर नहीं होती, किन्तु कथा का विभाजन एक निश्चित योजना के अनुसार हुआ है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से इसका फल तो मोक्ष है, किन्तु शेष तीनों का वर्णन भी यथोचित रूप से मिल जाता है। इसमे 'सुमिरौं आदि एक करतारू' से आरम्भ होने के कारण पहले मङ्गला-चरण किया गया है तथा खल-निन्दा, सज्जन-प्रशंसा आदि का भी उल्लेख मिलता है। मसनवी पद्धति पर रचित होने के कारण पहले सर्वव्यापी कर्त्ता का स्तवन किया गया है, फिर मुहम्मदशाह की स्तुति की गई है। तदनन्तर तत्कालीन शेरशाह बादशाह की प्रशंसा की गई है, जो 'शाहेवक्त' कहलाती है, जिसमें उसके प्रताप, शौर्य एवं दान-शीलता का उल्लेख किया गया है। फिर अपनी गुरु-परम्परा का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् कवि ने अपनी संक्षिप्त जीवन-गाथा दी है और अपने घनिष्ट मित्रों का उल्लेख किया है। तदनन्तर अपने महाकाव्य की संक्षिप्त कथा देकर इसका श्रीगणेश किया है। इसमें नगर, दुर्ग, समुद्र, युद्ध, सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, यात्रा, मन्त्र-तन्त्र, ऋतु आदि के वर्णनों की बहुलता है तथा लोकाचार, शकुन, विभिन्न मेवे, फल, खाद्य-पदार्थ, अचार आदि के वर्णन भरे पड़े हैं। इसका नामकरण काव्य की नायिका के आधार पर किया गया है तथा शेष सभी खण्डों के नाम घटना एवं वस्तु-वर्णनों के आधार पर रखे गये हैं।

राजा रत्नसेन के साथ नागमती तथा पद्मावती के सती हो जाने पर भौतिक प्रेम का आध्यात्मिक प्रेम में परिणत होना ही इसका महान् उद्देश्य है, भारतीय लोक-

कथाओं के माध्यम से सूफी-सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए प्रेम को सर्वोपरि सिद्ध करना ही इसका महान् लक्ष्य है और आत्म-बलिदान एवं अनन्य प्रेम द्वारा ही अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है; यही इसका महान् सन्देश है। यद्यपि इसमें आए हुए लम्बे-लम्बे वर्णन तथा आध्यात्मिक संकेत इसके कथा-प्रवाह में बाधक हुए हैं और वे 'थिगली' से जान पड़ते हैं, तथापि सम्बन्ध-निर्वाह में कवि को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है और कोई भी प्रसंग अनावश्यक प्रतीत नहीं होता। विद्वानों की राय में इसका पूर्वार्द्ध तो कल्पित है ही, किन्तु उत्तरार्द्ध भी अधिक ऐतिहासिक नहीं है। उसमें से कई घटनाएँ कपोल-कल्पित हैं और उनकी पुष्टि इतिहास से नहीं होती। फिर भी 'पदमावत' दार्शनिक विचारों, आध्यात्मिक अनुभूतियों, चारित्रिक विशिष्टताओं, जीवन की विविधताओं, प्रेम, शृंगार तथा विलास के मनोवैज्ञानिक, प्रतीकात्मक एवं आध्यात्मिक वर्णनों आदि के साथ-साथ अलंकृत एवं उत्कृष्ट काव्य-शैली के कारण उच्चकोटि का महाकाव्य है। वह महान् उद्देश्य, महती प्रेरणा एवं उन्नत कल्पना से युक्त होकर कवि की महती काव्य-प्रतिभा का द्योतक है और वह अद्भुत एवं अनुपम काव्य-सौष्ठव से सम्पन्न है।

पदमावत का काव्य-सौष्ठव

'पद्मावत' अलंकृत शैली में रचित उच्चकोटि का महाकाव्य है। इसमें जायसी ने अपनी उर्वर कल्पना एवं उत्कृष्ट प्रतिभा के द्वारा इतिवृत्तात्मकता के साथ-साथ गम्भीर रसात्मकता की सृष्टि की है और इसका मूल कारण 'पदमावत' का उत्कृष्ट काव्य-सौष्ठव है, जिसका अध्ययन करने के लिए उसे सुविधा की दृष्टि से पाँच शीर्षकों में विभक्त कर सकते हैं—(१) वस्तु-वर्णन, (२) प्रकृति-चित्रण, (३) भाव एवं रस का निरूपण, (४) अलंकार निरूपण और (५) छन्द-योजना।

(१) वस्तु-वर्णन—'पदमावत' में वस्तु-वर्णनों का बाहुल्य है। उसमें द्वीप, नगर, राज-भवन, दुर्ग, सरोवर, यात्रा, समुद्र, आक्रमण, युद्ध, मन्त्रणा, दूत-प्रेषण, पुत्र-जन्म, विवाह, जल-क्रीड़ा, संयोग-वियोग, जय-पराजय, रूप-सौन्दर्य आदि का वर्णन विस्तार के साथ मिलता है। इतना ही नहीं, उसमें वन-उपवन, वाटिका-अमराई, पनघट, हाट-बाजार, देवालय, देव-पूजा, खाद्य-सामग्री, यात्रा-शकुन, पुरुष-भेद, स्त्री-भेद, विभिन्न उत्सव, लोकाचार आदि के वर्णनों की भी अधिकता है। परन्तु सबसे उत्कृष्ट नखशिख-वर्णन तथा युद्ध-वर्णन हैं। जायसी के 'नखशिख' वर्णन को देखने पर पता चलता है कि यद्यपि कवि पद्मावती को कभी ईश्वर रूप में और कभी एक राजकुमारी एवं रानी के रूप में देखता है, तथापि उसके रूप-सौन्दर्य का वर्णन शिख से नख तक किया है। जायसी का यह नखशिख-वर्णन दो स्थलों पर मिलता है। पहले हीरामन तोता राजा रत्नसेन के सम्मुख पद्मावती के कुमारी रूप की अद्भुत झाँकी प्रस्तुत करता है, जिसमें उसे अनुपम रूप-सौन्दर्य के साथ-साथ 'रवि ससि नखत दिपहि ओहि जोती' अथवा 'गगन नखत जो जाहिं न गने, वै सब बान ओहि के हने' आदि कहकर पद्मावती को 'ब्रह्म' सिद्ध किया है। इसके अतिरिक्त दूसरा नखशिख-वर्णन

'पद्मावती रूप-चर्चा खण्ड' में मिलता है, जहाँ राघवचेतन बादशाह अलाउद्दीन के सम्मुख रानी पद्मावती के अनुपम सौंदर्य की चर्चा करता है। यहाँ पर भी कवि पद्मावती को एक अलौकिक रूप-सौंदर्य-सम्पन्न रानी के तुल्य चित्रित करते हुए 'को सारदा मोहै, जीभ सुरसती काह, इन्द्र चन्द्र रवि देवता सबै जगत मुख चाह' कहकर उसे शारदा एवं सरस्वती से भी बढ़-चढ़कर बताया है और इन्द्र, चन्द्र, सूर्य आदि सभी देवताओं एवं सम्पूर्ण संसार को उसका मुख निहारते हुए अङ्कित किया है। इस प्रकार जायसी ने पद्मावती के रूप-सौंदर्य की लोकोत्तर कल्पना करते हुए उसका विश्व-व्यापी प्रभाव बताया है। उसमें परम्परागत उपमानों के साथ-साथ कुछ लोक-व्यवहार सम्बन्धी उपमानों का भी प्रयोग किया है। जैसे, माँग के लिए असिधार, बरौनियों के लिए धनुष-बाणों से सुसज्जित राम-रावण की सेना, नासिका के लिए सेतुबन्ध और तलवार, उरोज के लिए कमल के लड्डू आदि। उक्त दो स्थानों के अतिरिक्त छः अन्य स्थानों पर भी कवि ने नखशिख का वर्णन किया है। जैसे, सिंहल की वेश्याओं के रूप-वर्णन में, यौवनागम के समय पद्मावती के रूप-चित्रण में, मान-सरोवर में स्नान करने के लिए जूड़ा खोलती हुई पद्मावती के सौंदर्य-वर्णन में, सिंहल-द्वीप से लौटते समय समुद्र की दुर्घटना में क्लान्त पद्मावती के रूप-चित्रण में, नागमती और पद्मावती के विवाद के समय तथा पद्मावती का नागमती से आत्मश्लाघा के स्थल में। इस तरह लगभग आठ स्थलों पर जायसी का नखशिख-वर्णन मिलता है। इनमें पद्मावती के सौंदर्य-वर्णन में ही कवि अधिक मनोयोग से लीन हुआ है और उसके सौंदर्य-वर्णन के द्वारा कवि ने उस चिरन्तन ब्रह्म के असीम के सौंदर्य की झाँकी प्रस्तुत की है।

जायसी का युद्ध-वर्णन भी अन्य सभी वर्णनों की अपेक्षा कहीं अधिक सजीव एवं मर्मस्पर्शी है। यह युद्ध-वर्णन तीन स्थानों पर मिलता है—(१) राजा-बादशाह युद्ध खण्ड में, (२) गोरा-बादल-युद्ध खण्ड में तथा (३) रत्नसेन-देवपाल-युद्ध खण्ड में। इन वर्णनों में युद्ध-क्षेत्र का बड़ा ही रोमांचक एवं प्रभावोत्पादक चित्र अङ्कित हुआ है। इनमें दोनों ओर की सेनाओं के आक्रमण, हाथियों का गर्जना करते हुए भिड़ना, उनके दाँतों एवं शुण्डों का टूट-टूटकर पृथ्वी पर गिरना, पैदल सेना का तलवार, बर्छी एवं भालों से परस्पर भिड़ना, घुड़सवारों की भिड़न्त, हथियारों की लपक-झपक रुण्ड-मुण्डों का भूमि पर गिरना, कबन्धों का चक्कर काटना, पशु-पक्षियों का मांस-भक्षण करना आदि अनेक व्यापारों का वर्णन बड़ी सजीवता के साथ मिलता है। इन सभी युद्ध-वर्णनों में से गोरा-बादल के युद्ध का वर्णन कहीं अधिक मर्मस्पर्शी है, क्योंकि इसमें अन्य युद्ध-व्यापारों के साथ ओजस्वी एवं जोशीली भाषा में कवि ने गोरा के उत्साह एवं उमङ्ग भरे वीर चरित्र को साकार रूप प्रदान किया है तथा उसके अद्भुत पराक्रम, शौर्य एव वीरता का चित्रण करते हुए अकेले ही शत्रु से लोहा लेने, भयङ्कर मार-काट मचाने, क्षत-विक्षत होकर भी घमासान युद्ध करने, गौरव के साथ वीरगति पाने आदि का जो मूर्तिमान चित अङ्कित किया है, वह कहीं अधिक प्रभावोत्पादक, उत्साहवर्द्धक एवं आकर्षक है।

(२) **प्रकृति-चित्रण**—जायसी का हृदय भी प्रकृति की मनोहर एवं मंजुल क्रीड़ाओं को देख-देखकर मयूर की भाँति नृत्य करता हुआ भाव-विभोर हुआ है। जायसी ने मानव की चिर सहचरी प्रकृति-नटी के क्रीड़ा-कलाप को भावपूर्ण दृष्टि से देखा है तथा प्रकृति के व्यापारों के साथ मानव-व्यापारों का साम्य स्थापित करते हुए सूक्ष्म मनोभावों के सरस एवं सुन्दर चित्र अंकित किये हैं। यही कारण है कि जायसी का 'पदमावत' प्रकृति-तटी पर अंकित मानव-मनोभावों का आकर्षक चित्र है तथा विभिन्न अलंकारों से सुसज्जित प्रकृति-वधू का शृंगार है। यहाँ कवि ने प्रकृति को भिन्न-भिन्न रूपों में अंकित किया है। यथा—

(१) 'पदमावत' में जहाँ प्रकृति के **आलम्बन रूप** के दर्शन होते हैं, वहाँ वह दो रूप में अंकित हैं—एक तो कवि ने बिम्बग्रहण-प्रणाली के आधार पर रम्य एवं भयंकर रूप में चित्रित करते हुए प्रकृति के संश्लिष्ट एवं बिम्बग्राही चित्र प्रस्तुत किये हैं, और दूसरे नामपरिगणन-प्रणाली को अपनाकर प्राकृतिक वस्तुओं के केवल नाम ही गिना दिए हैं। उदाहरण के लिए 'मानसरोदक' का वर्णन करते हुए कवि ने पहले तो प्रकृति के रमणीक रूप की अत्यन्त भव्य एवं आकर्षक झाँकी प्रस्तुत की है, जिसमें उसके निर्मल जल, सुगन्ध, सुन्दर घाट, मनोरम सीढ़ियाँ, उसमें खिले हुए कमल-दल आदि का एक मर्मस्पर्शी वर्णन किया है।[1] इसके अनन्तर प्रकृति के भयानक रूप की झाँकी अंकित करते हुए कवि ने 'किलकिला' समुद्र का वर्णन किया है, जिसकी गगन-चुम्बी लहरों को देखते ही धैर्य जाता रहता है और जो भूमि से आकाश तक लहरों के रूप में खड़ा-सा प्रतीत होता है।[2] इसके अतिरिक्त नामपरिगणन-प्रणाली का प्रयोग करते हुए कवि ने सिंहलद्वीप के उन समस्त वृक्षों के नाम गिना डाले हैं, जो वहाँ के उपवनों में विद्यमान हैं। इनमें से आम, कटहल, बढ़हल, खिरनी, जामुन, नारियल, लवंग, सुपारी, जायफल, इमली, ताड़, खजूर आदि अनेक वृक्षों के नामों

---

[1] मान सरोदक बरनौं काहा। भरा समुद अस अति अवगाहा॥
पानी मोति असि निरमल तासू। अमृत आनि कपूर सुवासू॥
लंकदीप कै सिला अनाई। बाँधा सरवर घाट बनाई॥
खँड-खँड सीढ़ी भईं गरेरी। उतरहिं चढ़हिं लोग चहुँ फेरी॥
फूला कंवल रहा होइ राता। सहल-सहस पखुरिन्ह कर छाता॥

[2] पुनि किलकिला समुद महँ आए। गा धीरज देखत डर खाए॥
भा किलकिल अस उठै हिलोरा। जनु अकास टूटै चहुँ ओरा॥
उठै लहरि परवत कै नाईं। फिरि आवै जोजन सौ ताईं॥
धरती लेइ सरग लहिं बाढ़ा। सकल समुद जानहुँ भा ठाढ़ा॥

का उल्लेख किया गया है, परन्तु इनके किसी व्यापक एवं संश्लिष्ट प्रभाव को स्थापि करने का प्रयत्न नहीं किया है।[1]

(२) जहाँ पर प्रकृति के उद्दीपन रूप की झाँकी अंकित की गई है, वहाँ प्रकृ कहीं तो सुखद भावों को उद्दीप्त करती हुई चित्रित की गई है और कहीं वह दुः भावों को उद्दीप्त करती हुई दिखाई गई है। जिस समय राजा रत्नसेन और पद्मा का संयोग होता है, उस समय प्रकृति उन दोनों के हृदय में सुखद भावों को उद्दी करती है। इसीलिए उन्हें आकाश और पृथ्वी सभी शोभायमान लगते हैं, बिज की चमक के साथ बरसता हुआ वर्षा का जल ऐसा जान पड़ता है मानो सोना ब रहा हो; दादुर, मोर आदि के शब्द भी मधुर जान पड़ते हैं और सारा संसार हरा-भरा दिखाई देता है।[2] परन्तु उधर पति के विदेश चले जाने पर बेचारी नाग वियोग का कष्ट झेल रही है। अतः विरह-विधुरा नागमती के हृदय में यही प्रकृ दुःखद भावों को उद्दीप्त करती हुई उसे पीड़ित कर रही है। इसलिए वर्षा में चम हुई बिजली और जल की बूँदें उसे वाणों का आघात करती हुई जान पड़ती हैं दादुर, मोर तथा पपीहा पी-पी रटकर उसे जला रहे हैं।[3]

(३) कवि ने उक्त प्रकृति-चित्रणों के अतिरिक्त प्रकृति के रहस्यात्मक रूप झाँकी अंकित करते हुए रहस्यमयी सत्ता की ओर भी संकेत किये हैं जो परोक्ष से संसार का नियमन करती हुई अपने दिव्य सौन्दर्य एवं अनन्त आलोक के संसार में व्याप्त है। इसलिए कवि ने 'रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती' कह उसके अनन्त आलोक की ओर संकेत किया है, 'जहँ जहँ विहँसि सुभावहि हँ तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी' कहकर उसकी सर्वव्यापकता की ओर लक्ष्य कि है तथा 'अस्ति अस्ति सब साथी बोले' कहकर उस परोक्ष सत्ता के अस्तित्व की

---

[1] फरे आँव अति सघन सोहाये। औ जस फबे अधिक सिर नाये॥
कटहर डार पींड सन पाके। बड़हर सो अनूप अति ताके॥
खिरनी पाकि खाँड अस मीठी। जामुन पाकि भँवर अति डीठी॥
नारिअर फरे फरी फरहरी। फुरै जानु इन्द्रासन बुरी॥
लवंग सुपारी जायफल, सब फर फरे अपूर।
आस पास घन इमली, औ घन तार खजूर॥—पृ० १३

[2] पदमावति चाहत ऋतु पाई। गगन सोहावन भूमि सोहाई॥
चमकि बीजु बरसै जल सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना॥
रँग राती पीतम संग जागी। गरजै गगन चौंकि गर लागी॥
सीतल बूँद ऊँच चौपारा। हरिअर सब देखहिं संसारा।

[3] खड़ग बीजु चमकै चहुँ ओरा। बुन्दबान बरसहिं घन घोरा॥
ओनई घटा आइ चहुँ फेरी। कंत! उबारु मदन हौं घेरी॥
दादुर मोर कोकिला पीऊ। गिरै बीजु, घट रहै न जीऊ॥

इङ्गित किया है। ऐसे ही (४) प्रकृति के **उपदेशात्मकता रूप** की झाँकी अंकित करते हुए कवि ने स्थान-स्थान पर प्रकृति के माध्यम से अनेक उपदेश दिये हैं। कवि ने 'सुआ-खण्ड' में तोते के बन्धन में पड़ने की स्थिति का चित्रण करते हुए मानव-मात्र को उपदेश दिया है कि धन के गर्व में लीन होकर मानव सुखोपभोग में ऐसा लीन हो जाता है कि फिर उसे अपने दाता—ईश्वर ही क्या, अपनी मृत्यु तक का ध्यान नहीं रहता और इन्हीं भोगों के कारण अचानक अपने गले में आपत्ति अथवा मृत्यु का फन्दा ग्रहण करता है।[1] इसके अतिरिक्त (५) कवि ने प्रकृति के **प्रतीकात्मक रूप** को अंकित करते हुए ऐसे प्रतीकों की कल्पना की है, जिनके द्वारा कथा-भाग भी स्पष्ट हो गया है तथा उन प्रतीकों के माध्यम से अपने आशय को भी स्पष्ट कर दिया है। जैसे, सिंहलगढ़ को कवि ने परमब्रह्म का 'परमधाम' या ब्रह्मलोक माना है। अतः उनके बारे में 'नित गढ़ बाँचि चलै ससि सूरू' तथा 'सो गढ़ देकु गगन तें ऊचा, नैनन्ह देखा कर न पहूँचा' अथवा 'चाँद सुरुज औ नखत तराईं ओहि डर अँतरिख फिरहिं सवाईं' आदि कहकर उसकी अत्यन्त उन्नत स्थिति की ओर संकेत करते हुए उसे ब्रह्माण्ड से परे सिद्ध किया है। ऐसे ही एक स्थान पर सिंहलगढ़ को शरीर का प्रतीक भी बनाया है और हठयोग की साधना से उसका सम्बन्ध जोड़ते हुए उसकी 'नौ पौरी', 'पाँच कोटवार' 'दसवँ द्वार', 'कुण्ड', 'सुरंग' आदि को क्रमशः नव-चक्र, पंचप्राण, सहस्रार चक्र में स्थित ब्रह्मरंध्र, नाभि, सुषुम्ना नाड़ी आदि के प्रतीकों के रूप में अंकित किया है।[2]

(६) कवि ने प्रकृति के **मानवीकरण रूप** की भी झाँकी अंकित की है। इसीलिए कवि ने मानसरोवर को एक व्यक्ति की भाँति चेष्टाएँ करते हुए दिखाया है, और 'भा निरमल तिन्ह पायन्ह परसे' कहकर उसे पद्मावती के चरण-स्पर्श द्वारा पवित्र होते हुए दिखाया है तथा 'भा सीतल गै तपनि बुझाई' कहकर पद्मावती के शरीर की मधुर एवं शीतल गन्ध का स्पर्श करते ही उसकी सभी प्रकार की तपन शान्त होते हुए तथा उस शीतलता का अनुभव करते हुए अंकित किया है। इस तरह एक सरोवर को मानवों की तरह चेष्टाएँ करते हुए दिखाकर कवि ने प्रकृति के मानवीकरण रूप

---

[1] सुखी निश्चित जोरि धन करना। यह न चिंत आगे है मरना ।।
भूले हमहुँ गरब तेहि माहाँ। सों बिसरा पावा जेहि पाहाँ ।।
होइ निचित बैठि तेहि आड़ा। तब जाना खोंचा हिय गाड़ा ।।
चरत न खुरुक कीन्ह जिउ, तबरे चरा सुख होइ।
अब जो फाँद परा गिउ, तब रोए का होइ ।।

[2] गर तस बाँकि जैसि तोरि काया। पुरुष देखु ओही की छाया ।।
नौ पोरी तेहि गढ़ मझियारा। औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा ।।
दसवँ दुआर गुपुत एक ताका। अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँका ।।
गढ़ तर कुण्ड सुरँग तेहि माहाँ। तहं वह पन्थ कहौं तोहि पाहाँ ।।

की चचा की है। (७) कवि ने 'पदमावत' में प्रकृति का प्रयोग वातावरण-निर्मा लिए भी किया है। जिस समय राजा रत्नसेन साधना-पथ के सभी विघ्नों को करके सिद्धि-प्राप्ति के निकट जा पहुँचते हैं, उस समय उस वातावरण की सृष्टि के लिए कवि ने सातवें समुद्र 'मानसर' का वर्णन किया है, जिसमें पहुँचते ही प्रसन्नता एवं हर्ष से परिपूर्ण हो जाते हैं, उनका वह उल्लास सरोवर में विद्यमान इन की भाँति छा जाता है, अज्ञान की रात्रि व्यतीत हो जाती है और प्रभात होते ज्ञान का आलोक चारों ओर फैल जाता है।[1] ऐसे ही (८) कवि ने संवेदनात्मक की झाँकी अंकित करते हुए प्रकृति को वियोगिनी नागमती के प्रति संवेदना प्र करते हुए दिखाया है। इसीलिए यहाँ एक पक्षी वियोगिनी नागमती से 'तू फिरि फि दाहै सब पाँखी, केहि दुख रैनि न लावसि आँखी' कहकर उसकी विरह-व्यथा के में पूछता है तथा वियोगिनी बाला के कष्टों को सुनकर उसके विरह-जन्य दुःख को करने के लिए उसका सन्देश सिंहलद्वीप तक ले जाने को तैयार हो जाता है। (कवि ने प्रकृति को **सन्देश-वाहक दूत के रूप में** भी अंकित किया है। इसी कारण 'लेइ सो सँदेस विहंगम चला, उठी आगि सगरौं सिंघला' कहकर कवि ने एक को नागमती का सन्देश लेकर सिंहल द्वीप में भेजा है और उसका सन्देश पाकर रा रत्नसेन को चित्तौड़ आने के लिए बाध्य किया है। (१०) इसके अतिरिक्त कवि प्रकृति का उपयोग **अलंकारों के रूप में** भी किया है। 'पदमावत' में प्रकृति के उपमानों का प्रयोग हुआ है और रूप-सौन्दर्य के चित्रों में तो प्रकृति के अनेक प को समता के लिए उपस्थित किया गया है। इसी कारण 'जनु घन माहिं दा परगसी' या 'जमुना माँझ सरसुती' कहकर कवि ने पद्मावती की माँग का वर्णन कि है, 'दुइजि कै जोति' कहकर ललाट की प्रशंसा की है, 'सरद चन्द महँ खंजन कहकर उसके मुख एवं नेत्रों का सौन्दर्य प्रकट किया है।

इस प्रकार जायसी ने विभिन्न रूपों में प्रकृति का प्रयोग करके उसके रम्य भयंकर रूपों की झाँकी अंकित की है। सबसे अधिक कवि का ध्यान षट्ऋतु एवं वारहमासे के वर्णन की ओर गया है। वे ऋतु-वर्णन मनुष्य की रागात्मिका के आलम्बन रूप में अंकित होने के कारण अत्यन्त सरस एवं प्रभावोत्पादक हैं। कवि की सूक्ष्मनिरीक्षणता के साथ-साथ प्राकृतिक परिवर्तनों की जानकारी भी वि मान है। इसीलिए कवि ने ग्रीष्मकाल में सूखे हुए तालाबों की दरारों को वर्षा पहला जल कैसे मिलाकर एक कर देता है, इसका बड़ा ही प्रभावशाली वर्णन कि है।[2] इसी तरह कवि ने समुद्र, पर्वत, वन, नदी, चन्द्रोदय, सूर्योदय, मध्याह्न,

---

[1] देखि मानसर रूप सुहावा। हिय हुँलास पुरइन होइ छावा।।
गा अँधियार रैनि-मसि छूटी। भा भिनसार किरनि रवि फूटी।।

[2] सरवर-हिया घटत निति जाई। टूक टूक होइ कै बिहराई।।
बिहरत हिया करहु, पिउ टेका। दीठि दवंगरा मेरवहु एका।।

रात्रि, उद्यान, पनघट, नगर आदि का भी विशद वर्णन किया है। कवि ने प्रकृति में एक ऐसी विराट् सत्ता के दर्शन किए हैं, जिसके उदर में सम्पूर्ण विश्व समाया हुआ है तथा जो अनन्त सौन्दर्य के साथ प्रकृति के कण-कण में विद्यमान है। यद्यपि जायसी का यह प्रकृति चित्रण देशगत, कालगत एवं सांस्कृतिक विशेषताओं से परिपूर्ण है, फिर भी उस पर फारसी एवं भारतीय, दोनों पद्धतियों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इतना होने पर भी कवि का यह प्रकृति-चित्रण सरस, सजीव एवं प्रभावोत्पादक है।

(३) **भाव एवं रस का निरूपण**—'पदमावत' शृंगार रस-प्रधान काव्य है। इसीलिए इसमें आदि से अन्त तक 'रति' नामक स्थायीभाव की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है परन्तु नायक की मृत्यु तथा पद्मावती और नागमती के सती होने के कारण 'रति' नामक स्थायीभाव की परिसमाप्ति करुण रस में हुई है और काव्य का दुःखद अन्त हुआ है। फिर भी काव्य में सूफी सिद्धान्त की प्रधानता होने के कारण यह दुःखद अंत उसके भयंकर शोक का सूचक नहीं है, अपितु वह आत्मा एवं परमात्मा के चिर मिलन की ओर संकेत करता हुआ चिर शान्ति का द्योतक है। फिर भी कवि ने शृंगार-रस के बड़े ही मनोरम चित्र अंकित किये हैं और संयोग तथा वियोग शृंगार में से वियोग का वर्णन अधिक गहनता एवं तत्परता के साथ किया है। इसीलिए नागमती का वियोग-वर्णन हिन्दी-साहित्य की अनुपम निधि माना जाता है। शृंगार के अतिरिक्त युद्ध-वर्णनों में वीर रस की भी सुन्दर एवं सजीव झाँकियाँ मिल जाती हैं। गोरा-बादल का युद्ध-वर्णन वीर रस का अनुपम उदाहरण है। इसके साथ ही भयानक एवं अद्भुत रसों का रूप समुद्र-वर्णन के अन्तर्गत मिल जाता है। इसके साथ ही जायसी का चरम-लक्ष्य आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना करना माना जाय, तो स्पष्ट ही सारा काव्य शान्त रस की मधुर अभिव्यक्ति से परिपूर्ण है और फिर शृंगार, वीर, भयानक, अद्भुत आदि सभी रस उसके अंग ही माने जायेंगे। अतः लौकिक कथा की दृष्टि से 'पदमावत' में शृंगार अंगी रस है और आध्यात्मिक दृष्टि से 'शान्त' को ही अंगी रस मानना पड़ेगा। वैसे 'पदमावत' के शृंगार-रस में ऐसा अद्भुत आकर्षण है कि पढ़ते ही पाठक उसमें तन्मय हो जाता है और कुछ क्षणों के लिए अपनी सुधबुध खोकर कवि के वर्ण्य विषय से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इसके साथ ही कवि ने 'वात्सल्य' का भी वर्णन किया है, जिसकी अभिव्यंजना एक तो राजा रत्नसेन के योगी बनकर निकलते समय उसकी माँ के उद्गारों से हुई है, दूसरे जब युवक बादल अपने चाचा गोरा के साथ राजा रत्नसेन को बन्दीगृह से छुड़ाने के लिए दिल्ली जाता है, तब उसकी माता यशोवती के उद्गारों से वात्सल्य की धारा सहसा फूट पड़ी है। 'पदमावत' में युद्ध-वर्णन के समय डाकिनी, प्रेत-पिशाच आदि के द्वारा वीरों के मांस-मज्जा आदि का भक्षण दिखाने में थोड़ा-बहुत वीभत्स रस का भी वर्णन मिल जाता है। परन्तु हास्य रस का यहाँ सर्वथा अभाव है, क्योंकि हास्य के लिए प्रेममार्गी कवि को अवकाश नहीं मिला है। इसके साथ ही 'पदमावत' में विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों की भी

बड़ी ही मनोरम झाँकियाँ अंकित हुई हैं। वैसे जायसी एक भावुक कवि हैं, अत उन्होंने विभिन्न भावों के चित्रण में अद्भुत कौशल का परिचय दिया है, परन्तु प्रेम ए विरह सम्बन्धी भावों की अभिव्यक्ति में जायसी को अधिक सफलता मिली है औ इनके अन्तर्गत ही गम्भीरता, निर्मलता एवं प्रभावान्विति के साथ-साथ चित्त अभिभूत करने की अपूर्व क्षमता दृष्टिगोचर होती है।

(४) अलंकार-निरूपण—जायसी ने प्रायः सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयो अधिक मात्रा में किया है और इनके द्वारा मानव-मनोभावों की बड़ी ही रमणी अभिव्यंजना की है। इन सादृश्यमूलक अलंकारों में से भी उपमा, उत्प्रेक्षा, रूप रूपकातिशयोक्ति तथा सांगरूपकों का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में हुआ है तथा इ अलंकारों का प्रयोग अर्थ गाम्भीर्य के साथ-साथ भावोत्कर्ष में भी अत्यधिक सहाय सिद्ध हुआ है। इन सभी अलंकारों में से रूपकातिशयोक्ति द्वारा कवि ने अद्भुत कौश दिखाया है—

साम भुअंगिनि रोमावली। नाभिहि निकसि कँवल कहँ चली।।
आइ दुवौ नारँग बिच भई। देखि मयूर ठमकि रहि गई।।

इसके साथ ही जायसी में उत्प्रेक्षा अलंकार की तो झड़ी लग जाती है। वैं भी कल्पना की उड़ान के लिए यही अलंकार सबसे अधिक सहायक होता है। कि जायसी की कल्पना में एक अद्भुत आकर्षण है, जो उत्प्रेक्षा अलंकार द्वारा व्यक्त हु है। जैसे :—

बरुनी का बरनौं इमि बनी। साधे बान जान दुइ अनी।।
जुरी राम रावन कै सेना। बीच समुद्र भए दुइ नैना।।

ऐसे ही सांगरूपकों द्वारा भी जायसी ने अद्भुत चमत्कार की सृष्टि की है नागमती के वियोग-वर्णन के समय असाढ़ का एक आक्रमणकारी वीर के रूप में चित्र करते हुए बड़े सुन्दर सांगरूपक अलंकार का प्रयोग किया है—

चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा। साजा बिरह दुंद दल बाजा।।
धूम साम धौरे घन धाएँ। सेत धजा बग-पाँति देखाए।।
खडग-बीजु चमकै चहुँ ओरा। बुंद बान बरसहिं घन घोरा।।

परन्तु कहीं-कहीं चमत्कारप्रियता की झौंक में जायसी ने ऐसे सांगरूपकों की भी सृष्टि की है, जिससे अश्लीलता एवं भद्देपन की भी गन्ध आती है। जैसे एक युव नारी में तोप की समस्त सामग्री का आरोप करते हुए कवि ने सांगरूपकों की योजन इस तरह की है—

सेन्दुर आगि सीस उपराहीं। पहिया तरबिन चमकत जाहीं।।
कुच गोला दुइ हिरदय लाई। अंचल धुजा रहे छिटकाई।।
रसना लूक रहहि मुख खोले। लंका जरै सो उनके बोले।।
अलक जंजीर बाहु गीउ बाँधे। खींचहि हस्ती टूटहिं काँधे।।

इसके अतिरिक्त 'का सरवरि तेहि देउँ मयंकू, चाँद कलङ्की वह निकलंकू' कहकर व्यतिरेक अलङ्कार, 'नयन जो देखा कँवल भा निरमल नीर सरीर' कहकर तद्‌गुण अलङ्कार, 'जीउ नाहिं पै जिए गुसाइँ, कर नाहीं पै करै सवाई' कहकर विभावना अलङ्कार, 'की कालिन्दी विरह सताई, चलि प्रयाग अरइल विच आई' कहकर सन्देह अलङ्कार, 'जाहि वया होइ पिउ कंठलवा, करे मेराव सोइ गौरवा' कहकर मुद्रा अलंकार, 'का भा जोग-कथनि के कथे, निकसै पिउ न बिना दधिमथे' कहकर दृष्टांत अलङ्कार, 'गहै बीन मकु रैनि बिहाई, ससि-बाहन तहँ रहै ओनाई। पुनि घिन सिंघ उरेहै लागै, ऐसिहि बिथा रैनि जब जागै' कहकर विषादन अलङ्कार आदि की योजना करके कवि ने अपरमित सौंदर्य-चित्रण के साथ-साथ विभिन्न भावों की मनोरम व्यंजना की है। यद्यपि 'विरह सरागिनि भूँजेसि माँसू' या 'रकत कै आँसू' आदि कहने के कारण जायसी की अलङ्कार-योजना पर फारसी का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, तथापि जायसी ने भारतीय आलंकारिक परम्परा का ही पर्याप्त अनुसरण किया है और कुछ मौलिक एवं अद्भुत उपमानों का भी संग्रह किया है, जिसके कारण जायसी की अलङ्कार-निरूपण-पद्धति कहीं अधिक प्रभावोत्पादक एवं आकर्षक हो गई है।

(५) **छन्द-योजना**—जायसी ने मुख्यतया चौपाई तथा दोहा छन्द में ही अपना 'पदमावत' काव्य लिखा है। डा० शम्भूनाथसिंह ने इस छन्द-पद्धति को 'कडवकबद्ध-पद्धति' कहा है तथा अपभ्रंश और पदमावत की छन्द-पद्धति का अन्तर बताते हुए संकेत किया है कि "अपभ्रंश काव्यों में कडवक के भीतर पंझटिका (पद्धड़िया), अडिल्ल, चउपई, मदनक, त्रोटक आदि ऐसे कई छन्दों का प्रयोग होता है, जिनमें दो-दो चरण सममात्रिक और समतुकान्त होते हैं, यद्यपि कडवक में घत्ता के पहले आद्यन्त एक ही छन्द होता है। 'पदमावत' में आदि से अन्त तक सभी कडवकों में चौपाई छन्द का और कडवकान्त में घत्ता के रूप में दोहा छन्द का प्रयोग हुआ है।"[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'पदमावत' एक चरित-काव्य है और चरित-काव्य के लिए चौपाई तथा दोहा-छन्द अधिक उपयुक्त सिद्ध हुए हैं। इसी कारण गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपना 'रामचरितमानस' चरित-काव्य इसी दोहा-चौपाई शैली में लिखा है। परन्तु जायसी की चौपाई तथा दोहे में शास्त्रीय नियमों का उल्लंघन कई स्थानों पर मिलता है, जिससे कहीं-कहीं तो तेरह-ग्यारह की गति से चौबीस मात्राओं के स्थान पर जायसी के दोहे में सोलह-सोलह की यति से बत्तीस मात्राएँ हो गई हैं तथा कहीं कम मात्राएँ भी मिलती हैं; ऐसे ही जायसी की चौपाई में कहीं-कहीं सोलह मात्रा के स्थान पर पन्द्रह मात्रा ही रह गई हैं। इसके अतिरिक्त शास्त्रीय नियमानुसार प्रत्येक कडवक में आठ अर्द्धालियाँ या चार चौपाइयाँ होनी चाहिए, परन्तु जायसी ने सभी स्थानों पर प्रत्येक कडवक में सात चौपाई अथवा साढ़े तीन अर्द्धालियाँ रखी हैं। इससे सिद्ध है कि जायसी ने छन्द-सम्बन्धी पर्याप्त स्वतन्त्रता अपनायी है और शास्त्रीय नियमों का पालन नहीं किया है।

---

[1] हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० ४७५।

जायसी की प्रेम-पद्धति

जायसी का 'पदमावत' एक प्रेमाख्यानक काव्य है, जो भारतीय प्रेम-पद्धति पर आधारित न होकर फारसी प्रेम-पद्धति पर लिखा गया है। भारतीय प्रेम-पद्धति के आधार पर जो काव्य लिखे जाते हैं, उनमें न तो प्रेम की महिमा को अधिक वढ़ा-चढ़ाकर अङ्कित किया जाता है और न विरह-वेदना एवं सौंदर्य की महत्ता को ही अधिक प्रदर्शित किया जाता है। इसके साथ ही फारसी प्रेम-पद्धति पर लिखित प्रेमाख्यानों में जिस तरह प्रतीकात्मकता, सांकेतिकता, अन्योक्ति या समासोक्ति का आश्रय लेकर प्रेम-कथा का विकास दिखाया जाता है, वैसा भारतीय प्रेम-काव्यों में दृष्टिगोचर नहीं होता। उदाहरण के लिए सत्यवती-सत्यवान-कथा, ढोला-मारूरा-दूहा, बीसलदेवरासो आदि ऐसे कितने ही प्रेम-काव्य मिलते हैं, जो भारतीय प्रेम-पद्धति पर लिखे गये हैं और जिनमें विशुद्ध एवं पवित्र प्रेम के अतिरिक्त अन्य वातें नहीं हैं। इधर जायसी ने अपने प्रेम-काव्य 'पदमावत' का निर्माण फारसी प्रेम-पद्धति पर ही किया है। इसीलिए इसमें सूफियों की मान्यता के अनुसार प्रेम की पीर, विरह-वेदना एवं अनुपम सौंदर्य आदि के वर्णन का ही प्राधान्य है और सांकेतिकता एवं प्रतीकात्मकता के आधार पर कथा का निर्माण हुआ है।

सूफी पद्धति पर पल्लवित प्रेम की सवसे वड़ी विशेषता यह होती है कि उसमें 'इश्क मजाज़ी' के द्वारा 'इश्क हक़ीक़ी' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है अथवा यों कह सकते हैं कि उसमें लौकिक प्रेम के आधार पर आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना होती है। इसके लिए प्रायः सूफी कवि सांसारिक व्यक्तियों के प्रेम की ही चर्चा किया करते हैं और उनके द्वारा ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति करते हैं। उनमें प्रेम उत्पन्न करने के लिए स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन, सौंदर्य-प्रशंसा अथवा कभी-कभी प्रत्यक्ष दर्शन की योजना की जाती है, जिससे आकृष्ट होकर एक प्रेमी अपनी प्रियतमा या प्रेमाधार से मिलने के लिए आतुर हो उठता है तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अथक परिश्रम एवं प्रयत्न करता हुआ सर्वस्व त्याग देता है। पुनः वह प्रेम-मार्ग की विघ्न-बाधाओं का सामना करता हुआ तथा अनेक कष्ट झेलता हुआ अन्त में अपने प्रेमाधार को प्राप्त करता है। परन्तु उसे पाकर भी जब वह लौटता है तव मार्ग में पुनः अड़चनों एवं आपदाओं का शिकार वन जाता है और अपने प्रेम की अनन्यता के कारण पुनः अपने प्रेमाधार को प्राप्त कर लेता है। इसी पद्धति को दार्शनिक भाषा में यों कह सकते हैं कि सूफीमत में ईश्वर एक है, इसका नाम 'हक़' है, उसमें और आत्मा में कोई अन्तर नहीं है, आत्मा 'वन्दे' के रूप में प्रकट होती है और वन्दा इश्क (प्रेम) के सूत्र में वँधकर 'हक़' तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। जैसे, किसी पथिक को अपने निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कुछ मंजिलों या मुकामात को पार करना पड़ता है, वैसे ही आत्मा भी 'हक़' तक पहुँचने के लिए चार मुकामात या मंजिलें पार करती है जो सूफी मतानुसार 'शरीअत', 'तरीक़त', 'हक़ीक़त' और 'मारिफ़त' कहलाती हैं। इनमें से अन्तिम 'मारिफ़त' मुकाम पर पहुँचकर ही आत्मा 'वक़ा' (जीवन) प्राप्त करती

के लिए 'फ़ना' होती है और 'फ़ना' होते ही 'अनलहक़' की अधिकारिणी हो जाती है अर्थात् परमात्मा से मिलने के लिए शुद्ध एवं पवित्र हो जाती है। अब उसे परमात्म-भाव प्राप्त करने से पहले तीन लोक और पार करने पड़ते हैं, जो आलमे-नासूत (सत्-भौतिक लोक), आलमे मलकूत (चित-लोक) और आलमे-जबरूत (आनन्द-लोक) कहलाते हैं। इन्हें पार करके आत्मा अन्तिम संसार 'आलमे-लाहूत' (माधुर्य-लोक) में पहुँचती है, जहाँ आत्मा एवं परमात्मा का एकीकरण हो जाता है और 'अनलहक़' की सिद्धि हो जाती है।[1]

जायसी की प्रेम-कथा भी पूर्णतया सूफी प्रेम-पद्धति पर ही पल्लवित हुई है। इसीलिए यहाँ राजा रत्नसेन तथा पद्मावती के लौकिक प्रेम द्वारा आध्यात्मिक प्रेम का प्रतिपादन किया गया है। इसके लिए कवि ने पद्मावती के अनुपम एवं अद्वितीय सौंदर्य की प्रशंसा द्वारा राजा के हृदय में प्रेमभाव को जाग्रत किया है, जिससे पद्मावती के प्रेम में आकृष्ट होकर राजा रत्नसेन चित्तौड़ छोड़कर तथा योगी वनकर सिंहलद्वीप की यात्रा पर निकल पड़ता है। मार्ग में समुद्र-यात्रा के समय अनेक विघ्न आते हैं, किन्तु उन्हें पार करता हुआ सिंहलद्वीप पहुँचता है। वहाँ पहुँचकर भी उसे राजा गन्धर्वसेन के कोप का भाजन बनना पड़ता है और शूली पर चढ़ने तक की नौबत आ जाती है, परन्तु इन सभी कष्टों की चिन्ता न करने के कारण तथा पद्मावती में अनन्य प्रेम होने के कारण राजा को पद्मावती की प्राप्ति हो जाती है। वहाँ से लौटकर आते समय पुनः विघ्न-बाधाएँ आती हैं और समुद्र में वे दोनों प्रेमी बिछुड़ जाते हैं। फिर भी प्रेम की गहनता एवं दृढ़ता के कारण उनका पुनर्मिलन होता है और वे सकुशल चित्तौड़ लौट आते हैं। तदुपरान्त दोनों प्रेमियों को पुनः बाधाएँ एवं आपत्तियाँ आ घेरती हैं, क्योंकि राघवचेतन की दुष्टता के कारण अलाउद्दीन बादशाह पद्मावती को पाने के लिए चित्तौड़ पर आ चढ़ता है तथा राजा रत्नसेन को बन्दी बनाकर दिल्ली ले जाता है, किन्तु गोरा-बादल के प्रयास से राजा कारागार से मुक्त होकर फिर चित्तौड़ लौट आता है, फिर भी वे सकुशल नहीं रह पाते। राजा वीरपाल की क्रूरता के कारण राजा रत्नसेन क्रुद्ध होकर वीरपाल से युद्ध करता है और उसमें वीरगति को प्राप्त होता है। अन्त में राजा रत्नसेन के साथ उसकी दोनों रानियाँ—पद्मावती और नागमती सती हो जाती हैं। इस तरह अन्त में राजा रत्नसेन रूपी आत्मा 'फ़ना' होकर 'अनलहक़' की अधिकारिणी होती हुई 'आलमे-लाहूत' (माधुर्य-लोक) में जाकर पद्मावती रूपी 'हक़' या परमात्मा के साथ एकाकार हो जाती है और उसे 'अनलहक़' की सिद्धि हो जाती है।

सूफी प्रेम-पद्धति का अनुसरण होने के कारण ही कवि जायसी ने प्रथम तो इसमें पद्मावती के रूप-सौंदर्य को अनुपम एवं अद्वितीय सिद्ध किया है। इसीलिए 'जेहि दिन दसन जोति निरमई, बहुतन्ह जोति-जोति ओहि भई' कहकर कवि ने पद्मावती

---

[1] हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ०, १९६ व १९९।

को अनुपम ज्योति-स्वरूप सिद्ध किया है, 'रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती' कहक उसी की ज्योति से सूर्य-चन्द्र आदि को प्रकाश ग्रहण करते हुए बतलाया है, 'सरव रूप विमोहा हिए हिलोरहिं लेइ' कहकर मानसरोवर को भी अद्‌भुत रूप-सौंदर्य पर विमुग्ध होता हुआ दिखाया है तथा 'नयन जो देखा कमल भा' आदि कहकर पद्मावती के ही नेत्रों से सरोवर में कमलों की सृष्टि होते हुए, उसके निर्मल शरीर से सरोव में निर्मल जल की सृष्टि होते हुए, उसके उज्ज्वल हास से सरोवर में हंसों की सृष्टि होते हुए तथा उसके दाँतों की ज्योति से सरोवर में नग और हीरों की सृष्टि होते हुए दिखाया है। ऐसे अद्‌भुत सौंदर्य से ओतप्रोत पद्मावती यहाँ 'हक़' की प्रतीक है। वैसे भी फारसी प्रेम-पद्धति के आधार पर ईश्वर को नारी के रूप में ही देखा जाता है।

दूसरे, फारसी प्रेम-पद्धति का अनुसरण करने के कारण ही जायसी ने 'पदमावत' में प्रेम-तत्त्व की गहन, विवेचना की है और 'प्रेम-अदिष्ट गहन तें ऊँचा' अथवा 'ध्रुव तें ऊँच प्रेम धुव ऊधा' आदि कहकर प्रेम को आकाश से भी उन्नत तथा ध्रुव नक्षत्र से भी अधिक अटल एवं दृढ़ सिद्ध किया है। इतना ही नहीं, इस 'प्रेम' के जाग्रत होते ही जीव को तीन लोक एवं चौदह खण्ड दिखाई देने लगते हैं और फिर संसार में कोई भी वस्तु सुन्दर दिखाई नहीं देती![1] यह प्रेम का समुद्र इतना विशाल बताया गया है जिसकी सीमा का पता लगाना तथा जिसकी थाह पाना सर्वथा असम्भव है। यदि सच्चा प्रेम जाग्रत हो जाय, तो गहरे समुद्र भी प्रेमी के लिए कुछ नहीं हैं। वह हंस बनकर उनको पार कर सकता है। दिव्य-प्रेम के भिखारी को अपने प्रेम के अतिरिक्त न समुद्र महान् दिखाई देता है और न गङ्गाजी ही। वह तो प्रेम के समुद्र में डूबकर मर जाना अच्छा समझता है और यह सोचता है कि यदि कोई जलचर उसे खा लेगा तो वह शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जायेगा। इसी प्रेम के कारण उसका मस्तक स्वर्ग में, धड़ धरती पर और हृदय प्रेम-सागर में डूबा रहता है तथा उसके नेत्र कौड़िल्ला नामक जलपक्षी की तरह प्रेम-सागर की बूँद चुनने के लिए लालायित रहे आते हैं।[2] इस तरह प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए जायसी ने 'प्रेम' को ईश्वर का ही रूप सिद्ध किया है।

---

[1] तीनि लोक चौदह खण्ड, सबै परै मोंहि सूझ।
प्रेम छाँड़ि नहीं लौन किछु, जौ देखों मन बूझ॥

[2] प्रेम-समुद जो अति अवगाहा। जहाँ न वार न पार न थाहा॥
जौं वह समुद काह एहि परें। जौं अवगाह हंस होइ तिरें॥
हौं पदुमावत कर भिखमङ्गा। दिस्टि न आव समुद और गङ्गा॥
अस मनि जानि समुद महँ परऊँ। जौ कोइ खाइ बेगि निस्तरऊ॥

सरग सीस धर धरती, हिया सो पेम समुंद।
नैन कौड़िया होइ रहे, लै लै उठहिं सो बुंद॥

84

तीसरे, फारसी प्रेम-पद्धति की भाँति जायसी ने 'प्रेम की पीर' अथवा विरह का अत्यन्त बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है। इसीलिए कवि ने नागमती के विरह की तीव्रता का वर्णन करते हुए बताया है कि विरह की आग में जलने से जो धुआँ उठा उससे बादल काले पड़ गये। राहु जला तो जला, केतु भी जल गया। सूर्य जला और आधा चाँद भी जल गया, सब नक्षत्र-तारे जल गये और तारों के जले टुकड़े उल्कापात के रूप में धरती पर टूक-टूक होकर गिरने लगे। स्थान-स्थान पर पृथ्वी जल गयी। उसी आग से ढाक-पलाश के जङ्गल जल गये। प्रेम की पीर के कारण विरहोच्छ्वास की लपट ऐसी निकली कि उससे जलकर पहाड़ अङ्गारे बन गये। भौंरे, पतिंगे, नाग, कोयल, भुजङ्ग और कौवे सभी उस आग में जलकर काले हो गये। इतना ही नहीं, उस आग से बचने के लिए वन के पक्षी अपने प्राण लेकर उड़े और मछलियों ने जल में डुबकी लगा ली। साथ ही उसी के कारण समुद्र का जल भी जलकर खारी हो गया और उसी विरह की आग का धुआँ सारे संसार में छाया हुआ है।[1] इस प्रकार यहाँ विरह-ताप एवं प्रेम की पीर का अतिरंजित एवं अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन मिलता है। 8

चौथे, फारसी प्रेम-पद्धति का अनुसरण होने के कारण ही सारी कथा के बीच-बीच में आध्यात्मिक संकेतों की भरमार मिलती है, जिसके फलस्वरूप कहीं सिंहलगढ को ब्रह्मलोक जैसा बताया गया है, तो पद्मावती को ईश्वर रूप प्रदान किया गया है, इतना ही नहीं, सम्पूर्ण पात्र एवं घटनाएँ प्रतीकात्मक अर्थ की ओर संकेत करती हुई सी जान पड़ती हैं, जिसके फलस्वरूप पद्मावती तो ब्रह्मरूप है ही, राजा रत्नसेन को जीवात्मा, हीरामन तोता को गुरु, नागमती को सांसारिक सम्बन्ध, अलाउद्दीन को माया, राघवचेतन को शैतान, सिंहलगढ़ को हृदय, मानसरोवर को ब्रह्म-रंध्र तथा सिंहल-यात्रा को आध्यात्मिक यात्रा का प्रतीक कहा जा सकता है। इन प्रतीकों की ओर जायसी ने भी अन्त में 'उपसंहार' के अन्तर्गत 'तन चितउर मन राजा कीन्हा' कहकर संकेत किया है, जिसके आधार पर चित्तौड़गढ़ को शरीर का, राजा रत्नसेन को मन का, सिंहलगढ़ को हृदय का, पद्मावती को बुद्धि का, हीरामन तोते को गुरु का, नागमती को दुनिया के प्रपंच का, राघवचेतन को शैतान का तथा अलाउद्दीन को माया

---

[1] अस परजरा बिरह कर गठा। मेघ साम भए धूम जो उठा॥
दाढ़ा राहु, केतु गा दाधा। सूरज जरा, चाँद जरि आधा॥
औ सब नखत तराईं जरहीं। टूटहिं लूक, धरति महँ परहीं॥
जरै सो धरती ठावँहि ठाऊँ। दहकि पलास जरै तेहि दाऊँ॥
बिरह साँस तस निकसै झारा। दहि दहि परबत होहिं अँगारा॥
भँवर पतङ्ग जरैं औ नागा। कोइल भुजइल डोमा कागा॥
बन पङ्खी सब जिउ लइ उड़े। जल महँ मच्छ दुखी होइ बुड़े॥
महूँ जरत तहँ निकसा, समुद्र भुजाएउँ आइ।
समुद्र पानि जरि खार भा, धुआँ रहा जग छाइ॥

का प्रतीक सिद्ध किया है,[१] परन्तु इनकी ठीक-ठीक संगति नहीं बैठती। फिर भी इस सत्य है कि इन प्रतीकों के सहारे व्यंग्यार्थ का बोध कराने का प्रयत्न हुआ है। कुछ विद्वान् तो इन प्रतीकों के कारण 'पदमावत' में आध्यात्मिक अर्थ को ही प्रधान मानते हैं, इसलिए इसे अन्योक्ति काव्य कहते हैं। परन्तु पं० रामचन्द्र शुक्ल[२] तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी[३] इसमें समासोक्ति स्वीकार करते हैं, क्योंकि 'समासोक्ति' में वाक्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ दोनों का बोध कराना अनिवार्य नहीं होता, अपितु इसमें ऐसे विशेषणों एवं कार्यों की योजना होती है जिनसे बीच-बीच में अप्रस्तुत अर्थ की भी प्रतीति होती रहती है। 'पदमावत' में यही पद्धति मिलती है। अतः इसे अन्योक्ति न कहकर समासोक्ति कहना ही युक्ति-संगत है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'पदमावत' में जायसी की प्रेम-कथा का मूलाधार तो भारतीय है, किन्तु उसकी प्रेम-पद्धति पूर्णतः फारसी या सूफी प्रेम-पद्धति के आधार पर ही पल्लवित हुई है। इसी कारण इसमें लौकिक प्रेम के द्वारा आध्यात्मिक प्रेम अथवा पार्थिव प्रेम द्वारा अपार्थिव प्रेम की ओर संकेत किया गया है, उसके लिए कवि ने प्रेम की गहनता, प्रेम की पीर की तीव्रता, प्रेम-मार्ग की भयंकर विघ्न-बाधाएँ एवं आपत्तियाँ पूर्ण मिलन के लिए 'फना' की पद्धति आदि का निरूपण किया है और इनके द्वारा एक उपासक जीव को अपने उपास्य—परमात्मा से मिलता हुआ दिखाया है परन्तु इस प्रेमाख्यान में केवल व्यंग्यार्थ ही प्रधान नहीं है, अपितु व्यंग्यार्थ के साथ-साथ वाच्यार्थ का भी अपना महत्त्व विद्यमान है। इसलिए जायसी की प्रेम-पद्धति में लौकिक प्रेम एवं आध्यात्मिक प्रेम तथा 'इश्क मजाज़ी' एवं 'इश्क हक़ीक़ी' दोनों का सफल सम्मिश्रण मिलता है।

जायसी का विरह-वर्णन

सूफी कवि होने के कारण जायसी का भावुक हृदय 'प्रेम की पीर' एवं विरह-वेदना में पूर्णतया निमज्जित दिखाई देता है और ऐसा जान पड़ता है कि जायसी के हृदय में विरह-वेदना स्वयं मूर्तिमान हो उठी है, इसी से जायसी विरह के गीत इतनी मर्मस्पर्शी वाणी में गा सके हैं, उतने अन्य गीत नहीं गा पाये हैं। 'पदमावत' एक विरह-प्रधान काव्य है। इसमें जायसी ने राजा रत्नसेन, पद्मावती नागमती और बादशाह अलाउद्दीन की विरह-भावना को अङ्कित किया है। राजा रत्नसेन की विरह-विह्वल दशा का वर्णन लगभग छः स्थलों पर मिलता है। पहले तो 'प्रेम-खण्ड' में हीरामन तोते के मुख से पद्मावती के अलौकिक एवं अपरिमित रूप-सौंदर्य की प्रशंसा सुनते ही राजा मूर्च्छित होकर विरह व्यथा में लीन हो जाते हैं। दूसरे, 'राजा-गजपति-खण्ड' में राजा गजपति से वार्त्तालाप करते समय राजा रत्नसेन की विरह

---

[१] हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० ४७१।

[२] जायसी-ग्रन्थावली (भूमिका), पृ० ५७।

[३] हिन्दी-साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २३५।

विह्वल स्थिति का चित्रण किया गया है। तीसरे, 'राजा-रत्नसेन सती-खंड' में पद्मावती के चले जाने पर राजा रत्नसेन की वियोग-व्यथा को अंकित किया गया है। चौथे, 'पार्वती-महेश-खंड' में महादेवजी से वार्त्तालाप करते समय राजा रत्नसेन की प्रेम-विह्वल विरहावस्था को चित्रित किया गया है। पाँचवें, 'राज-गढ़-छेंका-खंड' में तोते के गले में प्रेम-पत्र बाँधकर उससे पद्मावती के लिए सन्देश देते समय राजा रत्नसेन की विरह व्यथित दशा को अंकित किया गया है। छठे, 'लक्ष्मी-समुद्र-खंड' में पद्मावती से समुद्र में बिछुड़ जाने पर राजा रत्नसेन की विरह-विह्वल स्थिति का चित्रण किया गया। ऐसे ही जायसी ने रानी पद्मावती की विरह-भावना को पाँच स्थलों पर अंकित किया है। पहले तो 'पद्मावती-वियोग-खण्ड' में उसे अचानक ही विवाह से पूर्व राजा रत्नसेन के वियोग में पीड़ित दिखाया गया है। दूसरे, गंधर्व-मैत्री-खंड' में रानी पद्मावती राजा रत्नसेन के बारे में विचार करती हुई विरह-विह्वल होकर मूर्च्छित दिखाई गई है तथा उसके दारुण वियोग का वर्णन किया गया है। तीसरे, 'लक्ष्मी-समुद्र-खंड' में राजा रत्नसेन से वियुक्त होकर रानी पद्मावती को विरह-व्यथित स्थिति में चित्रित किया गया है। चौथे, 'पद्मावती-नागमती-विलाप-खंड' में राजा रत्नसेन के बन्दी होकर दिल्ली चले जाने पर रानी पद्मावती को विरह में अत्यधिक व्यथित दिखाया गया है। पाँचवें, 'पद्मावती-गोरा-बादल-संवाद-खंड' में गोरा और बादल से दिल्ली जाने के बारे में वार्त्तालाप करते हुए रानी पद्मावती को विरह-विह्वल स्थिति में चित्रित किया गया हैं। ऐसे ही रानी 'नागमती की विरह-स्थिति का वर्णन भी तीन स्थलों पर मिलता है। पहले तो 'नागमती-वियोग-खंड' में उसे राजा रत्नसेन के वियोग में अत्यधिक व्यथित एवं पीड़ित दिखाया गया है। दूसरे, 'नागमती सन्देश-खंड' में पक्षी के सम्मुख अपनी विरह-वेदना प्रकट करते हुए नागमती को विरह-व्यथित अंकित किया गया है। तीसरे, 'पद्मावती-नागमती-विलाप-खण्ड' में रानी पद्मावती के साथ-साथ रानी नागमती को भी राजा रत्नसेन के बन्दी होकर दिल्ली जाने पर अत्यन्त विरह-व्यथित दिखाया गया है। इनके अतिरिक्त बादशाह अलाउद्दीन की विरह-विह्वल स्थिति का चित्रण भी 'पद्मावती-रूप-चर्चा-खण्ड' में मिलता है, जहाँ राघवचेतन बादशाह के सम्मुख पद्मावती के अद्वितीय रूप-सौन्दर्य की चर्चा करता है और बादशाह उसे सुनते ही विरह-व्यथित होकर तड़पने लगता है। इस तरह जायसी ने विभिन्न पात्रों के माध्यम से अपने हृदय में स्थित विरह-विह्वलता एवं प्रेम की पीड़ा को अभिव्यक्त किया है। इनमें से नागमती की विरह-व्यथा सर्वोपरि है, वह भारतीय रमणी अपने पति के विछोह में अत्यन्त करुणा के साथ अपनी विरह-व्यथा प्रकट करती है और उसके पुनीत आँसुओं की धारा में सभी भावुक हृदय निमग्न होकर अपनी सुधबुध खो बैठते हैं। इसीलिए नागमती के वियोग-वर्णन को हिन्दी साहित्य की अद्वितीय वस्तु कहा गया है और विरह-निवेदन की दृष्टि से उसे हिन्दी-साहित्य की अनुपम निधि ठहराया गया है। सामूहिक रूप से विचार करने पर जायसी के विरह-वर्णन की अग्रलिखित विशेषताएँ प्रतीत होती हैं :—

(१) **रुदन का प्राधान्य**—जायसी के विरह-वर्णन में रुदन की प्रधानता है। 'पदमावत' के पुरुष एवं स्त्री—सभी पात्र विरह में अत्यधिक आँसू बहाते हुए है अपनी वेदना को व्यक्त करते हैं और उनके आँसुओं में कहीं-कहीं तो पर्वत के शिख भी डूब जाते हैं, समुद्र अपनी मर्यादा तोड़ देता है और सारी सृष्टि विरही के आँसु में डूब जाती है। जैसे—

पदिक पदारथ कर-हुंत खोबा। टूटहिं रतन, रतन तस रोवा॥
गगन मेघ जस बरसै भला। पुहुमी पूरि सलिल बहि चला॥
सायर टूट, सिखर गा पाटा। सूझ न बार पार कहुँ घाटा॥

(२) **विरह-ताप की अतिशयता**—जायसी ने विरह की तीव्रता के आधिक् को व्यक्त किया है और विरह-ताप की उस अतिशयता के मारे केवल विरहिणी ह संतप्त नहीं होती, अपितु उसकी विरहाग्नि में सम्पूर्ण सृष्टि प्रज्वलित होती हुई दृष्टि गोचर होती है। इसी कारण जायसी ने नागमती के विरह की आग में न केवल उ विरहिणी को ही जलता हुआ दिखाया है, अपितु सृष्टि के अन्य पदार्थों को भी जलत हुआ दिखाकर विरह-ताप की अतिशयता का इस प्रकार वर्णन किया है—

अस परजरा विरह कर गठा। मेघ साम भए धूम जो उठा॥
दाढ़ा राहु, केतू गा दाध। सूरज जरा, चाँद जरि आधा॥
औ सब नखत तराईं जरहीं। टूटहिं लूक, धरति महँ परहीं॥
जरैं सो धरती ठावँहि ठाऊँ। दहकि पलास जरै तेहि दाऊँ॥

(३) **विरह की सर्वव्यापकता**—जहाँ जायसी ने विरही की आग में सम्पू सृष्टि को प्रज्वलित होते हुए दिखाया है, वहाँ जायसी का यह मत है कि सृष्टि में त विरह अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। यहाँ तो कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो विर की अग्नि में न जल रहा हो, क्योंकि विश्व के व्यक्ति ही नहीं, अपितु पशु-पक्षी, सूर्य, आकाश, पाताल, स्वर्ग आदि ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थ निरन्तर विरह की अग्नि में जलते रहते हैं। जैसे सूर्य की दशा देखिए—

विरह के आगि सूर जरि काँपा। रति दिवस जरै ओही तापा॥
खिनहिं सरग, खिन जाइ पतारा। थिर न रहै एहि आगि अपारा॥

(४) **विरह-वेदना के मर्मस्पर्शी चित्र**—जायसी ने केवल विरह-ताप क विवरण ही नहीं दिया है, अपितु विरही जनों की पीड़ा, वेदना, कसक एवं टीस की मर्मस्पर्शी दशा का निरूपण करते हुए विरह-वेदना के हृदय-विदारक चित्र अंकित किए हैं। जैसे, रत्नसेन के हृदय में विरह की पीड़ा के जाग्रत होते ही उनकी कैसी दारु स्थिति उत्पन्न होती है—

विरह-भौंर होइ भाँवरि देई। खिन खिन जीउ हिलोरा लेई॥
खिनहिं उसाँस बूढ़ि जिउ जाई। खिनहिं उठै निसरै बौराई॥
खिनहिं पीत, खिन होइ मुख सेता। खिनहिं चेत, खिन होइ अचेता॥

इसी तरह नागमती के हृदय में व्याप्त विरह-वेदना के कारण उसकी दयनीय स्थिति का मार्मिक चित्र देखिए, जो कितना प्रभावशाली है—

विरह बान तस लाग, न डोली। रकत पसीज, भींजि गई चोली ॥
सूखर हिया, हार भा भारी। हरे हरे प्रान तजहिं सब नारी ॥
खन एक आव पेट महँ साँसा। खनहिं जाइ जिउ होइ निरासा ॥
पवन डोलावहिं, खींचहि चोला। पहर एक समुझहिं, मुख-बोला ॥

(५) प्रकृति की संवेदना—जायसी के विरह-विदग्ध पात्रों के साथ प्रकृति भी पूर्ण संवेदना प्रकट करती हुई जान पड़ती है। इसीलिए 'पदमावत' में पशु-पक्षी, पेड़, पत्ते, पौधे, पुष्प, लता आदि सभी प्राकृतिक पदार्थ विरही जनों के निकट सम्बन्धी बन गये हैं और विरही जनों की व्यथा बड़ी तत्परता के साथ सुनते हैं। इसी कारण नागमती के विरह-संदेश को सुन-सुनकर पक्षी उसके विरह से जलने लगते हैं, वृक्ष अपने पत्ते गिराने लगते हैं—

जेहि पंखी के निअर होइ, कहै विरह कै बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होइ निपात ॥

इतना ही नहीं, एक पक्षी तो केवल संवेदना प्रकट करके ही नहीं रह जाता, अपितु नागमती का संदेश लेकर सिंहलद्वीप तक जाता है और राजा रत्नसेन को नागमती की विरह-कथा सुनाकर ही चैन लेता है—

(क) लेइ सो सँदेस बिहंगम चला। उठी आगि सगरौं सिंघला ॥

(ख) कहि सँदेश बिहंगम चला। आगि लागि सगरौं सिंघला ॥
घरी एक राजा गोहरावा। भा आलोप, पुनि दिष्ट न आवा ॥
पंखी नावँ न देखा पाँखा। राजा रोइ फिरा कै साँखा ॥

(६) विरही की निरवलम्बता—जायसी ने विरह-दशा के अन्तर्गत विरही जन की निरम्बलता का बड़ा ही विशद निरूपण किया है। इसीलिए रानी पद्मावती कह रही है कि वियोग की हवा आई, जिससे पेड़ का पत्ता बेचैन हुआ और पेड़ से टूटकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। अब यदि पेड़ ही उसे चूर-चूर करके ठुकरा दे, तो वह बेचारा अन्य किस वृक्ष की डाल पर जाकर आश्रय ले ? अर्थात् यदि अपना प्रियतम ही प्रिया को ठुकरा दे, तो फिर उसे कहाँ शरण मिल सकती है—

आवा पौन बिछोह कर, पात परा बेकरार।
तरिवर तजै जो चूरि कै, लागै केहि की डार ॥

(७) विरही जनों की अत्यधिक कृशता—जायसी ने विरह की पीर का व्यापक एवं मार्मिक प्रभाव डालने के लिए अपने विरही जनों की कृशता को अत्यधिक बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया है। इसीलिए विरह में बेचारी नागमती जलकर कोयला हो जाती है, उसके शरीर में तोले भर भी मांस नहीं रहता, रक्त की एक बूँद शेष नहीं रहती है और विरह में उसका सारा शरीर गल-गलकर क्षीण हो जाता है—

दहि कोइला भई कंत सनेहा। तोला माँसु रही नहीं देहा ॥
रक्त न रहा, विरह तन गरा। रती-रती होइ नैनन ढरा ॥

इसी तरह पद्मावती भी प्रियतम के वियोग में सूखकर रस्सी जैसी दुर्बल जाती है—

लेजुरि भई नाह बिनु तोहीं । कुवाँ परी, धरि काढ़सि मोहीं ।।

(८) **तीज-त्यौहारों द्वारा विरहाधिक्य का निरूपण**—जायसी ने विरह पीड़ा को अत्यधिक उग्र एवं प्रचण्ड रूप में प्रदर्शित करने के लिए एक और पद्ध अपनाई है, जो पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है, क्योंकि प्रायः संयोग के सुखद उत्सव, ती त्यौहार, पर्व आदि जब आते हैं, तब उन अवसरों पर विरही जन अत्यन्त बेचैन ए व्यग्र देखे जाते हैं। जायसी ने 'पदमावत' में भी तीज-त्यौहारों का उल्लेख कर नागमती की तीव्रतम पीड़ा एवं असह्य वेदना की अतिशयता को इस प्रक दिखाया है—

अबहूँ निठुर आउ एहि बारा । परब दिवारी होइ संसारा ।।

अथवा

सखि झूमक गावै अँग मोरी । हौं झुरावँ बिछुरी मोरि जोरी ।।

(९) **उच्च विरही पात्रों की भी साधारण स्थिति**—जायसी के विरह-निरू में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ राजा, रानी जैसे उच्च एवं सम्पन्न पात्र एक साधारण पुरुष एवं स्त्री की भाँति विरह की पीड़ा सहन करते हुए दिखाये हैं। इसी कारण चित्तौड़गढ़ में अनेक दास-दासी, नौकर-चाकर, शूर सामन्त आदि रहते हुए भी चित्तौड़ की महारानी नागमती को वर्षा ऋतु के आते ही सबसे ब चिन्ता यह है कि प्रियतम के बिना उसके घर का छप्पर कौन छवायेगा और इसलि वह पुकार उठती है—

तपै लागि अब जेठ-असाढ़ी । मोहि पिउ बिनु छाजनि भइ गाढ़ी ।।
× + ×
कोरौं कहाँ ठाट नव साजा । तुम बिनु कंत न छाजनि छाजा ।।

(१०) **विरह में सात्विकता का प्राधान्य**—जायसी ने जिस विरह का निरू किया है, उसमें भोग-विलास की प्रधानता नहीं है, अपितु सात्विकता की प्रधानता है क्योंकि जायसी के सभी विरही वियोगाग्नि में जलकर इतने पवित्र, इतने विनम्र, इत शुद्ध एवं इतने सात्विक बन जाते हैं कि उनके हृदय में गर्व एवं अहंकार लेशमा भी नहीं रहता, विषयों के प्रति तनिक भी रुचि नहीं रहती, अपितु वे आग में तप हुए स्वर्ण की भाँति कुन्दन बन जाते हैं, उनके रजोगुण एवं तमोगुण पूर्णतया वियो गाग्नि में जलकर भस्म हो जाते हैं और केवल सतोगुण की प्रबलता हो जाती है। इसी कारण तो विरहिणी नागमती भोगों के प्रति अपनी उदासीनता व्यक्त करती ह कह रही है—

मोहि भोग सों काज न बारी । सौंह दीठि की चाहनहारी ।।

इतना ही नहीं, वह तो अपने शरीर को जलाकर भस्म कर देना चाहती और वह सात्विक कामना व्यक्त करती हुई पवन से कहती है कि मेरी इस भस्म

चारों ओर उड़ाकर बिखरा दे, जिससे यह भस्म उड़कर उस मार्ग पर जा गिरे जिस पर मेरे प्रियतम अपने पैर रखकर चल रहे हों—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन ! उड़ाव ।
मनु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाँव ।।

विरह ने जो सात्विकता एवं पवित्रता नागमती के हृदय में उत्पन्न की है, वैसी ही सात्विकता एवं पवित्रता हम राजा रत्नसेन के हृदय में भी देख सकते हैं, जो विरह के कारण ही इस भौतिक कष्टों से भरे हुए मृत्युलोक से कुछ क्षणों के लिए अमरलोक में पहुँच जाते हैं और सचेत होने पर पुकार उठते हैं—

जब भा चेत उठा बैरागा । बाउर जनौं सोइ उठि जागा ।।
आवत जग बालक जस रोआ । उठा रोइ 'हा ग्यान सो खोआ' ।।
हौं तो अहा अमरपुर जहाँ । इहाँ मरनपुर आएउँ कहाँ ।।

(११) फारसी वर्णन-पद्धति का प्रभाव—जायसी के विरह-निरूपण पर फारसी विरह-वर्णन की पद्धति का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है । इसीलिए जायसी ने विरह में अतिशयता का उल्लेख किया है, 'प्रेम की पीर' के आधिक्य का वर्णन किया है, और सबसे अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि सभी विरहियों की आँखों से आँसुओं के स्थान पर रक्त की धारा बहने का वर्णन किया है । इसी कारण जब विरह की पीड़ा से बेचैन होकर रत्नसेन रोता है, तब उसकी आँखों से भी खून की झड़ी लग जाती है, जिससे उसका वस्त्र तक लाल हो जाता है—

नैनहिं चली रकत की धारा । कंथा भीजि भयेउ रतनारा ।।

ऐसे ही नागमती भी वियोग में कोयल की तरह कूकती हुई रोती है और उसकी आँखों से भी खून के आँसू गिरते हैं, जिसके भूमि पर गिरने पर घुंघची या गुंजा के ढेर लग जाते हैं—

कुहुक-कुहुक जस कोइल रोई । रकत-आँसु घुंघुची बन बोई ।।
जहँ जहँ ठाढ़ि होइ बनवासी । तहँ तहँ होइ घुंघुचि कै रासी ।।

इतना ही नहीं, फारसी विरह-पद्धति में प्रायः प्रेमी जन अपने हृदय को कीमा बनाकर कोफ्ते या कबाब की तरह शलाकाओं पर लपेटकर आग में भूना करते हैं । यहाँ जायसी ने भी विरहिणी नागमती के हृदय को विरह की शलाकाओं पर कीमे या कबाब की तरह भुनते हुए दिखाया है और आँखों से रक्त के आँसुओं का भी बहना लिखा है, जो पूर्णतया फारसी विरह-पद्धति के प्रभाव का द्योतक है—

विरह सरागन्हि भूँजेसि माँसू । ढरि-ढरि परहिं रकत के आँसू ।।

इस प्रकार जायसी के विरह-वर्णन में वेदना, व्यथा एवं पीड़ा का आधिक्य है; उसमें कोमलता, सरलता एवं गम्भीरता भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है और षड्ऋतुओं एवं बारहमासे के रूप में प्रकृति का भी अत्यधिक सहयोग लिया गया है । इसके साथ ही चिन्ता, व्यथा, गुण-कथन, मूर्च्छा, व्याधि आदि दस काम दशाएँ भी विद्यमान हैं, परन्तु कवि ने प्रायः अतिशयोक्ति एवं अत्युक्ति का सहारा लेकर विरह-व्यथा को खूब बढ़ाकर लिखा है । फिर भी कवि का यह विरह-वर्णन बिहारी आदि रीति-

कालीन कवियों की भाँति मज़ाक की हद तक नहीं पहुँचा है, उसमें संवेदनशीलता प्रभावोत्पादकता अधिक है, उसके प्रत्येक शब्द में हृदय को दोलायमान करने की शक्ति है और उसके प्रत्येक स्थल विरह की आकुलता, टीस, तड़प आह एवं दर्द से हुए हैं। अतएव यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि जायसी ने बड़ी लगन, तत् एवं निष्ठा के साथ विरह का वर्णन किया है और उनकी विरह-व्यथा में जड़- सभी को प्रभावित करने की अद्भुत क्षमता है।

जायसी का रहस्यवाद

जायसी एक उच्च कोटि के रहस्यवादी कवि थे। उनके महाकाव्य 'पदमा में अनेक स्थलों पर ऐसी रहस्यात्मक उक्तियाँ मिलती हैं जिन्हें पढ़कर अनायास उनके रहस्यवाद का पता लग जाता है। इन उक्तियाँ में कहीं तो 'रवि ससि न दिपहिं ओहि जोती' कहकर उस अव्यक्त एवं अगोचर सत्ता की ओर संकेत किया है, जो अनन्त आलोकमयी है और जिसके आलोक से सम्पूर्ण ज्योतिमय पदार्थ आ कित होते हैं, कहीं 'ना वह मिला न बेहरा ऐस रहा भरपूर' कहकर उस सत्ता सर्वव्यापकता की ओर संकेत किया गया है, कहीं 'परगट गुपुत सकल महँ पूरि रहा नावँ, जहाँ देखो तहँ ओही दूसरि नहिं जहँ जावँ' कहकर उस सत्ता की सर्वत्र वि मानता का वर्णन किया गया है, कहीं 'उन्ह बानन अस को जो न मारा, वेधि सगरौ संसारा' कहकर जगत् के अणु-अणु एवं कण-कण में उसकी सत्ता के आभ की ओर संकेत किया गया है, 'कहीं नयन जो देखा कमल भा' या 'हँसत जो दे हंस भा' कहकर संसार के प्रत्येक पदार्थ को उसी मूल सत्ता का प्रतिबिम्ब बता गया है और कहीं 'पिउ हिरदय महँ भेंट न होई' कहकर प्रत्येक जीवात्मा के अन्त अद्वैत भाव के साथ विद्यमान उस परम सत्ता की ओर संकेत किया गया है। तरह सर्वात्मवाद, प्रतिबिम्बवाद तथा अद्वैतवाद के सहारे जायसी ने उस अगम-अगो सत्ता को अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त बताया है तथा जीव और जगत् के साथ उस अद्वैत भाव बताते हुए विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों को उसी परम सत्ता का प्रतिबि सिद्ध किया है।

जायसी ने उस परम सत्ता के अतिरिक्त अपनी रहस्यात्मक उक्तियों में प सत्ता के उस अव्यक्त, अगोचर एवं अगम्य स्थान की ओर भी संकेत किये हैं, जहाँ सूर्य-चन्द्र पहुँच पाते हैं, न पवन पहुँच सकता है और जहाँ साधना के बिना कोई जा पाता। इसलिए 'चाँद सुरुज औ नखत तराई, तेहि डर अन्तरिख फिरहिं सब कहकर चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, तारे आदि के लिए उसे अगम्य बताया है, 'पौन जाइ पहुँचै चहा, मारा तैस लोटि भुँइ रहा' कहकर पवन के लिए भी उसे अगम्य सि किया है, 'अगिन उठी जरि बुझी निआना, धुँआ उठा उठि बीच बिलाना' कह अग्नि एवं धुँआ की भी वहाँ तक पहुँचने की असमर्थता सिद्ध की है, 'पानि उठा उ जाइ न छुआ, बहुरा रोइ आइ भुँइ चुआ' कहकर पापी के लिए वह स्थान अग सिद्ध किया है। इतना ही नहीं, जायसी ने 'जेइ वह पाँई छाँह अनूपा, फिरि नहिं सहे यह धूपा' कहकर उस विराट सत्ता के स्थान को अनुपम छाया से युक्त बता

है, क्योंकि जो भी साधक साधना के द्वारा वहाँ पहुँच जाता है, उसे फिर सांसारिक सन्तापों के सहने के लिए यहाँ नहीं आना पड़ता है और वह आगमन के चक्र से मुक्त हो जाता है। परन्तु इतना ऊँचा होने पर भी वह स्थान कहीं दूर नहीं है, वह हमारे ही हृदय में विद्यमान है, किन्तु ज्ञान-चक्षु वाले साधक ही उसे देख पाते हैं। इसी कारण जायसी ने 'अहुठ हाथ तन सरवर हिया कवँल तेहि माँह, नैनहि जानहु नीयरे कर पहुँचत औगाह' कहकर प्रत्येक जीवात्मा के शरीर-सरोवर में हृदय-कमल के रूप में उस ब्रह्म का स्थान बताया है, जो स्थूल आँखों से तो निकट जान पड़ता है, किन्तु अगाध जल में अवगाहन किये बिना हाथ से उसे कोई ग्रहण नहीं कर सकता। इसी प्रकार जायसी ने 'होइ बिवाह पुनि होइहि गवना, गवनब तहाँ बहुरि नहिं अवना' कहकर भी उस स्थान की ओर संकेत किया है, जहाँ आत्मा परमात्मा के साथ एकाकार हो जाने पर फिर इस भौतिक जगत् में नहीं आती।

इसके अतिरिक्त जायसी ने अपनी रहस्यात्मक उक्तियों में उस परम सत्ता के साधक, साधना-पथ एवं साधना-पथ के विघ्नों का भी बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। 'प्रेम-खण्ड' में कवि ने परम सत्ता की प्राप्ति के लिए हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न होने पर साधक की पागलों की सी दशा होती है। इसका बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है, जिसमें 'उठा रोइ हो ग्यान सो खोआ' कहकर साधक को बालक की तरह रोते हुए दिखाया है और 'हौं तो अहा अमरपुर जहाँ, इहाँ मरनपुर आएउँ कहाँ' कहकर साधक की उस 'हाल' की स्थिति की ओर संकेत किया है, जिसमें वह कुछ क्षणों के लिए उस परम सत्ता के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करके इस जगत् के प्रपंचों से मुक्त हो जाता है और अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करता है। साधना का यह पथ सरल एवं सुगम नहीं है। कवि ने 'ओहि पथ जाइ जो होइ उदासी, जोगी जती तपा संन्यासी' कहकर संसार से पूर्ण विरक्त योगी, तपस्वी, संन्यासी आदि को ही इस साधना-पथ के पथिक बताया है। साथ ही जायसी ने 'है आगे परबत कै बाटा, विषम पहार अगम सुठि घाटा', 'बिच बिच नदी खोइ औ नारा, ठावहिं ठाँव बैठ बटपारा' तथा 'हनुवँत केर सुनब पुनि हाँका, दहुँ को पार होइ को थाका' कहकर साधना-पथ की अन्यान्य बाधाओं का भी उल्लेख किया है।

जायसी ने अपने रहस्यवाद के अन्तर्गत आत्मा और परमात्मा के आध्यात्मिक मिलन की स्थिति का भी बड़ा ही रोचक वर्णन किया है। इसीलिए कवि स्वयं आत्मा के मुख से कहलवा रहा है कि "शृङ्गार करके उस प्रियतम के पास किस स्थान पर जाऊँ? अब तो मैं उसको स्थान-स्थान पर सर्वत्र देख रही हूँ। मेरे हृदय में वही प्राण प्यारा बैठा है। शरीर में भी वही है, जो मुझसे अलग नहीं हो सकता। आँखों में देखो तो वही बसा हुआ है। मैं तो जहाँ देखती हूँ, वहाँ उसके सिवाय कोई और दूसरा मुझे दिखाई नहीं देता। मेरे अन्तर में समाये हुए अपने रस को वही स्वयं पी रहा है और वही बाहर मेरे अधरों से लगकर मुझे चुम्बन-रस दे रहा है। हृदय रूपी थाल में स्तन रूपी सुनहरी लड्डू रखकर मैंने बड़े चाव से उसके आगे रखे और उस

प्रियतम से मधुर वचनों के साथ संयोग किया। मेरी कटि पुलकित होकर उस कटि के साथ लगकर सुशोभित हुई, मानो मेरे रमण ने प्रसन्न होकर मेरे शरीर-कं को कसौटी पर कसा हो। मेरी सारी जवानी उसी में जाकर मिल गई। मैं तो कौ में ही आनन्द के मारे स्वयं को भूल गई। जैसे कोई कुछ धरोहर किसी के पास देता है और कुछ काल के पश्चात् फिर उसे सँभालकर ले लेता है, वैसे ही मेरे प्रियत ने कुछ शृङ्गार मेरे पास धरोहर के रूप में रख दिये थे, जिन्हें आज उसने सँभालक ले लिया। मैं तो केवल उसकी धरोहर को ही रखने वाली रही। मेरे पास जो कु है, सर्वस्व उसी का है और आज मैंने उसी को वह सब कुछ सौंप दिया।"[1]

इस प्रकार 'पदमावत' में रहस्यवाद की सभी स्थितियाँ विद्यमान हैं। जाय ने साधक की जिज्ञासा, साध्य के महत्त्व का प्रदर्शन, उसके दर्शन या मिलन के प्रयत् भौतिक विघ्नों एवं वेदना की विवृत्ति, साध्य के दर्शन का अभ्यास, सांसारिक प्रपं का ज्ञान एवं अपरोक्ष अनुभूति, साध्य एवं साधक के मिलने की आनन्दमयी स्थि आदि के बड़े ही सजीव एवं मार्मिक चित्र अङ्कित किये हैं, उन्माद एवं मदहोश अवस्था का बड़ा ही व्यापक चित्रण किया है, उत्कण्ठा एवं विरह की विह्वलता खूब बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया है, हठयोग एवं रसायन आदि का आश्रय लेकर साधना- का भी निरूपण किया है और हृदय में विद्यमान उस आलोकमयी सत्ता के समीप भाव की अनुभूति द्वारा उत्पन्न अपरिमित आनन्द की व्यंजना भी बड़े ही मार्मि शब्दों में की है। अतः जायसी के रहस्यवाद में रहस्यात्मक अनुभूति का प्राधान्य उस अनुभूति के वर्णनों में भावुकता का प्राधान्य है और उस भावुकता के वर्णन रहस्यात्मक संकेतों एवं भावात्मक अभिव्यक्ति का प्राधान्य है। इसी से जायसी रहस्यवाद का सरस एवं रोचक वर्णन मिलता है, उसमें भावात्मक वर्णनों की प्रचुर दिखाई देती है, उसमें सरस एवं मधुर उक्तियों का बाहुल्य दिखाई देता है और उ संवेदनशीलता एवं सहानुभूति के साथ-साथ रमणीयता एवं रसमयता के द होते हैं।

---

[1] करि सिंगार तापहँ का जाऊँ। ओही देखहुँ ठाँवहि ठाऊँ॥
जौ जिउ महँ तौ उहै पिथारा। तन मन सौं नहिं होइ निनारा॥
नैन माँह है उहै समाना। देखौ तहाँ नाहिं कोउ आना॥
आपन रस आपु पै लेई। अधर सोइ जागै रस देई॥
हिया थार कुच कंचन लाडू। अगमन भेंट दीन्ह कै चाँडू॥
हुलसी लंक लंक सौं लसी। रावन रहसि कसौटी कसी॥
जोवन पवै मिला ओहि जाई। हौं रे बीच हुंत गहउँ हेराई॥
जस किछु देह धरैं कहँ, आपन लेइ सँभारि।
तस सिंगार सब लीन्हेसि, मोहि कीन्हेसि ठठियारि॥

कबीर और जायसी के रहस्यवाद की तुलना

रहस्यवाद के वर्णन की दृष्टि से कबीर और जायसी दोनों ही हिन्दी के उच्च कोटि के कवि हैं। दोनों की रहस्यानुभूति उच्च कोटि की है और दोनों ने उस अगम एवं अगोचर सत्ता के प्रति अपनी अनूठी रहस्यात्मक उक्तियों द्वारा मार्मिक संकेत किए हैं। अतएव उनके रहस्यवाद का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों के साम्य एवं वैषम्य पर दृष्टिपात किया जाय। दोनों की रहस्यानुभूति एवं रहस्याभिव्यक्ति में जो-जो साम्य अथवा वैषम्य दिखाई देता है, वह इस प्रकार है :—

साम्य—(१) कबीर और जायसी दोनों ही उच्च कोटि के साधक एवं भक्त कवि हैं। अतएव साधना के क्षेत्र में दोनों ही साधनात्मक रहस्यवाद को मानने वाले हैं। इसी कारण दोनों कवियों ने हठयोग, तन्त्र, रसायन आदि का उल्लेख किया है।

(२) दोनों ही कवियों में प्रेम की तन्मयता एवं प्रेमानुभूति भी उच्च कोटि की है, जिसका ज्वलन्त उदाहरण कबीर के विरहिणी सम्बन्धी दोहे हैं और जायसी का 'पदमावत' तो विरह एवं प्रेमानुभूति का भण्डार है। इसी कारण प्रेम की तीव्रता, विरह की मादकता, वियोग-जन्य विह्वलता एवं बेचैनी, अपने साध्य के लिए सर्वस्व अर्पण करने की उत्कट भावना, लौकिक प्रेम को अलौकिक एवं आध्यात्मिक प्रेम में परिणत करने की अनुपम क्षमता, आत्मा-परमात्मा के मिलन की रमणीयता आदि की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त साम्य दिखाई देता है।

(३) दोनों कवियों ने आत्मा एवं परमात्मा के मिलन में 'माया' को बाधक सिद्ध किया है। इसी कारण कबीर ने माया को 'महा ठगिनि' कहकर आत्मा को भ्रमित करने वाली बताया है और जायसी ने भी 'माया अलाउदी सुलतानू' कहकर माया को आत्मा और परमात्मा के मिलन-मार्ग में बाधा डालने वाली सिद्ध किया है।

(४) दोनों कवियों ने परमात्मा से वियुक्त आत्मा को पहले परमात्मा के बिछोह में पागल एवं विह्वल दिखाया है, फिर मिलन के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न करते हुए, नाना विघ्नों एवं बाधाओं का सामना करते हुए भी चित्रित किया है। तदनन्तर अपनी एकाग्रता, अनन्यता एवं लगन के कारण सम्पूर्ण विघ्नों एवं अपराधों पर विजय प्राप्त करके परमात्मा के साथ एकात्मभाव प्राप्त करते हुए अङ्कित किया है। अतः दोनों ने प्रेम, विरह, प्रयत्न एवं मिलन की समान अवस्थाओं को चित्रित किया है।

(५) दोनों कवियों ने दाम्पत्य भाव द्वारा आत्मा-परमात्मा के मिलन की भावना को चित्रित किया है, जिससे दोनों ने ही माधुर्य एवं रति-भाव को महत्त्व देते हुए आत्मा के मिलन के क्षणों का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है।

(६) दोनों ने उस रहस्यमयी सत्ता को सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी तथा सार्व सत्तामयी सिद्ध किया है और 'अहं ब्रह्माऽस्मि' के सिद्धान्त का अनुसरण करते अपने अन्तर्गत ही उस सत्ता के दर्शन किये हैं और अपने हृदय में ही आत्मा-परमा के मिलन को सँजोया है। अतएव दोनों अद्वैतवादी हैं।

(७) दोनों कवियों ने उस अनन्त एवं असीम सत्ता की अनुभूति प्राप्त क के लिए विषय-वासनाओं एवं समस्त विकारों के पूर्ण परित्याग द्वारा सांसारि के बहिष्कार पर जोर दिया है तथा एक दिव्य एवं आध्यात्मिक वातावरण द्वारा निकट पहुँचने का आग्रह किया है। अतएव दोनों ही सांसारिक एवं भौतिकता के विरोधी हैं और आध्यात्मिकता के द्वारा रहस्यानुभूति को प्राप्त करने के लिए देते हैं।

(८) दोनों कवियों ने आत्मा एवं परमात्मा को मिलाने में गुरु का मह स्वीकार किया है और गुरु को परमात्मा के तुल्य ही आदर एवं प्रतिष्ठा प्र की है।

(९) दोनों कवियों ने उस रहस्यमयी सत्ता के संकेत के लिए अतिशयो एवं अत्युक्ति का सहारा लिया है। इसी से दोनों में दूरारूढ़ व्यंजना के होते हैं।

(१०) दोनों ही कवियों ने रूप एवं अरूप, ससीम एवं असीम, सान्त अनन्त, हद एवं बेहद में एकरूपता एवं समन्वय स्थापित करते हुए आध्यात्मि विवाह द्वारा आत्मा एवं परमात्मा की एकता, अभिन्नता एवं अखण्डता सिद्ध की और दोनों के मिलन पर अखण्ड एवं अभेद्य आनन्द का वर्णन किया है, जो बाह्येन्द्रि से सर्वथा परे आन्तरिक अनुभूति की वस्तु है तथा जिसे प्राप्त करके और कुछ प शेष नहीं रहता।

वैषम्य—(१) कबीर के रहस्यवाद में विरह-वर्णन के अन्तर्गत तो सरसता रमणीयता के दर्शन होते हैं, किन्तु सर्वत्र ऐसी सरसता, रमणीयता एवं मधुरता है, जबकि जायसी के रहस्यात्मक वर्णनों में सर्वत्र एक उच्च कोटि की सरस रमणीयता एवं मधुरता के दर्शन होते हैं। अतः कबीर का रहस्यवाद नीरस एवं शु है और जायसी का रहस्यवाद सरस, रमणीय एवं मधुर है।

(२) कबीर ने रहस्यवाद में आत्मा और परमात्मा का सीधा सम्ब स्वीकार किया है, जबकि जायसी ने आत्मा और परमात्मा के मध्य प्रकृति को महत्त्व दिया है तथा प्रकृति को परमात्सा का ही स्वरूप मानकर उसे अनन्त मा एवं अनन्त सौंदर्य से सम्पन्न सिद्ध किया है। इसी कारण कबीर जहाँ 'प्रकृति' 'माया' रूप की निन्दा करते हुए उसे 'महाठगिनी' या 'कलवारिनि' या 'रमैया जोरू' आदि कहते हैं, वहाँ जायसी 'प्रकृति' की प्रशंसा करते हुए नहीं अघाते

'गगन नखत जो जाहिं न गने, सो सब बान ओहि के हने' कहकर आकाश के नक्षत्र आदि प्रकृति के पदार्थों को ब्रह्म का ही रूप सिद्ध करते हैं।

(३) प्रकृति के सरस, सुन्दर एवं मनोरंजक वर्णनों के कारण जहाँ जायसी की रहस्यवादी कविता एक अद्‌भुत एवं अलौकिक सरसता एवं सजीवता से ओत-प्रोत दिखाई देती है, वहाँ प्रकृति की निन्दा एवं उसके बहिष्कार तथा यौगिक साधनाओं के योग की बहुलता के कारण कबीर की रहस्यमयी उक्तियाँ शुष्क एवं नीरस हो गई हैं। इसी कारण जायसी के रहस्यवाद में भावात्मकता का प्राधान्य है और कबीर के रहस्यवाद में शुष्कता एवं नीरसता से युक्त साधनात्मकता का प्राधान्य है।

(४) कबीर में ज्ञान की अधिकता ने प्रेम एवं विरह-भावना को दबा रखा है, जबकि जायसी में प्रेम एवं विरह-भावना की अधिकता के कारण ज्ञान दबा हुआ है। इसी से कबीर की रहस्यात्मक उक्तियों में प्रेम एवं विरह पर ज्ञान की विजय हुई है, और जायसी की उक्तियों में ज्ञान पर प्रेम एवं विरह की विजय दृष्टिगोचर होती है, जिनमें प्रेमोन्माद एवं बेहोशी आदि का वर्णन अधिक मिलता है।

(५) जायसी ने अपने प्रेमाख्यान के बीच-बीच में रहस्यमयी उक्तियों को हठात् ठूँसकर कथा-प्रवाह में बाधा उत्पन्न की है और इसी से उनके प्रबन्ध के मध्य रहस्यमयी उक्तियाँ थिगली-सी जान पड़ती हैं, जबकि कबीर ने किसी प्रेमाख्यान का सहारा न लेकर विशुद्ध रहस्यमयी उक्तियों का उल्लेख किया है। इसी कारण कबीर को विशुद्ध रहस्यवाद का प्रणेता माना जाता है और जायसी को मिश्रित रहस्यवाद का।

(६) कबीर के रहस्यवाद में भारतीय साधना-पद्धति, दार्शनिक विचारधारा एवं भक्ति-मार्ग का प्रभाव होने के कारण वैयक्तिकता एवं एकान्तिकता का प्राधान्य है, जबकि जायसी के रहस्यवाद में सूफी-भावना एवं सूफी-साधना का प्रभाव होने के कारण समष्टिमूलकता एवं सांकेतिकता का प्राधान्य है।

(७) जायसी तथा कबीर दोनों ने आत्मा एवं परमात्मा के मिलन हेतु दाम्पत्य भाव को स्वीकार किया है, परन्तु जायसी ने फारसी पद्धति के आधार पर आत्मा को पुरुष एवं परमात्मा को स्त्री रूप में माना है, जबकि कबीर ने भारतीय पद्धति के अनुसार आत्मा को स्त्री एवं परमात्मा को पुरुष रूप में स्वीकार किया है।

(८) जायसी की दृष्टि समष्टिमूलक होने के कारण उन्होंने विश्व के कण-कण एवं अणु-अणु को अनन्त सौन्दर्य से युक्त देखा है और विश्व के किसी भी पदार्थ को त्याज्य एवं असुन्दर नहीं कहा है, जबकि कबीर ने विश्व को मिथ्या मानकर विश्व के किसी भी पदार्थ में अनन्त आलोक एवं अनन्त सौन्दर्य के दर्शन नहीं किए हैं।

(९) जायसी का रहस्यवाद एक प्रेमाख्यान के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। इसलिए उसमें नाटकीयता एवं मधुरता अधिक है, जबकि कबीर के रहस्यवाद में इनका सर्वथा अभाव है।

(१०) कबीर ने ब्रह्म का निवेदन करते हुए उसे स्थान-स्थान पर अकथ,

अनिर्वचनीय आदि कहा है, जबकि जायसी ने उसे दुर्गम तो अवश्य बताया है, किन्तु उक्त विशेषणों का प्रयोग नहीं किया है।

(११) दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि जायसी के रहस्यवाद में सर्वात्मवाद, प्रतिबिम्बवाद तथा अद्वैतवाद का सम्मिश्रण है, जबकि कबीर में सर्वात्मवाद से मिश्रित अद्वैतवाद के ही दर्शन होते हैं।

(१२) कवि-कौशल एवं काव्यत्व की दृष्टि से जायसी की रहस्यात्मक उक्तियों में अनेकरूपता एवं मधुरता के साथ साथ रमणीय एवं मर्मस्पर्शी दृश्य-संकेतों की बहुलता के भी दर्शन होते हैं, जबकि कबीर में ऐसी उक्तियाँ अपेक्षाकृत कम हैं।

(१३) कबीर में तत्त्व-चिन्तन का प्राधान्य है, जबकि जायसी में भावात्मक प्रणाली का। इसी से कबीर की अपेक्षा जायसी की रहस्यमयी कविता अधिक आकर्षक एवं मनमोहक है और उसमें शृङ्गार एवं रतिभाव की प्रबलता के साथ साथ सौन्दर्य एवं माधुर्य भी अधिक है।

(१४) कबीर ने आत्मा और परमात्मा के मिलन के लिए सदाचार, भक्ति एवं मध्यम मार्ग को अपनाते हुए आन्तरिक साधना पर जोर दिया है, जबकि जायसी ने शरीअत, तरीक़त, हक़ीकत एवं मारिफ़त नामक दशाओं के आधार पर अन्तिम मरिफ़त दशा में 'आलमे-लाहूत' के अन्तर्गत आत्मा के 'फ़ना' होने पर ही आत्मा परमात्मा को शराब और पानी की भाँति घुलते-मिलते सिद्ध किया है। अतः कबीर में आत्मा स्वयं ब्रह्मरूप हो जाती है, जबकि जायसी में आत्मा परमात्मा में पूर्णतया विलीन होकर परमात्म भाव को प्राप्त होती है।

सारांश यह है कि कबीर साधनात्मक रहस्यवाद की दृष्टि से उच्च कोटि के रहस्यवादी कवि हैं और जायसी अपने भावनात्मक रहस्यवाद के वर्णन में सर्वोपरि हैं। जायसी का रहस्यवाद काव्य की मनोरम उक्तियों से ओतप्रोत है और कबीर का रहस्यवाद साधन की शुष्क प्रणालियों से परिपूर्ण है। जायसी में प्रेम एवं विरह-व्यंजना का आधिक्य है, कबीर में ज्ञान एवं तत्त्व-चिन्तन का प्राधान्य है। कबीर भारतीय भावनाओं से ओत-प्रोत होने के कारण शुष्क एवं नीरस हैं और जायसी फ़ारस की सूफी भावनाओं के अनुयायी होने के कारण इश्क, शराब, साक़ी, प्याला आदि के साथ-साथ प्रेम के सरस एवं मधुर भावों से भरे हुए हैं। इसी कारण जायसी का रहस्यवाद काव्य की मधुर अभिव्यक्ति से परिपूर्ण है और कबीर में काव्य की सरसता एवं मधुरता का अभाव दृष्टिगोचर होता है।

पाँच

महात्मा सूरदास

- कृष्ण-काव्य-धारा में सूर का स्थान
- अष्टछाप के कवियों में सूर का स्थान
- भ्रमरगीत की परम्परा में सूर के भ्रमरगीत का स्थान
- सूर के भ्रमरगीत की विशेषताएँ
- सूर की भक्ति-भावना तथा पुष्टि-मार्ग
- सूर के दार्शनिक विचार
- सूर का वात्सल्य-वर्णन
- सूर का विरह-वर्णन
- सूर का काव्य-सौष्ठव
- वस्तु-वर्णन
- प्रकृति चित्रण
- भाव एवं रस का निरूपण
- अलंकार-योजना
- सूर की भाषा

Imp. 84

Imp 8

५

महात्मा सूरदास

कृष्ण-काव्य-धारा में सूर का स्थान

हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत कृष्ण-काव्य-धारा को प्रवाहित करने वाले प्रथम कवि मैथिल-कोकिल विद्यापति हैं, किन्तु विद्यापति ने कृष्ण-काव्य की जिस माधुर्य-भावमयी रागात्मक धारा का आरम्भ किया है, उस पर गीतगोविन्दकार जयदेव का विशेष प्रभाव माना जाता है। इसीलिए डा० रामकुमार वर्मा के मतानुसार कृष्ण-काव्य का सूत्रपात जयदेव से ही मानना चाहिए।[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि जयदेव के 'कृष्ण-प्रेम-सङ्गीत' ने हिन्दी की कृष्ण-काव्य-धारा को प्रेरणा प्रदान की और इसी सुर में सुर मिलाकर मैथिल-कोकिल विद्यापति ने अपने गीतों का प्रणयन किया, परन्तु हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में कृष्ण-काव्य के प्रथम प्रणेता विद्यापति ही हैं। जयदेव का काव्य संस्कृत-साहित्य की वस्तु है और उसे संस्कृत तथा हिन्दी के मध्य की शृङ्खला माना जा सकता है, किन्तु जयदेव को हिन्दी के कृष्ण-काव्य का आदि कवि कहना समीचीन नहीं प्रतीत होता। विद्यापति से ही हिन्दी में कृष्ण-काव्य का श्रीगणेश होता है और विद्यापति के उपरान्त हिन्दी में कृष्ण-काव्य-धारा को भारतव्यापी बनाने का श्रेय महात्मा सूरदास को प्राप्त है। वैसे विद्यापति और सूरदास के बीच में कोई शृङ्खला नहीं दिखाई देती, क्योंकि विद्यापति ने मैथिल भाषा के अन्तर्गत श्रीकृष्ण की प्रेममयी माधुर्य भावना को अपने गीतों में सँजोया है और सूर ने ब्रजभाषा के अन्तर्गत भक्ति-भावना से युक्त इस प्रेम-तत्त्व का गान किया है। इसीलिए विद्वानों का मत है कि सूर मैथिल-कोकिल विद्यापति की परम्परा में न आकर, ब्रज के उन लोक-गीतकारों की परम्परा में आते हैं, जिनके नाम तो विस्मृत हो चुके हैं, किन्तु जिनके गीत सूर से

---

[1] हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ५००।

पहले भी ब्रज-प्रदेश के घर-घर में मिलते हैं तथा जो गीत कृष्ण की भक्ति-भावना से भी परिपूर्ण हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इसी बात का समर्थन करते हुए लिखा है कि "सूरसागर किसी चली आती हुई गीति-काव्य-परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।"[1] परन्तु अभी तक ब्रज के उन लोक-गीतकारों का क्रम-बद्ध साहित्य उपलब्ध नहीं हुआ है। इस कारण सूर को ब्रज के लोक-गीतकारों का पूर्ण विकसित रूप मानते हुए भी हिन्दी साहित्य के विद्वान् अभी तक सूर को ही ब्रजभाषा के गीतों का प्रवर्त्तक मानते हैं और सूर के गीतों का सम्बन्ध विद्यापति के गीतों से ही जोड़ते हैं, क्योंकि लिखित रूप में अभी तक यही प्रामाणिक साहित्य उपलब्ध हुआ है।[2]

सूर के उपरान्त हिन्दी कृष्ण-काव्य की एक सुदीर्घ परम्परा लिखित रूप में मिलती है, जिसमें सूर के अनुसरण पर ही शृंगार एवं वात्सल्य से परिपूर्ण मधुर गीत गाये गये हैं और जिन्हें 'सूर की जूठन'[3] कहने में भी कोई अत्युक्ति नहीं दिखाई देती। इस परम्परा में सर्वप्रथम 'अष्टछाप के वे कवि आते हैं, जिन पर बल्लभाचार्य एवं गोस्वामी विट्ठलदास की विशेष कृपा थी तथा जो उक्त दोनों आचार्यों के आग्रह एवं अनुरोध पर ही विभिन्न राग-रागनियों में कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी गीतों का प्रणयन किया करते थे। इनमें से सूर के अतिरिक्त कुंभनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, गोविन्दस्वामी, नन्ददास, छीतस्वामी तथा चतुर्भुजदास प्रसिद्ध हैं। ये सभी कवि ब्रजभाषा के अन्तर्गत कृष्ण-काव्य के प्रणेता माने जाते हैं, क्योंकि इनके गीत हिन्दी-साहित्य की अनुपम निधि हैं और इनमें कृष्ण-भक्ति के अतिरिक्त ब्रज-संस्कृति भी साकार रूप में विद्यमान है। इन कवियों में से सूर के उपरान्त साहित्यिक दृष्टि से नन्ददास श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं, जिनके 'रासपंचाध्यायी' तथा 'भँवरगीत' काव्य हिन्दी की अनुपम कृतियाँ हैं। इन अष्टछाप के कवियों के उपरान्त कृष्ण-काव्य-धारा में मीराबाई का विशेष महत्त्व है, जिन्होंने दाम्पत्य भाव में विभोर होकर कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी मधुर एवं मर्मस्पर्शी गीतों की रचना की है और जिनमें संयोग एवं वियोग शृंगार सजीव हो उठा है। मीराबाई के उपरान्त क्रमशः नरोत्तमदास, हरिराय, ललीर, गोविन्ददास, स्वामी हरिदास तथा हितहरिवंश आते हैं। इनमें से हितहरिवंश के पद अधिक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण हैं और वे राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक भी हैं, जिसका मुख्य केन्द्र वृन्दावन है।

तदनन्तर कृष्ण-काव्य-धारा के अन्तर्गत क्रमशः श्रीभट्ट, व्यासजी, निपट निरंजन, लक्ष्मीनारायण, बलभद्र मिश्र, कादिर, मुबारक, रसखान आदि आते हैं। इनमें से 'रसखान' अधिक प्रसिद्ध हैं, जिनके 'प्रेमवाटिका' तथा 'सुजान रसखान' नामक दोनों

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० १६५।

[2] वही, पृ० १६६।

[3] वही, पृ० १६५।

काव्यों में उत्कट प्रेम एवं भावानुभूति के साथ कृष्ण-भक्ति मानो साकार हो उठी है। इसके पश्चात् अहमद, ध्रुवदास, सुन्दरदास, चतुरदास, धर्मदास, रसिकदास, रहीम आदि कितने ही कृष्ण-काव्य-धारा के कवि मिलते हैं, जिनमें से रहीम का स्थान महत्त्वपूर्ण है। ये अरबी, फारसी, तुर्की और संस्कृत के साथ-साथ ब्रज और अवधी के भी ज्ञाता थे और इन्होंने दोनों भाषाओं में बड़े अधिकार के साथ सरस कविताएँ लिखी हैं, जिनमें सहृदयता एवं भावुकता कूट-कूटकर भरी हुई है। इसके उपरान्त बीरबल, टोडरमल, कवि गंग आदि आते हैं, जिनकी गणना भक्तिकाल में ही की जाती है तथा जो कृष्ण-काव्य-धारा के ही कवि माने जाते हैं। भक्तिकाल के इन सभी कवियों की रचनाओं पर सूर का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है तथा सूर की भाँति अधिकांश कवियों ने कृष्ण के बाल एवं किशोर रूप पर मुग्ध होकर ही अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं।

रीतिकाल में आकर कृष्ण काव्य-धारा का प्रवाह भक्ति के पावन क्षेत्र को छोड़कर भौतिक विलास के क्षेत्र की ओर मुड़ा, जिसके परिणामस्वरूप रीति-ग्रन्थों एवं शृंगारपूर्ण मुक्तकों की रचना अत्यधिक मात्रा में हुई, किन्तु भक्ति-भावना से युक्त कृष्ण-साहित्य का सर्वथा लोप नहीं हुआ। इस युग में भी ग्वाल कवि, घनानन्द, भगवत रसिक, नागरीदास, अलबेली कवि, चाचा हितवृन्दावनदास, ब्रजवासीदास, कृष्णदास, गिरधरदास, सरयूराम आदि कितने ही कवि हुए हैं, जिन्होंने कृष्ण-भक्ति में लीन होकर कृष्ण-काव्य की रचना की है। इनमें से घनानन्द सर्वोपरि हैं, जिनके एक हजार से अधिक गेय पद मिलते हैं, जिनमें कवि ने सरस, सजीव, सशक्त एवं विशुद्ध ब्रजभाषा के अन्तर्गत वियोग-शृङ्गार का अत्यन्त मर्मस्पर्शी वर्णन किया है और जिनमें भक्ति-भावना के साथ-साथ प्रेम की पीर कूट-कूटकर भरी हुई है।

आधुनिक युग में भी कृष्ण-काव्य का निर्माण पर्याप्त मात्रा में हुआ है और कितने ही कवियों ने कृष्ण-भक्ति में लीन होकर अपने काव्य की रचना की है, फिर भी आधुनिक कवियों में भक्तिकाल के कवियों की भाँति न तो उतनी भावोत्कटता है और न उतनी तीव्रानुभूति ही है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पण्डित सत्यनारायण 'कविरत्न', जगन्नाथ प्रसाद 'रत्नाकर', अयोध्यासिंह उपाध्याय, वियोगी हरि, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर 'प्रसाद' आदि कितने ही ऐसे कवि मिलते हैं, जिन्होंने कृष्ण-काव्य लिखा है और जिनकी रचनाएँ सूर आदि की परम्परा में ही आती हैं। किन्तु कृष्ण-काव्य का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इस धारा के प्रवर्त्तक सूरदास के काव्य में माधुर्य एवं सौन्दर्य के साथ भक्ति-भावना का जो आकर्षक रूप विद्यमान है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। सूर ने कृष्ण की जन्मभूमि ब्रज, यमुना, मधुवन, कदम्ब, वृन्दावन आदि के प्रति जो श्रद्धा जाग्रत की है तथा कृष्ण के रूप-सौन्दर्य में जो आकर्षण उत्पन्न किया है, वैसा कार्य अन्य कोई कवि नहीं कर सका है। अन्य सभी कृष्ण-काव्य-प्रणेता सूर के चिर ऋणी जान पड़ते हैं, क्योंकि अपनी सरस राग-रागनियों में कृष्ण की ऐश्वर्य-

माधुरी, क्रीड़ा-माधुरी, वेणु-माधुरी, रूप-माधुरी का वर्णन करते हुए सूर ने अपने गीतों द्वारा एक अद्भुत आध्यात्मिक वातावरण की सृष्टि की है और श्रीकृष्ण के अत्यन्त मधुर एवं सौन्दर्य-सम्पन्न आकर्षक रूप को जनता के सामने रखा है, जिससे अधिकांश व्यक्ति आकृष्ट होकर कृष्ण-भक्ति में लीन हुए हैं। इसीलिए सूर वास्तव में कृष्ण-काव्य-धारा के मुख्य प्रवर्त्तक हैं और सूर ही यथार्थ में हिन्दी की कृष्ण-काव्य-धारा के प्रतिनिधि कवि हैं।

अष्टछाप के कवियों में सूर का स्थान

बल्लभाचार्य जी के उपरान्त बल्लभ-सम्प्रदाय की गद्दी पर उनके सुपुत्र गोस्वामी विट्ठलदास आसीन हुए। उन्होंने ही सर्वप्रथम अपने पिता के चार शिष्यों—कुंभनदास, सूरदास, परमानन्ददास और कृष्णदास तथा अपने चार शिष्यों—गोविन्द स्वामी, नन्ददास, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास को लेकर आठ श्रेष्ठ कवियों द्वारा—"अष्टछाप" की स्थापना की थी। ये आठों महानुभाव श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त, प्रतिभाशाली कवि, उच्च कोटि के गायक एवं श्रेष्ठ संगीतज्ञ थे। इस 'अष्टछाप' का साम्प्रदायिक एवं साहित्यिक दोनों दृष्टियों से पर्याप्त महत्त्व है। साम्प्रदायिक दृष्टि से गोस्वामी विट्ठलनाथ जी को परमब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण का अवतार माना जाता है और अष्टछाप के आठों कवि उनके सखा माने जाते हैं, जो आठों पहर अपने इष्टदेव के साथ लीला करते हैं। उनका लीलात्मक रूप भी दो प्रकार का मिलता है। एक तो वे दिन में ठाकुर जी के साथ सखा-भाव से रहते हैं और रात्रि में वे स्वामिनी राधा जी के साथ सखी-भाव से लीलाओं में भाग लेते हैं। इन सभी सखाओं सहित श्रीकृष्ण की नित्य लीला का स्थल गोवर्द्धन-गिरिराज-प्रदेश की भूमि है, जिसके आठ द्वार हैं और आठों सखा प्रत्येक द्वार के अधिकारी हैं तथा भौतिक लीला के समाप्त होते ही वे अपने-अपने भौतिक शरीर का परित्याग करके अपने-अपने द्वार से ही ब्रह्म के आध्यात्मिक रूप में लीन होकर ब्रह्म की नित्य लीला में जाकर सम्मिलित हो जाते हैं। अष्टछाप के इन साम्प्रदायिक लीलारूपों, लीलासक्तियों एवं अधिकृत द्वारों का विवरण[1] इस प्रकार मिलता है :—

संख्या	नाम	लीलात्मक रूप	लीलासक्ति	अधिकृत द्वार
१.	कुम्भनदास	अर्जुन सखा विशाखा सखी	निकुंज लील	आन्यौर द्वार
२.	सूरदास	कृष्ण सखा चंपकलता सखी	मान-लीला	गोविन्दकुंड द्वार
३.	परमानन्ददास	लोक सखा चन्द्रभागा सखी	बाल-लीला	सुरभिकुण्ड द्वार

---

[1] अष्टछाप—श्री प्रभुदयाल मीतल, पृ० ३७-३८।

४. कृष्णदास	ऋषभ सखा ललिता सखी	……………	विलछू कुण्ड द्वार
५. गोविन्दस्वामी	श्रीदामा सखा भामा सखी	आँख मिचौली हिंडोरा लीला	कदमखंडी द्वार
६. नंददास	भोज सखा चन्द्ररेखा सखी	किशोर लीला	मानसी गङ्गा द्वार
७. छीतस्वामी	सुबल सखा पद्मा सखी	जन्म-लीला	अप्सरा कुण्ड द्वार
८. चतुर्भुजदास	विशाल सखा विमला सखी	अन्नकूट लीला	रुद्रकुण्ड द्वार

इस साम्प्रदायिक महत्त्व के अतिरिक्त इन अष्टछाप के कवियों का साहित्यिक महत्त्व ही अत्यधिक मात्रा में माना जाता है। यदि देखा जाय तो साहित्यिक महत्त्व के कारण ही अष्टछाप के कवि अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। इन अष्टछाप के कवियों ने पुष्टिमार्ग के विचारों को लेकर भगवान् कृष्ण के नित्य-नैमित्तिक कार्यों एवं विभिन्न लीलाओं का विविध राग-रागनियों में ऐसा वर्णन किया है, जो संगीत एवं काव्य की अमूल्य निधि है तथा जिसके अन्तर्गत उच्च कोटि के भक्ति-सम्बन्धी विचारों के साथ-साथ ब्रज-जीवन एवं ब्रज की लोक-संस्कृति साकार हो उठी है। इन अष्टछाप के कवियों में सबसे पहले कवि कुंभनदास हैं जो बड़े ही सहृदय, निर्लोभी एवं स्पष्टवादी भक्त थे तथा जिनकी स्पष्टवादिता 'सन्तन को कहा सीकरी सों काम' से स्पष्ट पता चल जाती है। इनकी कविता में सरसता, सहृदयता, एवं भक्ति-भावना तो पर्याप्त मात्रा में है, किन्तु कलात्मक सौंदर्य की दृष्टि से वह साधारण ही है। दूसरे कवि सूरदास हैं, जिनकी साहित्यिक रचनाओं को देख-देखकर आश्चर्य होता है कि अंधे होकर भी सूर ने कैसे ऐसे सुललित पदों का निर्माण किया होगा, क्योंकि उनमें विभिन्न रंगों का यथावत् उल्लेख, विविध उपमा एवं उत्प्रेक्षाओं की उपयुक्तता एवं स्वाभाविकता आदि को देखकर उनके जन्मांध होने में सन्देह होता है। सूर के लगभग सवा लाख पद माने जाते हैं, किन्तु अभी तक लगभग दस हजार पद ही उपलब्ध हुए हैं। फिर भी जो कुछ पद मिलते हैं, उनके आधार पर ही जब हम अन्य अष्टछाप के कवियों से सूर की तुलना करते हैं, तब पता चलता है कि कुंभनदास में तो उतने साहित्यिक गुण हैं ही नहीं, जितने कि सूरदास की कविता में दिखाई देते हैं। इनके अतिरिक्त परमानन्ददास, कृष्णदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी तथा चतुर्भुजदास भी साहित्यिक दृष्टि से सूर के सामने कहीं नहीं ठहरते। हाँ नंददास अवश्य ऐसे कवि हैं, जिनमें सूर के समान ही काव्योत्कर्ष एवं साहित्यिक गुण विद्यमान हैं तथा सूर के समान ही नन्ददास ने भी शृंगार एवं भक्ति का वर्णन किया है। साथ ही नन्ददास ने सर्वतोमुखी प्रतिभा के द्वारा विभिन्न शैलियों में रचना करके अपने काव्य-ज्ञान, सङ्गीत एवं रीतिशास्त्र के पांडित्य तथा अद्भुत पद-योजना का परिचय दिया है। ऐसी सरस एवं मधुर रचना

सूर को छोड़कर अन्य किसी भी अष्टछाप के कवि की नहीं मिलती। शेष सभी को सूर या नन्ददास से ही प्रभावित जान पड़ते हैं। अब प्रश्न यह है कि सूरदास नन्ददास में से साहित्यिक गुणों की दृष्टि से कौन श्रेष्ठ है? आचार्य रामचन्द्र शु ने नन्ददास की सरस एवं मधुर रचनाओं की सराहना करते हुए इनकी अनुप्रास त चुने हुए संस्कृत-पद-विन्यासपूर्ण भाषा की बड़ी प्रशंसा की है।[1] डा० रामकुमार व भी नन्ददास की प्रतिभा की सराहना करते हुए अलङ्कार और छन्द के उपयुक्त प्रयो को तथा भावों की अनुगामिनी भाषा के महत्त्व को नन्ददास के कवित्व का गौ बतलाते हैं।[2] अन्य विद्वान् भी 'और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया' कहकर नन्दद के भाषा-माधुर्य एवं शब्द-चयन की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। इसमें कोई सन्देह न कि भाषा-लालित्य, भाव-गांभीर्य एवं सरस शब्द-चयन की दृष्टि से नन्ददास को का के क्षेत्र में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है, परन्तु सूर का-सा वात्सल्य-वर्णन, वियो वर्णन, मुरली सम्बन्धी उक्तियाँ एवं राधा-कृष्ण का प्रेम-वर्णन नन्ददास में नहीं है साथ ही सूर की सी भावों की मौलिकता एवं मनोवैज्ञानिकता नन्ददास में नहीं दिख देती। अतः साम्प्रदायिक एवं धार्मिक मनोभावों के चित्रण में भले ही दोनों कवियों साम्य दिखाई देता हो, किन्तु साहित्यिक उत्कर्ष एवं भावों की मौलिकता की दृष्टि सूर सर्वोपरि हैं, कोई भी अष्टछाप का कवि उनकी समता नहीं कर पाया है इसी कारण वे कृष्ण-काव्य की एक विशिष्ट परम्परा के प्रवर्त्तक होने के साथ-सा अष्टछाप के कवियों में मूर्धन्य स्थान के अधिकारी हैं।

भ्रमरगीत की परम्परा में सूर के भ्रमरगीत का स्थान

'भ्रमर' रस-लोलुप एवं प्रेम-प्रवंचक रसिक का प्रतीक है, क्योंकि यह क किसी एक कली या एक पुष्प का रस-पान नहीं करता और इसके हृदय में स्थिरता नहीं होती। यह सदैव एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर मँडराता हुआ अनेक पु का रस-पान करता रहता है और किसी भी सुन्दर से सुन्दर एवं रसीले पुष्प परित्याग करने में इसे तनिक भी देर नहीं लगती। अतएव रस के मर्मज्ञ सुकवियों जब पुष्प के समान नारी के सुकुमार, कोमल एवं सरस हृदय में पल्लवित प्रेम परित्याग करके किसी पुरुष को अन्य कामिनियों के साथ रमण करते देखा तो 'भ्रमर' नाम से सम्बोधित किया और पुरुष की प्रवंचकता एवं सुकुमारी ना की विरह-व्यथा से भरे हुए गीतों को 'भ्रमर-गीत' के नाम से अभिहित किया इस तरह 'भ्रमर-गीत' में प्रतीक शैली द्वारा नायक की निष्ठुरता, प्रवंचकता लम्पटता तथा नायिका की मूक व्यथा, विरह-वेदना एवं उपालम्भ को अङ्कित कि गया है।

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १७५।

[2] हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ५६३।

'भ्रमर-गीत' की इस परम्परा का अध्ययन करते हुए डा० हरवंशलाल शर्मा ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में राजा दुष्यन्त की पहली रानी हंसपदिका द्वारा शकुन्तला के प्रेम में डूबे हुए दुष्यन्त को जो उपालम्भ भ्रमर को सम्बोधित करके दिलाया गया है, उसे प्रथम 'भ्रमर-गीत' घोषित किया गया है कि "इसके वाद विकट नितम्बा, गोवर्द्धन आदि संस्कृत कवियों की रचनाओं और अपभ्रंश के दूहों से गुजरती हुई यह परम्परा हिन्दी-साहित्य पहुँची।"[1] परन्तु ध्यान से देखा जाय तो उक्त गीत 'भ्रमर-गीत' की परम्परा के प्रवर्त्तक नहीं हैं। क्योंकि सूर में जिस भ्रमर-गीत की परम्परा का विकास दिखाई देता है, उस पर तो श्रीमद्भागवत का स्पष्ट प्रभाव है और श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध में ४६ व ४७ वें अध्याय के अन्तर्गत जो 'भ्रमर-गीत' का प्रसंग मिलता है वही इसका मूलाधार है, क्योंकि वहीं पर सर्वप्रथम गोपियाँ भ्रमर को अपने कपटी प्रियतम का सखा कहकर अनेक उपालम्भों के साथ अपनी विरह-व्यथा को व्यक्त करती हैं। इसके उपरान्त विद्यापति के भी कुछ ऐसे पद मिलते हैं, जिनमें, प्रणय-वंचिता गोपियाँ अपने रस-लोलुप नायक श्रीकृष्ण को उपालम्भ देती हुई चित्रित की गई हैं और जिन्हें भ्रमर-गीत की परम्परा में माना गया है। किन्तु वहाँ 'ऊधव कव हम सो व्रज जाइव' कहकर गोपियों ने केवल उद्धव को सम्बोधन करके ही अपनी मनोव्यथा व्यक्त की है, किसी 'भ्रमर' को सम्बोधन करके कुछ नहीं कहा है। अतएव उन्हें 'भ्रमर-गीत' कहना समीचीन नहीं ज्ञात होता। वास्तव में हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत शुद्ध 'भ्रमर-गीत' के प्रणेता सर्वप्रथम सूरदास ही हैं। सूर ने अपने भ्रमर-गीत में न तो केवल गोपियों के उपालम्भ एवं विरह-व्यथा का वर्णन किया है, अपितु नन्द एवं यशोदा के वात्सल्य की भी अद्भुत झाँकी अंकित की है। सूर के इस भ्रमर-गीत में व्यंग्य-विनोद, हास-परिहास एवं उपालम्भ के साथ विरह-व्यथा का जो सरस वर्णन मिलता है वैसा अन्यत्र कहीं दिखाई नहीं देता। यह भ्रमर-गीत उक्ति वैचित्र्य एवं विनोदशीलता के साथ-साथ विरह की समस्त अन्तर्दशाओं से परिपूर्ण होने के कारण सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

सूर के उपरान्त नन्ददास का 'भ्रमर-गीत' मिलता है, जिसमें व्यंग्य, उपालम्भ एवं कथा की अपेक्षा दार्शनिक विचारों का भी प्राधान्य है। इसमें तो 'ऊधव को उपदेश सुनी व्रज नागरी' द्वारा उद्धव के उपदेश से ही भ्रमर-गीत का आरम्भ हुआ है तथा उद्धव एवं गोपियों में सगुण और निर्गुण ब्रह्म पर ही वाद-विवाद होता है, जिसके अन्त में सगुणोपासक गोपियों की विजय दिखाई गई है, जिसमें सूर की परम्परा का ही पालन किया गया है। अन्त में सूर के भ्रमर-गीत में विरह-व्यथा उपालम्भ के जितने मनोवैज्ञानिक चित्र मिलते हैं उतने तो नन्ददास के 'भ्रमर-गीत' में नहीं मिलते, फिर भी ऐसे चित्रों का सर्वथा अभाव नहीं है। नन्ददास के उपरान्त तुलसी ने भी भ्रमर-गीत के प्रसंग को अपनी 'कृष्ण-गीतावली' में उठाया है, किन्तु न तो उसमें

---

[1] सूर और उनका साहित्य, पृ० ३४६।

विरह की सम्पूर्ण दशाओं के चित्र हैं और न उपालम्भ एवं व्यंग्य सहित दाम्पत्य जीव की ही छटा है, अपितु उसमें तुलसी ने अपने मर्यादावादी दृष्टिकोण के फलस्व सरल एवं लज्जाशील गोपियों के ही चित्र अंकित किये हैं, जो मूक रहकर ही अप मनोव्यथा कह देती हैं, क्योंकि व्यथा-वर्णन करने से पहले ही उनका गला रुँध जा है और आँखों से आँसुओं की धारा बह निकलती है। तुलसीदास के अतिरिक्त रसखा मुकुन्ददास, घासीराम, मलूकदास और रहीम ने भी थोड़ा-बहुत इस प्रसंग पर लि है, परन्तु इनमें से कोई भी कवि सूर और नन्ददास द्वारा विकसित भ्रमर-गीत-परम्प को आगे नहीं बढ़ा पाया है।

रीतिकाल के कवियों में से मतिराम, देव, घनानन्द, पद्माकर, सेनाप भिखारीदास आदि ने भी उस भ्रमर-गीत के प्रसंग पर थोड़ा-बहुत लिखा है, परन्तु सभी कवि न तो सूर की भाँति विषय का प्रतिपादन ही उचित रूप में कर पाये और न इनमें उतनी गम्भीरता एवं सजीवता ही है। इसके उपरान्त भारतेन्दु हरिश्च तथा बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भी इस प्रसंग पर यत्किंचित् लिखा है, पर इस परम्परा में सत्यनारायण 'कविरत्न' ने नवीनता एवं मौलिकता का परिचय दि है। उन्होंने युगानुकूल राष्ट्रीय भावनाओं का समावेश करके एक नये ढंग का 'भ्रम दूत' लिखा है, जिसमें न उद्धव हैं और न गोपियाँ, अपितु माता यशोदा द्वारका बसे हुए कृष्ण के पास सन्देश भेजती हैं। इसकी रचना नन्ददास के "भँवरगीत" ढङ्ग पर हुई है और इसमें स्वदेश-प्रेम, राष्ट्रीय भावना, निरक्षरता, देश की दीन दशा आदि का वर्णन करते हुए कवि ने मौलिक उद्भावनाएँ व्यक्त की हैं।

इसके अनन्तर अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'प्रियप्रवास' में वर्णित 'पवनदू का प्रसंग मिलता है, जो भ्रमरगीत की परम्परा को विकसित करता हुआ तत्का परिवर्तित विचारधारा के अनुसार लोकहित एवं समाज-सेवा की भावना से ओतप्रो है तथा जिसमें राधा की विरह-व्यंजना के साथ-साथ लोक-सेवा, परदुःख-कातर परोपकार, विश्व-प्रेम आदि का निरूपण अधिक सजीवता के साथ मिलता है। इस अनन्तर मैथिलीशरण गुप्त कृत 'द्वापर' काव्य में इस परम्परा का यत्किंचित् आभ मिलता है। इसके अन्तर्गत गुप्तजी ने भ्रमर के स्थान पर विहंग को रखकर परम्प गत रूढ़ि को तोड़ने का प्रयास किया है और गोपियों में मर्यादा के साथ-साथ वा विदग्धता का भी अद्भुत सम्मिश्रण किया है, किन्तु वहाँ ईर्ष्या की भावना तनिक नहीं है। इसके साथ ही भ्रमरगीत की नवीन परम्परा का प्रस्फुटन जगन्नाथद 'रत्नाकर' के 'उद्धव-शतक' में हुआ है, जिसमें अभिनयात्मक एवं वर्णनात्मक प्रणा के अन्तर्गत 'भ्रमर-गीत' के प्रसंग का निर्वाह बड़ी सजीवता एवं मार्मिकसा के ढं मिलता है। इसके अतिरिक्त डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' के 'उद्धव-शतक' पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र के 'कृष्णायन' में, लाला हरदेव प्रसाद के 'ऊधौ-पचीसी' जगन्नाथसहाय के 'कृष्ण-सागर' में तथा डा० श्यामसुन्दर दीक्षित के 'श्याम-संदेश' भी भ्रमर-गीत की स्वस्थ परम्परा के दर्शन होते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत से लेकर आज तक 'भ्रमर-गीत' की जो पयस्विनी प्रवाहित हुई है, उसका अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि सूरदास ने अपने 'भ्रमर-गीत' में मानव-हृदय के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों का जो मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है, तथा व्यंग्य एवं उपालम्भ के साथ विरह-वेदना की जो मार्मिक अभिव्यंजना की है, वैसा कार्य कोई अन्य कवि नहीं कर सका है। सूर का भ्रमर-गीत वास्तव में विरह एवं प्रेम का एक अगाध पयोधि है, जिसमें व्यंग्य एवं उपालम्भ की लघु लहरें हैं, उद्धव-सन्देश के झंझावात से आलोड़ित वेदना एवं व्यथा की तरंगें हैं, और विरह की बड़वाग्नि है। इसी से सूर के भ्रमर-गीत का प्रत्येक पद मार्मिकता एवं सजीवता में अन्य सभी कवियों से अधिक उत्कृष्ट है और परवर्ती सभी कवि 'सूर की झूठन' से जान पड़ते हैं। सूर के भ्रमर-गीत में निस्सन्देह वियोग-शृंगार का उत्कृष्ट रूप विद्यमान है, उसमें निर्गुण-साधना पर सगुण-साधना की विजय दिखायी गई है और गोपियों के उत्कट प्रेम, दृढ़ विश्वास एवं उत्कृष्ट भक्ति-भाव की सुन्दर एवं सजीव झाँकी प्रस्तुत की गयी है, जिसे देखकर ज्ञान के प्रकांड आगार उद्धव भी अपना सम्पूर्ण ज्ञान भूल जाते हैं और निर्गुण ब्रह्म का उपदेश छोड़कर सगुण ब्रह्म के उपासक हो जाते हैं। यही कारण है कि 'भ्रमर-गीत' की इस सुदीर्घ परम्परा में सूर का 'भ्रमर-गीत' हिन्दी की आरम्भिक रचना होकर भी सर्वश्रेष्ठ है।

सूर के भ्रमर-गीत की विशेषताएँ

(१) अन्य सभी 'भ्रमर-गीतों' की अपेक्षा सूर का 'भ्रमर-गीत' कहीं अधिक व्यवस्थित एवं शृङ्खला-बद्ध है, क्योंकि इसके आरम्भ में कृष्ण की गोकुल सम्बन्धी चिन्ता, उद्धव का ज्ञान सम्बन्धी अहङ्कार, कृष्ण का उद्धव के अहङ्कार को दूर करने के बारे में विचार, उद्धव को ही सन्देश लेकर गोकुल भेजने का उपक्रम, नन्द-यशोदा और गोप-गोपिकाओं के लिये पत्र, कुब्जा द्वारा पत्र की व्यवस्था, उद्धव की ब्रज-यात्रा, उद्धव का ब्रजागमन, ब्रज-युवतियों का उन्हें कृष्ण जानकर उनके पास आगमन तथा उनका श्रम-निवारण, तत्पश्चात् उद्धव का उपदेश तथा गोपियों का व्यंग्य एवं उपालम्भ द्वारा उस उपदेश का खण्डन और अन्त में निर्गुणोपासक उद्धव का सगुणोपासक बन जाने की व्यवस्था आदि प्रसङ्ग क्रम-बद्ध रूप में वर्णित हैं।

(२) सूर के भ्रमरगीत में मनोवैज्ञानिक चित्रों द्वारा गोपियों के प्रेम एवं भक्ति-भाव को अङ्कित किया गया है।

(३) सूर का भ्रमर-गीत विप्रलम्भ शृङ्गार का अक्षय भण्डार है। उसमें विरह की उत्कृष्ट भावना एवं वियोग की समस्त काम-दशाओं का बड़ा ही सजीवता एवं मार्मिकता के साथ निरूपण किया गया है।

(४) सूर के भ्रमर-गीत में मानव-मनोभावों का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्रण मिलता है, क्योंकि यहाँ सूर ने उद्धव के सन्देश द्वारा यशोदा, नन्द, गोप, गोपीजन

आदि पर जो भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ते हैं, उनका बड़ा ही मार्मिकता एवं दक्षता साथ निरूपण किया है।

(५) इस भ्रमर-गीत में उद्धव के मौखिक सन्देश के अतिरिक्त कृष्ण के लि सन्देश एवं कुब्जा के लिखित पत्र द्वारा ब्रज-जन पर—विशेषकर कृष्ण के प्रेम विह्वल गोपियों पर क्या-क्या प्रभाव पड़ता है, इसका बड़ा ही सजीव चित्रण कि गया है।

(६) उद्धव का उपदेश सुनकर गोपियों ने उद्धव की मीठी चुटकियाँ ली अथवा कृष्ण पर उपालम्भ किये हैं या अपने विनोदी स्वभाव द्वारा कृष्ण एवं कु पर जो सपत्नी भाव-मिश्रित तीक्ष्ण व्यंग्य किये हैं—ये सभी प्रसङ्ग सूर के भ्रमर- की विशिष्टता के सूचक हैं।

(७) सूर का भ्रमर-गीत सूर की मौलिक उद्भावना-शक्ति का द्योतक क्योंकि इसमें उद्धव के ज्ञान-गर्व को खण्डित करने का प्रयत्न, उद्धव की सहृदय राधा के चरित्र का विकास आदि सूर की मौलिक उद्भावनाओं के द्योतक हैं।

(८) सूर ने अपने भ्रमर-गीत में सरलता एवं भावुकता के साथ तर्क बौद्धिकता से युक्त गोपियों की जो सृष्टि की है, वह सर्वथा अद्वितीय है, क्योंकि तर्कशीला एवं सहृदया गोपियाँ ही उद्धव जैसे प्रकांड ज्ञानी को परास्त कर सकती

(९) सूर ने कृष्ण के प्रेम में पगी हुई गोपियों के आत्म-विश्वास, अनन्य-प्रे उपहास, उपालम्भ, असमर्थता, विरहजन्य तीव्र सन्ताप आदि का जो निरूपण किया वह सर्वथा अनुपम एवं अद्भुत है।

(१०) सूर ने भ्रमर-गीत में नारी-हृदय की शङ्कालु प्रवृत्ति, ईर्ष्या, सपत्नीभाव की उत्पत्ति होते ही अपने प्रिय पर निर्दयता से साथ उपालम्भों का प्रहा सपत्नी की मजाक आदि का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है। इसलिये गोपि खीझती हुई कुब्जा का मजाक उड़ाती हैं और 'सखी री काके मीत अहीर' कह कृष्ण पर भी तीक्ष्ण प्रहार करती हैं।

(११) सूर ने अपने भ्रमर-गीत में प्रकृति के उद्दीपन रूप के माध्यम वियोगिनी की विरह-व्यथा का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है, जिसमें कहीं वे अ उजड़े हुए जीवन की हरे-भरे मधुवन से तुलना करती हुई असह्य पीड़ा का अनु कर रही हैं, तो कहीं उन्हें चाँदनी रात भी साँपिन-सी लग रही है जो डसकर उ हो गई है।

(१२) सूर ने अपने भ्रमर-गीत में मुख्यतः प्रेमा-भक्ति का ही प्रतिपादन कि है। इसीलिये यहाँ ज्ञान पर प्रेमा-भक्ति की विजय है तथा 'कृपाण की धार' के सम विभिन्न आडम्बरों से परिपूर्ण ज्ञानमार्ग से बचने के लिये सरस एवं मधुर प्रेमम भक्ति का उपदेश दिया गया है।

(१२) सूर का भ्रमर-गीत उक्ति-वैचित्र्य एवं वाग्विदग्धता की दृष्टि सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें उक्तियों की वक्रता एवं कथन की आलङ्कारिता

साथ-साथ लोकोक्तियों एवं मुहावरों सहित साहित्यिक ब्रजभाषा का चमत्कार भी विद्यमान है।

(१४) सूर का सम्पूर्ण भ्रमर-गीत विरहिणी ब्रजवालाओं के करुण-क्रन्दन की मधुर गूँज से आप्लावित है। इसलिए इसमें भग्न-हृदय की दयनीय स्थिति, विरह-जन्य कातरता, प्रियतम की निष्ठुरता, दुर्भाग्य, निराशा, उन्माद, प्रलाप, निरन्तर अश्रु-वर्षा, शारीरिक साज-शृंगार एवं सौन्दर्य के प्रसाधनों की उपेक्षा आदि का बड़ा ही सुन्दर एवं मर्मस्पर्शी वर्णन मिलता है।

(१५) सूर के भ्रमर-गीत की भाषा हृदय के गतिशील भावों के प्रवाह की तीव्रता से भरी हुई है, उसमें कहीं भी बोझिल एवं कृत्रिम शब्द महीं मिलते और न कहीं उसकी धारावाहिकता ही भग्न हुई है, अपितु सरल अलंकारों की योजना एवं वक्रोक्ति की मुखरता ने उसे भावानुकूल प्रवाहित होने में सहयोग प्रदान किया है और वह प्रकृत एवं अकृत्रिम रूप में होकर भी साहित्यिक बन गई है।

"इस प्रकार सूर का भ्रमर-गीत मानव-हृदय का एक आकर्षक चित्रफलक है, जिस पर हृदयस्थ विभिन्न भावों के मनोरम चित्र अंकित हैं, जिनमें गति है, जीवन है, सरसता है, मधुरिमा है, सौन्दर्य है और है एक शाश्वत कला, जिसमें विरह-विधुरा नारी की मूक वेदना को मुखरित करके पाषाण से पाषाण हृदय को भी द्रवीभूत करने की अपूर्व क्षमता है।"

सूर की भक्ति-भावना तथा पुष्टि-मार्ग

सूर की भक्ति-भावना सर्वप्रथम उनके विनय के पदों से प्रकट हुई है। उन पदों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि वल्लभाचार्य से दीक्षित होने से पूर्व सूर भारतवर्ष में प्रचलित अन्य भक्ति-पद्धतियों एवं उपासना-प्रणालियों से प्रभावित थे। इसीलिए उनके कुछ पद हठयोग एवं शैव-साधना से प्रभावित जान पड़ते हैं और कुछ पदों में वे निर्गुण-भक्ति के भी समर्थक दिखाई देते हैं, जिससे वे जाति-पाँति का विरोध, वेद-शास्त्र की निन्दा, ज्ञान और वैराग्य की महत्ता, आन्तरिक साधना का महत्त्व, सतगुरु की महत्ता, मूर्तिपूजा के विरोधी सन्तों का गुणगान आदि का वर्णन करते हुए दिखाई देते हैं। इसीलिए कहीं वे 'जौ लौं सतस्वरूप नहिं सूझत' कहकर सत्यपुरुष की प्रशंसा करते हैं, तो कहीं 'अपुनपौं आपुन ही में पायौ' अथवा 'शब्दहिं शब्द भयौ उजियारौ, सतगुरु भेद बताओ' आदि कहकर निर्गुण-मार्गी कबीर की भाँति अन्तः साधना एवं सतगुरु के उपदेश आदि का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए दिखाई देते हैं। इतना ही नहीं, सूर के ऐसे पद भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं, जिनमें रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, रामानन्द आदि के विचारों का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए सूर के पदों में नवधा भक्ति और विनय की प्रधानता है और विनय की सातों भूमिकाएँ—दीनता, मानमर्षता, भयदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारणा विद्यमान हैं तथा वैष्णव सम्प्रदाय के छः नियमों का पालन

दिखाई देता है, जिससे यहाँ (१) अपने इष्टदेव की अनुकूलता का संकल्प, (२) प्रति कूल बातों का परित्याग, (३) इष्टदेव में दृढ़ विश्वास, (४) इष्टदेव का गुणगा (५) सर्वस्व अर्पण की भावना तथा (६) दैन्य का निरूपण मिलता है। ये सभी इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि वल्लभाचार्य के पुष्टि-मार्ग में दीक्षित होने पहले सूर एक सन्त-महात्मा थे, जिन पर किसी विशेष भक्ति-सम्प्रदाय का प्रभाव था, अपितु जो सभी उपासना-पद्धतियों, भक्ति-प्रणालियों एवं भगवद्भजन सम्बन् मान्यताओं को समान दृष्टि देखते थे।

वल्लभाचार्य के सम्पर्क में आते ही सूर पुष्टिमार्गीय भक्त हो गये। भक्ति क्षेत्र में वल्लभाचार्य का साधना-मार्ग 'पुष्टि-मार्ग' के नाम से प्रसिद्ध है। इस साधन मार्ग के अन्तर्गत श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में दशम अध्याय के चतुर्थ श्लोक "पोषणं तदनुग्रह" के आधार पर भगवान् के अनुग्रह को ही जीव का वास्तविक पोष अथवा पुष्टि कहा गया है और इसी आधार पर वल्लभाचार्य ने 'पुष्टिमार्ग' की स्थाप की है। इसका तात्पर्य यह है कि एक जीव का उद्धार प्रेम-लक्षणा-भक्ति द्वारा ही सकता है, किन्तु उस प्रेम-लक्षणा-भक्ति की ओर जीव की प्रवृत्ति उसी समय होती जबकि भगवान् का अनुग्रह होता है। साधारणतया तीन प्रकार के जीव माने हैं—(१) पुष्टि जीव, जो भगवान् के अनुग्रह का ही भरोसा रखते हैं और भगव की 'नित्य लीला' में प्रवेश पाते हैं, (२) मर्यादा जीव, जो वेद की विधियों का अ सरण करते हैं और स्वर्ग आदि लोक प्राप्त करते हैं, और (३) प्रवाह जीव, संसार के प्रवाह में पड़े सांसारिक सुखों की प्राप्ति में लीन रहते हैं।[1] इनमें से पु जीव को ही सर्वोपरि वताया गया है तथा कर्म, ज्ञान एवं भक्ति में से भक्ति को सर्वोपरि साधन सिद्ध किया गया है, क्योंकि भक्ति-मार्ग में ही जीवन भगवा पूर्णतः निर्भर होता है, तभी वह भगवान् के विशेष अनुग्रह (पुष्टि) का अधिक होता है और अन्त में उनके साथ 'नित्य-लीला में सम्मिलित होता है। श्रीमद्भाग पुराण में वर्णित गोपियों की प्रेमा-भक्ति को ही पुष्टिमार्गीय भक्ति का सर्वो उदाहरण माना जाता है।

पुष्टिमार्ग में सेवा का बड़ा महत्त्व माना गया है। वहाँ सेवा दो प्रकार वताई गई है—नाम-सेवा और स्वरूप-सेवा। स्वरूप-सेवा भी पुनः तीन प्रकार वताई गई है—तनुजा, वित्तजा और मानसी। शारीरिक सेवा को 'तनुजा' कहते धन से की हुई सेवा 'वित्तजा' कहलाती है और केवल मन से की हुई सेवा को 'मान सेवा' कहते हैं। यह मानसी सेवा भी दो प्रकार की होती है—मर्यादा-मार्गीय पुष्टि-मार्गीय। इनमें से मर्यादा-मार्गीय मानसी सेवा के लिए शास्त्रोक्त गम्भीर की आवश्यकता होती है। इस सेवा मार्ग में साधक को नाना क्लेश उठाकर आत्मज्ञान प्राप्त करना पड़ता है, फिर वह लोकार्थी के रूप में भगवान् श्रीकृष्ण

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० १५६।

सेवा और आराधना करता हुआ अपने अहङ्कार एवं ममत्व का विनाश करता है, तब अन्त में उसे अभीष्ट फल की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु भगवान् के अनुग्रह की आवश्यकता फिर भी बनी रहती है। इसमें अतिरिक्त पुष्टिमार्गीय मानसी-सेवा करने वाला साधक आरम्भ से ही भगवान् के अनुग्रह की कल्पना करता है। वह शुद्ध-प्रेम द्वारा भगवद्भक्ति करता हुआ सहज ही भगवान् के अनुग्रह को प्राप्त करके अपने अभीष्ट फल को भी प्राप्त कर लेता है।[1] इस तरह मर्यादा-मार्ग की अपेक्षा पुष्टिमार्ग सरल एवं सुगम है। इसमें भगवान् कृष्ण को परमब्रह्म माना गया है और वे दिव्यगुण सम्पन्न 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं और गुरु को ही भगवान् कृष्ण का स्वरूप माना जाता है। इस भक्तिमार्ग में अपना सर्वस्व भगवान् कृष्ण के चरणों में अर्पित किया जाता है। इसीलिये इस मत का अनुयायी प्रत्येक भक्त अपना 'तन-मन-धन' सर्वस्व कृष्ण स्वरूप गुसाईंजी के चरणों में अर्पित करना अपना परम कर्त्तव्य मानता है।

महात्मा सूरदास ने पुष्टिमार्गीय प्रेमभक्ति को ही अपनाया है। इसीलिये उनके 'सूर-सागर' में प्रेम के विविध रूप— दास्य, वात्सल्य, माधुर्य, दाम्पत्य आदि की छटा विद्यमान है। यहाँ भगवान् कृष्ण को भी प्रेममय माना गया है, जिन्होंने प्रेम के वशीभूत होकर ही ब्रज में अवतार लिया है। इसीलिए सूर ने 'प्रीत के वश नटवर रूप धर्यो' कहकर इसी बात का समर्थन किया है। सूर ने प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए विरह की तीव्रानुभूति में ही विशुद्ध प्रेम के दर्शन किये हैं और वियोग-विह्वलता; विरह-वेदना आदि के अन्तर्गत सच्चे भक्त की अभिलाषा, व्याकुलता एवं विवशता को चित्रित किया है।

साधारणतः पाँच प्रकार की भक्ति प्रचलित हैं—(१) शान्तभाव की भक्ति, जिसमें पूज्य-पूजक-भाव रहता है, अर्थात् भगवान् पूज्य और भक्त पूजक होता है, २) वात्सल्य-भाव की भक्ति, जिसमें भगवान् के साथ जन्य-जनक-भाव रहता है, ३) दाम्पत्य-भाव या माधुर्य भाव की भक्ति, जिसमें भगवान् के साथ पतिभाव रहता , (४) दास्य-भाव की भक्ति, जिसमें भगवान् के साथ सेव्य-सेवक-भाव रहता है, ीर (५) सख्य-भाव की भक्ति, जिसमें भगवान् के साथ सखा-भाव रहता है। सूर ी भक्ति दास्य-भाव की है, जिसमें सूर ने अपने आराध्य देव कृष्ण को अपना सखा ानकर अपनी भक्ति-भावना प्रकट की है और पुष्टिमार्गीय सेवा-भाव को अपनाया , जिसके तीनों रूप—गुरु-सेवा, सन्त-सेवा तथा प्रभु-सेवा—सूरदास में विद्यमान हैं। ुष्टिमार्ग में नित्य सेवा-विधि और वार्षिकोत्सव सेवा-विधि का भी बड़ा महत्त्व है। र ने नित्य सेवा-विधि का उल्लेख करते हुए प्रातःकाल से लेकर शयन-पर्यन्त भगवान् ी सेवा-विधि का सांगोपांग वर्णन किया है और वार्षिकोत्सव सेवा-विधि के अन्तर्गत र ने कृष्ण, राम, नृसिंह, वामन आदि की जयन्तियों का पूरा-पूरा वर्णन किया है।

---

[1] अष्टछाप-परिचय, पृ० २९।

पुष्टिमार्ग में तीन आसक्तियाँ प्रमुख मानी गई हैं—स्वरूपासक्ति, लीलास और भावासक्ति । सूर ने मुख्यतया लीलासक्ति को ही अपनाया है और अपने सागर' में मुख्यतया लीला-पदों का गान करते हुए लीलासक्ति के प्रति अपनी अधिक दिखाई है । वैसे भी सूर के दीक्षागुरु वल्लभाचार्य ने सूर को लीला-पदों गान करने का ही उपदेश दिया था और इसी कारण सूर ने भक्ति-विभोर है गोकुल से लेकर मथुरा तक की समस्त कृष्ण-लीलाओं का वर्णन किया है ।

इस प्रकार सूर की भक्ति-भावना का अध्ययन करने पर पता चलता है सूर ने सखाभाव की भक्ति को अपनाते हुए भी यशोदा-नन्द के वात्सल्य-भाव, एवं गोपियों के माधुर्य भाव एवं दाम्पत्य प्रेम की सुन्दर अभिव्यंजना की है, अनुभूति की गम्भीरता एवं रमणीयता के साथ-साथ हृदय की तल्लीनता भी मात्रा में दिखाई देती है और सूर प्रेम एवं अनुकम्पा के साथ-साथ मधुरा-रति अभिव्यक्ति में अत्यधिक तल्लीन एवं तन्मय दिखाई देते हैं । उनकी यह तल्लीनता तन्मयता गोपियों की दाम्पत्य-भाव की भक्ति के निरूपण में पराकाष्ठा पर पहुँ है । इसीलिए सूर की भक्ति-भावना में पुष्टिमार्गीय प्रेमलक्षणा-शक्ति का ही प्रा है और इसी प्रेमा-भक्ति को तीन रूपों में विभक्त करके सूर ने अपने पदों में किया है, जिसमें पहले कृष्ण के प्रति नन्द-यशोदा तथा अन्य गुरुजनों के मम स्नेह के रूप में; दूसरे, बालसखाओं के सौहार्द्र के रूप में; और तीसरे, गोपियों राधारानी के दाम्पत्यभाव के रूप में इसे प्रेमा-भक्ति की अभिव्यंजना हुई है।

सूर के दार्शनिक विचार

वल्लभाचार्य के शिष्य होने के कारण सूर के दार्शनिक विचारों पर पू वल्लभाचार्य का ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । मध्य युग के समस्त भक्ति-प्र आचार्यों ने शङ्कर के अद्वैतवाद एवं मायावाद का खण्डन किया था । इसी कारण श्री वल्लभाचार्य ने भी शङ्कर के अद्वैत के स्थान पर दार्शनिक दृष्टि से 'शुद्धाद्वै प्रतिपादन किया तथा अद्वैत के साथ जो माया के मिथ्यात्व की कल्पना थी उसे करके सच्चिदानन्द ब्रह्म-की अद्वैतता के शुद्ध रूप की व्याख्या की । वल्लभाचा निरूपित किया कि सत्, चित् और आनन्दस्वरूप ब्रह्म अपनी इच्छानुसार इन रूपों का आविर्भाव एवं तिरोभाव करता रहता है । 'जड़-जगत्' भी ब्रह्म है अपने चित् और आनन्दस्वरूपों का पूर्ण तिरोभाव तथा सत् स्वरूप का अंशतः र्भाव किये हुए है । चेतन जगत् भी ब्रह्म है, किन्तु इसमें भी सत्, चित् और आ तीनों स्वरूपों का कुछ आविर्भाव एवं कुछ तिरोभाव रहता है । इस तरह वल्ल ने मायात्मक जगत् को मिथ्या नहीं माना है; अपितु माया को ब्रह्म की ही स्वीकार किया है, जो इसी की इच्छा से विभक्त होती है और जीव अपने शुद्ध रूप को तभी प्राप्त करता है, जब आविर्भाव एवं तिरोभाव—दोनों मिट जाते हैं यह कार्य तभी सम्पन्न होता है जब ब्रह्म का अनुग्रह होता है ।

वल्लभाचार्य से प्रभावित होकर ही सूर ने श्रीकृष्ण को परब्रह्म का रूप माना है; जो पुरुषोत्तम, अन्तर्यामी, अव्यक्त, अविनाशी एवं घट-घट-वासी हैं, जिनकी ज्योति सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है, जो त्रिगुणातीत सच्चिदानन्द स्वरूप हैं और अपने ब्रज-धाम में ही नित्य लीला करते रहते हैं। इसीलिए सूर ने कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का बड़ी तन्मयता के साथ वर्णन किया है और उसके परम सुख का उल्लेख करते हुए बताया है कि स्वयं शेषयायी विष्णु भगवान् भी इस लीला सुख के लिए लालायित रहे आते हैं। सूर के कृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं, अद्वैत हैं और सृष्टि-रचना के लिए अपने सत् एवं चित् रूप से अवतरित होते रहते हैं। ब्रज ही उनका गोलोक-धाम है, ब्रज के गोप-गोपी, गोवत्स, द्रुम-लता सभी कृष्ण के आनन्दरूप के अंश हैं. इनमें राधा का विशिष्ट स्थान है। कृष्ण आदि-पुरुष हैं और राधा आदि-प्रकृति। वैसे दोनों अभिन्न हैं, कन्तु लीला-सुख के लिए पुरुष और प्रकृति का अभिन्न सम्बन्ध राधा को विस्मृत हो जाता है। इसी से वह कृष्ण के प्रेम की प्राप्ति का प्रयत्न करती है।[1] सूर के ब्रह्म रूप कृष्ण अनुपम, अलख, अविनाशी एवं अजन्मा होकर भी भक्तों के प्रेम के कारक अवतार लेते रहते हैं और ब्रज में लीला करने के लिए अपने गोप एवं गोपी-मण्डल के साथ आते हैं। सूर ने कृष्ण को विष्णु का पूर्णावतार कहा है, साथ ही तीनों देवों से ऊँचा स्थान प्रदान किया है।

सूर ने वल्लभाचार्य के मतानुसार जीव को ब्रह्म का ही अंश माना है और ब्रह्म तथा जीव की अद्वैत सत्ता स्वीकार की है। वल्लभाचार्य की भाँति सूर ने जीवों का विशुद्ध, मुक्त और संसारी तीन रूपों में श्रेणी-विभाजन तो नहीं किया है, परन्तु उनका वर्णन अवश्य सूर के पदों में मिल जाता है। सूर ने शुद्ध अवस्था वाले जीवों का वर्णन तो कृष्ण की नित्य लीला के सम्बन्ध में किया है और संसारी जीवों का वर्णन विषय के पदों में किया है। विनय के पदों में संसारी जीवों की दुरवस्था, भ्रांति, विषयासक्ति, विकारों में लीन रहने के कारण विभिन्न आपत्तियों से उत्पन्न दुर्गति आदि का बड़ा ही प्रभावोत्पादक वर्णन किया गया है। जीव की यह दुरवस्था माया के कारण ही होती है। यदि माया का प्रपंच न हो तो वह शुद्ध ब्रह्म रूप ही है और उसे फिर इस आवागमन के चक्कर में नहीं फँसना पड़ता। जीव माया के कारण ही जगत् के प्रपंच में फँसता है। इसीलिए सूर ने 'माधवजू नैंकु हटको गाय' कहकर माया से मुक्त होने का अनुरोध किया है। वैसे भी भगवान् के अनुग्रह एवं उनकी अनुकम्पा से ही जीव सांसारिक बन्धनों से मुक्त होता है और अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त करता है। सूर ने जीव को इसी अनुग्रह एवं अनुकम्पा को प्राप्त करने के लिए अपने पदों में आग्रह किया है।

वल्लभाचार्य ने जगत् और संसार को पृथक्-पृथक् स्वीकार किया है। उनके मतानुसार जगत सत्य है और संसार असत्य है। जगत् ईश्वर की इच्छा से ईश्वर के

---

[1] सूरदास—डा० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० १४५-१४६।

केवल सत् अंश का विस्तार है और संसार अविद्या के कारण ममता रूप है और ना है । कामिनी, कंचन, शरीर, भौतिक पदार्थ, वैभव आदि सभी संसार हैं, जबकि सृ का अनादि प्रवाह 'जगत्' है । ज्ञान के उदय होते ही इस अविद्या-जन्य ममतामय सं का तो विनाश हो जाता है, किन्तु जगत का बिनाश नहीं होता, क्योंकि जगत तो ब्र रूप है, जो अभेद रूप से ब्रह्म में स्थित है । बल्लभाचार्य ने जगत् को ब्रह्म की प्र माया का परिणाम माना है और संसार को जीव की अविद्या का परिणाम बताया है अतः जगत् ईश्वरकृत है और संसार जीवकृत । इसी से संसार नश्वर है और ज अविनाशी है । सूर ने संसार की नश्वरता का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है औ संसार की उपमा सेंमल के फूल की रुई अथवा पानी के बुलबुले से देकर संसार मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है । संसार के सभी नाते-रिश्ते, पुत्र, कलत्र, पति आदि को भी सूर ने मिथ्या सिद्ध किया है और इस संसार की झूठी माया के चक्र में पड़कर जीव की जो दुर्गति होती है उसकी ओर स्थान-स्थान पर संकेत किया परन्तु जगत् और संसार के सूक्ष्म भेद का वर्णन नहीं किया है ।

दार्शनिक दृष्टि से सूर के श्रीकृष्ण, मुरली तथा गोपियाँ क्रमशः ब्रह्म, मा और जीव के भी प्रतीक माने गये हैं । माया के दो रूप माने गये हैं—विद्या रूप औ अविद्या रूप । विद्या रूप वह है जो ब्रह्म एवं जीव को मिलाने का कार्य करती है, जिसके फलस्वरूप जीव अन्य सभी जीवों को ब्रह्मवत् समझता है । श्रीकृष्ण की मुर यही 'विद्या माया' है, जो जीव और ब्रह्म को मिलाने का कार्य करती है । दू अविद्या माया वह है जो जीव और ब्रह्म में भेद उत्पन्न करती है तथा जिसके का जीव संसार के प्रपंच में फँसकर नाना कष्ट सहन करता है । सूर ने इस अविद्या माया का ही 'माधव नैंकु हटकौ गाय' कहकर बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया है औ उसे त्रिगुणात्मिका कहकर सम्पूर्ण विश्व को भ्रम डालने वाली बताया है ।

सूर ने पुष्टिमार्ग के अनुसार सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य नाम चारों प्रकार की मुक्तियों की ओर संकेत किये हैं । भगवान् के लीलाधाम में पहुँच ही 'सालोक्य' मुक्ति है, उनके चरणारविन्द का सान्निध्य 'सामीप्य' मुक्ति है, कृष्ण साथ उन्हीं के समान आचरण करना 'सारूप्य' मुक्ति है तथा ईश्वर के साथ एकीभ को प्राप्त हो जाना 'सायुज्य' मुक्ति कहलाती है । इनमें से सूर ने मुख्यतया सायु मुक्ति को ही महत्त्व दिया है । सायुज्य मुक्ति के भी दो रूप होते हैं—(१) संसार दुःख से मुक्ति और (२) नित्य सुख की प्राप्ति । परन्तु दोनों ही अवस्थाओं में जी भगवान का अंग नहीं बनता । केवल लयात्मक सायुज्य मुक्ति में ही जीव ब्रह्म का बनता है । सूर ने लयात्मक सायुज्य मुक्ति का वर्णन संयोग एवं वियोग श्रृंगार अन्तर्गत किया है । इसीलिए सूर का 'रास-लीला' वर्णन तथा 'भ्रमर-गीत' दोनों लयात्मक सायुज्य मुक्ति के दोनों रूपों के द्योतक हैं ।[1]

---

[1] सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० २१७-२१८ ।

इस प्रकार सूर ने ब्रह्म, जीव, जगत् और माया का निरूपण करके पुष्टिमार्ग के अनुसार भगवान् के अनुग्रह से ही जीव को माया-जन्य जगत् के प्रपंच से मुक्त होकर ब्रह्म के साथ सायुज्य मुक्ति का लाभ करते हुए अङ्कित किया है और बताया है कि भगवान् के निमित्त सर्वस्व अर्पण करने पर ही संसारी जीव इस मार्ग पर आरूढ़ होता है तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप का अनुभव करने पर तथा उनकी लीला-सृष्टि में प्रवेश पाने पर ही जीव को लयात्मक सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है। फिर भी सूर में भक्ति-सम्बन्धी भावनाओं का ही प्राधान्य है, दार्शनिक विचारों की ओर सूर उतने उन्मुख दिखाई नहीं देते। वैसे भी सूर भक्त-कवि हैं, दार्शनिक नहीं। अतः उनके पदों में दार्शनिक विचारों की नीरसता के स्थान पर माधुर्यभाव से परिपूर्ण भक्ति की सरसता का ही प्राधान्य है।

सूर का वात्सल्य-वर्णन

जीवन का मूलाधार प्रेम है। यह प्रेम संसार में पशु, पक्षी, मानव आदि सभी प्राणियों में पाया जाता है और इसके विभिद्ध रूप दृष्टिगोचर होते हैं। कहीं यह समवयस्कों में मैत्री या सखा-भाव के रूप में दिखाई देता है, तो कहीं पति और पत्नी के मध्य दाम्पत्य-भाव के रूप में दिखाई देता है। ऐसे ही कहीं यह गुरुजनों एवं महापुरुषों के प्रति श्रद्धा-भाव के रूप में दिखाई देता है, तो कहीं पुत्र-पुत्री, लघु भ्राता आदि अपने से छोटे व्यक्ति के प्रति वात्सल्य-भाव के रूप में दिखाई देता है। इस तरह वात्सल्य-भाव प्रेम का एक वह प्रकार है, जिसमें किसी छोटे व्यक्ति के प्रति निश्छल एवं निष्कपट प्रेम की भावना रहती है अथवा जिसमें किसी भोले-भाले शिशु को देखकर हमारा हृदयोदधि प्रेम-तरंगों से आकुल हो उठता है और हम अनायास उसकी ओर आकृष्ट हो उठते हैं। वात्सल्य ही प्रेम की अत्यन्त निर्मल एवं पवित्र स्थिति है। इसमें सहज सुकुमार बालक की सामाजिक चेष्टाओं, कौतुक क्रीड़ाओं एवं अटपटे कार्यों का प्राधान्य रहता है और इसके अन्तर्गत एक स्वर्गीय एवं नैसर्गिक प्रेम की ऐसी धारा प्रवाहित रहती है जिसके परिणामस्वरूप उस बालक के माता-पिता ही क्या, अन्य परिजन एवं पुरजन भी उसकी चेष्टाओं, क्रीड़ा कौतुकों को देख-देखकर आनन्द-विभोर हो जाते हैं और अपने आप को भूल जाते हैं।

सूर ने इस वात्सल्य-भाव का वर्णन अत्यन्त मार्मिकता एवं सजीवता के साथ किया है। सूर के अन्तर्गत वात्सल्य-भाव की यह अनुभूति अत्यन्त गहन एवं गम्भीर दिखाई देती है। इसीलिये सूर का वात्सल्य-वर्णन हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में सर्वथा अनुपम एवं अद्वितीय माना जाता है। तुलसी आदि उच्च कोटि के कवि भी उतना सरस एवं प्रभावोत्पादक वर्णन नहीं कर सके हैं। इसी कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "आगे होने वाले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठी सी जान पड़ती हैं" कहकर सूर की प्रशंसा की है।[1] डा० रामकमार वर्मा ने बाल कृष्ण

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० १६५।

के शैशव में, श्रीकृष्ण के मचलने में, माँ यशोदा के दुलार में हम विश्वव्यापी माता-पु प्रेम देखते हैं"[१] कहकर सूर के वात्सल्य-वर्णन की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "यशोदा के बहाने सूरदास ने मातृ-हृदय का ऐ स्वाभाविक, सरल और हृदयग्राही चित्र खींचा है कि आश्चर्य होता है।"[२] डा० हरवंशलाल शर्मा ने "सूर का वात्सल्य-भाव भी विश्व-साहित्य में अपना विशेष स्था रखता है"[३] कहकर सूर के वात्सल्य की सराहना की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूर ने श्रीकृष्ण की बाल-सुलभ चेष्टाओं, मनोहारिणी लीलाओं एवं रमणीय बाल क्रीड़ाओं का ऐसा हृदयग्राही एवं प्रभावशाली वर्णन किया है, जिसे पढ़कर एवं सुनक हृदय हठात् उस ओर आकृष्ट हो जाता है। वास्तव में बाल-सुलभ चेष्टाओं के मनो मुग्धकारी चित्रों का जितना बड़ा भण्डार सूर-सागर में विद्यमान है, उतना अन्य कहीं भी दिखाई नहीं देता। सूर के इन चित्रों में विविधता है, आकर्षण है, रमणीयत है और स्वाभाविकता है, जिसके फलस्वरूप कोई भी अन्य कवि सूर के वात्सल्य-वर्ण की समानता नहीं कर सका है।

सूर का वात्सल्य-वर्णन अत्यन्त विशद एवं गम्भीर है। इसका सम्यक् अध्यय करने के लिये पहले इसे दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) वात्सल्य क संयोग पक्ष और (२) वात्सल्य का वियोग पक्ष। संयोग पक्ष को भी पाँच भागों विभक्त किया जा सकता है—(१) बालोचित वेश-भूषा का वर्णन, (२) बालोचि चेष्टाओं एवं क्रीड़ाओं का वर्णन, (३) बाल-मनोभावों एवं अन्तःप्रकृति का चित्र (४) बालक के संस्कारों, उत्सवों एवं समारोहों का वर्णन, (५) गो-दोहन तथा गो चारण का वर्णन। इसी भाँति वात्सल्य के वियोग पक्ष को भी मुख्यतया तीन भागों विभक्त कर सकते हैं—(१) कृष्ण के मथुरा-गमन पर, (२) मथुरा से नन्द के अके लौटने पर और (३) कृष्ण के मथुरा में ही निवास करने पर।

वात्सल्य का संयोग पक्ष

सूर का वात्सल्य-वर्णन हिन्दी-साहित्य की अनुपम निधि है। सूर ने बालकं की सहज मनोवृत्तियों के स्वाभाविक चित्र अङ्कित करते हुए वात्सल्य के संयोग प का बड़ा ही मार्मिक एवं मनोहारी वर्णन किया है, जो इस प्रकार है :

(१) बालोचित वेश-भूषा का वर्णन—सूर ने बालक कृष्ण की रूप-माधुरी के दिव्य एवं अलौकिक चित्रों द्वारा बड़ी ही सजीवता के साथ अङ्कित किया है। सूर के बाल-छवि वर्णन बड़े ही सरस, स्वाभाविक एवं चित्ताकर्षक हैं। जैसे—

(अ) हरिजू की बाल छवि कहौं बरनि।
सकल सुख की सींव कोटि मनोज सोभा हरनि।

---

[१] हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ५३७।

[२] सूर-साहित्य, पृ० १२९।

[३] सूर और उनका साहित्य, पृ० २४३।

(ब) सोभा कहत नहिं आवै ।
अँचवत अति आतुर लोचन-पुट मन न तृप्ति कौं पावै ।।

निस्सन्देह श्रीकृष्ण की बाल-छवि अनुपम एवं अद्वितीय है, उसे देखकर यदि 'अमर मुनि गन' थकित रह जाते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं । 'देखिरी देखि आनन्द-कन्द' या 'सखी री नन्दनन्दन देखु' अथवा 'वरनों बाल वेष मुरारि' आदि पदों में सूर ने कृष्ण के अलौकिक एवं अद्भुत रूप को रमणीय झाँकी अंकित की है, जिसे देखते ही मन बालकृष्ण के सहज सौन्दर्य में लीन होकर उनकी रूप-माधुरी का पान करने लगता है ।

(२) **बालोचित चेष्टाओं एवं क्रीड़ाओं का वर्णन**—सूर ने कृष्ण की बाल-छवि के रमणीय चित्रों के अतिरिक्त श्रीकृष्ण की बाल-सुलभ चेष्टाओं एवं विविध क्रीड़ाओं के भी अत्यन्त स्वाभाविक एवं मनोमुग्धकारी चित्र अंकित किये हैं, जिनमें कहीं कृष्ण घुटनों के बल आँगन में चल रहे हैं, कहीं मुख पर दधि लेप करके दौड़ रहे हैं, कहीं अपने प्रतिविम्ब को मणि-खम्भों एवं मणि-अजिर में निहार रहे हैं, कहीं अपने पैर का अँगूठा पी रहे हैं और कहीं हँसते हुए किलकारी भर रहे हैं । माता यशोदा शिशु कृष्ण को चलना सिखा रही हैं, किन्तु वे अपनी बाल-सुलभ प्रवृत्ति के साथ कैसे अपना हाथ माता को पकड़ाते हैं तथा किस तरह डगमगाते हुए पैर आगे बढ़ाते हैं, इसे सूर ने इस तरह चित्रित किया है—

सिखवत चलन जसोदा मैया ।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरै पैंया ।।

ऐसे ही एक दूसरा चित्र मक्खन खाते हुए बालक कृष्ण की उन चेष्टाओं का है, जिनके परिणामस्वरूप उन्हें मक्खन के साथ ब्रज-रज़ में भी सना हुआ देखा जा सकता है—

सोभित कर नवनीत लिये ।
घुटुरुन चलत रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किए ।।

सूर ने बाल कृष्ण की बाल-सुलभ क्रीड़ाओं के अनेक चित्र अंकित किए हैं । पालने में शयन करते समय श्रीकृष्ण की स्वाभाविक बाल-चेष्टा का यह चित्र कितना चित्ताकर्षक है—

कर पग गहि, अँगूठा मुख मेलत ।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले, हरषि-हरषि अपने रंग खेलत ।।

ऐसे ही श्रीकृष्ण की किलकारी भरी हँसी एवं मणि-जटित आँगन में अपने प्रतिविम्ब को पकड़ने के लिए दौड़ते समय का चित्र भी बड़ा ही हृदयग्राही है—

किलकत कान्ह घुटुरुवनि धावत ।
मनिमय कनक नंद कै आँगन बिम्ब पकरिबे आवत ।।

उक्त सभी वर्णन ऐसे हैं जिनमें सूर ने बालकों की स्वाभाविक चेष्टाओं एवं

क्रीड़ाओं के साकार रूप प्रस्तुत किये हैं तथा जिन्हें पढ़कर सहसा हृदय में वात्स भाव उमड़ने लगता है ।

(३) बाल-मनोभावों एवं अन्तःप्रकृति का चित्रण—सूर ने बालकों के हृद मनोभावों, बुद्धि-चातुर्य, स्पर्द्धा, खीझ, प्रतिद्वन्द्विता, अपराध करके उसे छिपाने उसके बारे में कुशलता के साथ सफाई देने की प्रवृत्ति आदि के भी बड़े ही हृदय चित्र अंकित किये हैं । कृष्ण को तो मक्खन अच्छा लगता है, किन्तु माता यशोदा दूध पिलाना चाहती हैं । बच्चे प्रायः दूध पीने में आनाकानी किया करते हैं माताएँ उन्हें फुसलाकर या बहाना बनाकर दूध पिलाया करती हैं । यहाँ माता य ने कृष्ण को यह कहकर फुसलाया है कि तुम्हारी चोटी बढ़ जायेगी और बलराम की तरह लम्बी होकर भूमि पर लेटने लगेगी । इसी समय कृष्ण की स् मिश्रित बाल-सुलभ कुशलता द्रष्टव्य है, क्योंकि वे एक हाथ में दूध का कटोरा हुए हैं, दूसरा हाथ अपनी चोटी पर रखे हुए हैं और देखते जा रहे हैं कि दूध पीते चोटी बढ़ रही है या नहीं । जब चोटी बढ़ती नहीं दिखाई देती, तब माता यशोदा पूछ बैठते हैं—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ।
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी ।।
तू जो कहति बल की बैनी ज्यों, ह्वै है लाँबी मोटी ।
काँचौ दूध पियावत पचि-पचि, देत न माखन रोटी ।।

दूसरा चित्र कृष्ण की बाल-सुलभ सफाई का है । कृष्ण ने मक्खन चुर खा लिया है और वे रँगे हाथों पकड़े भी गये हैं, क्योंकि उनके मुख पर मक्खन हुआ है । परन्तु माता यशोदा के डाँटने पर कृष्ण कैसी मधुर सफाई दे रहे हैं—

मैया मैं नहिं माखन खायौ ।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लिपटायौ ।।
देखि तुही सींके पै भाजन ऊँचे धरि लटकायौ ।।
तुही निरखि नान्हे कर अपने मैं कैसे करि पायौ ।।

तीसरा मनोहर चित्र बाल-सुलभ खीझ का है, जिसमें कृष्ण को बलरा चिढ़ा दिया है कि तू नन्द और यशोदा का पुत्र नहीं है, तुझे तो मोल खरीदा गया क्योंकि नन्द और यशोदा दोनों तो गोरे हैं और तू काला है । इस बात पर कृष्ण हृदय में जो खीझ उत्पन्न होती है, उसका चित्ताकर्षक वर्णन सूर ने इस प्र किया है—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो ।
मोसों कहत मोल को लीनो, तोहि जसुमति कब जायो ।।
कहा कहौं एहि रिस के मारें, खेलन हौं नहिं जातु ।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तुम्हरे तातु ।।

गोरे नन्द जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलवीर ॥

ऐसे ही एक दिन कृष्ण को एक गोपी ने मक्खन चुराने के लिए मटके में हाथ डालते हुए सूने घर में पकड़ लिया तो गोपी कहने लगी—

पाए आजु अकेले घर में, दधि भाजन में हाथ।
अब तुम काको नाम लेउगे, नाहिंन कोउ साथ ॥

इतना सुनते ही बालक कृष्ण तर्क एवं चतुरता से भरा हुआ कैसा सुन्दर उत्तर देते हैं—

मैं जान्यो यह मेरौ घर है, ता धोखे में आयो।
देखत हौं गोरस में चींटी काढ़न कों कर नायो ॥

(४) बालकों के संस्कार, उत्सवों एवं समारोहों का वर्णन—सूर ने बालकों से सम्बन्धित संस्कारों, उत्सव एवं समारोहों का वर्णन करते हुए भी वात्सल्य भाव की अभिव्यक्ति की है, क्योंकि बालकों के कनछेदन, नामकरण, वर्षगाँठ आदि के अवसरों पर माता-पिता के हृदय में जो सहज उत्साह एवं स्वाभाविक प्रेम उमड़ने लगता है और वे कैसी-कैसी तैयारी करते हैं, सूर की अन्धी आँखों से वह भी छिपा नहीं है। जैसे, कृष्ण के अन्न-प्राशन के अवसर पर नन्द के घर की दशा देखिए—

आजु कान्ह करिहैं अन प्रासन।
मनि कंचन के थार भराए, भाँति-भाँति के बासन ॥
नन्द घरनि ब्रजवधू बुलाई, जे सब अपनी पाँति।

कृष्ण की वर्षगाँठ के अवसर पर माता यशोदा कितनी प्रसन्न होकर अपनी सखियों के साथ मंगलगान कराती हैं, आँगन में मोतियों का चौक पुरवाती हैं तथा अन्य तैयारी कराती हैं—

अरी मेरे लालन की आजु बरष गाँठि सबै,
सखिन कौं बुलाइ मंगल-गान करावौं।
चंदन आँगन लिपाइ मुतियन चोकैं पुराइ,
उमँग अँगनि आनन्द सौं तूर बजावौं ॥

(५) गो-दोहन तथा गो-चारण का वर्णन—सूर ने उक्त वर्णनों के अतिरिक्त कृष्ण के गो दोहन के लिए मचलने, गौओं को दुहने, गो-चारण के लिए बन में जाने की हठ करने, गौ चराने के लिए वन में जाने, वन में माता द्वारा छाक भिजवाने आदि का वर्णन करके वात्सल्य भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। जैसे, गो-दोहने के लिए हठ करते हुए बालक कृष्ण का वर्णन देखिए—

तनक तनक मोय दोहिनी दै दै री मैया।
तात दुहन सीखन कह्यो मोहि धौरी गैया ॥
अटपटे आसन बैठिकै गोधन कर लीनो।
धार अनत ही देखिकै ब्रजपति हँस दीनो ॥

घर घर ते आईं सबै देखन ब्रज नारी।
चितै चोर चित हरि लियो हँसि गोप-बिहारी ॥

ऐसे ही जब कृष्ण गो-चारण के लिए बन में जाने लगे हैं, तब उनके 'छाक' की तैयारी करती हुई माता यशोदा का प्रेम कितना उमड़ने लगता है।

जोरति छाक प्रेम सों मैया।
ग्वालन बोलि लए अधजेंवत उठि धाये दोउ भैया ॥
तबही तें भोजन नहिं कीनों चाहत दियो पठाई ॥
भूखे गए आजु दोउ भैया आपहिं बोलि मँगाई ॥
सब माखन साजो दधि मीठो मधु मेवा पकवान।
'सूर' स्याम को छाक पठावति कहति ग्वाल सों जान ॥

वात्सल्य का वियोग पक्ष

जिस प्रकार सूर ने अत्यन्त तन्मय होकर श्रीकृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं मनोरम झाँकियाँ अंकित करते हुए वात्सल्य के संयोग पक्ष का अत्यन्त मर्मस्पर्शी किया है और बालकों की प्रवृत्तियों के मनोवैज्ञानिक एवं चित्ताकर्षक चित्र किये हैं, उसी प्रकार सूर ने शृंगार रस की भाँति वात्सल्य के वियोग पक्ष का अत्यन्त हृदयद्रावक चित्रण किया है जो इस प्रकार है :—

(१) **श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन पर**—वियोग वात्सल्य की सबसे सुन्दर श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन पर अंकित की गई है। उस क्षण ऐसा जान पड़ता है, सूर स्वयं यशोदा के रूप में अपनी आँखों से आँसू बहाते हुए रो रहे हैं और प्रत्येक शब्द से वात्सल्य का अजस्र स्रोत उमड़ रहा है, क्योंकि श्रीकृष्ण के मथुरा का समाचार पाते ही माता यशोदा के हृदय से वात्सल्य का स्रोत इस तरह पड़ता है—

जसोदा बार बार यों भाखै।
है कोई ब्रज में हितू हमारौ, चलत गोपालहिं राखै ॥
कहा करै मेरे छगन मगन को, नृप मधुपुरी बुलायौ।
सुफलक सुत मेरे प्रान हनन कौं काल रूप होइ आयौ ॥

इतने रोने-पीटने पर भी जब माता यशोदा की बात कोई नहीं सुनता कृष्ण भी मथुरा जाने से नहीं रुकते, तब माता यशोदा का हृदय वियोग-जन्य के प्रबल वेग को सहन नहीं कर पाता और वे विलाप करती हुई कटे वृक्ष की भूमि पर पछाड़ खाकर गिर पड़ती हैं। माता की यह कारुणिक दशा कितनी द्रावक है—

यह सुनि गिरी धरनि झुकि माता।
कहा अक्रूर ठगौरी लाई, लिए जात दोउ भ्राता ॥
बिरध समय की हरित लकुटिया, पाप पुन्य उर नाहीं।
कछू नफा है तुमकों यामें, सोचौ धौं मन माहीं ॥

(२) मथुरा से नन्द के अकेले लौटने पर—सूर ने यशोदा के मातृ-हृदय की वात्सल्यमयी झाँकी उस समय भी बड़ी तन्मयता के साथ अङ्कित की है, जिस समय नन्द अकेले ही मथुरा से लौटते हैं और माता यशोदा उन्हें द्वार पर अकेला खड़ा देखकर क्षोभ के मारे आकुल हो उठती हैं। उस क्षण माता यशोदा का हृदय शतधा होकर वात्सल्य रस की अनेक धाराओं में फूट पड़ता है और वे अपने प्रिय पुत्र के अभाव में एक सहज टीस, स्वाभाविक आकुलता एवं नैसर्गिक व्यथा से परिपूर्ण होकर अपने पति नन्द को फटकार उठती हैं—

जसुदा कान्ह-कान्ह कै बूझै।
फूटि न गईं तुम्हारी चारों कैसे मारग सूझै।।

परन्तु यशोदा को इतने से सन्तोष नहीं होता, वह आकुल होकर यहाँ तक कह डालती हैं—

छाँड़ि सनेह चले मथुरा, कत दौरि न चीर गह्यौ।
फाटि न गई बज्र की छाती, कत यह सूल सह्यौ।।

परन्तु यशोदा के उक्त कटु वचन उसकी धृष्टता के नहीं, अपितु उसकी गहन व्यथा एवं विक्षिप्त दशा के द्योतक हैं, जिनसे वात्सल्य की धाराएँ फूट रही हैं।

(३) श्रीकृष्ण के मथुरा में ही निवास करने पर—सूर ने वात्सल्य-जन्य वियोग का चित्रण करते हुए वात्सल्य को भाव से रस की स्थिति तक पहुँचा दिया है। इसका मूल कारण यह है कि शृङ्गार की ही भाँति वात्सल्य के भी संयोग एवं वियोग पक्ष का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है। इस वियोग-वात्सल्य की हृदयद्रावक झाँकी सूर ने उस समय अङ्कित की है, जिस समय श्रीकृष्ण अनेक बुलावा भेजने पर भी मथुरा से गोकुल नहीं आते और माता अपने पुत्र के योग्य रुचिकर वस्तुओं को नित्य अपने सामने रखी हुई देखती है। उस समय माता के हृदय में कितनी पीड़ा होती है, कितनी टीस उठती है और उसके उद्‌गारों में कितना रस उमड़ता हुआ दृष्टिगोचर होता है—

जद्यपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि, मेरे मोहन के मुख जोग।।

उसे बार-बार पुरानी बातें याद आती हैं और वह बार-बार यही अभिलाषा करती है कि वह दिन न जाने कब आयेगा, जबकि मैं लोरियाँ गाती हुई रात-दिन अपने श्याम सलौने को छाती से लगाकर खिलाया करूँगी—

निसि बासर छतियाँ लै लाऊँ, बालक लीला गाऊँ।
वैसे भाग बहुरि कब ह्वै हैं, मोहन गोद खिलाऊँ।।

माता यशोदा रात-दिन पागल-सी रही आती है। उसे सारा ब्रज काटने दौड़ता है। फिर भी नित्यप्रति उसे अपने लड़ैते लाल के खान-पान, रहन-सहन आदि की चिन्ता रही आती है, क्योंकि अपने सिवाय उसे संसार में और कोई ऐसा हितू

नहीं दिखाई देता, जो प्रिय पुत्र की आदतों को जानता हो और उसके अनुसार खाने-पीने आदि की समुचित व्यवस्था कर सके। इसीलिए तो माता यशोदा स्नेहातिरेक के वशीभूत होकर पुकार उठती है—

संदेसो देवकी सौं कहियौ।
हौं तौ धाइ तिहारे सुत की, दया करत ही रहियौ॥
जदपि टेव तुम जानति ह्वै हौ, तऊ मोहि कहि आवै।
प्रात होत मेरे लाल लड़ैतै, माखन रोटी भावै॥
तेल उबटनौ अरु तातौ जल, ताहि देखि भजि जाते।
जोई-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती, क्रम-क्रम करि कै न्हाते॥
सूर पथिक सुनि मोहिं रैनि दिन, बढ़्यौ रहत उर सोच।
मेरौ अलक लड़ैतौ मोहन, ह्वै है करत संकोच॥

माता के उक्त कथन में एक सार्वभौम एवं शाश्वत तथ्य का निरूपण हुआ है, जिसमें माता के हृदय की मनोवैज्ञानिक एवं स्वाभाविक झाँकी अंकित की गई है।

इस तरह सूर ने वात्सल्य का बड़ा ही हृदयहारी वर्णन किया है, जिसमें बालोचित चेष्टाओं एवं क्रीड़ाओं के अतिरिक्त मातृ-हृदय की भी बड़ी ही मनोरम व्यंजना हुई है और जो भाव से रस की चरम कोटि तक पहुँच गया है। वात्सल्य-भाव की भक्ति भी सर्वोपरि मानी गई है, क्योंकि न तो उसमें विरक्ति होती है और न इन्द्रिय सुखों की लालसा, अपितु उसमें अपने आलम्बन के प्रति मातृ-हृदय की सहज एवं स्वाभाविक परिणति रहती है तथा अन्य सभी प्रकार की भक्तियों की अपेक्षा उसमें स्नेहाधिक्य के भी दर्शन होते हैं। सूर ने भी यहाँ ऐसी ही 'वात्सल्य' भक्ति का वर्णन किया है, जिसमें स्नेहातिरेक के साथ-साथ मातृ-हृदय की सहज एवं स्वाभाविक परिणति के दर्शन होते हैं। इतना ही नहीं, सूर के इस वात्सल्य-वर्णन में तन्मयता है, स्वाभाविकता है, मनोवैज्ञानिकता है, सरलता है, सहज आकर्षण है, हृदय को आकृष्ट करने की पूर्ण क्षमता है और इसमें शिशु-जीवन की एक उल्लास एवं उमंग भरी शाश्वत झाँकी अंकित है। इसी कारण सूर वात्सल्य के सम्राट् कहलाते हैं, बाल-मनोविज्ञान के पारखी कहे जाते हैं और बाल-प्रकृति एवं बाल-मनोवृत्तियों के कुशल चितेरे के रूप में प्रसिद्ध हैं।

सूर का विरह-वर्णन

सूर ने बाल-जीवन की ही भाँति विरही जीवन के भी चित्र बड़ी मार्मिकता के साथ अंकित किये हैं। डा० रामकुमार वर्मा के मतानुसार तो "इन दोनों प्रकार के चित्रों में विरह-जीवन के चित्र भावनाओं की गहरी अनुभूति लिए हुए हैं।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूर ने वात्सल्य की ही भाँति वियोग का भी अत्यन्त व्यापक एवं विशद वर्णन किया है। श्रीकृष्ण के ब्रज से विदा होते ही गोपियाँ ठगी-सी रह जाती हैं, वे चित्र-लिखी-सी खड़ी होकर कृष्ण को देखती रहती हैं, उन्हें सुधबुध नहीं रहती और उनकी

आँखों से आँसुओं की अविरल धारा बहने लगती है। सूर ने 'जहाँ सु तहाँ एक टक रहि गई, फिरति न लोचन फेरै' कहकर गोपियों की किंकर्त्तव्य-विमूढ़ स्थिति का बड़ा ही हृदय-द्रावक चित्रण किया है। इतना ही नहीं 'मुरझि परी ब्रजबाल' कहकर सूर ने उनकी विरह-जन्य अचेतावस्था का भी जीता-जागता चित्र अंकित कर दिया है। कृष्ण के चले जाने पर गोपियों के नेत्रों से आँसुओं की निरन्तर वर्षा होती रहती है, उन्हें खाना-पीना अच्छा नहीं लगता, उन्हें 'पिया विनु नागिनि कारी रात' प्रतीत होती है, वे मुख में ताम्बूल, नेत्रों में अंजन और ललाट पर तिलक तक का प्रयोग नहीं करतीं, उनके वस्त्र मैले-कुचैले रहे आते हैं, सहज सचिक्कण अलकावली रूखी रही आती है और उनका शरीर अत्यन्त क्षीण ही जाता है। श्रीकृष्ण के विरह में केवल गोपियाँ ही व्यथित नहीं हैं, अपितु नन्द, यशोदा तथा ग्वाल-बाल भी रात-दिन बेचैन रहे आते हैं। इतना ही नहीं, श्रीकृष्ण के तीव्र विरह में यमुना भी अत्यन्त काली पड़ जाती है और सारा ब्रज विरहाग्नि में प्रज्वलित दिखाई देने लगता है। इसीलिए हरी-भरी कुंजें भी विषम ज्वाला से सन्तप्त करती हुई और सावन के मेघ तथा पपीहा की पुकार भी सम्पूर्ण ब्रज को व्यथित करती हुई दिखाई देती है। इस तरह सूर ने विरह का अत्यन्त व्यापक रूप प्रस्तुत किया है, जिसमें ब्रज के चेतन एवं अचेतन सभी पदार्थ प्रज्वलित होकर व्यथित एव बेचैन दिखाई देते हैं।

सूर के विरह-वर्णन की विशेषताएँ

(१) गोपियों की अतृप्त प्रेमानुभूति—सूरदास ने 'भ्रमर-गीत' के अन्तर्गत जिस तीव्र विरह का निरूपण किया है, उसमें गोपियों की अतृप्त प्रेमानुभूति का अत्यन्त मार्मिकता के साथ प्रदर्शन किया है, क्योंकि गोपियाँ कृष्ण के प्रेम-रस का पान करके तनिक भी तृप्त दिखाई नहीं देतीं और वे कृष्ण प्रेम के रस-पान के लिए रात-दिन छटपटाती हुई दिखाई गई हैं। उनकी इस छटपटाहट में अतृप्ति है, असन्तोष है, बेचैनी है और तीव्र व्याकुलता भरी हुई है—

अँखियाँ हरि दरसन की भूखी।
कैसे कहैं रूप रस राँची ये बतियाँ सुनि रूखी॥

× × × ×

बारक वह मुख फेरि दिखाओ, दुहि पय पिवत पतूखी।
'सूर' सिकत हठि नाव चलाओ, ये सरिता हैं सूखी॥

(२) गोपियों की गहन वेदनानुभूति—गोपियों के हृदय में वेदना का झंझा-वात उठ रहा है, वे प्रेम की पीड़ा से अत्यधिक व्यग्र एवं बेचैन हैं और उनको इस वेदना ने इतना अधीर, आकुल एवं आतुर बना दिया है कि उन्हें अपने तन-मन का भी होश नहीं रहा है। कारण यह है कि उनके हृदय में तो माखनचोर टेढ़े होकर

अड़ गये हैं और अब किसी प्रकार नहीं निकलते। इसीलिए उन्हें अब कृष्ण के बि और कुछ अच्छा नहीं लगता। अब वे कृष्ण के बिना कैसे जीवित रहें? इसीलि विरह-वेदना से व्यथित होकर मर जाना ही अच्छा समझती हैं और कहती हैं—

अब या तनहिं राखि का कीजै।
सुन री सखी! श्यामसुन्दर बिन, बाँटि विषम विष पीजै।
कै गिरिए गिरि चढ़िकै सजनी, स्वकर सीस सिव दीजै॥
कै दहिए दारुन दावानल, जाय जमुन धँसि लीजै।
दुसह वियोग विरह माधव कै, कौन दिनहिं दिन छीजै॥

(३) **गोपियों की विविधि काम-दशाएँ**—सूर ने गोपियों की सम्पूर्ण काम-दशा का निरूपण किया है। शास्त्रों में विरह की काम-दशाएँ ग्यारह बताई गई हैं, जि किसी विरहिणी के विरहाधिक्य का बोध होता है। सूर ने इन सभी विरह-दशाओं चित्र बड़ी सजीवता के साथ अंकित किये हैं। जैसे, सूर ने 'निरखत अंक श्याम सु के बार-बार लावति छाती' कहकर उनकी '**अभिलाषा**' का चित्रण किया है, 'मधुक नैना पै हारे, निरखि-निरखि मग कमल नयन को प्रेम-मगन भये भारे' कहकर 'चि का निरूपण किया है, 'तिहारी प्रीति किधौं तरवारि, दृष्टि धार करि मारि सां घायल सब ब्रज-नारि' कहकर '**उद्वेग**' का वर्णन किया है, 'एक ग्वालि गोधन लै रें एक लकुटि कर लेति, एक मंडली करि बैठारति छाक बाँटिकै देति' कहकर अ '**उन्माद**' स्थिति को व्यक्त किया है, 'मेरे मन इतनी सूल रही' पद में '**स्मरण**' चित्रण किया है, 'संदेसौ देवकी सों कहियौ' वाले पद में '**गुण-कथन**' का निरूपण कि है, 'कैसे पनघट जाऊँ सखी री डोलों सरिता तीर' में '**प्रलाप**' का वर्णन किया 'निस न नींद आवै दिन ना भोजन भावै मग जोवति भई दृष्टि झाँवरी' में 'व्या का निरूपण किया है, 'सूर सीस धुनि चौंकति नाँवहिं अब काहे न मुख बोलति '**जड़ता**' का उल्लेख किया है, 'सोचति अति पछताति राधिका मूर्च्छित धरनि ढहीं '**मूर्च्छा**' स्थिति का चित्रण किया है और 'सूरदास अब मरन बन्यौ है पाप तिहारे मा में गोपियों की दारुण स्थिति '**मरण**' का भी चित्र अंकित किया हैं।

(४) **विरह की सात्विकता एवं अनन्यता**—सूर ने विरह के अत्यन्त सात्वि एवं अनन्य रूप का चित्रण किया है, क्योंकि सूर की गोपियाँ 'मनसा-वाचा-कर्म अपने प्रिय कृष्ण पर निछावर हो गई हैं, श्रीकृष्ण के साथ उनकी एकाकार स्थिति गई है और वे निरन्तर कृष्ण के प्रेम में तल्लीन रहने के कारण अपने सम्पूर्ण भौति एवं सामाजिक सम्बन्धों का परित्याग करके सम्पूर्ण भोगों, विषयों, भौतिक कामना आदि से सर्वथा परे कृष्ण की अनन्य भक्ति, अनन्य प्रेम-भावना, अनन्य रूप-माधुरी पान करती हुई विरह की सात्विकता एवं पवित्रता से परिपूर्ण जान पड़ती हैं। इ कारण ये गोपियाँ अपनी अनन्यता प्रकट करती हुई कह रही हैं—

ऊधौ मन नाहीं दस बीस ।
एक हुतो सो गयौ स्याम संग, को आराधै ईस ।।
भई अति सिथिल सबै माधव बिनु यथा देह बिनु सीस ।
स्वासा अटकि रहे आसा लगि, जीवहिं कोटि बरीस ।।

(५) विरह में दाम्पत्य भाव का आधिक्य—सूर के वियोग-वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ गोपियों के प्रेमातिरेक में उनके दाम्पत्य भाव की सर्वाधिक अभिव्यक्ति हुई है । गोपियाँ कृष्ण की पुजारिन हैं, उनकी ही आराधिकाएँ हैं और उन्हें अपना पति मानकर उनके प्रति दाम्पत्य भाव की भक्ति प्रदर्शित करती हैं । श्रीकृष्ण को वे अपना पति, स्वामी एवं सर्वस्व मानती हैं । उनके नेत्रों में श्रीकृष्ण के विरह की बेल छा गई है, आँखों का अश्रु-जल पाकर वह और अधिकाधिक हरी-भरी होती चली जा रही है, सारे शरीर में फैल गई है और गोपियाँ अपने प्रियतम कृष्ण के लिए रात-दिन रोती रहती हैं तथा यही कहती रहती हैं—

मेरे नैना विरह की बेल बई ।
सींचत नीर नैन के सजनी, मूल पताल गई ।।
विकसित लता सुभाय आपने, छाया सघन भई ।
अब कैसें निरवारौं सजनी, सब तन पसरि छई ।।
को जानै काहू के जिय की, छिन-छिन होत नई ।
सूरदास स्वामी के बिछुरे, लागै प्रेम झई ।।

(६) विश्व के साथ तादात्म्य—सूर की गोपियाँ विरह-वेदना से विदग्ध होकर सम्पूर्ण विश्व के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती हैं । इसीलिए वे अपनी वैयक्तिक स्थिति को भूलकर साधारण भाव-भूमि पर स्थित हो जाती हैं और सभी पदार्थों के साथ समता, सहानुभूति एवं संवेदना प्रकट करती हुई अधिक उदार एवं अत्यन्त-सहनशील दिखाई देती हैं । इसी कारण उन सभी प्राकृतिक पदार्थों के प्रति उनकी गहन सहानुभूति हो जाती है, जिनके साथ छल, कपट या निर्दयता का व्यवहार हुआ है और जो इस दुर्व्यवहार के कारण गोपियों की तरह ही अपने-अपने प्रेमियों से छले गये हैं । इसीलिए गोपियाँ श्रीकृष्ण के अङ्ग-प्रत्यङ्ग के प्राकृतिक उपमानों के प्रति अपने विचार प्रकट करती हुई अपनी सहानुभूति, समता एवं संवेदना इस प्रकार व्यक्त करती हैं—

ऊधौ अब यह समुझ भई ।
नंद-नंदन के अंग-अंग प्रति उपमा न्याय दई ।।
कुन्तल कुटिल भँवर भरि भाँवरि मालति भुरै लई ।
तजत न गहरु कियौ कपटी जब जानी निरसि गई ।।
आनन-इन्दु बरन सम्पुट तजि करखें तें न नई ।
निरमोही नहिं नेह कुमुदिनी अन्तहि हेम हई ।।

(७) प्राकृतिक पदार्थों में भी विरहाकुलता—सूर के विरह की यह भी एक सर्वोत्कृष्ट विशेषता है कि यहाँ केवल चेतन गोप, गाय एवं गोपियाँ ही विरह-वेदना में

विदग्ध दिखाई नहीं देतीं, अपितु यहाँ यमुना, वृक्ष, लता, वन आदि अचेतन एवं पदार्थ भी कृष्ण के विरह में अत्यधिक आकुल-व्याकुल दृष्टिगोचर होते हैं। इसी कृष्ण के विरह में विचारी यमुना तो काली पड़ जाती है—

देखियत कालिंदी अति कारी ।
कहियो पथिक जाय उन हरि सौं, भई विरह जुर जारी ॥

कारण यह है कि श्रीकृष्ण का विरह केवल गोप-गोपियों तक ही सीमित रहा है, अपितु यह पशु, पक्षी, सरिता, वन, उपवन, बेल, वृक्ष आदि सभी को रहा है। इसीलिए प्रकृति का कोई भी भाग विरह से रहित दिखाई नहीं देता—

ऊधो यहि ब्रज विरह बढ़्यौ ।
घर, बाहिर, सरिता, बन, उपवन, बल्ली, द्रुमन चढ़्यौ ॥

(८) विरह में व्यंग्य एवं उपालम्भ का आधिक्य—सूर ने उक्ति वैचित्र्य व्यंग्य-विनोद का आश्रय लेकर जहाँ एक ओर श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के उपाल की योजना की है, वहाँ दूसरी ओर उद्धव की हँसी उड़वाकर निर्गुण भक्ति का भी किया है। इसीलिए सूर के इस विरह-वर्णन में उपालम्भों एवं व्यंग्यों की भर है, जिनमें उक्ति-चमत्कार के साथ-साथ तर्कपूर्ण वचन-वक्रता के भी दर्शन होते सूर की ये सभी उक्तियाँ वाग्वैचित्र्य की दृष्टि से अनुपम एवं अद्वितीय हैं। गो का तीव्र एवं तीक्ष्ण व्यंग्य देखिए—

बिलगि जनि मानहु, ऊधो प्यारे ।
वह मथुरा काजर की कोठरि, जे आवहिं ते कारे ॥
तुम कारे, सुफलकसुत कारे, कारे मधुप भँवारे ।
तिनके संग अधिक छवि उपजत कमलनैन मनियारे ॥
मानहुँ नील माठ तें काढ़े, लै जमुना ज्यौं पखारे ।
ता गुन स्याम भई कालिंदी, सूर स्याम गुन न्यारे ॥

ऐसे ही गोपियों के व्यंग्य-वाण से भरा हुआ एक और उपालम्भ देखिए, उनके प्राणप्रिय श्रीकृष्ण के प्रति है और जिसमें कितनी वचन-वक्रता एवं उक्ति-च भरी हुई है—

स्याम विनोदी रे मधुबनियाँ ।
अब हरि गोकुल काहे आवहिं चाहत नवजौबनियाँ ॥
वे दिन माधव भूलि बिसरि गए, गोद खिलाये कनियाँ ।
गुहि गुहि देते नन्द जसोदा, तनक काँच की मनियाँ ॥
दिना चारि तें पहिरन सीखे, पट पीताम्बर तनियाँ ।
'सूरदास' प्रभु तजी कामरी, अब हरि भये चिकनियाँ ॥

ऐसे ही गोपियों ने उद्धव के प्रति व्यंग्य-वाणों की जो बौछार की है, भी उक्ति-वैचित्र्य, तर्कपूर्ण वचन-विन्यास एवं वाग्वैचित्र्य की सजीवता एवं मार्मि दृष्टिगोचर होती है—

आयौ घोष बड़ौ ब्यौपारी।
लादि खेप गुन-ज्ञान-जोग की, ब्रज में आनि उतारी॥
फाटक दै कै हाटक माँगत, भोरी निपट सुधारी।
धुर हीतें खोटो खायौ है, लिए फिरत सिर भारी॥
इनके कहे कौन डहकावै, ऐसी कौन अजानी।
अपनौ दूध छाँड़ि को पीवै, खार कूप कौ पानी॥

(९) विरह-निरूपण में लक्षणा एवं व्यंजना का प्राधान्य—सूर के विरह-वर्णन में लक्षणा एव व्यंजना का आधिक्य है। इसी कारण यहाँ गोपियाँ श्रीकृष्ण को बुलाने के लिए सीधा-सादा संदेश नहीं भेजतीं, अपितु लाक्षणिक पदावली का प्रयोग करते हुए गोपियाँ यह कहती हैं कि हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर सुसज्जित आभूषणों एवं अन्य श्रृंगार के प्रसाधनों को देखकर कामदेव हमें शिव समझ रहा है और अपना बदला लेने के लिए हमें सता रहा है। अतः आप शीघ्र आकर इस दुष्ट से हमारा उद्धार करो। गोपियों के इस संदेश में कैसी सजीव लाक्षणिकता एवं व्यंजकता विद्यमान है—

अब न अबध सुन्दरी, बधै जनि।
मुकतामाल अनङ्ग! गङ्ग नहिं, नवसत साजे अर्थ स्यामघन॥
भाल तिलक उडुपति न होय यह, कबरि-ग्रंथि अहिपति न सहस फन।
नहिं बिभूति दधिसुत न कंठ जड़! यह मृगमद-चंदन-चर्चित तन॥
न गजचर्म यह असित कंचुकी, देखि बिचारि कहाँ नन्दी गन।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे दरस बिनु, बरबस काम करत हठ हम सन॥

ऐसे ही 'सिंह वृकन सम गाय बच्छ ब्रज बीथिन डोलत' आदि कहकर गोपियों ने लक्षणा के द्वारा श्रीकृष्ण को बुलाने का सन्देश भेजा है और 'आज कालि तुमहू देखत ही तपति तरनि सम चन्द' कहकर गोपियों की अत्यन्त विरहातुर अवस्था की व्यञ्जना की गई है।

(१०) विविध रसों का समावेश—सूर ने विरह-वर्णन करते हुए अन्यान्य रसों का समावेश किया है। वैसे तो विरह-वर्णन विप्रलम्भ श्रृङ्गार-रस के अन्तर्गत आता है, परन्तु सूर ने विप्रलम्भ श्रृङ्गार के साथ-साथ वात्सल्य रस और करुण रस का समावेश भी अपने विरह-वर्णन में किया है। इसी कारण सूर का विरह मुख्यतया विप्रलम्भ श्रृङ्गार, वात्सल्य और करुण रस से भरा हुआ है, क्योंकि गोपियों के विरह-विदग्ध उद्गारों में तो सर्वत्र विप्रलम्भ श्रृंगार के दर्शन होते हैं, किन्तु जहाँ माता यशोदा पुत्र-प्रेम में व्याकुल होकर विलाप करते हुए मूर्च्छित हो जाती हैं, वहाँ वात्सल्य रस से परिपूर्ण विरह के भी दर्शन होते हैं। जैसे—

जसोदा बार-बार यों भाखै।
है ब्रज में कोउ हितू हमारौ, चलत गोपालहिं राखै॥

× × × ×

कमल नयन कों टेरत-टेरत, अधर बदन कुम्हिलानी।
सूर कहाँ लगि प्रगट जनाऊँ, दुखित नन्द की रानी॥

ऐसे ही सूर ने राधा को वियोग-वेदना न सह सकने के कारण मूर्च्छित अ तक ही नहीं, मरणावस्था तक पहुँचा दिया है। सूर के इस चित्रण में करुण र भी व्यंजना हो जाती है—

अति मलीन वृषभानुकुमारी।
हरि स्रमजल अन्तर तनु भीजे ता लालच न धुआवति सारी॥
अधमुख रहित उरध नहिं चितवति ज्यों गथ हारे थकित जुआरी।
छूटे चिकुर, बदन कुम्हिलानो ज्यों नलिनी हिमकर की मारी।
हरि संदेस सुनि सहज मृतक भई, इक विरहन दूजे अलि जारी॥

(११) **विरह में भावानुकूल भाषा का प्रयोग**—सूरदास के विरह-वर्णन की भी सबसे बड़ी विशेषता है कि सूर ने सर्वत्र विरहानुकूल सजीव सशक्त एवं सार भाषा का प्रयोग किया है, उसे लोकोक्ति एवं मुहावरों से सुसज्जित करके अर्थ-गौ से परिपूर्ण किया है, लाक्षणिकता का समावेश करके उसे वचन-वक्रता से भरपूर क है और उक्ति चमत्कारों से परिपूर्ण करके उसे वचन-चातुरी से अलंकृत किया इसी कारण सूर के विरह-वर्णन में वाग्वैचित्र्य के साथ-साथ अर्थ-गाम्भीर्य भी वि है और सर्वत्र भाषा में सजीवता एवं मार्मिकता के दर्शन होते हैं। यथा—

निस दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पै, जब तें स्याम सिधारे॥
दृग अंजन लागत नहिं कबहूँ, उर कपोल भए कारे।
कंचुक नहिं सूखति सुनु सजनी, उर बिच बहत पनारे॥

सारांश यह है कि सूर का विरह-वर्णन जायसी की भाँति भले ही अधिक एवं गम्भीर न हो, फिर भी इसमें अनुभूति की तीव्रता एवं भावों की विशदता के द होते हैं। यह सत्य है कि यहाँ गोपियाँ वियोग की अग्नि में जलती हुई भी गम्भीर एवं मौन नहीं बनी रहतीं, अपितु दुःख के क्षणों में भी सहज चपलता व्यंग्य-विनोद से परिपूर्ण दिखाई देती हैं, किन्तु उनकी इस सहज चपलता एवं ह परिहास के अन्तर्गत भी विरह की बड़वाग्नि तीव्रता के साथ प्रज्वलित होती दृष्टिगोचर होती है। यही सूर की सबसे बड़ी कलागत विशेषता है कि सूर ने चापल्य एवं व्यंग्य-विनोद की शीतल लहरों के अन्तर्गत भी वियोग की बड़वाग्नि सहज चित्र अङ्कित किया है। निस्संदेह सूर की विरहिणी गोपियाँ तपस्विनी हैं, क्यों वियोगाग्नि के अन्तर्गत उनकी समस्त इन्द्रिय-जन्य लालसाएँ एवं वासनाएँ नष्ट चुकी हैं और उनका कृष्ण-प्रेम कुन्दन की भाँति निखर आया है। इसी कारण सू निर्गुण पर सगुण की विजय दिखाकर ज्ञान पर भक्ति की अथवा संयोग पर वि की विजय दिखाई है और इसी कारण सूर वात्सल्य के साथ-साथ वियोग-वर्णन में सिद्धहस्त माने जाते हैं।

सूर का काव्य-सौष्ठव

सूर का काव्य ब्रजभाषा का शृंगार है। उसमें विभिन्न राग-रागनियों के अन्तर्गत एक भक्त-हृदय के भावपूर्ण उद्गार व्यक्त हुए हैं, जिनमें श्रीकृष्ण, गाय, वृन्दावन, गोकुल, मथुरा, यमुना, मधुवन, मुरली, गोप, गोपी आदि की महत्ता के साथ-साथ सम्पूर्ण ब्रज-जीवन, ब्रज-संस्कृति एवं ब्रज-सभ्यता मुखरित होकर गुंजायमान हो रही है। सूर का प्रत्येक पद कृष्ण-भक्ति के दधि-माखन से ओत-प्रोत है और सूर के सभी भाव भावुक हृदय की गहन अनुभूतियों के भण्डार हैं। इसीलिए सूर के काव्य में एक अद्‌भुत संजीवनी शक्ति से दर्शन होते हैं, जो मधुर राग-रागनियों के माध्यम से अन्तःकरण के निगूढ़तम प्रदेश में पहुँचकर सहृदयों को ब्रह्मानन्द में लीन कर देती है। इसी कारण सम्पूर्ण ब्रज-साहित्य सूर की जूठन माना जाता है, और इसीलिए सूर को सूर्य के समान एक दिव्य आलोक से परिपूर्ण माना जाता है। वास्तव में सूर ने 'तत्त्व तत्त्व' ही कहा है और सूर का वह कथन अनुपम, अद्वितीय एवं अलौकिक है। निस्सन्देह सूर के काव्य में अतुलित माधुर्य है, अनुपम सौन्दर्य है तथा अपरिमेय सौष्ठव है, जिसे निम्नलिखित शीर्षकों में विभक्त करके भली प्रकार देखा जा सकता है :—

(१) वस्तु-वर्णन—वर्ण्य-विषय की दृष्टि से सूर के सम्पूर्ण काव्य को छः भागों में विभक्त किया जाता है—(१) विनय के पद, (२) बालक कृष्ण से सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक पद, (३) कृष्ण की रूप-माधुरी सम्बन्धी पद, (४) श्रीकृष्ण और राधा के रति-भाव सम्बन्धी पद, (५) मुरली-सम्बन्धी पद, तथा (६) वियोग-शृंगार सहित भ्रमर-गीत वाले पद। इनमें से विनय के पदों में सूर ने विनय की सम्पूर्ण भूमिकाओं एवं वैष्णव भक्ति सम्बन्धी समस्त नियमों के अनुकूल विनम्रता, निरभिमानता, निष्कपटता, सर्वस्वार्पण, इष्टदेव की महत्ता, भक्त की लघुता आदि का निरूपण बड़ी सजीवता के साथ किया है। इन पदों में सूर ने पतित-पावन एवं दीनबन्धु के सम्मुख अपने हृदय को खोलकर रख दिया है, अपने सम्पूर्ण अपराधों एवं दोषों को स्वीकार किया है तथा एकमात्र भक्ति की ही कामना की है। दूसरे, श्रीकृष्ण के बाल-जीवन सम्बन्धी पदों में तो सूर की अद्‌भुत कला के दर्शन होते हैं, क्योंकि उन पदों में सूर ने बाल-जीवन का ऐसा जीता-जागता चित्रण किया है, जिसमें मनोवैज्ञानिकता के साथ-साथ-सरसता एवं चित्ताकर्षकता अत्यधिक मात्रा में विद्यमान है। तीसरे, श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी सम्बन्धी पदों में सूर ने अपने इष्टदेव—कृष्ण के अनन्त सौन्दर्य की ऐसी मनोहर झाँकी अंकित की है, जिसे देखते ही हृदय अनायास उस रूप-माधुरी पर न्यौछावर हो जाता है। सूर के उस सौन्दर्य-वर्णन ने ही अनेक कृष्ण-भक्तों को जन्म दिया है, क्योंकि भक्ति का ऐसा अद्‌भुत सौन्दर्य-सम्पन्न आलम्बन सूर से पहले और कोई भक्त-कवि नहीं दे सका है। चौथे, श्रीकृष्ण और राधा के रतिभाव सम्बन्धी पदों में भले ही जयदेव और विद्यापति की छाया दृष्टिगोचर होती हो, परन्तु यहाँ सूर ने कृष्ण के साथ-साथ राधा को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है और उसे आराध्य देवी के पद पर प्रतिष्ठित करके ब्रह्म की शक्ति के रूप में ही चित्रित किया है। वैसे श्रीमद्‌भागवत् में राधा नहीं है।

इसीलिए सूर ने राधा को नायिका का स्थान देकर एक ओर तो शृंगार आलम्बन के द्वारा साहित्यिक आदर्श की रक्षा की है और दूसरी ओर भक्ति उपासना के लिए एक सुन्दर युगल मूर्ति प्रदान करके धार्मिक आदर्श की भी की है। पाँचवें, मुरली सम्बन्धी पदों में सूर ने मुरली के व्यापक प्रभाव को करते हुए उसे एक साधारण मनोमुग्धकारी यन्त्र ही नहीं रहने दिया है, अपितु माया' का स्थान दे दिया है, जिससे मुरली जीवात्मा रूपी गोपियों को ब्रह्मरूपी से मिलाने में सहायक बनती है और निरन्तर ब्रह्म के समीप विद्यमान रहती की अनन्य उपासिका गोपियों के लिए ईर्ष्या का विषय भी बन जाती है। वा सूर की मुरली सम्बन्धी उक्तियाँ बड़ी ही मर्मस्पर्शिनी हैं, जिनमें सपत्नी-भाव के साथ उक्ति-वैचित्र्य भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। छठे, वियोग वर्णन के आए हुए भ्रमर-गीत सम्बन्धी पदों में सूर की सर्वोत्कृष्ट कला के दर्शन होते हैं, इन पदों में सूर ने सरसता, वाग्वैदग्ध्य एवं माधुर्य के साथ-साथ उद्धव-संदेश, की झुँझलाहट एवं झल्लाहट, प्रेमातिरेक, व्यंग्य विनोद एवं हास-परिहास, उदारता, सहज चपलता, विरहोन्माद, वचन-वक्रता आदि का आल्हादकारी किया है। इस प्रकार सूर ने श्री कृष्ण के बाल-जीवन से लेकर किशोरावस्था सम्पूर्ण क्रीड़ाओं, चेष्टाओं, व्यापारों आदि का मनोहारी चित्रण करके 'सूरसा रूप में एक अद्‌भुत काव्य की सृष्टि की है, जिसमें वात्सल्य एवं विप्रलम्भ वर्णन सर्वोपरि है और जो सूर की अलौकिक प्रतिभा, उर्वर कल्पना एवं अनु परिचायक हैं।

(२) **प्रकृति-निरूपण**—सूर का काव्य ब्रज-प्रदेश की सुरम्य प्रकृति का स्थल है। इसमें ब्रज की प्रकृति-सुन्दरी का मनोहारी नर्त्तन पद-पद पर सुनाई उसकी रूपमाधुरी स्थान-स्थान पर दिखाई देती है और उसका आनन्दोल्लासपूर्ण कलरव प्रत्येक पद में गुञ्जायमान हो रहा है। सूर ने प्रकृति-नटी की रमणीय अंकित करते हुए उसके षड्ऋतुओं में परिवर्तित होने वाले दिव्य सौन्दर्य का निरूपण किया है। इसीलिए वसन्त-ऋतु में ब्रज के अन्तर्गत सदैव कोकिल रोर रहती है, सदा मन्मथ चित्त चुराता रहता है, द्रुम-डालियाँ विविध वर्ण के भर जाती हैं, जिन पर भ्रमरावली उन्मत्त होकर गूँजने लगती है, सर्वत्र उल्लास छा जाता है और कोई भी उदास नहीं रहता—

सदा बसन्त रहत जहँ बास। सदा हर्ष जहँ नहीं उदास॥
कोकिल कीर सदा तहँ रोर। सदा रूप मन्मथ चित चोर॥
विविध सुमन बन फूले डार। उन्मत मधुकर भ्रमत अपार॥

ऐसे ही शरद ऋतु में भी ब्रज की प्रकृति एक अद्‌भुत सौन्दर्य से सुस उठती है, क्योंकि सरोवरों में नए-नए सरोज और कुमुदिनी खिल उठती हैं, में सम्पूर्ण वन-प्रदेश स्नान करने लगता है, जल से काई हट जाती है

निर्मल हो जाता है, आकाश भी स्वच्छ रहता है, पृथ्वी रंग-बिरंगे फूलों से आच्छादित हो उठती है और शीतल शशि पीयूष की वर्षा करने लगता है, कुञ्जों में विविध प्रसून छिटक उठते हैं, कोयल कूकने लगती है और रोम-रोम के लिए सुखदायक शीतल पवन चलने लगती है। सूर ने शरद की इस दिव्य आभा का निरूपण करते हुए लिखा भी है—

आजु निसि सोभित सरद सुहाई।
सीतल मन्द सुगन्ध पवन बहे रोम-रोम सुखदाई॥

अथवा—

सरद चाँदनी रजनी सोहै वृन्दावन श्री कुंज।
प्रफुलित सुमन, विविध रंग जहँ-तहँ कूजत कोकिल पुंज॥

सूर ने वर्षा ऋतु में विविध आकृति धारण करने वाली व्रज-प्रकृति की रमणीय झाँकी भी अंकित की है, क्योंकि उस समय वन-उपवन हरीतिमा से भर जाते हैं, जलाशय जल से परिपूर्ण हो जाते हैं, इन्द्रधनुष चमकने लगता है, घन-घटा के बीच वक-पंक्ति दिखाई देने लगती है, चारों ओर घटाएँ घिर आती हैं, दामिनी चमकने लगती है, पपीहा पी-पी रटने लगता है, दादुर, पिक और मोर शोर करने लगते हैं और हरी-हरी घास पर अरुण बीरबहूटी चित्त को चुराने लगती हैं। उस क्षण बादल मदन के हाथी जैसे दिखाई देने लगते हैं, जो अपने बन्धन तोड़कर विरहिणी बालाओं पर आक्रमण करते हुए से जान पड़ते हैं। फिर सावन का महीना तो नई उमंग, नया उल्लास, नई आशा-आकांक्षा एवं नया जीवन लेकर आता है। सूर ने सावन का मनोरम चित्र अंकित करते हुए लिखा है—

कैसे कै भरिहैं री दिन सावन के।
हरित भूमि भरे सलिल सरोवर, मिटे मग मोहन आवन के॥
दादुर मोर सो चातक पिक, सूही निसा सिरावन के॥
गरज चहूँ घन घुमड़ि दामिनी, मदन धनुष धर धावन के॥
पहिरि कुसुम सारी कंचुकि तन, झुंडनि झुंडनि गावन के।
सूरदास प्रभु दुसह घटत क्यों, सोक त्रिगुन सिर रावन के॥

इतना ही नहीं, सूर ने व्रज-प्रकृति की रमणीय झाँकी अंकित करते हुए प्रभात, वन, द्रुम, लता, पुष्प, यमुना, चन्द्रमा, उषा, सन्ध्या आदि का बड़ा ही सरस एवं सुन्दर वर्णन किया है। परन्तु सूर के काव्य में सर्वत्र प्रकृति के रमणीय रूप की ही झाँकी नहीं मिलती, अपितु सूर ने प्रकृति के भयंकर रूप का भी चित्र अंकित किया है। प्रकृति का यह भयंकर रूप दावालन के वर्णन में दिखाई देता है, जिसके परिणामस्वरूप दसों दिशाओं में भयंकर लपटें उठने लगती हैं, बाँस फटने लगते हैं, कुश-काँस थरथराने लगते हैं, अंगार उलटने लगते हैं, कराल लपटें वन का विध्वंस करने लगती हैं, धरा से अम्बर तक धुआँ मेघ-सा छा जाता है और बीच-बीच में ज्वाला दामिनी-सी चमकने लगती है। उस समय जंगली जीव-जन्तु, वाराह, हिरन, मोर, चातक आदि सभी बेचैन हो उठते हैं—

झहरात, झहरात दावानल आयौ ।
घेरि चहुँ ओर करि सोर अंदोर बन, धरनि आकास चहुँ पास छायौ ॥
बरत बन बाँस, थरहरत कुस काँस, जरि उड़त है भाँस, अति प्रबल धायौ ।
झपटि झपटति लपट फूल-फल चट-चटकि फटत लटलटकि द्रुम-द्रुम नवायौ ॥

इस तरह सूर ने अपने काव्य में प्रकृति के सुरम्य एवं भयानक दोनों रूपों मनोरम झाँकियाँ अंकित की हैं । परन्तु सूर के प्रकृति-चित्रण की सबसे बड़ी विशेष यह है कि सूर के आराध्य देव निरन्तर प्रकृति में ही रमण करते हैं, वन-विहार क हैं, वन में ही महारास रचाते हैं, वृन्दावन में गौएँ चराते हैं, गोवर्द्धन धारण करते तथा कुंजों में विहार करते हैं । इसी प्रकार सूर के सभी पात्र प्रकृतिमय हो गये और प्रकृति के सतत साहचर्य के कारण प्रकृति और सूर के पात्रों में पूर्ण तादात्म्य गया है । दूसरे, सूर ने शास्त्रीय दृष्टि से प्रकृति के उद्दीपन रूप को ही अधिक अपना हैं । सूर के पदों में सर्वत्र प्रकृति सूर के पात्रों के मनोभावों को उद्दीप्त करती दिखाई गई है । इसी कारण यहाँ शरदकालीन चाँदनी कामोद्दीपन करती हुई विरहि गोप-बालाओं को जलाती हुई दिखाई देती है, वर्षा के बादल हाथियों के रूप में वि हिणी गोपियों पर आक्रमण करते हुए दिखाई देते हैं, चातक और कोयल उन्हें पी पहुँचाते हैं, चन्द्रमा की पीयूष-वर्षिणी निशा आग बरसाने लगती है तथा शीतल कुं विषम ज्वाला का समूह बन जाती हैं । तीसरे, सूर ने प्रकृति के संवेदनात्मक रूप भी बड़ी सजीव झाँकी अंकित की है । इसी से गोपियों की ही भाँति यमुना श्रीकृष्ण के वियोग-ज्वर में पीड़ित होकर काली पड़ जाती है और सभी ऋतुएँ ब्रज कुछ और ही हो जाती हैं । चौथे, प्रकृति के आलङ्कारिक रूप का चित्रण भी सूर अत्यधिक मात्रा में किया है । बहुधा उत्प्रेक्षा अलंकार के लिए तो सूर प्रसिद्ध ही और उसके लिए सूर ने प्रकृति के विभिन्न पदार्थों का उपयोग किया है । परन्तु 'अद् एक अनुपम बाग' वाले पद में सूर ने रूपकातिशयोक्ति का भी अद्भुत चमत्का दिखाया है । पाँचवें, सूर का प्रकृति-चित्रण सांस्कृतिक परम्परा का भी द्योतक क्योंकि ब्रज की प्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यापारों, चेष्टाओं एवं पदार्थों का वर्णन क हुए सूर ने ब्रज की सांस्कृतिक महत्ता का भी निरूपण किया है, जिससे अनायास यमुना, वृन्दावन, गोवर्द्धन, मधुवन आदि के प्रति हमारे हृदयों में अटूट श्रद्धा जा हो जाती है और हमें ब्रज की रमणीय प्रकृति में एक पावन एवं पुनीत भावना वि मान दिखाई देने लगती है । छठे, सूर का प्रकृति-वर्णन विविधता एवं सौन्दर्यप्रियता लिए प्रसिद्ध है, उसमें कल्पना एवं भावना को सजग करने की अपूर्व क्षमता है त कठोर से कठोर हृदय को भी आकृष्ट करके अपने रूप-सौन्दर्य में रमा लेने की अद् शक्ति है ।

इतना होने पर भी सूर के प्रकृति-चित्रण में कतिपय दोष भी हैं । जैसे, सू ने भी यमुना में कमल खिलाये हैं और उन पर भौंरों को गूँजते हुए अंकित किया है।

अपने आराध्य देव के अलौकिक कार्यों की ओर संकेत करने के लिए सूर ने भी गोवर्द्धन पर्वत को श्रीकृष्ण द्वारा उँगली पर उठाते हुए लिखा है तथा उन्हें दावानल का पालन करते हुए वताया है। इतना ही नहीं, सूर ने रोटी पर रखे हुए माखन की 'मनो बराह भूधर सह पृथिवी धरी दसनन की कोटी' कहकर विचित्र कल्पना की है। साथ ही वालक कृष्ण द्वारा अंगूठा-पान करते ही 'विडरि चले घन प्रलय जानि कै दिगपति दिग दंतियन सकेलत' कहकर सूर ने प्रलय की स्थिति का वर्णन किया है, जो हास्यास्पद ही जान पड़ता है। परन्तु ये सभी वर्णन सूर की अनन्य भक्ति एवं इष्टदेव की महत्ता के परिचायक होने के कारण दोष-पूर्ण होकर भी सरस एवं आकर्षक जान पड़ते हैं।

(३) **भाव एवं रस का निरूपण**—'सूर-सागर' विभिन्न भावोर्मियों से तरंगायित है, जिसमें कहीं प्रेम, कहीं असूया, कहीं ईर्ष्या, कहीं वितर्क, कहीं क्षोभ, कहीं स्पर्धा, कहीं क्रोध, कहीं उत्साह, कहीं रति, कहीं हास, कहीं शोक कहीं विस्मय, कहीं जुगुप्सा, कहीं भय आदि अनेक भावों की सुन्दर एवं सजीव व्यंजना हुई है। सूर के पद सहृदयता, सरसता एवं भावुकता के भण्डार हैं, जिनमें विविध भावों की योजना इतनी सुव्यवस्थित ढंग से की गई है कि प्रत्येक पद मर्मस्पर्शी एवं हृदय-दावक बन गया है। यही कारण है कि सूर के पदों में विभिन्न भावों के साथ-साथ विविध रसों की भी सुन्दर एवं सजीव झाँकियाँ मिलती हैं। सूर के पदों में प्रेम की आतुरता एवं तल्लीनता के वड़े ही रमणीय चित्र मिलते हैं। गोपियों के छलकते हुए प्रेम को सूर ने अपने पदों के माध्यम से इतनी सजीवता के साथ व्यक्त किया है कि देखते ही बनता है। श्रीकृष्ण के अनन्य प्रेम में अनुरक्त गोपियों की मनोदशा के चित्रण में सूर ने प्रेम-भाव की विविध झाँकियाँ अंकित की हैं। श्रीकृष्ण के रूप-सौन्दर्य पर अपना मन न्यौछावर कर देने वाली एक प्रेमासक्त गोपी की स्थिति का चित्रण करते हुए सूर ने प्रेम-भाव की कैसी सरस व्यंजना की है—

मेरो मन गोपाल हर्‌यौ री।
चितवत ही उर पैठि नैन मग ना जानौं धौं कहा कर्‌यौ री।।
मात पिता पति बंधु सजन जन, सखि आँगन सब भवन भर्‌यौ री।
लोक-वेद-प्रतिहार-पहरुआ तिनहूँ पै राख्यौ न पर्‌यौ री।।

कृष्ण के प्रेम में अनुरक्त गोपियों की मनोदशा का चित्रण करते हुए सूर ने प्रेम की गहनता, गुरुता एवं महत्ता का बड़ा ही सजीव प्रतिपादन किया है। कृष्ण की विरहानुभूति में लीन गोपियों की व्यथामयी स्थिति के चित्रण में इस उत्कट प्रेम की झाँकी और भी गुरुता एवं गम्भीरता के साथ अंकित की गई है। इसलिए सूर की गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं—

हम अलि गोकुल-नाथ अराध्यौ।
मन बच-क्रम हरि सों धरि, पतिव्रत प्रेम-जोग तप साध्यौ।।

प्रेम भाव के अतिरिक्त सूर ने अन्य भावों के चित्र भी बड़ी ही तत्परता साथ अंकित किये हैं। जैसे, 'स्पर्द्धा' नामक मनोभाव का चित्र देखिए—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पिवत भई, यह अजहुँ है छोटी।।
तू जो कहति बल की बेनी, ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी।

ऐसे ही 'क्षोभ' नामक मनोभाव की झाँकी अंकित करते हुए सूर ने क सजीव चित्रण किया है—

खेलत मैं को काको गुसैयाँ।
हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ।।
जाति-पाँति हमते कछु नाहिं, न बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें, अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ।।

सूर ने रोष-मिश्रित 'खीझ' एवं झुँझलाहट का चित्रण करते हुए दुःख-मि क्रोध की बड़ी ही सुन्दर व्यंजना की है। यशोदा अत्यन्त खीझ के साथ नन्द से रही हैं—

छाँड़ि सनेह चले मथुरा कत, दौरि न चीर गह्यौ।
फाटि न गई वज्र सी छाती कत यह सूल सह्यौ।।

इतना ही नहीं, दैन्य-मिश्रित क्षोभ एवं उदासीनता की झाँकी अंकित क हुए सूर ने यशोदा की मनोदशा का कैसा भावपूर्ण चित्रण किया है—

संदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, कृपा करति ही रहियो।।

सूर के पदों में असूया, स्मृति, चिन्ता, वितर्क, ग्लानि, शोक, औत्सुक्य, विष आवेग, जड़ता आदि के अनेक चित्र भरे पड़े हैं। उदाहरण के लिए, 'असूया' ना भाव का सजीव चित्रण देखिए—

मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुन री सखी जदपि नँदनन्दहि नाना भाँति नचावति।।

ऐसे ही सूर ने गोपियों की मनोदशा का चित्रण करते हुए 'स्मृति' ना भाव का निरूपण इस प्रकार किया है—

एहि बिरियाँ बन तें ब्रज आवते।
दूरहिं तें वह बेनु अधर धरि बारम्बार बजावते।।

इसी तरह सूर ने अन्य अनेक भावों का चित्रण बड़ी ही कुशलता एवं निपु के साथ किया है। भावों के इन विविध चित्रों के अतिरिक्त सूर ने विविध रसों भी बड़ी ही मनोरम झाँकियाँ अंकित की हैं। उदाहरण के लिए, कतिपय रसों के चि नीचे दिये जाते हैं, जिनमें सूर ने अपनी कला-चातुरी प्रदर्शित की है—

(१) संयोग शृङ्गार—

राधा रुचि-रुचि सेज सँवारति ।
तापर सुमन सुगन्ध बिछावति बारम्बार निहारति ।।
भवन गवन करि हैं हरि मेरे हरषि दुखहिं निरुवारति ।
आवैं कबहुँ अचानक ही कहि सुभग पाँवड़े डारति ।।
ईहिं अभिलाखहिं मैं हरि प्रगटे निरखि भवन सकुचानी ।
वह सुख श्री राधा माधौ को 'सूर' उनहिं जिय जानी ।।

(२) वियोग शृङ्गार—

पिया बिनु नागिनि कारी रात ।
जो कहुँ जामिनि उवति जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जात ।।
जंत्र न फुरत मंत्र नहिं लागत प्रीति सिरानी जात ।
सूर स्याम बिनु विकल विरहिणी मुरि-मुरि लहरैं खात ।।

(३) हास्य—

मैया मैं नहिं माखन खायौ ।
ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि, मेरे मुख लपटायौ ।।
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊँचे धरि लटकायौ ।
हौं जु कहत नान्हें कर अपने, मैं कैसे करि पायौ ।।
मुख दधि पौंछि बुद्धि इक कीन्हीं दोना पीठि दुरायौ ।
डारि साँटि मुसुकाइ जसोदा स्यामहिं कण्ठ लगायौ ।।

(४) करुण—

पटकत बाँस काँस कुस लटकत, लटकत ताल तमाल ।
उचटत अति अगार फूटत पर, झपटत लपट कराल ।।
धूम धूँधि बाढ़ी उर अम्बर, चमकत बिच-बिच ज्वाल ।
हरिन-बराइ-मोर-चातक-पिक जरत जीव बेहाल ।।

(५) रौद्र—

प्रथमहिं देउँ गिरिहिं बहाइ ।
वज्रघातनि करौं चुरकुट, देउँ धरनि मिलाइ ।।

× × ×

रिस सहित सुरराज लीन्ध प्रलय मेघ बुलाइ ।
सुर सुपति कहत पुनि-पुनि परौं ब्रज पर आइ ।।

(६) वीर—

आजु जौं हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ ।
तो लाजौं गंगा जननी कौं, सांतनु सुत न कहाऊँ ।।
स्यंदन खंडि महारथि खंडौं, कपिध्वज सहित गिराऊँ ।
पांडव-दल सम्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ ।।

(७) भयानक—

भहरात झहरात दावानल आयौ।
घेरि चहुँ ओर करि सोर अंदोर बन धरनि आकाश चहुँ पास छायो॥
बरत बन बाँस, थरहरत कुसकाँस, जरि उड़त है भाँस अति प्रबल धायो।
झपटि झपटति लपट फूल-फल, चट-चटकि फटत लट लटकि द्रुमदल नवायो॥

(८) वीभत्स—

आप कहाँ ब्रजराज मनोहर कहाँ कूबरी राढ़।
जिहि छन करत कलोल संग रति गिरधर अपनी चाढ़॥
काटत है परजंक ताहि छिन कैधौं खोदत खाढ़॥
किधौं सदा विपरीत रचत हैं गहि गहि आसन गाढ़।
'सूर' सयान भये हरि बाँधत, माँस खाइ गल हाढ़॥

(९) अद्भुत—

मथत दधि मथनी टेकि खर्यौ।
आरि करत मटुकी गहि मोहन वासुकि संभु डर्यौ॥
मन्दर डुरत सिंधु पुनि काँपत फिरि जनि मथन करै।
प्रलय होय जनि गहौ मथानी विधि मरजाद टरै॥
सुर अरिसुर ठाढ़े सब चितवैं नैनन नीर ढरै।
सूरदास प्रभु मुग्ध जसोदा, मुख दधि बिन्दु गिरैं॥

(१०) शान्त—

चरन कल बंदौ हरिराई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै. अंधे कूँ सब कछु दरसाई॥
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई।
'सूरदास' स्वामी करुनामय बार-बार बंदौं तेहि पाई॥

(११) वात्सल्य—

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मनिमय कनक नन्द कैं आँगन, बिम्ब पकरिवैं धावत॥
कबहूँ निरखि हरि आपु छाँह कौ, कर सौं पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दँतियाँ, पुनि पुनि तिहि अवगाहत॥

सारांश यह है कि सूर के विविध मनोवैज्ञानिक चित्रों के साथ-साथ, रसों का बड़ा ही सुन्दर समन्वय स्थापित किया है। सूर में उद्भावना-शक्ति बड़ी प्रखर दिखाई देती है। इसीलिए एक ही पदार्थ एवं एक ही विषय पर अनेकानेक गीतों की रचना की है और उन सभी गीतों में सुन्दर भावों की सृष्टि करते हुए अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा द्वारा विविध रसों का हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। सूर के भाव एवं रस के निरूपण में सरलता एवं स्वाभाविकता अधिक मात्रा में दिखाई देती है। वैसे

सूर ने सभी रसों का मर्मस्पर्शी वर्णन किया है, परन्तु वात्सल्य एवं विप्रलम्भ शृंगार के वर्णन में सूर सर्वोपरि हैं। वात्सल्य रस के वर्णन में तो सूर हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं, क्योंकि सूर ने ही अपनी वर्णन-क्षमता द्वारा वात्सल्य भाव को रस की कोटि तक पहुँचाया है। सूर के भाव एवं रस के निरूपण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें उक्ति-वैचित्र्य एवं वाग्वैदग्ध्य की प्रचुरता है। इसी कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी लिखा है कि "सूर में जितनी सहृदता और भावुकता है, उतनी ही वाग्विदग्धता (Wit) भी।"[1] इसमे कोई सन्देह नहीं कि सूर के भ्रमर-गीत सम्बन्धी पद भावुकता के साथ-साथ वाग्विदग्धता से परिपूर्ण हैं। वियोग शृंगार का वर्णन करते हुए सूर ने वाणी की चातुरी द्वारा जो वक्रता एवं विदग्धता की सृष्टि की है, वह सर्वथा अनुपम एवं अपरिमेय है। निस्सन्देह, सूर भावों के सम्राट् हैं, हृदयगत मनोभावों के पारखी हैं और विविध रसों के मर्मज्ञ कवि हैं। इसलिए सूर का प्रत्येक पद सरलता एवं स्वाभाविकता के साथ-साथ, रसास्वादन एवं चमत्कारवादिता से ओत-प्रोत है, उसमें भारतीय जीवन-रस का स्रोत उमड़ रहा है और वह अद्भुत आकर्षण एवं अनुपम कला से परिपूर्ण दिखाई देता है।

(४) **अलंकार योजना**—सूर के काव्य में वस्तु-विन्यास का अत्यन्त अभाव है, क्योंकि सूर ने राधा और श्रीकृष्ण के रूप-सौन्दर्य, यमुना, गोप-गोपी, लता-कुञ्ज, वृन्दावन, ब्रज-विपिन आदि के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का वर्णन नहीं किया है और इस अभाव की पूर्ति सूर ने अलंकार-योजना द्वारा की है। रूप-सौन्दर्य के चित्रण में सूर ने उसी पुरानी परिपाटी का पालन करते हुए घन-दामिनी, सनाल-कमल, नील-मेघ आदि प्राकृतिक उपमानों का प्रयोग किया है तथा ब्रज प्रदेश के अन्य प्रमुख पदार्थों का वर्णन करते हुए सूर ने केवल यमुना-तट, वंशीवट, कुञ्ज-वाटिका, गोचारण, वन-विहार आदि तक ही अपने को सीमित रखा है और इनके सौन्दर्य-चित्रण-हेतु भी प्राचीन आलंकारिक प्रणाली को ही अपनाया है। वैसे सूर के काव्य में शब्द और अर्थ सम्बन्धी दोनों प्रकार के अलंकारों की प्रचुरता है परन्तु शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का ही बाहुल्य है। सूर उक्ति-वैचित्र्य एवं वाग्वैदग्ध्य के कुशल चितेरे हैं। इसी कारण उनके काव्य में ऐसे अलंकारों की बहुलता है, जो दूरारूढ़ कल्पना के साथ साथ वैचित्र्य एवं वैशिष्ट्य के द्योतक हैं। सूर ने इसीलिए उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा आदि अर्थालंकारों के साथ-साथ वर्णन-वैचित्र्य दिखाने के लिए श्लेष, वीप्सा, वक्रोक्ति, यमक आदि शब्दालंकारों का भी उपयोग किया है। यदि उनका 'सूर-सागर' अर्थालंकारों का भण्डार है तो 'साहित्य-लहरी' शब्दालंकारों की निधि है; क्योंकि उसके दृष्टकूटों में श्लेष एवं यमक की प्रचुरता है।

सूर की अलंकार-योजना में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सूर की चमत्कार-प्रियता में सहृदता का पुट बराबर रहता है। इसीलिए सूर की वाग्विदग्धता प्रत्येक

---

[1] **भ्रमर-गीत-सार** (भूमिका), पृ० ३८।

स्थल पर रसात्मकता से ओत-प्रोत दिखाई देती है। वैसे सूर ने कहीं-कहीं अलंकारों की बहुलता द्वारा अपने मनोभावों को व्यक्त करने की चेष्टा की है और उन अलंकारों में भी उत्प्रेक्षा का आश्रय अत्यधिक लिया है, फिर भी सूर की सौन्दर्यानुभूति वहाँ भी अलंकारों का नियन्त्रण करती हुई दृष्टिगोचर होती है। वैसे सूर किसी एक ही भाव को व्यक्त करने के लिए विभिन्न अलंकारों का सहारा लेते हैं और विविध रूपों में उसका वर्णन करते हुए अपनी गहन सौन्दर्यानुभूति का परिचय देते हैं। जैसे, श्रीकृष्ण के अधरों की लाली का वर्णन करते हुए सूर ने अपनी रचना-निपुणता के साथ-साथ, अलंकारों की विविधता एवं अपनी गहन सौन्दर्यानुभुति को इस तरह व्यक्त किया है—

देखि सखि अधरन की लाली।
मनि मरकत तैं सुभग कलेवर, ऐसे है बनमाली॥
मनौं प्रात की घटा साँवरी, तापर अरुन प्रकास।
ज्यों दामिनि बिच चमकि रहत है, फहरत पीत सुबास॥

इतना रूप-सौन्दर्य का आलंकारिक वर्णन करने के उपरान्त अब सूर केवल अधरों की लाली का ही वर्णन अलंकारों की विविधता के साथ करते हैं—

कीधौं तरुन तमाल बेलि चढ़ि, जुग फल बिम्ब सुपाके।
नासा कीर आइ मनु बैठ्यौ, लेत बनत नहिं ताके॥
हँसति दसन इक सोभा उपजति, उपमा जदपि लजाइ।
मनौं नीलमनि-पुट मुकुता-गन, बंदन भरि बगराइ॥
किधौं बज्रकन, लाल नगनि खँचि, तापर विद्रुम पाँति।
किधौं सुभग बंधूक-कुसुम-तर, झलकत जल कन काँति॥
किधौं अरुन अंबुज बिच बैठी सुन्दरताई आइ।
सूर अरुन अधरनि की सोभा, बरनत बरनि न जाइ॥

उक्त पद में रूपक, सन्देह, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक आदि अलंकारों के द्वारा सूर ने श्रीकृष्ण के मुख-सौन्दर्य का कितना प्रभावोत्पादक एवं मर्मस्पर्शी वर्णन किया है, जिससे अलंकारों की विविधता द्वारा सौन्दर्यानुभूति का बड़ा ही सजीव एवं सशक्त चित्रण मिलता है। इस प्रकार सूर ने बड़ी सहृदयता के साथ अलंकारों का भावानुकूल वर्णन किया है।

इतना ही नहीं, सूर ने सांगरूपकों द्वारा भी भावुकता एवं सहृदयता के साथ साथ गहन सौन्दर्यानुभूति को व्यक्त किया है। यद्यपि सांगरूपकों के निर्वाह में सूर सर्वत्र सफल नहीं दिखाई देते, तथापि "माधौ जू नेंक हटको गाइ" वाले पद में गाय के द्वारा अविद्या-माया का वर्णन करते हुए सूर ने अपने अद्भुत कौशल एवं अनुपम सांगरूपक-योजना का परिचय दिया है, जिसमें सीधी-सादी पद-योजना द्वारा अभीष्ट प्रभाव डालने की सफल चेष्टा हुई है, जो कवि की उर्वर कल्पना एवं उत्कृष्ट कला

प्रियता की भी द्योतक है। इसी तरह सूर ने संसार रूपी सागर की भयंकरता का वर्णन करते हुए एक सुन्दर सांगरूपक की सृष्टि की है, जिसमें माया को जल, लोभ को लहर, कामदेव को ग्राह, इन्द्रियों को मछली, पापों को सिर का बोझा, क्रोध-दम्भ गुमान-तृष्णा आदि को झंझावात, नाम को नौका आदि कहकर अपनी उत्कृष्ण अलंकार-योजना का परिचय इस तरह दिया है—

अब कैं नाथ मोहि उधारि ।
मगन हौं भव-अम्बुनिधि में, कृपासिंधु मुरारि ।।
नीर अति गम्भीर माया, लोभ-लहरि तरंग ।
लिये जात अगाध जल कौं, गहे ग्राह अनंग ।।
मीन इन्द्री तनहिं काटत, मोट अघ सिर भार ।
पग न इत उत धरन पावत, उरझि मोह सिवार ।।
क्रोध-दम्भ-गुमान तृष्ना, पवन अति झकझोर ।
नाहिं चितवन देत सुत-प्रिय, नाम नौका ओर ।।
थकौ बीच बिहाल विह्वल, सुनौ करुनामूल ।
स्याम, भुज गहि काढ़ि लीजै, सूर ब्रज कैं कूल ।।

इसी भाँति सूर ने रूपकातिशयोक्ति अलंकार द्वारा भी अद्भुत सौन्दर्यानुभूति का परिचय दिया है। इसके लिए सूर ने 'अद्भुत एक अनुपम बाग' नामक पद में साहित्य-प्रसिद्ध समस्त उपमानों को लेकर अद्भुत कौशल दिखाया है। इसी तरह निम्नलिखित पद में भी रूपकातिशयोक्ति अलंकार द्वारा ब्रह्मा के निवास-स्थान का मार्मिक वर्णन करते हुए जीवात्मा को वहाँ पहुँचने का आग्रह किया है—

चलि सखि तेहि सरोवर जाहि ।
जिहिं सरोवर कमल-कमला रवि बिना बिकसाहिं ।

ऐसे ही सूर ने 'नन्द नन्दन मुख देखौ माई' पद में अतिशयोक्ति का, 'चातक न होइ कोउ विरहिनि नारि' में अपह्नुति का, हरि के चंचल नैनों को कमल के तुल्य कहकर 'निसि मुद्रित प्रातहि वै विकसित ये विकमित दिनरात' मे प्रतीप का, 'मुरली सुनत अचल चले' में विभावना का, 'उपमा नैनन एक गही' में व्यतिरेक का, 'नाम सुनत अक्रूर तुम्हार क्रूर भये हौं आइ' में परिकर अलंकार का, 'दूर करहु बीना कर धरिबो' में विषादन का, तबतें इन सबहिन सचुपायौ' पद में अप्रस्तुत प्रशंसा का तथा 'चकई री चलि चरन-सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग' में अन्योक्ति अलंकार का चमत्कार प्रदर्शित किया हैं।

उक्त अर्थालंकारों के अतिरिक्त सूर ने अपना चमत्कार-कौशल दिखाने के लिए अनेक शब्दालंकारों का भी प्रयोग किया है। जैसे—'जनम जनम जब जब जिहि जिहि जुग जहाँ जहाँ जन जाइ' में वृत्यनुप्रास, 'चरचित चन्दन नील कलेवर बरसत बूँदनि सावन' में छेकानुप्रास, 'धनि राधिका धन्य सुन्दरता धनि मोहन की जोरी' में श्रुत्यानुप्रास,

'हा हा नाथ अनाथ करौ जिनि टेरति बाँह पसारि' में वीप्सा, 'उदै सारंग क सारंग गयौ अपने देश'[१] में यमक, 'रे मन सुमिर हरि हरि हरि, सत जज्ञ नाहिन स सम परतीति करि करि करि' में पुनरुक्ति-प्रकाश आदि विभिन्न शब्दालंकारों द्वारा ने उक्ति-वैचित्र्य के साथ-साथ अर्थ-गांभीर्य की भी सृष्टि की है।

सारांश यह है कि सूर की अलंकार-योजना में भावानुकूलता के साथ-भ सहृदयता एवं वाग्विग्धता का प्राधान्य है। वैसे सूर के पदों में नाद-सौन्दर्य ए ध्वन्यात्मकता लाने के कारण अनुप्रास की बहुलता हो गई है। परन्तु सूर के शब्दालंक व्यर्थ भर्ती के लिए नहीं आये हैं, उनसे संगीतात्मकता के साथ-साथ भाव-सौन्दर्य क भी सुन्दर सृष्टि हुई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूर के पास कहने के लिए व विषय अत्यन्त सूक्ष्म रहा है और उसको विस्तार देने के लिए ही अप्रस्तुत-योज अथवा अलंकारों का आश्रय लिया है, फिर भी सूर की अलंकार-योजना भावा व्यक्ति के साथ-साथ काव्योत्कर्ष में सहायक सिद्ध हुई है। इतना अवश्य है कि कि किसी पद में 'मानो' की भरमार देखकर मन ऊब जाता है। परन्तु ऐसे पद अपेक्षाकृ कम हैं। साथ ही कहीं-कहीं ऊहात्मक प्रणाली का प्रयोग करते हुए सूर ने दूरारू कल्पना का भी सहारा लिया है और 'कर धनु लै किन चंदहि मारि' आदि कह अस्वाभाविकता का भी प्रदर्शन किया है। फिर भी उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आ सादृश्यमूलक अलंकारों की योजना करके सूर ने काव्य की रमणीयता एवं सौन्दर्या भूति की गहनता का परिचय दिया है तथा सूर के ये सभी अलंकार भाषा को बोझि न करके सुन्दर भावाभिव्यक्ति में ही सहायक सिद्ध हुए हैं।

✓(५) **सूर की भाषा**—सूर के काव्य की भाषा ब्रज-प्रदेश की प्रसिद्ध बोली जो 'ब्रजभाषा' के नाम से अभिहित की जाती है, परन्तु सूर की ब्रजभाषा एवं उस शब्द-भण्डार का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि सूर ने अपनी पूर्ववर्ती भाषा एवं समकालीन विभाषाओं के अनेकानेक शब्द अपनाये हैं और अन्धे होने पर भी भा का साहित्यिक गुणों से शृङ्गार किया है। सूर की भाषा में संस्कृत, पाली, अपभ्रं आदि के अतिरिक्त गुजराती, राजस्थानी एवं पंजाबी भाषा के भी शब्द मिलते है इतना ही नहीं, खड़ीबोली, अवधी, कन्नौजी, बुन्देलखण्डी आदि बोलियों के अतिरि अरबी, फारसी एवं तुर्की के भी शब्द मिल जाते हैं। सूर का शब्द-भण्डार ब विस्तृत है। अध्ययन की सुविधा के लिए सम्पूर्ण शब्द-भण्डर को छः भागों में विभ किया जा सकता है :—

(क) संस्कृत के शब्द;

(ख) गुजराती, पंजाबी आदि समकालीन भाषाओं के शब्द;

(ग) खड़ीबोली, अवधी, क़न्नौजी, बुन्देलखण्डी आदि तत्कालीन हिन्दी-बोलि के शब्द;

---

[१] यहाँ पहले सारंग का अर्थ सूर्य और दूसरे सारंग का अर्थ चन्द्रमा है।

(घ) अरबी, फारसी, तुर्की आदि विदेशी भाषाओं के शब्द;
(ङ) देशज शब्द;
(च) मिश्रित शब्द ।

(क) संस्कृत के शब्द—सूर के काव्य में संस्कृत-शब्दों की ही बहुलता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि उत्तरी भारत की अधिकांश भाषाओं के भण्डार की वृद्धि संस्कृत शब्दों द्वारा हुई है। साथ ही ब्रजभाषा का सम्बन्ध शौरसेनी से है और शौरसेनी का सीधा सम्बन्ध संस्कृत से ही रहा है। संस्कृत वैसे भी मध्यदेश की प्रमुख भाषा रही है और आज तक उसका सर्वाधिक प्रभाव मध्यदेशीय समस्त भाषाओं एवं विभाषाओं पर दिखाई देता है। संस्कृत के इन शब्दों को तीन भागों में बाँट सकते हैं—(१) तत्सम, (२) अर्द्धतत्सम और (३) तद्भव ।

(१) संस्कृत के तत्सम शब्द—सूर की रचनाओं में संस्कृत के शुद्ध तत्सम शब्द पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं; जैसे—दधि, घृत, मधु, सरस, मयूर-चन्द्रिका, आमिष, रुधिर, अस्थि, चिबुक, द्विज, कपोल, पुरीष, नाभि, स्वजन, भव-मद, मृतक, कामधेनु, गज, कुंजर, कपोत उलूक, चक्रवाक, कोक, गरुड़, खद्योत, मधुप, मीन, मकराकृत, भ्रमर, कल्पना, जीविका, त्रास, त्राहि, प्रतिष्ठा, मुखारविंद, कुसुमांजलि, रुद्रादिक आदि ।

(२) संस्कृत के अर्द्ध-तत्सम शब्द—सूर ने राग एवं सुर की दृष्टि से तत्सम शब्दों का प्रयोग इस प्रकार किया है कि वे अर्द्ध-तत्सम जैसे हो गये हैं। वे शब्द इस प्रकार हैं—अगिनि, अम्रित, अस्थान, दरपन, परजंत (पर्यन्त), बिलम, मरजादा, रतन, पदारथ, परतीति, मरम, रिधि (ऋद्धि), अस्तुति, निहकाम, लछमी, सरवज्ञ, सवाद, करतार, कृतघन, विसकर्मा, सूकर, परबोधत आदि ।

(३) संस्कृत के तद्भव शब्द—अँगूठा, अंध्यारी, आँसू, अचरज, उछाह, कोख, काठ, गाड़े, चौक, जीभ, ताती, पाहन, निनारे, पौरी, बैन, हिय, सतिया, लरी, पाती, काठ, औटाई, उनहार, आग, उघरी, उबटन, अनखौंही, आजु, मोती, बिज्जु, वियाहन, मसान, लच्छा, बछल, साँझ, सरिस, लिलार आदि ।

(ख) गुजराती एवं पंजाबी के शब्द—सूर के काव्य में संस्कृत के अतिरिक्त तत्कालीन प्रान्तीय भाषाओं के शब्द भी मिलते हैं, जिनमें से गुजराती, राजस्थानी तथा पंजाबी भाषाएँ प्रमुख हैं। जैसे—'पेला', 'वियौ' आदि गुजराती के शब्द हैं तथा 'प्यारी' शब्द महँगी के अर्थ में पंजाबी से आया है।

(ग) हिन्दी बोलियों के शब्द—सूर की भाषा वैसे तो ब्रजभाषा है, परन्तु सूर ने ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग किया है, जो हिन्दी की विभिन्न बोलियों के हैं। उदाहरण के लिए, जैसे—गाया, आया, लखाया, ओढ़ाया, बताया, लाया है, जाया है, 'चरन कमल चित लाया है' आदि शब्द खड़ीबोली के हैं; छोट, बड़, अस, आहि, इहाँ, उहाँ, कीन, दुबार, बियारी, मोर, तोर आदि शब्द अवधी के हैं; हुतो, हुती आदि

कन्नौज के शब्द हैं; और जानित्री, प्रगटवी आदि बुन्देलखण्डी के शब्दों का प्रयोग कि गया है।

(घ) विदेशी भाषाओं के शब्द—सूर ने तत्कालीन भारतीय बोली, विभ एवं भाषाओं के शब्दों के अतिरिक्त विदेशी भाषाओं के शब्दों को भी पर्याप्त मा में ग्रहण किया है और उनके द्वारा अद्भुत चमत्कार के साथ-साथ भाव-गाम्भीर्य भी सृष्टि की है। जैसे—अमल, अमीन, कलई, कसब, जवाव, मुजरा, मुहकम, मु मौज, मुसाहिब, कागर, खवर, खाली, तलफ, दगा, मसकत, मिलिक, सफरी, मस आदि शब्द अरबी भाषा के अपनाये हैं; कमान, गुमान, चुगली, दलाली, दर दीवान, मेहमानी, सरदार, राह, अँदेसा, आजाद, आवाज, असवार, गुनहगार, गु गुनाहगार, जहर, जोर, बेसरम, सोर आदि फारसी के शब्दों का प्रयोग किया है औ 'लीन सुरङ्ग कुमैत' कहकर 'कुमैत' तुर्की भाषा का शब्द ग्रहण किया है।

(ङ) देशज शब्द—उक्त शब्दों के अतिरिक्त सूर के पदों में देशज शब्दों भी भरमार है। सूर के ये देशज शब्द ऐसे हैं, जो ब्रज के गाँवों में बोले जाते हैं; न तो इनके मूल उद्गम का पता है और न इनकी व्युत्पत्ति ही सम्भव है। ये विभिन्न जातीय एवं विजातीय भाषाओं से गृहीत होकर भी ऐसे अद्भुत एवं वि रूप में ब्रज के अन्तर्गत प्रचलित हैं कि इनको किसी एक भाषा का कहना सं असम्भव है तथा अव ये ब्रजभाषा की सहज सम्पत्ति बन गये हैं। जैसे—झु झाम, ढवरी, ढाढ़ी (गायक), घैंया, झुगियाँ, ढुकी, ट्रकट्रक, बोहनी, मोट, गोड़ि खुनुस, टकटोरत, डहकावै, घमर, खरभर, झमक, ठुनक, धरधर, झकोर, रुनुक-झु आदि।

(च) मिश्रित शब्द—सूर ने कुछ ऐसे भी शब्द अपनाये हैं, जो देशी एव वि शब्दों के सम्मिश्रण से अथवा देशी प्रत्यय एवं विदेशी शब्दों के योग से बनाये गये जैसे—'अनलायक', 'अनाहक' शब्दो में देशी प्रत्यय, 'अन' एवं विदेशी 'लायक' 'नाहक' शब्दों का मिश्रण हुआ है। ऐसे ही फौजपति, बेपीर, बेहाल, लौन ह आदि शब्दों में देशी और विदेशी शब्दों का मिश्रण करके शब्द बनाये गये हैं।

इस प्रकार सूर ने विभिन्न भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करके ब्रजभाषा को स सशक्त एवं समृद्ध बनाया है, उसके बोलचाल के रूप को सँवार कर शुद्ध साहि रूप प्रदान किया है और उसे विविध राग-रागनियों के अनुकूल ढालकर नाद-सौ एवं संगीतात्मकता से ओतप्रोत किया है।

लोकोक्ति एवं मुहावरों का प्रयोग

सूर ने ब्रजभाषा को विविध भावों की अभिव्यक्ति के लिए समर्थ एवं स बनाने के लिए उसे अनेक लोकोक्तियों एवं मुहावरों से सुसज्जित किया है। लोकोक्ति और मुहावरों में बड़ी शक्ति रहती है। इनसे से संक्षेप में ही बहुत कुछ कह दिया ज है और वह कथन अत्यधिक मार्मिक, प्रभावोत्पादक एवं हृदयस्पर्शी होता है। सू मुहावरों एवं लोकोक्तियों का बड़ा ही ज्ञान दिखाई देता है। इसलिए उन्होंने इनके प्र

में अपने विस्तृत अध्ययन, उपयुक्त शब्द-ज्ञान एवं सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है।

लोकोक्तियाँ—सूर के काव्य में लोकोक्तियों की संख्या अत्यधिक है, जो लोक-प्रचलित होते हुए भी सूर के सुष्ठु प्रयोग की परिचायक हैं। इनमें से कुछ ये हैं :—

कहा कहत मासी के आगे जानत नानी नानन, काकी भूख गई बयार भख, अपनौ दूध छाँड़ि को पीवै खार कूप को पानी, जौवन रूप दिवस दस ही के, जाहि लगै सोई पै जानै, कारौ कृतहि न मानैं, ताकौ कहा परेखौं कीजै जानै छाछ न दूधौ, जल बूढ़त अवलम्ब फेन को, धान कौ गाँव पयार तैं जानो, लेवादेई बराबर में है, कौन रंक को भूप, सूरदास खल कारी कामरि चढ़ै न दूजौ रंग, सूर सिकत हठि नाव चलावत ये सरिता है सूखी, सूर सुभाव तजै नहि कारौ कीजैं कोटि उपाय, अंगुरी गहत गह्यौ जिहिं पहुँची, सूर मिलै मन जाहि जाहि सौं ताकौ कहा करै काजी, जो कोउ परहित कूप खनावै परैसु कूपहिं माहीं, दाई आगै पेट दुरावति आदि।

मुहावरे—इसी प्रकार सूर के काव्य में मुहावरों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में मिलता है। इन मुहावरों के द्वारा सूर ने अद्‌भुत अर्थ-गाम्भीर्य के साथ-साथ अपनी भाषा में सजीवता, सशक्तता एवं प्रभावोत्पादकता की सृष्टि की है। सूर के कतिपय मुहावरों के प्रयोग इस प्रकार हैं :—

एक दुख़ दूजै हाँसी, एक बात की बीस बनाई, जिय में सूल रही, गाढ़े दिन के मीत, किहि गिनती में आऊँ, कह्यौ न मन में ल्यायौ, कीजै लाज नाम अपने की, देउँ अबकै परचौ पूरौ, कोउ न बात पूछतौ, मूँछहि पकरि अकरतौ, खैंचि कहत हौं लीको, सीस धुनै कर मारै, सूधैं करत न बात, सोवत सिंह जगायौ, पुलकि अंग न समात, आस जनि तोरहु, जैसैं गाल बजैहैं, इक तैं एक गुननि मैं पूरे, गाँठी दै राखति, अँगुरीनि दन्त दै रह्यौ, माँगत गोद पसारी, भरि-भरि लेत हियौ, गाँठि हृदय की खोली आदि।

शब्द-शक्ति का प्रयोग

सूर की भाषा में अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना नामक तीनों शब्द-शक्तियों का प्रयोग मिलता है। प्रायः भावपूर्ण स्थलों पर सूर ने सरल एवं सुबोध भाषा का प्रयोग करते हुए अभिधा शक्ति को अपनाया है, जिससे उन स्थलों पर वाच्यार्थ की ही प्रधानता है। जैसे—'जा दिन मन पंछी उड़ि जैहै', 'आँगन खेलन घुटुवनि धाए', 'किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत', 'जसुमति मन अभिलाष करै' आदि पदों में वाच्यार्थ का ही प्राधान्य है।

अभिधा के अतिरिक्त सूर ने लक्षणा शक्ति द्वारा अपने पदों में वाग्वैचित्र्य एवं वाग्वैदग्ध्य की सृष्टि की है। ये पद चमत्कारपूर्ण अनुरञ्जन के साथ-साथ भावोन्मेष से परिपूर्ण हैं और इन पदों में सूर का वाणी-विलास भी देखा जा सकता है। इन पदों में लक्ष्यार्थ का प्राधान्य है और भावाभिव्यञ्जना-प्रणाली भी स्निग्धता, सशक्तता, सरसता एवं सुकुमारता से परिपूर्ण है। यथा—'आस जानि तोरहु स्याम

हमारी', 'मुरली में जीवन-प्रान बसत अहे मेरौ', 'नैना नैनन माँझि सामने', ऊपर लौन लगावत', 'तुम बाँधत आकास बात झूठी को सैहै', 'वे बतियाँ लिखि राखीं जे नँदलाल कहीं', 'सबै ब्रज है जमुना के तीर', 'पिया बिनु नागिन रात' आदि पंक्तियों में सूर ने लक्षणा के द्वारा अद्भुत काव्य-कौशल के सा भाषा-सौष्ठव की सृष्टि की है।

ऐसे ही सूर ने व्यञ्जना-शक्ति के सहारे भी भाषा में अद्भुत चमत्कार किया है, जिससे सूर के काव्य में प्रभावोत्पादकता एवं मार्मिकता अत्यधिक है और सूर के पद सुनते ही हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। व्यञ्जना- पदों में व्यंग्यार्थ का प्राधान्य है और वहाँ सीधी-सादी बात द्वारा भी किसी अभीष्ट अर्थ का बोध कराया गया है। जैसे—'भूलिहुँ जनि आवहुँ इहि गोकुल तरनि ज्यों चन्द' कहकर सूर ने चन्द्रमा को सूर्य के समान जलता हुआ बताकर की दारुण वियोगावस्था की ओर संकेत किया है। ऐसे ही 'किधौं घन गरजत देसनि' नामक पद से स्पष्ट ही गोपियों का व्यंग्यार्थ यह है कि जिस तरह आगमन से हमारी प्रेम-भावना उद्दीप्त हो उठी है और हम श्रीकृष्ण से मिलने आतुर हो रही हैं, उसी तरह श्रीकृष्ण को भी हमसे मिलने के लिए आतुर एवं होना चाहिए था, तब फिर वे यहाँ आते क्यों नहीं? क्या उनके देश में बादल नहीं गरजते और वर्षाऋतु नहीं आती?

सारांश यह है कि सूर ने विविध भावमयी ब्रजभाषा का प्रयोग अपने सरस काव्य की सृष्टि की है। सूर के काव्य में वैसे अनेक भावों एवं वर्णन मिलता है, परन्तु वात्सल्य एवं शृंगार का ही प्राधान्य है और ये दोनों भी भक्ति-रस के अंग बनकर आये हैं। इस तरह सूर का काव्य भक्ति-रस का है। उसमें सख्य, दाम्पत्य एवं वात्सल्य भावों के द्वारा अनन्य प्रेममयी प्रतिपादन हुआ है और विविध सुर एवं तालों के द्वारा विलक्षण संगीत की है। सूर के सभी पद संगीत-शास्त्रोक्त विविध राग-रागनियों से सुसज्जित हैं। पिंगलशास्त्र की दृष्टि से उन्हें घनाक्षरी पद के नाम से अभिहित किया जाता सभी पद नाना प्रकार के अलंकारों, गुणों एवं रसों से ओतप्रोत होने के कार भाषा के शृंगार माने जाते हैं और ऐसे उन्नत एवं उच्च कोटि के सरस पदों की करने के कारण सूर 'सूर' (सूर्य) कहलाते हैं। उनकी उत्कट काव्य-प्रतिभा से होकर ही किसी विद्वान् ने सूर के बारे में 'तत्त्व-तत्त्व' सूरा कही' कहकर अप व्यक्त किये हैं। निस्सन्देह सूर ब्रजभाषा के सम्राट् कवि हैं। उनकी का मर्मस्पर्शी तीव्रता, जीवनदायिनी संजीवनी-शक्ति, हृदयाकर्षक संगीतात्मकता, करण को प्रभावित करने वाली उत्कृष्ट काव्य-कला तथा विलक्षण उद्भावना के दर्शन होते हैं और सूर ने अपने नैसर्गिक संगीत द्वारा ब्रजभूमि एवं ब्रजभा 'स्वर्गादपि' गरीयसी' के पद पर प्रतिष्ठित किया है।

छः

गोस्वामी तुलसीदास

राम-काव्य-धारा में तुलसी का स्थान ●
9mb तुलसी का महाकाव्यत्व—रामचरितमानस का काव्य-सौष्ठव ● 845
रामचरितमानस का उत्तरकाण्ड ●
उत्तरकाण्ड का वर्ण्य-विषय ●
उत्तरकाण्ड में संत-असंत-निरूपण ●
उत्तरकाण्ड में ज्ञान-निरूपण ●
उत्तरकाण्ड में भक्ति-निरूपण ●
उत्तरकाण्ड में दार्शनिक विचार ●
उत्तरकाण्ड में सामाजिक चित्रण ●
तुलसी का गीतिकाव्य ●
विनय-पत्रिका ●
गीतावली ●
कवितावली ●
तुलसी की भक्ति-पद्धति ●
तुलसी के दार्शनिक विचार ●
तुलसी का समन्वयवाद ●
तुलसी की भाषा ●
सूर और तुलसी की तुलना ●

प्रेमा सिंह

६

गोस्वामी तुलसीदास

राम-काव्य-धारा में तुलसी का स्थान

राम-काव्य-धारा का मूल उद्‌गम स्थल 'वाल्मीकि रामायण है' है। इससे पूर्व राम-कथा का कोई सुव्यवस्थित एवं समृद्ध काव्य नहीं मिलता है। 'वाल्मीकि रामायण' का रचना-काल ६०० ई० पू० से ४०० ई० पू० तक माना जाता है। तदनन्तर राम-काव्य का उल्लेख 'महाभारत' के वनपर्व, द्रोणपर्व, शान्तिपर्व, एवं सभापर्व में मिलता है। वनपर्व में 'रामोपाख्यान' के रूप मे राम-कथा विस्तारपूर्वक मिलती है, जिसका मूलाधार भी 'वाल्मीकि रामायण' है। इसके उपरान्त बौद्ध जातकों में 'दशरथ जातक' के अन्तर्गत राम-कथा का वर्णन मिलता है, परन्तु उसमें काव्यात्मक सौन्दर्य का सर्वथा अभाव है। बौद्धों के अतिरिक्त जैन ग्रन्थों में से विमलसूरि कृत 'पउम चरिउ', 'पम्प रामायण' तथा गुणभद्र कृत 'उत्तर रामायण' में भी राम-काव्य के दर्शन होते हैं। इसके साथ ही पद्मपुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, श्रीमद्‌भागवत पुराण, नृसिंहपुराण, विष्णुपुराण, अग्निपुराण आदि में भी राम-काव्य का उल्लेख मिलता है, जिसमें काव्यात्मक सौन्दर्य की अपेक्षा वर्णनात्मकता का ही प्राधान्य है। इनके अतिरिक्त अध्यात्म रामायण, महारामायण, आनन्द रामायण, भुशुण्डि रामायण, अद्‌भुत रामायण आदि कुछ पौराणिक ढंग के रामायण ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें राम-काव्य के सुन्दर एवं सजीव रूप का दर्शन होता है।

संस्कृत एवं प्राकृत-अपभ्रंश के उक्त प्राचीन ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत के कतिपय महाकाव्यों एवं नाटकों में भी राम-काव्य के दर्शन होते हैं। इनमें से कालिदास कृत 'रघुवंश' राम-काव्य की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त अभिनन्दन कृत 'रामचरित', करि भट्टि कृत 'रावण-वध', भौमिक भट्ट कृत 'रावणार्जुनीय', कुमारदास कृत 'जानकीहरण', क्षेमेन्द्र कृत 'रामायण मंजरी', मल्लिनाथ कृत 'रघुवीर-

चरित' प्रसिद्ध राम-काव्य हैं । संस्कृत नाटकों में से भवभूति कृत 'उत्तर-रामचरि मुरारि कृत 'अनर्घराघव', राजशेखर कृत 'बालरामायण', मधुसूदन और दामोदर कृ 'हनुमन्नाटक', जयदेव कृत 'प्रसन्नराघव' आदि नाटक भी उत्कृष्ट राम-काव्य कोटि में आते हैं ।

उक्त राम-काव्यों के अतिरिक्त मराठी में एकनाथ कृत 'भावार्थ रामाय केशवराज कृत 'रामायण', स्वयंभू देव कृत 'रामायण पुराण', बंगला में कृत्तिवास कृ 'रामायण', द्विज अनन्त कृत 'अनन्त रामायण', असमिया में शंकरदेव कृत 'उत्तरका एवं 'श्रीराम विजय नाटक', उड़िया में जगन्मोहन रामायण' 'विलंका रामायण' 'विचित्र रामायण', गुजराती में नागर कृत 'रामायण', कहान कृत 'रामायण', का सुत कृत 'हनुमन्त चरित', देव विजय मणि कृत 'रामचरित्र' आदि, तमिल में तमि रामायण', तेलगु में 'द्विपाद रामायण', मलयालम में 'इराम चरित', कन्नड़ में 'तोर रामायण' आदि अनेक राम-काव्य मिलते हैं, जो प्रचुर काव्यात्मक सौन्दर्य से ओतप्रो हैं तथा जिनका मूलाधार वाल्मीकि रामायण है ।

हिन्दी में भी राम-काव्य की विस्तृत परम्परा मिलती है । हिन्दी में सर्वप्र सं० १३४२ में लिखित कवि भूपति कृत 'रामचरित रामायण' का संकेत मिलता परन्तु उसकी अभी तक कोई प्रतिलिपि उपलब्ध नहीं है । हिन्दी में तुलसी ही रा काव्य के प्रमुख कवि हैं । तुलसी के समकालीन कवियों में से मुनिलाल कृत 'रामप्रका काव्य मिलता है, जो रीतिशास्त्र के आधार पर लिखा गया है । इसके अतिरिक्त काल में नाभादास ने राम-भक्ति सम्बन्धी कुछ सुन्दर पद लिखे हैं महाकवि केशव 'रामचन्द्रिका' नामक महाकाव्य की रचना की है, जिसमें काव्य-कौशल का तो प्राधा है, किन्तु चरित्र-चित्रण एवं प्रबन्धात्मकता की उपेक्षा की गई है । सेनापति ने अपने 'कवित्त रत्नाकर' में चौथी एवं पाँचवीं तरंगों के अन्तर्गत रामायण एवं रा रसायन का वर्णन किया है । तुलसी के समकालीन कवियों के उपरान्त भी हिन्दी राम-काव्य के दर्शन होते हैं । इनमें से हृदयराम कृत 'हनुमन्नाटक' मिलता है, जि राम-भक्ति का ही सुन्दर विवेचन मिलता है । तदुपरान्त प्राणचन्द चौहान कृत 'रामा महानाटक मिलता है, जो संवाद रूप में लिखा गया है, किन्तु जिसमें उत्कृष्ट का सौन्दर्य के दर्शन नहीं होते । तत्पश्चात् लालदास कृत 'अवध-विलास' मिलता है जि राम-सीता की विविध लीलाओं का वर्णन मिलता है, और रामप्रियाशरण सीतायण' ग्रन्थ मिलता है, जिसमें सीताजी के चित्रण की प्रधानता है तथा राम क का भी वर्णन किया गया है । इसके पश्चात् जानकी रसिकशरण कृत 'अवधी सा ग्रन्थ मिलता है, जिसमें श्रीकृष्ण की ही भाँति श्रीराम एवं सीता के रास, नृत्य, व विहार आदि का सरस वर्णन किया गया है । तदनन्तर कलानिधि कृत 'रामाय सूचनिका' ग्रन्थ मिलता है, जिसमें रामायण की प्रमुख घटनाओं का विवरणा उल्लेख किया गया है । इसके उपरान्त गुरु गोविन्दसिंह कृत 'गोविंद रामायण', सहज कृत 'रघुवंश दीपक', श्रीधरकृत 'रामचरित्र', नवलसिंह उपनाम रामानुजदासश

कृत 'रामचन्द्र-विलास' नामक प्रसिद्ध राम-काव्य मिलते है। इसके साथ ही रीवां नरेश महाराज विश्वनाथसिंह कृत रामकाव्य सम्बन्धी कितने ही ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें से 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक, 'संगीत रघुनन्दन', 'आनन्द रामायण', 'रामचन्द्र की सवारी', 'गीता रघुनन्दन', रामायण' आदि प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी में प्रेमसखी, कुशल मिश्र, रामचरणदास, मधुसूदनदास, गंगाप्रसाद व्यास, सर्वसुखशरण, भगवानदास खत्री, गंगाराम, रामगोपाल, परमेश्वरीदास, गणेश; रामगुलाम द्विवेदी, जनकलाड़िलीशरण, गिरिधरदास प्रभृति कितने ही हिन्दी के ऐसे छोटे-छोटे कवि मिलते हैं, जिन्होंने राम-कथा सम्बन्धी काव्य लिखे हैं और जिनमें रामायण के कतिपय अंशों का सुन्दर वर्णन मिलता है। इनमें से मधुसूदनदास कृत 'रामाश्वमेघ' ग्रन्थ तुलसी कृत 'रामचरितमानस' के आदर्श पर ही लिखा गया है, जो अन्य सभी ग्रन्थों की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

आधुनिक युग में भी राम-कथा सम्बन्धी कितने ही काव्यों का प्रणयन हुआ है, जिनमें से रामचरित उपाध्याय कृत 'रामचरित चिन्तामणि', मैथिलीशरण गुप्त कृत 'साकेत', रामनाथ ज्योतिषी कृत 'श्रीरामचन्द्रोदय', अयोध्यासिंह उपाध्याय कृत 'वैदेही-वनवास', डा० बलदेवप्रसाद मिश्र कृत 'साकेत-सन्त', हरदयालुसिंह कृत 'रावण महाकाव्य', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' कृत 'उर्मिला' काव्य प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार राम-काव्य सम्बन्धी सम्पूर्ण वाङ्मय का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि तुलसी ने जिस राम-काव्य का वर्णन किया है वह 'नानापुराण-निगमागम-सम्मत' होने पर भी अन्य सभी राम-काव्यों की अपेक्षा अपनी कतिपय विशिष्टताओं से परिपूर्ण है। इसमें तुलसी ने एक आदर्श समाज एवं आदर्श धर्म की प्रतिष्ठा की है और पात्रों के आदर्श चित्रण द्वारा लोकहित एवं लोक-मङ्गल की शिक्षा देते हुए सम्पूर्ण विश्व के मानवों के सम्मुख आदर्श जीवन की रूपरेखा प्रस्तुत की है। तुलसी का सम्पूर्ण राम-काव्य अपनी गम्भीरता, प्रभावोत्पादकता, सरसता, सुन्दरता एवं भाव-प्रेषणीयता में सर्वोपरि है। उत्तरी भारत में तो साधारण झोंपड़ी से लेकर गगनचुम्बी प्रासादों तक तुलसी के राम-काव्य को श्रद्धा एवं आदर प्राप्त है तथा उससे सम्पूर्ण जन-जीवन प्रेरणा ग्रहण करता है। तुलसी ने राम के जिस आदर्श चरित्र की स्थापना की है, उसका स्वरूप पूर्ववर्ती एवं परवर्ती किसी भी राम-काव्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। साथ ही तुलसी ने काव्य की दृष्टि से अपने काव्य में जो गुरुता, गम्भीरता एवं माधुर्य की सृष्टि की है, वह भी अनुपम एवं अद्भुत है, उसकी समता करना भी अन्यत्र दुर्लभ है। इसके साथ ही 'नाना-पुराण-निगमागम-सम्मत' एवं 'छहों शास्त्र सब ग्रन्थन कौ रस' होकर भी तुलसी का काव्य मौलिकता में अन्य सभी काव्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि उसमें तुलसी ने अपनी अद्भुत रचना-चातुरी, नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा, विलक्षण उद्भावना-शक्ति, उर्वर कल्पना एवं उत्कृष्ट काव्य-कला के योग से एक ऐसे दिव्य एवं भव्य काव्य का निर्माण किया है, जिसकी तुलना में कोई भी पूर्ववर्ती एवं परवर्ती काव्य नहीं ठहरता। यही कारण है कि गोस्वामी

तुलसीदास मार्मिक प्रसङ्गों के वर्णन की दृष्टि से, सुव्यवस्थित कथा-योजना की से, श्रीराम में भक्ति, शील एवं सौंदर्य की प्रतिष्ठा की दृष्टि से, सैद्धान्तिक सम की दृष्टि से, उच्च कोटि की शिष्टता एवं साधुता की स्थापना की दृष्टि से उत्कृष्ट शील-निरूपण एवं काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से सर्वोपरि हैं और इसीलिए राम-काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि हैं ।

तुलसी का महाकाव्यत्व—रामचरितमानस का काव्य-सौष्ठव

तुलसी का 'रामचरितमानस' हिन्दी-साहित्य का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य सर्वसाधारण में यह महाकाव्य 'रामायण' के नाम से प्रसिद्ध है । इस महाकाव्य रचना चैत्र शुक्ला नवमी मङ्गलवार सं १६३१ वि० में हुई थी । यह काव्य प्रबन्धात्मकता, मार्मिक प्रसङ्ग-विधान, चारित्रिक महत्ता, सांस्कृतिक गरिमा गुरुता, सरस संवादों की सुन्दर योजना, गम्भीर भाव-प्रवाह, सरस घटना-सं आलङ्कारिता; उन्नत कलात्मकता आदि से सम्पन्न होने के कारण गोस्वामीजी अमर कृति है । यह काव्य तुलसीदासजी की साहित्यिक मर्मज्ञता, भावुकता, कुशलता एवं गम्भीरता का सर्वाङ्गपूर्ण निदर्शन है । इसमें गोस्वामीजी की प्रबन्ध-पटुता एवं उद्‌भावना-शक्ति के साथ-साथ उन्नत रचना-कौशल, वस्तु-व्यापार-वर्णन, मार्मिक स्थलों का सरस-निरूपण, प्रभावोत्पादक भाव-व्यं मर्मस्पर्शी संवाद, उत्कृष्ट शील-निरूपण, प्रसंगानुकूल सरस एवं सुबोध भाषा, सु अलङ्कार-योजना, भावानुकूल छन्द-विधान आदि के दर्शन होते हैं । काव्य-कौशल कला-सौन्दर्य की दृष्टि से भी यह हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है । इसकी भले ही पौराणिक शैली में हुई है और उसमें भारतीय साहित्य-शास्त्रों में महाकाव्य के सभी लक्षण भी नहीं मिलते, फिर भी यह अपनी व्यापकता, गम्भीर सरसता एवं पूर्णता के कारण महाकाव्य जैसा ही प्रभाव डालता है और इसमें उत्कृष्ट महाकाव्य का स्वरूप इस प्रकार मिलता है :

(क) कथानक—'रामचरितमानस' का कथानक पूर्णतया सुव्यवस्थित सुसंगठित है । इसका कथानक भारतीय साहित्य में चिरकाल से प्रचलित एवं वि 'राम-कथा' पर आधारित है । इसकी योजना 'नानापुराण-निगमागम' के अनुसार गई है, परन्तु इसके मूलाधार—वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, हनुमन्ना प्रसन्न राघव, श्रीमद्‌भागवत एवं अन्य पुराणों में वर्णित राम-कथायें हैं । इनमें राम जीवन-चरित को सम्पूर्ण रूप में नहीं लिया गया है, क्योंकि इनमें राम जन्म से ले राम के राज्यारोहण तक की कथा को ही स्थान दिया गया है और शेष कथा सीता-निर्वासन, लवकुश-जन्म, अश्वमेघ-यज्ञ में लवकुश का रामायण-गान, सीता पृथ्वी में समा जाना, राम-लक्ष्मण का स्वर्गारोहण आदि घटनाओं का वर्णन नहीं गया है । फिर भी इसमें जितनी राम-कथा को लिया गया है, वह तुलसी की भावना की दृष्टि से सर्वाङ्गपूर्ण है । उसमें आदि, मध्य और अवसान की सुव्यवस्थित ढङ्ग से की गयी है, जिससे कथा के समस्त अवयव सुश्रृङ्खलित

समानुपातिक ढंग से नियोजित दृष्टिगोचर होते हैं। सम्पूर्ण काव्य सात सोपानों में विभक्त है, जो प्रसंगों की शृंखलाबद्धता के साथ-साथ कथा की व्यवस्थित गति एवं सर्ग-विभाजन की समीचीन पद्धति के द्योतक हैं। इनमें राम-जन्म से लेकर वनवास तक की घटनाएँ कथा के आदि भाग से सम्बन्धित हैं, वन-यात्रा से लेकर सीताहरण तक की घटनाएँ कथा के मध्य भाग की द्योतक हैं, सीताहरण से लेकर रावण-वध एवं राम-राज्य की स्थापना तक कथा का अवसान हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण कथा एक सुनियोजित ढंग से सप्त सोपानों के अन्तर्गत विभक्त होकर तुलसी की कथा-योजना के कौशल एवं कथा-विभाजन सम्बन्धी नैपुण्य की ओर संकेत कर रही है। तुलसीदासजी ने 'कार्य' की दृष्टि से ही इस कथा की योजना की है। 'रामचरितमानस' का मुख्य कार्य है—रावण-वध एवं राम-राज्य की स्थापना। सम्पूर्ण कथा इसी 'कार्य की दृष्टि से अग्रसर होती हुई अन्त में अपने अभीष्ट लक्ष्य पर जाकर समाप्त हुई है। इसीलिए इसमें सीता-वनवास एवं लवकुश सम्बन्धी कथा को स्थान नहीं दिया गया है। 'रामचरितमानस' में राम-कथा ही आधिकारिक कथा है, किन्तु बीच में ताड़का-वध, अहिल्या-उद्धार, शबरी आतिथ्य, सुग्रीव-मैत्री, शूर्पणखा-मिलन, मारीच-वध, सेतु-बन्ध आदि जितनी भी प्रासंगिक कथाएँ आई हैं, वे सभी मुख्य कथा को समृद्ध बनाती हुई नायक की गौरव-वृद्धि एवं कवि के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक सिद्ध हुई हैं। गोस्वामीजी ने अपने महाकाव्य की कथा को नाटकीय ढंग से नियोजित किया है। इसीलिए इनमें नाटकों की पाँचों कार्यावस्थाएँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं, क्योंकि रावण के अत्याचार-निरूपण से लेकर राम-लक्ष्मण के विश्वामित्र के साथ यज्ञ-रक्षा-हेतु आश्रम-गमन तक के वर्णन में 'आरम्भ' नामक कार्यावस्था है, विवाहोपरान्त वन-गमन से लेकर सूर्पणखा-मिलन तक के वर्णन में 'प्रयत्न' नामक कार्यावस्था है, खर-दूषण-वध से लेकर सुग्रीव-मैत्री तक के वर्णन में 'प्राप्त्याशा' नामक कार्यावस्था है, राम की समर-यात्रा एवं सेतु-बन्धन से लेकर मेघनाथ-कुम्भकर्ण-वध तक 'नियताप्ति' कार्यावस्था है और रावण-वध एवं राम-राज्य-स्थापना पर 'फलागम' के दर्शन होते हैं। इस प्रकार नाटक की सम्पूर्ण कार्यावस्थाएँ सुव्यवस्थित रूप में यहाँ विद्यमान हैं। इसी तरह मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण सन्धियाँ एवं उनके विभिन्न संध्यङ्ग भी इस काव्य में विद्यमान हैं। इतना ही नहीं, कथा रोचक, आकर्षक एवं रोमांचक बनाने के लिए अतिप्राकृत एवं अलौकिक शक्तियों तथा उनके असाधारण कार्यों का भी समावेश किया गया है। इस तरह 'रामचरितमानस' का कथानक नाटकीय ढंग से सुनियोजित होकर महाकाव्य की गुरुता, गम्भीरता, प्रभावोत्पादकता एवं घटना-वैचित्र्य से सम्पृक्त है।

(ख) नायक एवं चरित्र-चित्रण—'रामचरितमानस' एक चरित-काव्य है। इसके नायक क्षत्रिय कुल-भूषण भगवान राम हैं, जो तुलसी की उदारता, अन्तःकरण की विशालता एवं भारतीय चारित्रिक आदर्श की साकार प्रतिमा हैं। तुलसी ने राम के रूप में भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की आदर्शमयी ऐसी जीवन्त प्रतिमा

प्रतिष्ठित की है, जो विश्व-भर में अलौकिक, असाधारण, अनुपम एवं अद्भुत है, जो धर्म एवं नैतिकता की दृष्टि से सर्वोपरि है तथा जिसमें त्याग, विराग एवं साधु-प्रवृ के साथ-साथ लोकहित एवं मानवता का साकार रूप विद्यमान है। तुलसी के रा एक आदर्श पुरुष ही नहीं हैं, अपितु वे एक ऐसे महान् व्यक्तित्व-सम्पन्न नायक हैं जिनका कवि के कल्पना-राज्य पर एकाधिकार है, जिनका महत्त्व कवि के साथ-सा पाठकों एवं श्रोताओं के मनश्चक्षुओं के सम्मुख भी आज तक अधीष्ठित है औ जिसके देवत्व पर मुग्ध होकर एवं जिसकी पुण्य किरणों से अभिभूत होकर दिग्दि से आकर प्राणी जिसे नतमस्तक होकर प्रणाम करते हैं। तुलसी के राम बुद्धिमा धर्मज्ञ, यशस्वी, प्रजा-हितैषी, धर्मरक्षक, गोपालक, सत्यसन्ध, लोकप्रिय, वलि शत्रुजयी, महान् त्यागी, धैर्यवान, प्रियदर्शी, शक्ति-शील-सौन्दर्य के अगाध भण्डा धर्मात्मा एवं उच्चतम आदर्श के प्रतीक हैं। वे विश्वरूप होकर भी मानव हैं औ मानव होकर भी परब्रह्म स्वरूप हैं। तुलसी ने राम को मानव एवम् ब्रह्म दोनों रू में चित्रित करके एक मानव की महत्ता एवं गुरुता का अच्छा निरूपण किया है निस्सन्देह राम आदर्श के उत्तुंग शिखर पर प्रतिष्ठित मानव हैं, किन्तु तुलसी अपनी उर्वर कल्पना एवं उत्कृष्ट प्रतिभा द्वारा मानव में देवत्व की, नर में नारा की अथवा व्यक्ति में ब्रह्म की जो स्थापना की है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। इ कारण राम 'मनुज अनुहारी' कार्य करते हुए अज, अनादि, निर्गुण एवं निरा ब्रह्म हैं, माता-पिता द्वारा परिचालित होकर भी 'विधि हरि सम्भु नचावन हारे' हैं औ कृष्ण वर्ण होकर भी 'कोटि मनोज लजावन हारे' हैं। राम धीरोदात्त नायक मानवतावाद के पोषक हैं, उच्च आदर्शों के प्रतीक हैं, तेजोमय क्षात्रधर्मयुक्त मह वीर हैं और 'दैहिक-दैविक-भौतिक तापों' का विनाश करके एक समृद्धशाली, सर्वगु सम्पन्न एव सर्वजनोपयोगी आदर्श 'राम-राज्य' के संस्थापक हैं।

राम के अतिरिक्त 'रामचरितमानस' का प्रतिनायक रावण असत् प्रवृत्तियों क भण्डार है तथा अत्याचार एवं अनाचार की साकार मूर्ति है। वह महान् श अदम्य साहस, प्रजा-पीड़क, कुप्रवृत्तियों एव अतिमानवीय वीरता का आगार है। उस साथी भी अनन्त शक्ति एवं अपरिमित साहस से परिपूर्ण हैं। इसके साथ ही तुल के अन्य पात्रों में से भरत साक्षात् भक्ति की प्रतिमा हैं, उनमें अद्भुत त्याग, अनु विनम्रता एव अतुलित बन्धुत्व-भाव के दर्शन होते है। लक्ष्मण, सुग्रीव, दशर हनुमान, अंगद, विभीषण आदि भी सेवा, परोपकार, भक्ति, स्नेह, कर्त्तव्यपराय आदि से परिपूर्ण होने के कारण उन्नत चरित्र-सम्पन्न व्यक्ति हैं। नारी पात्रों में सीता तो इस काव्य की नायिका ही हैं; वे उदारता, मधुरता, तेजस्विता, निरही वत्सलता, गृहणीत्व, पतिपरायणता, विनम्रता, सरलता आदि भारतीय कुल वधू के सम श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न हैं। वे मानवी होकर भी ब्रह्म की शक्तिस्वरूपा हैं। शेष स्त्री पा में से कौशल्या, कैकेई, मंदोदरी, मंथरा आदि नारियाँ नारीगत विभिन्न विशेषताओं गुणों तथा दुर्गुणों से युक्त होने के कारण नारी-समाज की विविधता एवं विशिष्ट

की द्योतक हैं। इस तरह तुलसी ने 'रामचरितमानस' में सत् और असत्, उच्च एवं नीच, साधु एवं असाधु सभी प्रकार के पात्रों का चित्रण करके अन्त में असत्पात्रों पर सत्पात्रों की विजय दिखाई है और अपने काव्यगत चरित्र-चित्रण द्वारा एक महान् नैतिक आदर्श की स्थापना की है।

(ग) **प्रकृति-चित्रण**—तुलसी का 'रामचरितमानस' प्रकृतिसुन्दरी का रमणीय क्रीड़ा-स्थल है। इसमें स्थान-स्थान पर वन, पर्वत, नदी, सरोवर षट्ऋतु आदि के बड़े ही मनोहर एवं हृदयस्पर्शी वर्णन मिलते हैं, जिनमें कवि ने प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रों द्वारा एक अद्भुत प्राकृतिक सौन्दर्य की सृष्टि की है। प्रकृति के विभिन्न वर्णनों में से अयोध्याकाण्ड का कामदगिरि वर्णन अरण्यकाण्ड का पंचवटी तथा पम्पासरोवर वर्णन, किष्किधाकाण्ड का वर्षा एवं शरद ऋतुओं का वर्णन तथा लंकाकाण्ड का चन्द्र-वर्णन अत्यन्त प्रभावशाली है। तुलसी ने कामदगिरि का वर्णन करते हुए पार्वतीय सुषमा की एक भव्य झाँकी अंकित की है, जिसमें विविध विहंगों, विविध प्रकार के मृगों, झरझर करते हुए झरनों, चकवा-चकोर-चातक-पिक-मराल आदि के कलरवों, अलिगण के गुंजनों, मयूरों के नृत्यों एवं वेलि-विटप आदि के कुसुमति प्रसूनों के वर्णन द्वारा एक मंगलमूला पार्वतीय शोभा एवं प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य की अद्भुत छटा का चित्रण किया है।[1] इसी तरह पंचवटी एवं पम्पासरोवर का वर्णन करते हुए तुलसी ने वसन्त के ऋतुराजत्व का बड़ा ही रमणीय वर्णन किया है। जिसमें लता-गुल्म को वितान, केला एवं ताड़ को सुन्दर ध्वजा-पताका फूले हुए वृक्षों को धनुषधारी योद्धा, कोयल की कूक को हाथियों की चिघाड़, ढेक एवं मदोख पक्षी को ऊँट एवं खच्चर, मोर-चकोर-तोते-कबूतर-हंस को घोड़े, तीतर-बटेर को पैदल सिपाही, पर्वत-शिलाओं को रथ, झरनों को नगाड़े, भौंरों की गुंजार को भेरी और शहनाई तथा शीतल-मन्द-सुगन्धित वायु को वसन्त का दूत बताया है।[2] इस प्रकार ऋतुराज वसन्त का एक संश्लिष्ट चित्र अंकित किया गया है, जिसमें रमणीयता एवं मार्मिकता के साथ-साथ तीव्रगति एवं अद्भुत सौन्दर्य भी विद्यमान है। ऐसे ही पम्पासरोवर का वर्णन करते हुए उसे नाना रंग के कमलों, गूँजते हुए भ्रमरों, कलरव करते हुए जल-कुक्कुटों एवं हंसों, विहरते हुए चक्रवाक, वक एवं खगों, किनारे पर स्थित मुनि-गृहों शोभायमान लत-विटपों, पल्लवित एवं कुसुमित विविध वृक्षों, शीतल-मन्द-सुगन्धित पवन एवं कोयल की मधुर ध्वनि से पूरित अंकित किया गया है और इन प्राकृतिक पदार्थों के वर्ण द्वारा एक बिंबग्राही चित्र की रचना की गई है।[3]

गोस्वामी जी ने किष्किंधाकाण्ड में वर्षा एवं शरद का वर्णन करते हुए प्रकृति के रमणीय रूप के साथ-साथ उपदेशात्मकता की भी सुन्दर योजना की है, जिससे

---

[1] रामचरितमानस (अयोध्याकाण्ड), दोहा सं० २३५ से २३६ तक।

[2] वही (अरण्यकाण्ड), दोहा सं० ३७ से ३८ तक।

[3] वही, दोहा सं० ३९ से ४० तक।

प्रकृति द्वारा सर्वसाधारण को उचित शिक्षा भी प्राप्त होती है। इसीलिए वर्षा ऋतु का 'दामिनि दमक रही घन माहीं, खल की प्रीति यथा थिर नाहीं' अथवा 'बूंद अघात सहहिं गिरि कैसे, खल के बचन सन्त सह जैसे' आदि वर्णनों द्वारा शिक्षा दे रहा है। उसी तरह शरद ऋतु भी 'सरिता सर निर्मल जल सोहा, सन्त हृदय जस गत मद मोहा' अथवा 'पंक न रेनु सोह असि धरनी, नीति निपुन नृप कै जस करनी' द्वारा नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा दे रही है। ऐसे ही तुलसी ने लंकाकाण्ड में चन्द्र-वर्णन द्वारा प्रकृति के रमणीय आलंकारिक रूप की बड़ी ही सजीव झाँकी अंकित की है, जिसमें सुबेल पर्वत पर उदित हुए चन्द्र को कभी सिंह के समान निडर कहा है और कभी उसे पूर्व दिशारूपी पर्वत की गुहा में रहने वाला अत्यन्त प्रतापी, तेज एवं बल से सम्पन्न सिंह कहा है, जो अन्धकार रूप मत्त हाथी के कुम्भस्थल को विदीर्ण करके आकाश रूपी वन में विचरण कर रहा है। उसके समीप जो तारागण के रूप में मोती बिखरे हुए हैं, वे रजनी सुन्दरी के शृंगार हैं। इतना कहकर तुलसी ने चन्द्रमा के कलंक के बारे में बड़ी अद्भुत एव विलक्षण कल्पनाएँ की हैं, जिसमें कभी कलंक को भूमि की छाया कहा है, कभी राहु के द्वारा प्राप्त आघात का चिह्न कहा है, कभी ब्रह्मा द्वारा रति-मुख बनाने के लिए सार-भाग के निकाले जाने के कारण उसमें रह जाने वाला छिद्र ही कलंक के रूप में चमकता हुआ बताया है, कभी उसे विष कहा है और कहीं श्यामल राम की मूर्ति बताया है। इस तरह विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अपनी-अपनी भावनाओं के अनुसार चन्द्रमा के कलंक पर विचार व्यक्त कराये गये हैं।

तुलसी ने प्रकृति के रमणीय रूप के अतिरिक्त भयंकर रूप की भी झाँकी अंकित की है, जो राम के शर-संधान के समय उदधि में उठने वाली भयंकर ज्वाला के रूप में दिखाई देती है। उस समय मकर, उरग, मत्स्य आदि जलनिधि के सभी जन्तु व्याकुल होकर जलने लगते हैं। इस प्रकार तुलसी ने प्रकृति के रमणीय एवं भयंकर दोनों रूपों की अत्यन्त भव्य एवं संश्लिष्ट झाँकिया अंकित की हैं, जिनमें भारतीय वसुन्धरा की सुरम्य छटा के साथ-साथ देशगत एवं कालगत अनेक विशेषताएँ विद्यमान हैं।

(घ) **युग-चित्रण**—तुलसी ने 'रामचरितमानस' में अपने युग के सामाजिक जीवन, राजनीति, नैतिकता, धार्मिक विद्वेष, विलासिता, राज्य-समृद्धि पारिवारिक रीति-रिवाज, लौकिक व्यवहार, जन-दशा आदि का वर्णन करके युग-जीवन का एक मार्मिक चित्र अंकित किया है। 'मानस' के नगर-वर्णनों में तत्कालीन राजा एवं बादशाहों के शाही ठाट-बाट, समृद्धि, सौन्दर्य-प्रियता, हास-विलास, मनोरंजन आदि का पता चल जाता है। नगरों के विशाल भवन, दुर्ग एवं गगनचुम्बी प्रासादों के वर्णन द्वारा तुलसी-युग के भवनों, दुर्गों आदि का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। विवाह-सम्बन्धी रीति-रिवाज, भोज, खाद्य-सामग्री आदि का वर्णन तत्कालीन सामाजिक जीवन की ओर संकेत कर रहा है। साथ ही 'मानस' में वर्णित जन्म, विवाह, मृत्यु आदि के संस्कारों में तत्कालीन प्रथाओं का भली प्रकार ज्ञान हो सकता है। बरात में शहनाई

का वर्णन मुसलमानी प्रथा का द्योतक है तथा चौतनी या चौकोनी टोपी, झगुली आदि का पहनावा मुस्लिम पोशाक की ओर संकेत कर रहा है। पंचवटी में 'मधुकर मुखर भेरि सहनाई' कहकर तुलसी स्पष्ट ही मुस्लिम-कालीन शहनाई की ओर संकेत कर रहे हैं, क्योंकि राम के समय में शहनाई का निर्माण नहीं हुआ था। ऐसे ही तुलसी ने उत्तरकाण्ड में कलियुग की दुरवस्था का चित्रण करते हुए तत्कालीन सामाजिक जीवन का एक जीता-जागता चित्र प्रस्तुत किया है, जिसमें चारों वर्णों और आश्रमों के लुप्त होने तथा श्रुति-विरोधी नर-नारियों के रहने का उल्लेख किया गया है। ब्राह्मणों को वेद बेचने वाला, राजा को प्रजा का भक्षण करने वाला बताया गया है। सभी मनमाने ढंग से चलने वाले तथा गाल बजाने वालों को ही विद्वान् कहा गया है। आडम्बरपूर्ण एवं दम्भी जीवन व्यतीत करने वाले सन्त बताये गये हैं। उस समय वही बुद्धिमान बताया गया है जो पराया धन हरण करने में निपुण हो और वही गुणी कहा गया है जो झूठा और मसखरा हो जो अमंगल वेश धारण करते हों और भक्षाभक्ष का विचार न करते हों। उनको ही योगी, सिद्ध एवं पूज्य कहा है। इसी भाँति नारी, शूद्र, गुरु, शिष्य, माता-पिता, सन्तान, तेली, कुम्हार, चाण्डाल आदि समाज के सभी वर्गों के व्यक्तियों का वर्णन करते हुए तुलसी ने तत्कालीन युग का एक संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया है, जिसमें तत्कालीन जीवन के अन्तर्गत व्याप्त आडम्बरप्रियता, वंचकता, जड़ता, ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थपरता, विलासिता, वर्णसंकरता, अधार्मिकता, निरक्षरता, अत्याचार, अनाचार आदि का निरूपण मिलता है। डा० रामकुमार वर्मा ने ठीक ही लिखा है कि "तुलसीदास ने 'मानस' के उत्तरकांड में कलियुग का जो वर्णन किया है, व उन्हीं के समय की तत्कालीन परिस्थिति थी। उस अंश को पढ़कर ज्ञात होता है कि कवि के मन में समाज की उच्छृंखलता के लिए कितना क्षोभ था इसी क्षोभ की प्रतिक्रिया उनके लोकशिक्षक समाज-चित्रण के आदर्श में है।"[1] अतः यह निर्विवाद सत्य है कि तुलसी के 'मानस' में तत्कालीन युग के जीवन की समग्र झांकी मिल जाती है।

(ङ) भाव एवं रस का निरूपण—'रामचरितमानस' में विविध भावों से युक्त नव रसों का सहज उद्रेक बड़ी सजीवता एवं सफलता के साथ हुआ है। 'मानस' का प्रत्येक सोपान विविध रसों से परिपूर्ण है, जिसमें तुलसी की कारयित्री प्रतिभा के साथ-साथ उर्वर कल्पना एवं उत्कृष्ट भावुकता के दर्शन होते हैं। राम और सीता के पुष्पवाटिका मिलन सम्बन्धी वर्णन में यदि संयोग शृंगार के दर्शन होते हैं, तो अशोक-वाटिका में निवास करती हुई विरहिणी सीता के वियोग-वर्णन में विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन मिलता है। ऐसे ही दशरथ-मरण पर रानियों के शोक-विह्वल विलाप में करुण रस की व्यंजना हुई है तो धनुष-यज्ञ के अवसर पर लक्ष्मण की दर्पोक्तियों में वीर रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। ऐसे ही नारद-मोह के वर्णन में हास्य रस की

---

[1] हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ०, ४४३।

व्यंजना मिलती है, तो परशुराम की गर्वोक्तियों में रौद्र रस का स्वरूप भी विद्य है। इसी भाँति शिवजी की बरात के चित्रण में भयानक रस की मधुर व्यंजना हुई तो खर-दूषण, मेघनाद और राम-रावण के युद्ध के अवसर पर जम्बुक, भूत-पिशाच आदि द्वारा हड्डी, मांस, चर्बी आदि के भक्षण का वर्णन करते हुए वीभत्स का भी उल्लेख किया गया है। ऐसे ही राम के विराट् रूपों के निरूपण में यदि अद् रस की व्यंजना हुई है, तो भक्ति-निरूपण, राम-स्तोत्र, शिव-स्त्रोत्र आदि में शान्त की भी व्यंजना हुई है। इसी प्रकार तुलसी ने निर्वेद, शंका, ग्लानि, श्रम, अमू धृति, आलस्य आदि विविध संचारी भावों; कायिक मानसिक, आहार्य एवं सात्ति अनुभावों आदि का बड़ा ही सजीव एवं सरस वर्णन किया है। जैसे—'लीन्ह लाइ जनक जानकी' में मोह है, सभय हृदय विनवति जेहिं तेही' में विषाद है, 'जग बो को मोहिं समाना' में मद है, 'सुधि न तात सीता की पाई' में स्मृति है, 'पाहि कहि पाहि गुसाईं' में दैन्य है तथा 'उठे राम सुनि प्रेम अधीरा, कहुँ पट कहुँ नि धनु तीरा' में आवेग है। ऐसे ही अनेक भावों की सुन्दर व्यंजना 'मानस' में हुई यद्यपि 'मानस' में विविध भावों एवं सभी रसों का सुन्दर निरूपण हुआ है, तथ इसका अङ्गी रस कौन-सा है? इस पर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान इसे रस-प्रधान मानते हैं, कुछ शान्त रस-प्रधान बताते हैं और कुछ भक्ति रस-प्र स्वीकार करते हैं। किन्तु डा० शम्भूनाथ सिंह का मत है कि "मानस में जो प्र रस है, वह अलौकिक शृङ्गार रस ही है और इसी को गौड़ीय वैष्णव आलङ्कारिकों भक्ति रस कहा है।" अतः अन्य सभी रसों की अपेक्षा 'मानस' में भक्ति रस का प्राधान्य है, यही 'मानस' का अङ्गी रस है तथा अन्य सभी रस इसके अङ्ग रू आये हैं। निस्संदेह 'मानस' में भाव एवं रस का निरूपण अत्यन्त गम्भीर एवं मार्मि है। इसमें सर्वत्र रसान्विति के दर्शन होते हैं और सरस एवं रमणीय स्थलों बहुलता होने के कारण इसमें सहृदयों को रसाप्लावित करने की अपूर्व क्षमता दिख देती है।

(च) महान् उद्देश्य—प्रत्येक महाकाव्य किसी न किसी महान् उद्देश्य से प्रे होकर ही लिखा जाता है। इसी कारण वह अन्य काव्यों की अपेक्षा कहीं अधि प्रभावोत्पादक एवं सर्वजनग्राह्य होता है। उद्देश्य की दृष्टि से 'मानस' का अध्य करने पर तीन बातें स्पष्ट ज्ञात होती हैं। प्रथम तो यह है कि 'स्वान्तः सुखाय तुल रघुनाथ गाथा, भाषा निवन्धमतिमंजुलमातनोति' कहकर अथवा 'भाषा बन्ध क में सोई, मोरे मन प्रबोध जेहि होई' कहकर तुलसी ने आत्म-प्रबोध के लिए अप अपने अन्तःकरण के सुख के लिए 'मानस' की रचना की है। दूसरे, कीरति भणि भूति भल सोई, सुरसरि सम सब कर हित होई' कहकर तुलसी ने उसी 'भणिति काव्य को श्रेष्ठ कहा है, जिससे सभी का हित हो। अतः कवि ने लोक-हित अभिलाषा से यह काव्य लिखा है, यह भी पता चलता है। तीसरे, 'प्रभु सुजस, सं भनिति भनि होइहि सुजन मनभावती' कहकर यह भी संकेत किया है कि राम के सु

का वर्णन करने से ही कोई काव्य सज्जनों के मन को अच्छा लगने वाला बनता है। अतएव ऐसा पता चलता है कि राम-भक्ति का प्रचार करने के लिए ही यह काव्य लिखा गया है। उक्त तीनों विचारों को तनिक गहराई के साथ देखें तो पता चलेगा कि तीनों में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि तीनों विचारों के मूल में एक ही भाव, एक ही लक्ष्य एवं एक ही उद्देश्य विद्यमान है। कवि को राम की भक्ति से ही लोक-कल्याण दिखाई देता है, जिसे देखकर ही उसके अन्तःकरण को भी सुख मिल रहा है। अतएव 'स्वान्तःसुखाय', 'सबकर हित' तथा 'प्रभु-सुजस-निरूपण' तीनों ही बातें 'लोकहित' की ओर इंगित करती हैं। इसीलिए 'मानस' का उद्देश्य 'लोकहित' है, जिससे प्रेरित होकर ऐसे महान् लोकोपकारी काव्य की रचना हुई है और अपने इसी महद्उद्देश्य से युक्त होने के कारण ही 'मानस' आज भी कलि कलुष' का विभंजन करता हुआ सर्वसाधारण के कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर रहा है।

✓ **(छ) कलाभिव्यक्ति**—'मानस' तुलसी की महती काव्य-प्रतिभा एवं वलवती प्रेरणा-शक्ति से उद्भूत होने के कारण उन्नत एवं उच्च कोटि की काव्य-कला से सम्पन्न है। इसका काव्य-कौशल कथानक-योजना, वस्तु-व्यापार-वर्णन, भाव-व्यंजना, सरस सम्वाद आदि के अन्तर्गत तो हैं ही, किन्तु सबसे अधिक कौशल उन मार्मिक स्थलों के चुनाव में दिखाई देता है, जिनको काव्य में स्थान देकर कवि ने सरसता एवं रमणीयता की वृद्धि की है। आचार्य शुक्ल ने उन मार्मिक स्थलों में से जनक की वाटिका में राम-सीता का परस्पर दर्शन, राम-वन-गमन, दशरथ-मरण, भरत की आत्मग्लानि, वन के मार्ग में स्त्री-पुरुषों की सहानुभूति, युद्ध, लक्ष्मण को शक्ति लगना आदि अधिक हृदय को स्पर्श करने वाला वताया है।[1]

'मानस' की अवधी भाषा भी तुलसी की विलक्षण काव्य-प्रतिभा एवं अद्भुत कला-कुशलता की द्योतक है। तुलसी ने काव्य-सरोवर का रूपक बनाते समय 'अरथ अनूप सुभाव सुभासा, सोइ पराग मरंद सुवासा' कहकर अनुपम अर्थ को पराग, सुन्दर भावों को मकरन्द और सुन्दर भाषा को सुगन्ध कहा है। 'मानस' की भाषा के लिए उक्त कथन पूर्णतया चरितार्थ होता है, क्योंकि 'मानस' की भाषा सर्व-जन-सुलभ, व्यावहारिक एवं मुहावरेदार होने के कारण सुगन्ध-स्वरूपा है। भाषा भावों की प्रेषणीयता में अत्यन्त सुखकर एवं सुलभ सिद्ध हुई है, क्योंकि इसमें प्रसंगानुकूल शब्दों का चयन हुआ है। साधारणतया संवादों की भाषा अत्यन्त सरल और सुबोध है, किन्तु तुलसी ने जहाँ दार्शनिक विवेचन किया है अथवा भक्ति-निरूपण किया है या राम एवं शिव सम्बन्धी स्तोत्र लिखे हैं, वहाँ पर परम्परागत समास-बहुला श्लिष्ट भाषा का प्रयोग किया है। शेष स्थलों पर तुलसी की अवधी भाषा जनसाधारण की बोलचाल की भाषा है, जिसमें कहीं-कहीं ब्रजभाषा होने का भी भ्रम हो जाता है।

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० १४२।

'मानस' की अलङ्कार-योजना भी तुलसी की उत्कृष्ट काव्य-कला की परिचायक है। तुलसी ने अलङ्कारों का प्रयोग सर्वत्र भावों के उत्कर्ष के साथ-साथ अपने कथन को अधिक मार्मिक एवं प्रभावशाली बनाने के लिए ही किया है और कहीं भी चमत्कार-प्रदर्शन के लिए कोई भी अलङ्कार नहीं अपनाया है। तुलसी ने अलङ्कारों के द्वारा रूप-सौंदर्य का चित्रण किया है, वस्तु-वर्णन में रमणीयता उत्पन्न की है तथा मानव हृदय के सूक्ष्म भावों को सरस एवं सजीव बनाने की चेष्टा की है। तुलसी ने उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टान्त, व्यतिरेक, अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति आदि विविध अलङ्कारों का प्रयोग बड़ी सफलता के साथ किया है। परन्तु सांगरूपकों के प्रयोग में तुलसी बेजोड़ हैं। तुलसी के सदृश लम्बे-लम्बे सांगरूपकों की योजना इतने प्रभावशाली ढङ्ग से अन्य कोई भी कवि नहीं कर सका है। तुलसी का 'मानस-रूपक' तो हिन्दी की अलङ्कार-योजना का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है, जिसमें चित्रोपमता के साथ-साथ स्वाभाविकता, निर्दोषता एवं पूर्णता के सम्यक् दर्शन होते हैं।

'मानस' का छन्द-विधान भी तुलसी की समुन्नत कलात्मकता का द्योतक है। तुलसी ने 'मानस' में मात्रिक एवं वर्णिक दोनों प्रकार के छन्दों का सफल प्रयोग किया है। मात्रिक छन्दों में से तुलसी ने चौपाई, सोरठा, दोहा, हरिगीतिका, तोमर, त्रिभंगी और चौपैया छन्द को अपनाया है और वर्णिक वृत्तों में से अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा, त्रोटक, भुजङ्गप्रपात, मालिनी, रथोद्धता, वसन्ततिलका, वंशस्थ, शार्दूलविक्रीड़ित, स्रग्धरा और नगरस्वरूपिणी छन्द का प्रयोग किया है। वर्णिक वृत्तों का प्रयोग तो सर्वत्र छन्द-शास्त्र के नियमानुकूल ही है, परन्तु मात्रिक वृत्तों का प्रयोग स्वच्छन्दता के साथ किया गया है, क्योंकि चौपाई छन्द में १६-१६ मात्राओं के स्थान पर कहीं-कहीं १५-१५ मात्राओं का प्रयोग मिलता है। साथ ही चौपाई छन्द के अन्त में 'यगण' के स्थान पर 'जगण' का भी प्रयोग किया गया है। ऐसे ही त्रिभंगी छन्द में ३२ मात्रा एवं अन्त में गुरु के स्थान पर कहीं २९ मात्राएँ, कहीं ३० मात्राएँ और अन्त में लघु का भी प्रयोग मिलता है। फिर भी तुलसी के अधिकांश छन्द भावानुरूप एवं प्रसगानुकूल हैं, उनमें सङ्गीत एवं लय के साथ-साथ भावाभिव्यंजकता एवं प्रभावोत्पादकता का गुण अत्यधिकता विद्यमान है।

सारांश यह है कि तुलसी का 'रामचरितमानस' अद्भुत काव्य-सौष्ठव, सरल रचना-शैली एवं सर्वांगपूर्ण काव्य-कुशलता से परिपूर्ण है। यह काव्य तुलसी की काव्य-मर्मज्ञता, कलात्मकता, सरसता, भावुकता, गम्भीरता एवं रचना-निपुणता का द्योतक है। इसमें तुलसी कवि और उपदेशक दोनों रूपों में विद्यमान हैं। इसमें कवि ने मर्यादित शृङ्गार के साथ-साथ असीम शौर्य, अतुलित पराक्रम, अद्वितीय शील, उत्कृष्ट रूप सौंदर्य एवं उच्च कोटि के मानवता-प्रेम का निरूपण किया है। 'मानस' का निर्बल, निरीह एवं निराश्रित जनता से सम्बन्ध है, इसमें जगत् से अधीर एवं विक्षुब्ध मानव को भक्तवत्सल एवं सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान् के समीप पहुँचाकर आश्वस्त करने की अपूर्व शक्ति है और इसमें लोक-जीवन की गहराई तक पहुँचने की अद्भुत क्षमता है।

इसीलिए यह काव्य 'राम-राज्य' के उन्नत आदर्श की प्रेरणा देता हुआ विश्व में सुख एवं शान्ति के साथ-साथ लोकहित की प्रतिष्ठा कर रहा है।

'रामचरितमानस' का उत्तरकाण्ड

'रामचरितमानस' भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल प्रतीक है। भारतीय संस्कृति में सत्य, अहिंसा, धैर्य, क्षमा, मैत्री, अनासक्ति, इन्द्रिय-निग्रह, पवित्रता, निश्छलता, त्याग, उदारता, विराट् सत्ता के प्रति गहन आस्था, मानवता-प्रेम, परोपकार, लोक-संग्रह आदि जिन सात्विक भावों का सर्वाधिक प्रचार एवं प्रसार दृष्टिगोचर होता है, वे सभी भाव 'रामचरितमानस' में विद्यमान हैं। और गोस्वामी तुलसीदास ने भारतीय संस्कृति के उन सभी दिव्य भावों को आत्मसात् करके 'रामचरितमानस' के रूप में उन्हें अत्यन्त नूतनता एवं मौलिकता के साथ प्रदर्शित किया है। वैसे तो 'रामचरितमानस' की रचना 'नानापुराणनिगमागम' के आधार पर हुई है, परन्तु गोस्वामीजी ने 'अध्यात्मरामायण', 'वाल्मीकिरामायण', 'भुसुंडिरामायण', 'हनुमन्नाटक' और 'प्रसन्नराघव' को अत्यधिक महत्त्व दिया है और अधिकांश प्रसंगों का चयन उक्त ग्रन्थों के आधार पर ही किया है, परन्तु अपनी उर्वर प्रतिभा एवं दिव्य कल्पना का योग देकर उन्हें अधिकाधिक सुन्दर एवं सुरुचिपूर्ण बना दिया है। 'रामचरितमानस' का 'उत्तरकाण्ड' इस महाकाव्य का 'उपसंहार' है। इसमें कवि ने भरत-मिलाप, राम-राज्य, गरुड़-मोह, भुशुण्डि, ज्ञान-भक्ति, कलियुग आदि का वर्णन करके अपने इस काव्य को पुराणों की परम्परा में प्रस्थापित किया है, क्योंकि प्रायः पुराणों में 'कलियुग' का वर्णन अवश्य दिया जाता है। परन्तु अन्तर यही है कि पुराणों में यह वर्णन भविष्य के संकेत के रूप में मिलता है, जबकि गोस्वामीजी ने इसे वर्तमान काल के रूप में लिखा है। इस प्रकार 'उत्तरकाण्ड' में हमें राम-कथा से भिन्न तुलसी के कतिपय वे विचार भी मिलते हैं, जो भारतीय संस्कृति के उज्ज्वलतम अंग हैं और जिनका निरूपण कवि ने इस महाकाव्य को अधिकाधिका लोकप्रिय एवं लोकोपकारक बनाने के लिए किया है।

(१) उत्तरकाण्ड का वर्ण्य विषय—'उत्तरकाण्ड' तुलसी कृत 'रामचरितमानस' का एक विस्तृत सर्ग है। यद्यपि इसका आकार 'बालकाण्ड' और 'अयोध्याकाण्ड' से छोटा है, तथापि यह काण्ड 'मानस' के अन्य सभी काण्डों से विस्तृत है। इसमें 'राम-कथा' का उपसंहार है। इसके अन्तर्गत कवि ने विविध प्रसंगों को स्थान दिया है। जैसे, इसमें राम का अयोध्या आगमन, भरत-मिलाप, राम-राज्याभिषेक, विभीषणादि सखाओं की विदाई, राम-राज्य, राम-प्रताप, सन्त-असन्त-लक्षण, राम द्वारा अपने पुरजनों को उपदेश, वशिष्ठ और राम का मिलन, राम-कथा महात्म्य, काकभुशुंडि-चरित्र, गरुड़ मोह, काकभुशुंडि गरुड़-सम्वाद, हरि-माया, राम-काकभुशुंडि-संवाद, कलियुग-धर्म, ज्ञान-महिमा, भक्ति-चिन्तामणि का महत्त्व, ज्ञान और भक्ति का अन्तर, मानस-रोग, राम-भक्ति की महत्ता आदि प्रसंग आये हैं, जिन पर गोस्वामी तुलसीदास ने बड़ी तत्परता और तल्लीनता के साथ लिखा है। ये सभी प्रसंग जहाँ एक ओर गोस्वामीजी

के मौलिक चिन्तन एवं विशद अध्ययन के परिचायक हैं, वहाँ ये सभी प्रसंग सं दुःख-दग्ध मानवों के लिए अत्यन्त कल्याणकारी भी हैं। इन सभी प्रसंगों में भार संस्कृति के उज्ज्वल भाव-रत्नों की माला भी विद्यमान है और मानव-कल्याण हेतु बातों का भी निरूपण हुआ है, जिनको अपनाकर दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों पीड़ित मानव सहज ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। तुलसी ने 'उत्तरकाण्ड' में प्र उन सभी प्रश्नों को भी स्थान दिया है, जो प्रायः आज के सांसरिक कष्टों में फँसे मानवों के हृदय में उठा करते हैं। यहाँ गरुड़जी ने इन्हीं प्रश्नों के मध्य यह भी प्र किया है कि 'ज्ञान और भक्ति में क्या अन्तर है ?' इसका उत्तर देकर काकभुशुण्डि ने सभी मानवों के लिए 'रामभक्ति' की महत्ता का प्रतिपादन किया है, जो गोस्वा तुलसीदास का अपना प्रतिपाद्य विषय है और जिसके प्रचार एवं प्रसार के लि आपने 'रामचरितमानस' का प्रणयन किया है अतएव 'उत्तरकाण्ड' में तुलसी ने प्रसंगों को चुना है, जिनके माध्यम से वे यह बताना चाहते हैं कि शिव, ब्रह्मा, शुक सनक-सनन्दन-सनत्कुमार-सनातन, नारद आदि जो मुनि ब्रह्मतत्त्व के विचार में प चतुर हैं उन सबका यही मत है कि श्रीराम के चरण-कमल में स्नेह (भक्ति) हो चाहिए।[1]

(२) **उत्तरकाण्ड में राम-राज्य-निरूपण**—'उत्तरकाण्ड' में तुलसी ने राम राज्य की जो अनुपम कल्पना की है, उसी को महात्मा गांधी ने 'आदर्श राज्य' कहा यह 'आदर्श राज्य' की कल्पना तुलसी ने इसलिए की, क्योंकि उस समय राज्य-का अत्यन्त भ्रष्ट हो रहा था, प्रजा बहुत संत्रस्त थी और जन-जीवन नाना प्रकार के क से परिपूर्ण था। तुलसी की यह 'आदर्श राज्य' सम्बन्धी विचारधारा भारतीय संस्कृ की नींव पर स्थित है, क्योंकि इसमें तुलसी ने 'राम-राज्य' का जो निरूपण किया वह निस्सन्देह सम्पूर्ण विश्व के लिए अनुकरणीय है। तुलसी कहते हैं कि कि राम राज्य पर बैठते ही तीनों लोकों में अपार हर्ष छा गया और सभी व्यक्तियों सन् शोक दूर हो गये। उस समय कोई भी किसी से बैर नहीं करता था, क्योंकि राम प्रताप से विषमता का भाव जाता रहा था और सर्वत्र समता का भाव उत्पन्न गया था। सभी लोग वर्णाश्रम धर्म का पालन करने लगे थे। सभी वेद-मार्ग चलते थे और सदा सुखी रहते थे। उन्हें न किसी का भय था, न शोक था और कोई रोग था। सभी लोग दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों से मुक्त हो गये सभी व्यक्ति परस्पर प्रेम करते थे। सभी अपने-अपने धर्म का पालन करते थे वेदोक्त नीति का पालन करते हुए प्रेम सहित जीवन व्यतीत करते थे। उस समय अपने चारों चरणों सहित प्रतिष्ठित था। कोई भी व्यक्ति स्वप्न में भी पाप करता था। सभी स्त्री-पुरुष राम-भक्ति में लीन रहते थे और सभी परम गति

---

[1] सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म-विचार-विसारद ॥
सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम-पद पंकज नेहा ॥

अधिकारी हो गये थे। कभी किसी की अकाल मृत्यु नहीं होती थी अर्थात् सभी पूर्ण आयु भोगते थे। किसी को कोई पीड़ा नहीं होती थी। सभी के शरीर सुन्दर एवं स्वस्थ रहते थे। उस समय न कोई दरिद्र था, न दुःखी था, न दीन था, न दुर्बुद्धि था और न लक्षण-हीन था, अपितु सभी लोग बुद्धिमान एवं शुभ लक्षण सम्पन्न थे। सभी व्यक्ति दम्भरहित एवं धर्मरत थे। सभी दयावान, गुणवान, चतुर, पंडित और ज्ञानी थे। सभी कृतज्ञ थे और कोई भी व्यक्ति कपटी और धूर्त्त नहीं था। उस समय संसार भर में जड़-चेतन के अन्तर्गत काल, कर्म, स्वभाव और गुणों द्वारा किए हुए दुःख किसी को भी नहीं भोगने पड़ते थे। उस समय सात समुद्र एवं सात द्वीप वाली पृथ्वी के एकमात्र राजा राम ही थे, जिनकी अतुलित महिमा को जानकर सभी उनसे प्रेम करते थे। राम के उस राज्य की सुख-सम्पत्ति का वर्णन शारदा भी नहीं कर सकती, क्योंकि समस्त प्रजा-जन बड़े उदार एवं परोपकारी थे। सभी नर-नारी ब्राह्मणों के चरणों के दास थे। सभी पुरुष एक पत्नी-व्रत का पालन करते थे और स्त्रियाँ भी मन, वचन, कर्म से पति के हित में लीन रहती थीं। राम-राज्य में किसी को भी दण्ड नहीं दिया जाता था। दण्ड केवल संन्यासियों के हाथ में शोभा पाता था, प्रजा-जनों में कोई भेद-भाव न था, केवल नृत्य के ही अनेक भेद प्रचलित थे और 'जीतो' शब्द केवल मन के लिए ही सुनने में आता था। वन में वृक्ष सदैव फूलते एवं फलते रहते थे। वहाँ हाथी और सिंह साथ-साथ विचरण करते थे। अन्य पशु और पक्षी भी अपना स्वाभाविक वैर भुलाकर परस्पर प्रेम से रहते थे। वन में पक्षियों के झुण्ड कलरव करते थे, निर्भय चुगते और आनन्द-क्रीड़ा में लीन रहते थे। नाना प्रकार के पशु निडर होकर विचरण करते, चरते और आनन्द में मग्न रहते थे। सर्वत्र शीतल एवं सुगन्धित वायु धीरे-धीरे चलती थी। भौंरे फूलों का रस लेकर मधुर गुंजार करते थे। लता और वृक्ष माँगने पर तुरन्त पुष्प रस टपका देते थे। सभी गायें मनचाहा दूध देती थीं। पृथ्वी सदैव खेती से हरी-भरी रहती थी। त्रेतायुग में सम्पूर्ण सतयुग जैसे आचरण होते थे। यह जानकर कि जगत् की आत्मा भगवान् राम ही आजकल राजा हैं, पर्वतों ने विविध प्रकार की मणियों भरी खानें प्रकट कर दी थीं। सभी नदियाँ श्रेष्ठ, शीतल, निर्मल, स्वादिष्ट और सुखद जल लेकर बहती थीं। समुद्र अपनी मर्यादा में रहते थे और अपने-अपने तटों पर असंख्य रत्न डाल देते थे, जिन्हें मनुष्य सहज ही प्राप्त कर लेते थे। सभी तालाब कमलों से परिपूर्ण रहते थे। दसों दिशाएँ अपने-अपने भाग में अत्यन्त प्रसन्न रहती थीं। चन्द्रमा अपनी किरणें पृथ्वी पर फैलाकर कृषि आदि को पुष्ट करता था, सूर्य भी आवश्यकतानुसार धूप प्रदान करता था और मेघ माँगने पर जल देते थे।

(३) **उत्तरकाण्ड में सन्त-असन्त-निरूपण**—गोस्वामी तुलसीदास मर्यादावादी समाज-सुधारक सन्त थे। वे एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे, जिसमें सभी लोग वैदिक धर्म के अनुयायी हों, वर्णाश्रम का पालने करने वाले हों, सज्जन और धर्म में रत होकर राम-भक्त हों। इसीलिए आपने सन्तों एवं असन्तों के लक्षणों का वर्णन करके यह समझाया है कि मानव को अधिक से अधिक सन्तों के गुण धारण

करके 'सज्जन' बनना चाहिए और असन्तों अथवा असज्जनों के अवगुणों का परि कर देना चाहिए। इसीलिए वे कहते हैं कि सन्त और असन्त में क्रमशः चन्दन कुल्हाड़ी का सा अन्तर देखा जाता है, क्योंकि कुल्हाड़ी तो चन्दन के वृक्षों को का काम करती है, परन्तु चन्दन अपना गुण देकर उसे भी सुगन्धित बना देता इसीलिए चन्दन तो देवताओं के मस्तक पर चढ़ता है और जगत् को प्रिय होता जबकि कुल्हाड़ी के मुख को यह दण्ड मिलता है कि उसको आग में तपाकर घन से जाता है। अतः सन्त लोग क्षमाशील होने के कारण देवों के समान पूज्य होते और संसार भर को प्रिय होते हैं। वे कभी विषयों में लिप्त नहीं होते, शील सद्गुणों की खान होते हैं, सबसे समान भाव रखते हैं और अजातशत्रु होते हैं सदैव मन्द-रहित और वैरागी होते हैं तथा लोभ, अमर्ष, हर्ष और भय को त्याग जीवन बिताते हैं। उनका चित्त बड़ा कोमल होता है, वे दोनों पर दया करते हैं मन-वचन-कर्म से छल-कपट-रहित होकर भगवान की भक्ति करते हैं। वे सब मान-प्रतिष्ठा देते हैं और स्वयं मान-रहित रहते हैं। वे कामना रहित होते हैं निष्काम रहकर सदैव भगवन्नाम जपते रहते हैं। वे शान्ति, वैराग्य, विनम्रता मुदिता के घर होते हैं और शीतलता, सरलता और मित्रता का बर्ताव करते हैं। शम, इन्द्रिय-दमन, बारह प्रकार के नियम और नीति से कभी नहीं डिगते तथा कभी कठोर वचन नहीं बोलते। उनके लिए निन्दा और स्तुति दोनों समान होती उनका मन भगवच्चरणों में ही लीन रहता है, वे गुणों के धाम एवं सुखों की रा होते हैं तथा भगवान को भी प्राणों के समान प्रिय होते हैं।

तदनन्तर तुलसी ने असन्तों एवं असज्जनों के लक्षणों का निरूपण करते बतलाया है कि उनका साथ सदैव दुःखदाई होता है। उनके हृदय में सदैव अत्यधि जलन बनी रहती है, क्योंकि वे पराया ऐश्वर्य देखकर सदैव जलते रहते हैं। वे ज कहीं दूसरों की निन्दा सुनते हैं, वहाँ ऐसे प्रसन्न होते हैं मानो उन्हें नवनिधियाँ प्रा हो गई हों। वे काम, क्रोध, मद और लोभ में तत्पर रहते हैं; निर्दयी कपटी, कुटि एवं पापों के घर होते हैं और अकारण सब किसी से बैर रखते हैं। जो उनके भलाई करता हैं वे उसके साथ भी बुराई किया करते हैं। उनका लेन-देन व्यवहार झूठ से भरे रहते हैं। उनका झूठ ही भोजन और उनका चबैना भी झूठ होता है। वे मोर की तरह मीठे वचन बचन तो बोलते हैं, किन्तु उनका हृदय ऐ कठोर होता है कि महाविषैले सर्प को भी खा जाते हैं और उन पर तनिक भी विष प्रभाव नहीं होता। वे दूसरों से विद्रोह करते हैं, परस्त्री, पराया धन और परा निन्दा में आसक्त रहते हैं तथा नीच एवं पापी होते हैं। वे नरदेह धारण करके भी रा होते हैं। उनका लोभ ही ओढ़ना और लोभ ही बिछौना होता है। वे परस्त्री-गमन पेट भरने में ही लीन रहते है। उन्हें यमपुर का डर नहीं होता। यदि वे किसी बढ़ाई सुनते हैं तो लम्बी-लम्बी साँसें लेते हैं मानो जूड़ी चढ़ आई हो और जब किसी पर विपत्ति देखते हैं, तो ऐसे सुखी होते हैं मानो संसार भर के राजा हो

हों। वे स्वार्थपरायण होते हैं, अपने कुटुम्बियों से भी विरोध करते हैं, काम एवं मोह में आसक्त रहते हैं और बड़े क्रोधी होते हैं। वे माता, पिता, गुरु और ब्राह्मण को नहीं मानते। वे स्वयं तो गये गुजरे होते हैं और दूसरों को भी नष्ट किया करते हैं। वे मोहवश दूसरों से शत्रुता करते हैं, सन्तों का साथ नहीं करते और भगवच्चरित उनको अच्छे नहीं लगते। वे अवगुणों के समुद्र होते हैं। वे मन्दबुद्धि एवं कामी होते हैं। वे वेदों के विदूषक और पराये धन के स्वामी होते हैं। वे ब्राह्मणों, देवों एवं परमेश्वर सभी से द्रोह रखते हैं, उनके हृदय में पाखण्ड और कपट रहते हैं तथा वे ऊपर से सुन्दर वेष धारण किये रहते हैं।

(४) **उत्तरकाण्ड में ज्ञान-निरूपण**—गोस्वामी तुलसीदास ने 'उत्तरकाण्ड' में ज्ञान और भक्ति का निरूपण बड़ी विशदता के साथ किया है। तुलसी का विचार है कि वैसे तो भक्ति और ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों ही संसार-जन्य कष्टों को दूर करते हैं। परन्तु दोनों में पर्याप्त अन्तर है। जैसे, ज्ञान, वैराग्य, योग और विज्ञान ये सब पुरुषवर्ग के अन्तर्गत आते हैं और भक्ति स्त्रीवर्ग में आती है। पुरुष का प्रताप सब प्रकार से प्रबल होता है और स्त्री स्वभाव से ही दुर्बल एवं जड़ होती है। अतः जो पुरुष वैराग्यवान और धीरबुद्धि होता है वही स्त्री का परित्याग कर सकता है, परन्तु जो कामी, विषयों में लीन एवं भगवान् के विमुख रहते हैं वे नारी को त्याग नहीं सकते। बड़े-बड़े वैरागी एवं ज्ञानी मुनि भी मृगनयनी के चन्द्रमुख को देखकर विवश हो जाते हैं, क्योंकि यह नारी भगवान् की माया का ही रूप होती है। यह पुराणों एवं सन्तों का मत है कि कभी एक स्त्री दूसरी स्त्री के रूप से मोहित नहीं होती और माया तथा भक्ति दोनों ही स्त्री रूपा हैं। इसीलिए भक्ति को माया नहीं मोहती। इसके साथ ही भक्ति तो भगवान् की प्यारी है और माया एक नाचने वाली नारी है। उधर भगवान् सदैव भक्त के अनुकूल रहते हैं। इसी कारण माया अत्यन्त डरती रहती है। साथ ही जिसके हृदय में उपाधिरहित राम-भक्ति निवास करती है, उसे देखकर माया सकुचाती रहती है। इसीलिए सभी ज्ञानी-विज्ञानी लोग भक्ति की याचना किया करते हैं। परन्तु माया से मुक्त होने का साधन 'ज्ञान' भी हैं, जिसकी साधना करना अथवा जिसे प्राप्त करना अत्यन्त कठिन होता है।

तुलसी के ज्ञान-मार्ग का निरूपण करते हुए उसके सम्पूर्ण अंगों का वर्णन 'ज्ञान-दीपक' के रूपक द्वारा किया है। तुलसी लिखते हैं कि यदि भगवान् की कृपा से सात्विक श्रद्धा रूपी गाय हृदय रूपी घर में आकर निवास करे; अगणित कल्याण-कारक जप, तप, व्रत, यम, नियमादि रूपी हरी-भरी घास को चरे और फिर वह भाव रूपी बछड़ा पाकर पिन्हावे; निवृत्ति-रूपी नोई से उसे बाँधा जाय, तथा निर्मल मन रूपी अहीर विश्वास के पात्र में दूध दुहने का कार्य करे। परम-धर्ममय दूध दुहकर निष्कामता रूपी अग्नि में उसे औटाया जाय। फिर क्षमा और सन्तोष रूपी पवन गर्म दूध को ठण्डा करे। तत्पश्चात् समता रूपी जामन देकर धृति उसे जमावे। तदनन्तर प्रसन्नता रूपी मथने के बर्तन में डालकर विचार रूपी मथानी से, इन्द्रियदमन

रूपी खम्भे को आधार बनाकर तथा सत्य और प्रिय वाणी रूपी रस्सी से उस दही को मथकर निर्मल, सुभग एवं पवित्र वैराग्य रूपी मक्खन उसमें से निकाला जाय। फिर उस मक्खन को उबालने के लिए शुभाशुभ कर्मरूपी ईंधन द्वारा योग की अग्नि प्रकट की जाय। तब उसमें से ममता रूपी मैल के जल जाने पर ज्ञान रूपी घी शेष रह जाय और उस घी को बुद्धि ठंडा करे। फिर यह विज्ञानरूपिणी बुद्धि स्वच्छ घी को लेकर चित्त रूपी दीपक तैयार करे और उस दीपक को समता रूपी दृढ़ दीवट पर रखे। तदनन्तर कपास से जाग्रत, स्वप्न, शुषुप्ति नामक अवस्थाओं एवं सत्व, रज और तम तीनों गुण रूपी बिनोलों को निकालकर तुरीयावस्था रूपी रूई की सुन्दर कड़ी बत्ती बनावे। फिर उस तेजराशि विज्ञानमय दीपक को जलावे, जिसके समीप जाते ही सम्पूर्ण मदादि पतंग जलकर भस्म हो जायँ। तत्पश्चात् उस विज्ञानमय दीपक से निरन्तर 'सोऽहमस्मि' (मैं वह हूँ) की अखण्ड वृत्ति रूपी प्रचण्ड लौ निकलती रहे। तभी उस दीपक से आत्मानुभवजन्य सुख रूपी प्रकाश चारों ओर फैलेगा, जिससे संसार के उत्पादक भेद और भ्रम का नाश हो जायेगा। ऐसे विज्ञानमय दीपक से प्रबल अविद्या का मोहादि परिवार रूपी तम मिट जाता है और प्रकाश पाकर बुद्धि हृदय रूपी घर में बैठकर अविद्या की गाँठ को खोल डालती हैं। जब यह गाँठ खुल जाती है तभी जीव कृतार्थ हो जाता है।

इस तरह अज्ञान एवं अविद्या का विनाश ज्ञानरूपी दीपक द्वारा हो जाता है। परन्तु जिस समय यह अज्ञान की गाँठ छूटने लगती है, उस समय माया अनेक विघ्न उपस्थित करती है। यह पहले तो बहुत सी ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ भेजती है, जो आकर बुद्धि को लोभ दिखाती हैं। ये ऋद्धि-सिद्धि कलबल और छल करके ज्ञान-दीप के पास जाती हैं और अपने अंचल की वायु से दीपक को बुझा देती हैं। यदि बुद्धि परम सयानी हुई तो वह अनहित समझकर उनकी ओर दृष्टि नहीं करती। यदि उस माया-जन्य विघ्न से बुद्धि को बाधा न हुई, तब फिर देवता विघ्न डाला करते हैं। समस्त इन्द्रियों के द्वार इस हृदय-रूपी घर के झरोखे हैं और प्रत्येक झरोखे पर इन्द्रियों के देवता धरना दिए बैठे रहते हैं। ये देवता जब विषय रूपी हवा का झोंका आता हुआ देखते हैं, तब हठपूर्वक किवाड़ें खोल देते हैं और उससे विज्ञान-दीप बुझ जाता है। तब न गाँठ छूटती है और न प्रकाश रहता है, अपितु विषय रूपी पवन से बुद्धि भी व्याकुल हो जाती है। इन इन्द्रिय देवताओं को ज्ञान अच्छा नहीं लगता, क्योंकि विषयभोगों में इनकी भी निरन्तर आसक्ति रहती है। जब विषय-समीर बुद्धि को बेचैन कर देती है, तब भला ज्ञान-दीपक को कौन फिर से जला सकता है? तब फिर अज्ञानी होकर जीव अनेक प्रकार के सांसारिक कष्ट भोगने लगता है। इसीलिए माया को अत्यन्त दुस्तर कहा जाता है। इसी कारण 'ज्ञान' के बारे में कहना कठिन है, समझना कठिन है और साधना करना तो और भी कठिन है, क्योंकि 'घुणाक्षर न्याय' से यदि कभी सफलता भी मिल जाती है, तो फिर अनेक विघ्न उपस्थित हुआ करते हैं। इसीलिए ज्ञान के मार्ग को कृपाण की धार कहा जाता है, क्योंकि इस मार्ग से गिरते

देर नहीं लगती। परन्तु जो इस ज्ञान के मार्ग को निर्विघ्न निबाह लेता है वही अन्त में कैवल्य मुक्ति रूपी परमपद को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार तुलसी ने ज्ञान-मार्ग की जटिलता एवं दुरूहता का अत्यन्त रोचक एवं मार्मिक निरूपण किया है और यह सिद्ध किया है कि ज्ञान से मोक्ष तो मिलता है, परन्तु कितनी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। एक तो माया ज्ञानी पर अपना प्रभाव सरलता से स्थापित कर लेती है, क्योंकि ज्ञानी माया को अपने बल से जीतना चाहता है, तब माया भी बाधा डालने में अपना बल दिखाती है। दूसरे, साधक जैसे-जैसे कर्मज्ञान, साधनादि से अपने ऐश्वर्य, तेज, प्रताप आदि को बढ़ाता है वैसे ही वैसे उसमें, मान, मद आदि और भी प्रचण्ड रूप में बढ़ते जाते हैं, इससे वह ज्ञान-मार्ग में सफल नहीं होता और देवताओं के उपद्रवों का शिकार बन जाता है। तीसरे, जैसे ही जीव ज्ञान-दीप के प्रकाश में अपनी अविद्या-ग्रन्थि खोलने को उद्यत होता है, वैसे ही दीपक के बुझ जाने से वह फिर उसी अविद्या-तम का शिकार बन जाता है और ज्ञान-मार्ग द्वारा अपना कल्याण नहीं कर पाता। चौथे, ज्ञान-प्राप्ति के लिए तुलसी ने जिस सात्विकी श्रद्धा, धर्माचरण—जप, तप, योग, यम, नियम, निवृत्ति, विश्वास, निर्मल मन, निष्काम भाव, सन्तोष, क्षमा, धृति, मुदिता, विचार, दम, सत्य, विमल वैराग्य, विज्ञानरूपिणी बुद्धि आदि के द्वारा ज्ञान-दीपक के तैयार होने का वर्णन किया है, उसके लिए कितनी अधिक साधना एवं कितने जटिल विधान की आवश्यकता होती है, तब कहीं ज्ञान की प्राप्ति होती है और फिर ज्ञान प्राप्त होने का पता लगते ही माया अपनी ऋद्धि-सिद्धि द्वारा जो भयंकर उत्पात करती है उनसे बचना कठिन है। यदि इनसे भी रक्षा हो गई तो इन्द्रिय-झरोखों पर बैठे देवताओं से रक्षा करना बड़ा ही दुष्कर कार्य है। इसी कारण तो बड़े-बड़े तपस्वी, ज्ञानी-ध्यानी आदि साधना के मध्य में ही विचलित हो जाते हैं, पतित हो जाते हैं और ज्ञान-मार्ग में सफलता प्राप्त नहीं कर पाते। इसीलिए तुलसी ने 'ज्ञान का पंथ' कृपान के धारा' कहकर इसकी तीक्ष्णता, कठोरता एवं दुर्लभता की ओर संकेत किया है और बताया है कि सन्त, पुराण, निगम और आगम सभी यह कहते हैं कि ज्ञान-मार्ग के द्वारा कैवल्य पद प्राप्त करना दुर्लभ है।[1]

(५) **उत्तरकाण्ड में भक्ति-निरूपण**—गोस्वामीजी ने ज्ञान-मार्ग की जटिलता एवं दुरूहता का निरूपण करके यह बताया है कि भगवद्भक्ति ही वह साधन है जिससे बिना प्रयत्न एवं प्रयास किये हुए ही संसार की मूल अविद्या का नाश हो जाता है। जैसे भोजन भूख मिटाने के लिए किया जाता है और उस भोजन को जठराग्नि पचा देती है, वैसे ही हरिभक्ति सुगम एवं सुखदाई है। फिर भला ऐसा कौन मूढ़ होगा जिसे यह भक्ति अच्छी न लगे।[2] परन्तु यह भक्ति कैसी होनी चाहिए?

---

[1] अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥

[2] भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा॥
भोजन करिअ तृपिति हित लागी। जिमि सो असन पचवह जठरागी॥
असि हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥

इसके लिए तुलसी ने लिखा है कि यह सेवक-सेव्य भाव की भक्ति होनी चाहिए अपने को सेवक और भगवान् राम को सेव्य मानकर ही उनकी भक्ति करनी चाहि इस सेवक-सेव्य भाव की भक्ति के बिना संसार से उद्धार नहीं होता।[1] तुलसी दृष्टि में यह भक्ति चिन्तामणि के समान है, क्योंकि राम-भक्ति रूपी चिन्ता जिसके हृदय में निवास करती है, उसके हृदय में दिन-रात ऐसा परम प्रकाश है कि फिर उसे दीपक, घी, बत्ती आदि की आवश्यकता नहीं होती, मोह रूपी दरि उसके पास नहीं आती और लोभ रूपी पवन उसे कभी बुझा नहीं पाती। उससे अविद्या का अन्धकार मिट जाता है, समस्त मदादि पतंग समुदाय हार जाते हैं कामादि दुष्ट उसके पास नहीं फटकते। उसके लिए विष अमृत तुल्य हो जाता है शत्रु मित्र हो जाते हैं। इस भक्ति रूपी चिन्तामणि के बिना संसार में कोई सुख पाता और समस्त मानस-रोग इसी से नष्ट हो जाते हैं। जिसके हृदय में यह भ चिन्तामणि रहती है उसे स्वप्न में भी लेशमात्र दुःख नहीं भोगना पड़ता। इस संसार में वे ही चतुरों में श्रेष्ठ हैं, जो इस भक्ति रूपी चिन्तामणि को प्राप्त करने लिए प्रयत्न करते-कराते रहते हैं।

यह भक्ति रूपी चिन्तामणि प्राप्त कैसे होती है? इसके लिए तुलसी कहते कि वैसे तो यह चिन्तामणि संसार में प्रकट है, फिर भी राम-कृपा के बिना उसे प्राप्त नहीं कर पाता। इसकी प्राप्ति के उपाय भी बड़े सुगम हैं, परन्तु हतभागी उन्हें भी ठुकरा देते हैं। अब उसके उपाय बतलाते हुए तुलसी कहते हैं कि वेद-पु पवित्र पर्वत हैं, नाना प्रकार की रामकथाएँ उन पर्वतों की सुन्दर-सुन्दर खानें हैं सज्जन इन खानों के मर्म को जानने वाले हैं। सज्जनों की बुद्धि ही कुदाली है। और वैराग्य दो नेत्र हैं। जो प्राणी भाव सहित इसे खोजता है वह निश्चय ही सुखों की खान इस भक्ति रूपी चिन्तामणि को प्राप्त कर लेता है। अतः सम साधनों का फल सुन्दर राम-भक्ति ही है। परन्तु उस भक्ति को सन्तों के बिना प्राप्त नहीं कर पाता। इसलिए जो व्यक्ति सत्संग करता है, उसे यह रामभक्ति सर्व सुलभ हो जाती है। यहाँ 'ब्रह्म' ही क्षीरसागर है, 'ज्ञान' मंदराचल पर्वत है 'सन्त' देवता हैं, जो उस सागर का मंथन करके कथा रूपी अमृत निकाल लेते हैं जिसमें 'भक्ति' की ही मिठास भरी होती है। अतएव जो वैराग्य रूपी ढाल ले ज्ञान रूपी तलवार से मद-मोह रूपी शत्रुओं को मारकर विजय प्राप्त करती है 'भगवान् की भक्ति' ही है।[2]

---

[1] सेवक-सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि॥

[2] ब्रह्म पयोनिधि मन्दर ज्ञान सन्त सुर आहि।
कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहि॥
बिरति चर्म असि ज्ञान मद-लोभ-मोह-रिपु मारि।
जय पाइअ सो हरि भगति देखु खगेस बिचारि॥

इसी भक्ति के बारे में गोस्वामीजी ने भगवान् राम के मुख से अपने पुरजनों के सम्मुख भी यही कहलाया है कि जो लोग इहलोक और परलोक दोनों में सुख चाहते हैं, उन्हें यह दृढ़ता के साथ समझ लेना चाहिए कि यह भक्ति का मार्ग अत्यन्त सुगम और सुखदायक है। वेद और पुराणों में भी ऐसा ही कहा गया है, क्योंकि ज्ञान का मार्ग तो अत्यन्त कठिन है, उसकी सिद्धि में अहङ्कारादि अनेक विघ्न आते हैं। उसका साधन भी कठिन है, फिर उसमें मन के लिए कोई आधार भी नहीं होता। अनेक कष्ट झेलने पर कोई मुश्किल से ही उस मार्ग में सफल होता है, फिर भी भक्तिहीन होने से वह भगवान् को भी प्रिय नहीं होता। भक्ति स्वतन्त्र है और सभी सुखों की खान है, किन्तु बिना सत्संग के इसे कोई पा नहीं सकता। साथ ही बिना पुण्यसमूह के सन्त भी नहीं मिलते। वैसे सत्संग संसार का अन्त करने वाला होता है। मन-कर्म-वचन से ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणों के चरणों की पूजा करना संसार में सबसे बड़ा पुण्य है, जो कपट छोड़कर ऐसा करता है, उस पर मुनि और देवता भी प्रसन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त एक और गुप्त मत मैं सबके सामने कहता हूँ कि शंकर जी के भजन बिना कोई मनुष्य मेरी भक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार इस भक्ति-मार्ग में क्या परिश्रम है? न तो इसमें योग है, न यज्ञ, न तप, न जप और न लंघन करने पड़ते हैं। इसके लिए तो सरल स्वभाव होना चाहिए, मन में कुटिलता नहीं होनी चाहिए, जो कुछ मिले उसी में सन्तुष्ट रहना चाहिए और मेरा दास कहलाकर अन्य किसी पुरुष की आशा नहीं करनी चाहिए। अधिक क्या कहूँ? इस भक्ति को पाने के लिए शुभ आचरण करने चाहिए, कभी किसी से वैर-विरोध या झगड़ा नहीं करना चाहिए, किसी से कुछ आशा नहीं करनी चाहिए और सदैव निर्भय रहना चाहिए। ऐसे भक्त के लिए सभी दिशाएँ सदैव आनन्दमयी रहती हैं।

तत्पश्चात् तुलसी ने भक्त के उन आचरणों का भी उल्लेख किया है, जिनके फलस्वरूप भगवान् अपने भक्त के वश में रहते हैं। यहाँ श्रीराम कहते हैं कि उसे अनारम्भ अर्थात् सभी प्रकार के उद्योगों का परित्याग करने वाला होना चाहिए, अनिकेत अर्थात् घर-हीन होना चाहिए, अमानी अर्थात् मान-रहित होना चाहिए, अनघ अर्थात् निष्पाप होना चाहिए, अरोष अर्थात् क्रोधहीन होना चाहिए, दक्ष और विज्ञानी होना चाहिए, उसका प्रेम सदैव सज्जनों के संसर्ग में होना चाहिए, उसे स्वर्गपर्यन्त सम्पूर्ण विषयसुख और मोक्ष को भी तृण के समान तुच्छ समझना चाहिए, उसे न तो कभी हठ करनी चाहिए और न कभी शठता तथा सभी प्रकार के कुकर्मों से सदैव दूर रहना चाहिए। इस प्रकार जो भक्त मेरे गुणसमूह और नाम में लीन रहता है, ममता-मोह को त्याग देता है, वह परानन्द राशि को प्राप्त होता है और उसका सुख वही जानता है।

यही बात मुनि वशिष्ठ भी कहते हैं कि जप, तप, नियम, योग, वर्णाश्रम-धर्म, वेदोक्त अनेक शुभकर्म, ज्ञान, दया, दम, तीर्थस्थान आदि जितने भी धर्म-कर्म वेदों और सज्जनों ने बताये हैं तथा अनेक शास्त्र, वेद और पुराण पढ़ने एवं सुनने का एक

ही फल है कि भगवान् के चरणों में निरन्तर प्रेम होना चाहिए। यही समस्त साध का सुन्दर फल है। भला कहीं मैले से धोने से मैल छूट सकता है? क्या जल मे मथने से कोई घी पा सकता है? अतः बिना प्रेमा-भक्ति रूपी जल के अन्तःकरण क मैल कभी दूर नहीं होता। इसी कारण वही सर्वज्ञ है, वही तत्त्वज्ञ है, वही पंडित है वही गुणों का घर है, वही अखण्ड विज्ञानी है और वही चतुर एवं समस्त शुभ लक्ष से युक्त है, जिसका प्रेम भगवान् के चरण-कमलों में है।

इसीलिए काकभुशुंडिजी ने स्पष्ट कहा है कि माया की भारी भयङ्कर औ बलिष्ठ सेना इस संसार में व्याप्त है, काम, क्रोधादि इसके प्रबल सेनापति हैं। दंभ, कपट और पाखण्ड इसके योद्धा हैं। यह माया वैसे तो भगवान् राम की दासी है औ समझने से वह असत्य भी अतीत होती है, परन्तु मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि हे गरुणजी! यह माया राम की कृपा के बिना कभी नहीं छूटती। इसलिए भगवान् रा के भजन बिना जो कोई निर्वाण पद पाना चाहता है, वह मनुष्य होकर भी पूँछ औ सींग के बिना पशु है। अतः भगवद्भक्ति के बिना जीवों का क्लेश कभी नहीं मिटता। भगवद्भक्त को कभी अविद्या माया नहीं व्यापती, क्योंकि प्रेम की प्रेरणा से उ विद्यामाया घेरे रहती है और इसी कारण भक्त का कभी नाश नहीं होता। इसीलिए भगवान् राम ने काकभुशुंडि से भी कहा है कि "अब माया से उत्पन्न सं भ्रम तुमको नहीं व्यापेंगे। तुम मुझे अनादि, अजन्मा, मायिक गुणों से रहित औ दिव्य गुणों की खान ब्रह्म समझना। हे काक! सुनो, मुझे भक्त सदैव प्रिय है, ऐ विचार कर तन, वचन और मन से मेरे चरणों में अटल प्रेम करना, इतना ही न मैं तुझसे बराबर सत्य कहता हूँ कि मुझे सेवक के समान कोई भी प्रिय नहीं है। भक्ति-हीन ब्राह्मण ही क्यों न हो, वह मुझे कदापि प्रिय नहीं है और भक्ति वाल अत्यन्त नीच भी प्राणी क्यों न हो, वह मुझे प्राणों के समान प्रिय है ऐसी मेरी आद है। इसलिए मैं तुझसे सत्य कहता हूँ कि पुरुष हो या नपुंसक, स्त्री हो या चराच कोई जीव, जो भी व्यक्ति कपट छोड़कर मुझे सर्वतोभावेन भजता है, वही मुझे पर प्रिय है। मुझे पवित्र सेवक प्राणप्रिय होता है। ऐसा विचार कर सब आशा-भरोस छोड़कर मेरा भजन करो। यह है तुलसी की अचल एवं अटल भक्ति, जिसका विश निरूपण उत्तरकाण्ड में किया गया है।

(६) उत्तरकाण्ड में दार्शनिक विचार—उत्तरकाण्ड में तुलसी के दार्शनि विचार भी अत्यन्त स्पष्टता, गुरुता एवं मार्मिकता के साथ व्यक्त हुए हैं। तुलसी ने सर्वप्रथम 'राम' को ही यहाँ ब्रह्म कहा है, जो नर रूप धारण करके रघुकुल के राजा बने हैं।[1] तुलसी के ये ही राम सर्वत्र व्यापक हैं, ब्रह्म हैं, माया आदि विकारों से रहित हैं, वाणीपति हैं, माया मोह से परे हैं और परमेश्वर हैं। वे ही व्यापक और व्याप्त हैं, अखण्ड हैं, अनन्त हैं, अखिल अमोघ शक्तिसम्पन्न हैं, षडैश्वर्यसम्पन्न

---

[1] परमातमा ब्रह्म नर रूपा। होइहिं रघु कुल भूषन भूपा॥

निर्गुण हैं, अखिल ब्रह्माण्डादि से भी बड़े हैं, वाणी और इन्द्रियों से परे हैं, सर्वदर्शी हैं, निन्दा व दोष से रहित हैं, अजित हैं, ममता रहित हैं, निराकार हैं, मोहरहित हैं, सुख की राशि हैं, प्रकृतियों से परे हैं, सर्वसमर्थ हैं, सर्वउरवासी हैं, चेष्टारहित हैं, विकारहीन हैं, अविनाशी हैं और भक्तों के लिए नृप का शरीर धारण करके साधारण मनुष्यों के समान पावन चरित्र करते हैं, वे सीतापति अखण्ड ज्ञानस्वरूप हैं। माया उनके ही वश में रहती है, सर्वथा स्वतन्त्र हैं और एक हैं। वे भक्तवत्सल भी हैं। इतना ही नहीं, तिर्यक्, देव, मनुष्य, असुर आदि सम्पूर्ण जड़ और चेतन जीवों के वे ही उत्पादक हैं और सभी जीवों पर सदैव समान दया भाव रखते हैं, परन्तु जो सर्वस्व त्याग कर उनकी शरणागति में जाता है उसे वे अधिक प्रेम करते हैं। वे अनन्त कामदेवों के समान सुन्दर शरीरधारी हैं। अनन्त कोटि दुर्गाओं के समान असंख्य शत्रुओं के विनाशक हैं। असंख्य इन्द्रों के समान उनका भोग-विलास है और असंख्य आकाशों के समान वे अनन्त विस्तार वाले हैं। असंख्य पवनदेवों के समान उनका विशाल बल है। असंख्य सूर्यों के समान उनका प्रकाश है। असंख्य चन्द्रमाओं के समान वे सुन्दर, शीतल एवं शयनकारी हैं। असंख्य कालों के समान वे अत्यन्त दुस्तर, दुर्गम एवं दुरन्त हैं और असंख्य अग्नियों के समान वे दुराधर्ष और षडैश्वर्यसम्पन्न हैं। वे प्रभु असंख्य पातालों के समान अथाह हैं तथा असंख्य यमों के समान विकराल हैं। उनका नाम अनन्त कोटि तीर्थों के समान पवित्र करने वाला है और सम्पूर्ण पाप-समूह का नाशक है। वे राम करोड़ों हिमालयों के समान अचल एवं अगणित समुद्रों के समान गहरे हैं। वे असंख्य कामधेनुओं के समान समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं। असंख्य शारदाओं के समान उनमें चतुरता है। असंख्य ब्रह्माओं के समान उनमें सृष्टि-रचना की निपुणता है। करोड़ों विष्णुओं के समान वे पालनकर्त्ता हैं। असंख्य रुद्रों के समान वे संहारकर्त्ता हैं। असंख्य कुबेरों के समान वे धनवान हैं। करोड़ों मायाओं के समान वे माया-प्रपंच के आधार हैं। असंख्य शेषों के समान ब्रह्माण्डों का बोझ धारण करने वाले हैं। और कहाँ तक कहा जाय, जगदीश, राम, सीमा और उपमा से रहित हैं। इस प्रकार तुलसी ने ब्रह्म राम का अत्यन्त विस्तारपूर्वक निरूपण किया है।

दूसरे, 'जीव' के बारे में तुलसी का विचार यह है कि जीव ईश्वर का अंश है, अविनाशी हैं, चेतन हैं, स्वभावतः निर्मल है और सुखराशि है। परन्तु माया के वश में होते ही यह तोते और बन्दर की तरह अपने ही से बँध जाता है। जब से जड़ माया और चेतन जीव का गठबन्धन हुआ है, तभी से यह जीव संसारी हो गया है। अब जब तक इसकी यह गाँठ नहीं छूटती तब तक यह सुखी नही हो सकता।[1] अतः जड़ चेतन सहित जितने भी जीव हैं वे सब माया के वशीभूत हैं। यदि सभी जीवों

---

[1] **ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥**
सो माया बस भयेउ गुसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं ॥
तब ते जीव भएउ संसारी। छूट न ग्रन्थि न होइ सुखारी ॥

को एकसा अखण्ड ज्ञान रहे, तो फिर ईश्वर और जीव में भेद कहाँ रह सकता है? माया के वश में रहने से ही जीव अभिमानी होता है। जीव तो संसार में पराधीन है। वह ईश्वर तो एक है, किन्तु जीव अनेक हैं। इस संसार में आकर यह अविनाशी जीव चार खानि और चौरासी लाख योनियों में चक्कर काटता रहता है। माया की प्रेरणा से काल, कर्म, गुण और स्वभाव से घिरा हुआ यह जीव सदा फिरता रहता है। परन्तु जब ईश्वर की करुणा होती है, तब इसे बड़े भाग्य से मनुष्य शरीर प्राप्त होता है। यह मनुष्य का शरीर ही जीव के लिए भवसागर पार करने के लिए बेड़ा है। भगवान् की कृपा अनुकूल पवन है और सद्गुरु दृढ़ नाव का कर्णधार है। इतना जानकर भी जो जीव भवसागर से नहीं पार होता, वह कृतघ्न है, मंदबुद्धि है और आत्महत्या करने वालों की गति को प्राप्त होता है। भवसागर से पार होने के लिए राम-कथा का नित्य श्रवण करना सबसे सरल उपाय है। अतः संसार में फिर ऐसा कौन कान वाला होगा जिसे राम का चरित्र अच्छा न लगे! जिनको राम-कथा नहीं भाती, वे जीव जड़ हैं और अपनी आत्मा की हत्या करने वाले हैं। यही कारण कि हजारों मनुष्यों में से कोई एक धर्मव्रत का पालन करने वाला होता है। करोड़ों धर्मात्माओं में से कोई एक विषयों से विमुख और वैराग्य में अनुरक्त होता है। करोड़ों वैराग्य-सम्पन्नों में से कोई एक पूर्ण ज्ञान प्राप्त करता है। करोड़ों ज्ञानियों में से कोई एक जीवन्मुक्त होता है और हजारों जीवन्मुक्तों में से भी कोई एक जीव सभी सुखों की खान ब्रह्म में लीन विज्ञानी होता है। इस प्रकार संसार में ब्रह्म में लीन होने वाले विज्ञानी जीव का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। इसके अतिरिक्त धर्मात्मा, वैरागी, ज्ञानी जीवनमुक्त और ब्रह्म-लीन विज्ञानी जीवों में से भी वह प्राणी मिलना और भी दुर्लभ है, जो मदमाया रहित राम-भक्ति में परायण हो। इसी कारण तुलसी की दृष्टि में रामचन्द्र के भजन बिना यदि कोई जीव निर्वाण प्राप्त करना चाहता है, तो वह ज्ञानी भी बिना पूँछ एवं सींग का पशु है, क्योंकि जैसे चन्द्र एवं तारों से अन्धकार नही मिटता और सूर्य के उदय होते ही सारा तम नष्ट हो जाता है, वैसे ही जीव राम-भक्ति से ही मोक्ष पा सकता है, क्योंकि हरिभजन के बिना जीवों का क्लेश नहीं मिटता और भगवद्भक्त को अविद्या माया नही सताती। इसीलिए तुलसी फिर कहते हैं कि मनुष्य शरीर के समान कोई शरीर नहीं है। चर-अचर सभी जीव इसकी याचना करते हैं। यह नरक, स्वर्ग तथा मोक्ष की सीढ़ी है और ज्ञान, वैराग्य भक्ति और कल्याण का देने वाला है। परन्तु मनुष्य-तन पाकर भी जो जीव भगवान् का भजन नहीं करते, किन्तु विषयों में अनुरक्त हो जाते हैं, वे मन्द ही नहीं अत्यन्त मन्द हैं और वे पारसमणि को हाथ से फेंक कर उसके स्थान पर काँच का टुकड़ा उठा लेते हैं।

तीसरे, 'संसार' के बारे मे तुलसी का यह विचार है कि सारा संसार और इसके चराचर जीव सब माया से उत्पन्न हुए हैं।[1] यह भगवान् की माया ही अनेक ब्रह्माण्ड

---

[1] मम माया सम्भव संसारा। जीव चराचर विविध प्रकारा ॥

एवं अनेक लोकों की रचना करती है। इस जगत् की विलक्षणता का वर्णन करते हुए काकभुशुण्डि कह रहे हैं कि मैंने भगवान् के उदर में कई विलक्षण ब्रह्माण्ड देखे, उन ब्रह्माण्डों में भी अनेक विलक्षण लोक देखे, जिनमें करोड़ों ब्रह्मा और शिव, अगणित तारागण, सूर्य और चन्द्रमा, अगणित लोकपाल, अगणित यम, अगणित काल, अगणित विशाल पर्वत और विस्तृत पृथ्वी, असंख्य समुद्र, नदी तालाब और वन देखे, जिनका आरपार नहीं था। और भी विचित्र सृष्टि का विस्तार देखा। देवता, मुनि, सिद्ध, नाग, नर, किन्नर और जड़-चेतन सहित चारों प्रकार के जीव भी देखे। जो कभी न देखा था, न सुना और जो मन में भी न समा सके, वह सब अपूर्व आश्चर्य देखा। प्रत्येक लोक में भिन्न-भिन्न विधाता, भिन्न-भिन्न विष्णु, शिव, मनु, दिगपाल, मनुष्य, गंधर्व, भूत, बेताल, किन्नर, राक्षस, पशु, पक्षी, व्याल, नाना जाति के देवता और दैत्य तथा विभिन्न जाति के जीव भी देखे। अनेक पृथ्वी, नदी, समुद्र, तालाब, पर्वत और पंचभौतिक सृष्टि वहाँ अन्य ही प्रकार की थी। प्रत्येक भुवन में पृथक्-पृथक् अवधपुरी, सरयू, नर-नारी, दशरथ, कौशल्या, भरतादिक चारों भाई भी देखे और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में मैं रामावतार और उनकी बाल-केलि देखता फिरा। इस तरह भगवान् की माया ही संसार की जननी है। इसीलिए इस संसार में कवि, कोविद और ज्ञानवान सभी लोग माया के वश में रहते हैं। इस माया का प्रभाव अतुलनीय है। इसी के काम, क्रोधादि साथी हैं। इसीलिए संसार में नारद, शिव, ब्रह्मा आदि कौन ऐसा है, जिसे काम ने अन्धा न किया हो, मोह ने सताया न हो, तृष्णा ने पागल न किया हो, क्रोध ने जलाया न हो, लोभ ने विडम्बना न की हो, मद ने टेढ़ा न किया हो, प्रभुता ने बहरा न बनाया हो और जिसे मृगनयनी के नेत्र-कटाक्ष रूपी बाण ने घायल न किया हो? यहाँ कोई भी ऐसा नहीं है, जिसे मान-मद ने पीड़ा रहित छोड़ा हो, युवावस्था के ज्वर ने जिसे संतृप्त न किया हो, ममत्व ने जिसका नाश न किया हो, मत्सर ने जिसके कलंक न लगाया हो और शोकरूपी पवन ने जिसे हिलाया न हो? यहाँ किसको चिन्ता रूपी साँपिन ने नहीं खाया है, किसे माया नहीं व्यापी, किस धैर्यशाली के शरीर रूपी लकड़ी में मनोरथ रूपी घुन नहीं लगा तथा पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा ने किसकी बुद्धि मलिन नहीं की? इस प्रकार इस जगत् में माया का परिवार बड़ा बलवान और असंख्य है। इससे ब्रह्मा और शिव भी डरते रहते हैं और का तो कहना ही क्या? माया की भारी भयंकर और बलिष्ठ सेना सारे संसार में व्याप्त है, जिसमें काम-क्रोधादि सेनापति हैं और दम्भ, कपट, पाखण्ड आदि योद्धा हैं। यह माया भगवान् राम की दासी है। वैसे असत्य है, फिर भी राम की कृपा के बिना यह नहीं छूटती और राम की कृपा भगवान के भजन से प्राप्त होती है।

चौथे, **'मोक्ष-साधन'** के बारे से तुलसी का स्पष्ट मत है कि ज्ञान-मार्ग द्वारा कैवल्य परमपद या मोक्ष पाना अत्यन्त दुर्लभ है, परन्तु राम-भजन के द्वारा स्वतः इच्छा न होने पर भी यह प्राप्त हो जाता है। जैसे, बिना भूमि के जल नहीं रह सकता,

वैसे ही बिना भगवद्भक्ति के मोक्ष-सुख नहीं मिलता। इसीलिए तुलसी यह है कि बड़े-बड़े चतुर व्यक्ति भी मुक्ति का निरादर करके भक्ति पर लुभाए हैं, क्योंकि भक्ति के बिना प्रयत्न और प्रयास के ही संसार की मूल अविद्या का हो जाता है। वह भक्ति भी सेवक-सेव्य-भाव की 'दास्य' भक्ति होनी चाहिए उन भगवान् राम के चरणों में अचल भक्ति होनी चाहिए, जो चेतन को जड़ जड़ को चेतन करने में सर्वथा समर्थ हैं। यह भक्ति जिसे प्राप्त हो जाती है हृदय में निरन्तर परम प्रकाश विद्यमान रहता है, वहाँ मोह रूपी दरिद्रता सकती और लोभ रूपी पवन उसे बुझा नहीं पाती। उसकी अविद्या का अन्धकार जाता है और कामादि दुष्ट उसके पास नहीं आते। यह भक्ति सदैव सन्तों के से मिलती है। साथ ही सद्गुरु के वचनों में दृढ़ विश्वास, विषयों से पूर्ण और श्रद्धा के उदय होने से भक्ति रूपी संजीवनी प्राप्त होती है, जो जीवों के मानस रोगों का नाश कर देती है। यह राम-भक्ति कब आती है? तुलसी जब मन नीरोग हो जाता है, हृदय में वैराग्य रूपी बल बढ़ जाता है, उत्तम रूपी भूख नित्य नवीन होकर बढ़ती जाती है, विषयों की आशा रूपी दुर्बलता रहती है और जब प्राणी निर्मल ज्ञान रूपी जल से स्नान करने लगता है, तभी हृदय में राम-भक्ति का उदय होता है। अतः शिव, ब्रह्मा, शुकदेव, सनकादिक, आदि सभी ब्रह्मतत्त्ववादियों का मत है कि भगवान् राम के चरण-कमलों में प्रेम चाहिए। इसके बिना सुख नहीं मिलता। भले ही संसार में जल के मथने से घी आये, रेत से तेल निकल आये, परन्तु यह अटल सिद्धान्त है कि भगवद्-भक्ति के संसार से कोई तर नहीं सकता अर्थात् मोक्ष के लिए एकमात्र भक्ति ही सबसे बड़ा सा

(७) **उत्तरकाण्ड में सामाजिक चित्रण**—तुलसी ने कलियुग के माध्यम से यहाँ सामाजिक स्थिति का अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है। तुल कथन है कि इस समय सभी सद्ग्रन्थ लुप्त हो रहे हैं, पाखण्डियों ने अपनी गढ़-गढ़ कर बहुत से मार्ग बना लिए हैं, सब लोग मोहवश हो गये हैं और गु को लोभ ने डस लिया है। चारों वर्णों एवं चारों आश्रमों के धर्म नहीं रह गये हैं सब स्त्री-पुरुष वेद के विरोध में लगे रहते हैं। ब्राह्मण वेदों के बेचने वाले और प्रजा को खा जाने वाले हो गये हैं। कोई भी वेद की आज्ञा नहीं मानता, जि अच्छा लगता है उसी को वेद मार्ग कहता है और जो गाल बजाता है वही कहलाता है। जिसके कार्यों का मूल ही मिथ्या है और जो ऐसे कार्यों एवं द अनुरक्त है उसी को सब सन्त कहते हैं। जो पराया धन हरण करे वही चतुर लाता है, जो दम्भ करे वही बड़ा आचारी है और जो झूठ बोले तथा उस हँसी दिल्लगी समझे वही बड़ा गुणवान् कहलाता है। जो शुद्धाचरण, सदाचार आचार-विचार से हीन हैं तथा वेदमार्ग का परित्याग किए हुए हैं, वे ही ज्ञानी वैरागी कहलाते हैं। जिनके बड़े-बड़े नाखून एवं बड़ी-बड़ी जटाएँ हों वे ही कहलाते हैं। जो अमंगल वेश और अमंगल आभूषण धारण करें तथा जो मद्य

आदि भक्ष्याभक्ष्य खाते हैं वे ही योगी और सिद्ध पुरुष माने जाते हैं, उनकी ही मान्यप्रतिष्ठा होती है और वे ही पूज्य माने जाते हैं। जो अपकारी एवं चुगलखोर हैं, उनका ही बड़ा महत्त्व है और वे ही प्रतिष्ठा के योग्य माने जाते हैं। जो मन, कर्म, वचन से झूठी डींग मारा करते हैं वे ही वक्ता कहे जाते हैं। सभी मनुष्य स्त्री के पूरे वश में होकर नट के वन्दर की तरह नाचते-फिरते हैं। ब्राह्मणों को शूद्र ज्ञानोपदेश करते हैं और जनेऊ डालकर कुत्सित दान लेते हैं। सभी मनुष्य काम, लोभ और क्रोध में तत्पर हो गये हैं और देवता, ब्राह्मण, वेद और सन्तों का विरोध करते हैं। सुन्दर गुणधाम एवं सुन्दर रूपसम्पन्न पति को छोड़कर अभागिनी स्त्रियाँ पर-पुरुष के साथ रति करती हैं। सुहागिनी स्त्रियाँ तो आभूषण-हीन रहती हैं और विधवाओं के नित्य नये शृंगार होते हैं। गुरु और शिष्य का सम्बन्ध अन्धे और बहिरे जैसा हो गया है, क्योंकि शिष्य सुनता नहीं और गुरु देखता नहीं। गुरु शिष्यों का धन तो हरण करते हैं, किन्तु उनका शोक हरण नहीं करते। माता-पिता बालकों को पास बुलाकर पेट भरने का धर्म सिखाते हैं। स्त्री-पुरुष ब्रह्मज्ञान के सिवा दूसरी बात ही नहीं करते और लोभवश कौड़ी के लिए विप्र और गुरु की हत्या करते हैं। शूद्र द्विजों से कहते हैं कि हम तुमसे क्या कम हैं और डाँटकर आँख दिखाते हैं जो परस्त्री में रत, कपट, चतुर, मोह-द्रोह-ममता में लिपटे हुए हैं वे ही मनुष्य अभेदवक्ता ज्ञानी कहलाते हैं। आप तो गये बीते हैं ही और जो कोई सन्मार्ग का प्रतिपालन करता है उसे भी वे नष्ट करते हैं। तेली, कुम्हार, चाण्डाल, भील, बहेलिए, कोल और कलवार जो वर्णों में नीच एवं अधम हैं, वे स्त्री के मरने पर अथवा सम्पत्ति के नष्ट हो जाने पर सिर मुँड़ाकर संन्यासी हो जाते हैं और वे ब्राह्मणों से अपनी पूजा कराते हैं। इस तरह वे इहलोक और परलोक दोनों नष्ट करते हैं। ब्राह्मण निरक्षर, लोभी, कामी, सदाचार-हीन, दुराचारी, शठ और नीच जाति की व्यभिचारिणी स्त्रियों के स्वामी हो गये हैं। शूद्र अनेक प्रकार के जप, तप, व्रत करते हैं तथा व्यास-गद्दी पर बैठकर पुराण कहते हैं। सभी लोग वर्णसंकर हो गये हैं और भिन्न-भिन्न मार्ग पर चलने लगे हैं। इसीलिए सभी लोग दुःख, भय, रोग, शोक और वियोग से कष्ट पा रहे हैं। मोह के वशीभूत लोग वैराग्य और विवेकयुक्त भगवद्भक्ति तथा वेदसम्मत मार्ग पर नहीं चलते और मोहवश अनेक मनमाने मार्ग कल्पित करके उन पर चलते हैं। संन्यासी लोग बहुत धन लगाकर घर और धनधाम सजाते हैं। वैराग्य कहीं दिखाई नहीं देता, उसे विषयों ने हर लिया। तपस्वी धनी और गृहस्थ दरिद्र हो गये हैं। लोग कुलीन एवं पतिव्रता स्त्री को निकाल देते हैं और मर्यादा त्याग कर दासी को घर में रख लेते हैं। जब ये ससुराल प्यारी लगी है तब से कुटुम्बी शत्रु रूप हो गये हैं। राजा पाप-रत हो गये हैं, उनमें धर्म नहीं रहा है और नित्य प्रजा को झूठा एवं निरपराध दण्ड देते हैं। मलिन होने पर भी धनी कुलीन माने जाते हैं। जनेऊ पहन कर लोग 'द्विज' बन जाते हैं और केवल नंगे रहने वाल 'तपस्वी कहलाते हैं। जो

व्यक्ति वेद और पुराणों को नहीं मानता, वही सच्चा भगवद्भक्त और सन्त लाता है। कवियों के झुंड के झुंड दिखाई देते हैं, पर संसार में दाता कहीं सुना नहीं जाता। गुण में दोष लगाने वाले बहुत हैं, किन्तु गुणी कोई भी नहीं देता। यहाँ बार-बार अकाल पड़ते हैं और अन्न के बिना सब लोग दुःखी होकर हैं। सर्वत्र कपट, हठ, दम्भ, द्वेष, पाखण्ड, मान, मोह, काम, मद आदि व्याप्त गए हैं। मनुष्य जप, तप, यज्ञ, व्रत, दान आदि धर्म तामसी वृत्ति से करते हैं। पृथ्वी पर जल नहीं बरसाते, बोने पर भी धान नहीं जमता। स्त्रियाँ सदैव बालों ही आभूषण समझ कर उन्हें बढ़ाने एवं सँवारने में लगी रहती हैं, उन्हें भूख सताती है और धनहीन एवं दुःखी रहती हैं, फिर भी उनमें ममत्व अधिक रहता वे मूर्ख हैं, सुख चाहती हैं, परन्तु धर्म में प्रेम नहीं हैं। उनकी बुद्धि क्षुद्र है, वे हैं और उनमें कोमलता नहीं रही है। मनुष्य रोगों से दुःखी हैं, कहीं सुख-भोग रहा है और वे अकारण ही अभिमान और विरोध करते हैं। मानवों की आयु थोड़ी अर्थात् दस, पाँच, पन्द्रह या पचास वर्ष रह गई है। परन्तु गर्व यह है कल्पांत में भी हमारा नाश नहीं होगा। लोग इतने वेहाल हो गये हैं कि कोई बेटी का विचार नहीं करता। कहीं भी न सन्तोष है, न विचार और न शीतलता इसीलिए सभी ऊँची-नीची जाति के लोग मँगता हो गये हैं। ईर्ष्या, कठोर एवं वचन तथा लालच सर्वत्र भर गया है और समता चली गई है। सब लोग एवं विशेष शोक से मर रहे हैं। वर्णाश्रम धर्म के आचरण उठ गये हैं। दम, दया, ज्ञान एवं बुद्धि का अभाव हो गया है, मूर्खता एवं वंचकता अत्यधिक बढ़ है। स्त्री-पुरुष सभी शरीर के पालन-पोषण में लगे रहते हैं और दूसरों की करने वाले ही संसार में फैले हुए हैं। इस प्रकार यह कलियुग पाप एवं अवगुणों घर है। परन्तु इसमें एक बहुत बड़ा गुण यह है कि अन्य युगों में जो लोग योग, पूजन आदि से गति पाते थे वही गति अब केवल भगवान् का नाम लेने से ही हो सकती है। इसी कारण कलियुग के समान कोई और दूसरा युग नहीं है, इसमें भगवान् के निर्मल गुणों का ज्ञान करने से ही मनुष्य अनायास भवसागर से हो जाता है।

इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड में प्रतिदिन परिवर्तित होने वाले समाज का अत्यन्त जीता-जागता चित्र अंकित है, जो बहुत कुछ आज के यथार्थ जीवन की ओर संकेत कर रहा है, बदलते मूल्यों को प्रकट कर रहा है, बदलती हुई मानव-मनोवृत्तियों का परिचायक है, वर्तित आचार-विचारों को बतला रहा है, दूषित वातावरण की ओर इंगित कर है, बदलती हुई सामाजिक मान्यताओं का बोध करा रहा है, परिवर्तित मान दृष्टिकोण को समझा रहा है, बदलती हुई धार्मिक भावनाओं का परिचय दे रहा परिवर्तित पारिवारिक सम्बन्धों का ज्ञान करा रहा है, बदलती हुई राजनीतिक का ज्ञान करा रहा है और जो हमें परिवर्तित सांसारिक गति-विधियों की ओर

कर रहा है। इसी आधार पर आज हम यह दृढ़ता के साथ कह सकते हैं कि तुलसी कोई साधारण कवि न थे, वरन् भविष्यद्रष्टा थे, क्रान्तदर्शी थे और भगवद्भक्ति-सम्पन्न मनीषी सन्त थे।

तुलसी का गीति-काव्य

गोस्वामीजी द्वारा रचित छोटे-बड़े ग्रन्थों की संख्या पर्याप्त मात्रा में मानी जाती है, किन्तु विद्वानों के मतानुसार उनके बारह ग्रन्थ ही प्रामाणिक हैं, जिनमें से दोहावली, कवितावली, गीतावली, रामचरितमानस और विनय-पत्रिका बड़े ग्रन्थ हैं और रामलला नहछू पार्वती-मङ्गल, जानकी-मङ्गल, वरवै रामायण, वैराग्य-सन्दीपनी, कृष्ण-गीतावली तथा रामाज्ञा-प्रश्न छोटे-छोटे हैं। इनमें से 'रामचरितमानस' महाकाव्य को छोड़कर शेष ग्रन्थों में से कवितावली, गीतावली एवं विनय-पत्रिका नामक तीन ग्रन्थ गोस्वामीजी के उच्च कोटि के गीतिकाव्य कहलाते हैं। इन तीनों गीतिकाव्यों का निर्माण ब्रजभाषा में हुआ है। काव्य-कला एवं रचना कौशल की दृष्टि से 'विनयपत्रिका' सर्वश्रेष्ठ गीतिकाव्य है, दूसरा स्थान 'गीतावली' को प्राप्त है और 'कवितावली' तृतीय स्थान पर आती है।

(१) **विनय-पत्रिका**—यह तुलसी का सर्वोत्तम गीतिकाव्य है। इसमें गीति-काव्य की संक्षिप्तता, आत्माभिव्यक्ति, गेयता तथा भावान्विति आदि सभी तत्त्व स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। यह ग्रन्थ भक्ति रस का अखण्ड सागर है। इसमें शान्त रस की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है, जिसमें अवगाहन करके विषय-कलुष से मलिन हृदय भी उज्ज्वल एवं निर्मल होकर शाश्वत शान्ति का अनुभव करता है। इसीलिए यह ग्रन्थ भक्तों का कण्ठहार कहलाता है और चिर दग्ध सांसारिक प्राणी के लिए भक्तामृत सरोवर है, क्योंकि भक्त-मराल-मण्डली इसमें सतत विहार करती हुई मुक्ति-मौक्तिक चुगा करती है। इस ग्रन्थ में २७९ पद हैं, जिनमें बिलावल, धनाश्री, रामकली, बसंत, मारू, भैरव, कान्हरा, केदारा, टोढ़ी, मलार, सोरठ आदि विविध राग-रागनियों का प्रयोग हुआ है। इसकी रचना सूरदास की ही भाँति पद-शैली में हुई है। भक्ति-भावना की दृष्टि से तो यह ग्रन्थ अनुपम एवं अद्भुत माना जाता है, क्योंकि इसके प्रत्येक पद में तुलसी का भक्त-हृदय स्वयं बोलता हुआ प्रतीत होता है।

विनय-पत्रिका में प्रबन्धात्मकता—यद्यपि विनय-पत्रिका के पदों का निर्माण स्वतन्त्र रूप से होने के कारण यह ग्रन्थ मुक्तक-काव्य की कोटि में आता है, तथापि यह एक 'पत्रिका' है और पत्रिका में जिस प्रकार आरम्भिक 'सिरनामे' से लेकर अन्तिम 'स्वीकृति' तक का उल्लेख होता है, उसी प्रकार इस ग्रन्थ में भी एक व्यवस्थित क्रम एवं पत्रिका के 'मजमून' की सी सुनियोजित व्यवस्था के दर्शन होते हैं। इसी कारण कुछ विद्वान् इसे 'खण्ड काव्य' कहते हैं। इसमें कलियुग से संतप्त होकर गोस्वामीजी ने भगवान् राम के दरवार में भेजने के लिए एक 'पत्रिका' लिखी है। भगवान् राम संसार के शासक हैं, जगन्नियता हैं और उनके दरवार में अनेक पार्षद, प्रतिहारी, दास, सेवक आदि सदैव विद्यमान रहते हैं। अतएव एक साधारण व्यक्ति के लिए उनके बीच

में से निकल कर अपनी पत्रिका को महाराजा राम के पास पहुँचाना तो दूर रहा में कदम रखना भी अत्यन्त दुष्कर है। इसलिए सर्वप्रथम दरबार के 'सद्दी-मुसद्दी' पार्षद-प्रतिहारी आदि को प्रसन्न करने के लिए सिरनामे के रूप में विभिन्न देवो ताओं की स्तुति की गई है, जिनमें गणेश, शिव, पार्वती, गङ्गा, भैरव; सूर्य, चित्रकूट, हनुमान, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, महारानी सीता आदि सभी सम्मिलित

इतनी स्तुति-विनय आदि के उपरान्त पत्रिका का वास्तविक विषय आ हुआ है, जिसमें जगन्नियन्ता महाराजा राम की सामर्थ्य, उनके प्रभुत्त्व एवं महत्त्व साथ-साथ अपने दैन्य, लघुत्व एवं कलियुग-जनित विषम सन्ताप आदि का वर्णन गया है। संसार की असारता का निरूपण करके तुलसी ने अपने मन को समझा और भगवान् राम से अपनी विवशता, पीड़ा, दुर्बलता, आत्मग्लानि आदि कहने के 'पत्रिका' में २०७ वें पद तक इन सभी बातों का खूब बढ़ा-चढ़ाकर उल्लेख किया तदनन्तर 'विनय-पत्रिका दीन की बापु ! आपु ही बाँचौ' कहकर राम से स्वयं पढ़ने की प्रार्थना की गई है। परन्तु कठिनाई यह उपस्थित हुई है कि गोस्वामी इस पत्रिका को राजा राम के सामने दरबार में उपस्थित कौन करे? इसके गोस्वामीजी ने फिर हनुमान, शत्रुघ्न, भरत और लक्ष्मण से अनुनय-विनय की इनमें से लक्ष्मण यह कार्य करने के लिए तैयार हो जाते हैं तथा हनुमान, भरत का रुख देखकर तुरन्त राजा राम के सामने तुलसी की 'पत्रिका' को पेश कर दें उधर महारानी सीता से पहले ही तुलसी ने संस्तुति कराने के लिए कह दिया अतः उन्होंने भी अवसर निकाल कर अपने पतिदेव राम से कह रखा है। इधर दरबार के हनुमान, भरत, शत्रुघ्न आदि पार्षद प्रतिहारी भी सब तुलसी के द्वारा जा चुके हैं। इसलिए जैसे ही लक्ष्मण एक पेशकार के रूप में महाराजा राम सम्मुख तुलसी की 'विनय-पत्रिका' को उपस्थित करते हैं, वैसे ही राम उसे दे सभा की ओर देखते हैं और सारी सभा को तुलसी के पक्ष में पाते हैं, तो तुरन्त रघुनाथजी अपने हाथ से उस पत्रिका पर 'सही' लिख देते हैं। इस तरह तुलसी 'विनय-पत्रिका' पर भरे दरबार में राम की स्वीकृति मिल जाती है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि 'विनय-पत्रिका' का निर्माण वैसे तो गेय पदों में हुआ है, किन्तु इसमें एक 'पत्रिका' या चिट्ठी की सी एकसूत्रता भावों का एक व्यवस्थित क्रम अवश्य रहा है। इसलिए इसे प्रबन्धात्मक मुक्तक सकते हैं।

विनय-पत्रिका का काव्य-सौष्ठव—'विनय-पत्रिका' विविध भावों का है। इसमें कहीं 'कत्रि विलोकि हहर्यौ है' में 'अमर्ष' भाव की व्यंजना हुई है, कहीं 'तुलसीदास अनयास रामपद पइहैं प्रेम प्रसाद' में 'गर्व' का निरूपण हुआ है, ही कहीं 'कलिमल ग्रसित दास तुलसी की काहे कृपा बिसारी में 'चिन्ता' मनो व्यक्त हुआ है, तो कहीं 'दीनदयाल दीन तुलसी की काहु न सुरति कराई' में 'वि प्रकट हुआ है। इतना ही नहीं, तुलसी की विनय-पत्रिका शान्त रस से परिपूर्ण

उसमें 'निर्वेद' नामक स्थायीभाव की अत्यन्त सजीव अभिव्यक्ति हुई है। परन्तु शान्त रस के अतिरिक्त 'कहाँ जाऊँ कासों कहौं, को सुनै दीन की' अथवा 'पाहि-पाहि राम! पाहि, रामचन्द्र-रामचन्द्र' आदि पदों में 'शोक' स्थायीभाव के विद्यमान रहने के कारण करुण रस भी मिल जाता है। ऐसे ही हनुमान सम्बन्धी स्तुतियों में 'लूम लीला अनल ज्वाल-माला-कलित होलिका करन लंकेस लंका' आदि कहकर 'क्रोध' स्थायीभाव का निरूपण करते हुए तुलसी ने रौद्र रस का और 'जयति भुवनैक भूषन, विभीषन वरद, विहित कृत राम संग्राम साका' कहकर 'उत्साह' स्थायीभाव का निरूपण करते हुए भी वीर रस का वर्णन किया है, किन्तु वे सभी रस अङ्गरूप में ही आये हैं। विनय-पत्रिका का अङ्गी रस 'शान्त' है।

'विनय-पत्रिका' विविध अलंकारों से सुसज्जित काव्य-सौंदर्यमयी अद्भुत रचना है। इसमें भावों का उत्कर्ष वढ़ाने के लिए, स्वरूप-चित्रण के लिए अथवा वस्तु-वर्णन की शोभा वढ़ाने के लिए अनेक शब्दालंकार एवं अर्थालंकारों का प्रयोग हुआ है, जिनमें गोस्वामीजी की कारयित्री प्रतिभा के साथ-साथ, नवनवोन्मेषशालिनी कल्पना के भी दर्शन होते हैं। इसीलिए 'जागु-जागु जीव जड़ जोहे जग जामिनी' या 'सुखद सुसील सुजान सूर सुचि' में वृत्यनुप्रास अलङ्कार अपनाया गया है, तो 'राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु' में वीप्सा अलङ्कार का प्रयोग हुआ है। ऐसे ही 'बाँस पुरान साज सव अटपट सरल तिकौन खटोला रे' कहकर इस पद में सांगरूपक का प्रयोग किया है तो 'बावरो रावरो नाह भवानी' वाले पद में सुन्दर व्याजस्तुति अलंकार अपनाया गया है। इसी तरह उपमा, सन्देह, विभावना, विशेषोक्ति, भ्रम, दृष्टान्त, प्रतीप, व्यतिरेक आदि कितने ही अर्थालङ्कारों का यहाँ सुन्दर एवं सजीव निरूपण मिलता है। तुलसी की उपमाएँ तो वड़ी ही मार्मिक हैं। जैसे 'सुलभ-सुखद अपनो सो घर है', 'लागत राजडगर सो', 'गाड़ी के स्वान ज्यों', 'जैसे गाँठि पानी परे सन की', 'तिजारी को सो टोटका', आदि कितने ही पदों में सुन्दर, सशक्त एवं मौलिक उपमाओं का प्रयोग हुआ है।

'विनय-पत्रिका' की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। इसमें सरलता एवं स्वाभाविकता के साथ-साथ सरलता एवं प्रभावोत्पादकता अत्यधिक मात्रा में विद्यमान है। स्तोत्रों की भाषा पर अवश्य संस्कृत की समास-पद्धति का प्रभाव है, जिससे वहाँ क्लिष्टता एवं कठोरता के दर्शन होते हैं, परन्तु शेष पदों की भाषा अत्यन्त सरल, सुबोध एवं अलंकारमयी है। ब्रजभाषा के इन पदों में कहीं-कहीं 'पनवार', 'द्याइबी' आदि बुन्देलखण्डी भाषा के शब्द, 'फोकट' आदि मराठी के शब्द, 'वघात' आदि बघेली के और 'वसीले, पील, खलल, गनी, गरीबनिवाज, खयास, आदि अरबी-फारसी के शब्द भी मिल जाते हैं। इनके साथ ही इनकी भाषा में मुहावरे और लोकोक्तियाँ भी भरी पड़ी हैं। जैसे 'अजन कहा आँखि जिहि फूटे', 'दूध को जर्यो पिवत फूँकि-फूँकि मह्यो है', 'लाज आप ही निज जाँघ उघारे', 'सावन के अन्धहि ज्यों सूझत रङ्ग हरो' आदि

लोकोक्तियाँ मिलती हैं, तो 'कोढ़ में की खाज', 'पूतरो बाँधि है', 'मीजि हाथ, जलधि थहाबो', 'मीजों गुरु पीठ' आदि मुहावरे भी मिलते हैं।

(२) **गीतावली**—गोस्वामी तुलसीदास का दूसरा उत्कृष्ट गीतिकाव्य वली' है। इसमें भी गीतिकाव्य की विशेषताएँ विद्यमान हैं। यह काव्य भी पद में लिखा गया है। इसमें तुलसी ने राम-कथा के मार्मिक एवं मधुर स्थलों का करके उनका सरस एवं चित्ताकर्षक वर्णन किया है। 'रामचरितमानस' की इसका विभाजन भी सात काण्डों के अन्तर्गत किया गया है और भावों की दृष्टि इस काव्य में भी एकसूत्रता के दर्शन होते हैं, फिर भी यह काव्य फुटकल पदों संग्रह है। इसमें प्रबन्धात्मकता का सर्वथा अभाव है तथा प्रबन्धात्मकता की न करके ही तुलसी ने राम की बाल्य-शोभा, रूप-माधुर्य, शृंगार-भावना, शील शक्ति आदि का सुन्दर चित्रण किया है, जिनसे इस काव्य में मधुरता, कोम सरसता एवं मार्मिकता पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है।

गीतावली का वात्सल्य-निरूपण—अन्य सभी ग्रन्थों की अपेक्षा 'गीतावली' तुलसी ने राम के बाल-रूप की झाँकी अङ्कित करते हुए वात्सल्य का वर्णन बड़ी तत्परता से साथ किया है। बालकों की अनेकानेक चेष्टाओं का जैसा वर्णन सूर किया है, वैसा वर्णन तो यहाँ नहीं मिलता, फिर भी तुलसी ने राम के बाल-जीव बड़ी ही मनोरम झाँकियाँ अङ्कित की हैं। कभी-कभी तुलसी के बाल-वर्णन को ऐसा जान पड़ता है, मानो तुलसी ने सूर की ही नकल की हो, क्योंकि कुछ पद बिलकुल सूर के पदों से ही मिलते-जुलते हैं और 'हरिजू की बाल-छवि कहौं अथवा 'रघुवर बाल छवि कहौं बरनि' पद में तो केवल 'हरिजू' तथा 'रघुवर' अन्तर दिखाई देता है। इतना ही नहीं, कुछ स्थलों पर तो वात्सल्य भाव-निरू भी तुलसी का वर्णन सूर की जूठन जान पड़ता है। फिर भी तुलसी ने बाल-मनो के विविध चित्र अङ्कित किये हैं। तुलसी के वात्सल्य को भी दो भागों में विभक्त जा सकता है—वात्सल्य का संयोग पक्ष और वात्सल्य का वियोग पक्ष।

वात्सल्य के संयोग पक्ष का निरूपण करते हुए तुलसी ने भी राम-जन्म लेकर राम की शैशवकालीन अनेक बाल-क्रीड़ाओं की बड़ी ही मधुर झाँकियाँ की हैं। यहाँ पर 'आजु सुदिन सुभ घरी सुहाई' वाले पद से लेकर तुलसी ने राम के अवसर पर माता-पिता, पुरजन-परिजन आदि के हृदय में उत्पन्न आनन्द-उल् का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है, उस अवसर पर गाये जाने वाले सोहिले मङ्गल-गीतों के अतिरिक्त, नगर की साज-सज्जा, घर-घर होने वाले मङ्गला गलियों में छिड़के जाने वाले अबीर-अरगजा, द्वारों पर सुशोभित, कनक-कलश, पताका, ध्वजा, बंदनवार आदि का खूब बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है। यहाँ राजद्वार पर बजने वाले आनन्द के बधावों से गगन गूँज रहा है, अरगजा और से सरोवर भर रहे हैं, गृह-आँगन-चोहाट-गली सभी कलश, चँवर, तोरण, ध्वजा से सज रहे हैं और अपनी अद्वितीय शोभा के कारण अयोध्या नगरी अमरावती

भी लज्जित कर रही है। तदुपरान्त बालक राम के शयन का वर्णन करते हुए तुलसी ने माता कौशल्या के हृदय में उमड़ते हुए वात्सल्य भाव की सजीव झाँकी अंकित की है—

सुभग सेज सोभित कौसल्या रुचिर तास-सिसु गोद लिये।
बार बार विधुवदन विलोकति लोचन चारु चकोर किये॥
कबहुँ पौढ़ि पय पान करावति, कबहूँ राखति लाइ हिये।
बाल केलि हलरावति, पुलकति प्रेम-पियूष पिये॥

इतना ही नहीं, माता कौशल्या अब "ह्वै हों लाल कबहिं बड़े बलि मैया" कहकर रात-दिन अपके लाल के बड़े होने की मंगल-कामना करती रहती हैं तथा 'पगनि कब चलि हौं चारौ भैया' कहकर चारों भाइयों के जल्दी पैरों चलने की अभिलाषा करती हुई उनकी किलकनि, नटनि आदि बाल-क्रीड़ाएँ, मणि खम्भों में प्रतिविम्ब देखने की क्रियाएँ, मंजुल चेष्टाएँ आदि को देखकर फूली नहीं समातीं—

किलकनि नटनि चलनि चितवनि, भजि मिलन मनोहरतैया।
मनि खंभनि प्रतिबिम्ब झलक छवि, छलिकिहै भरि अँगनैयाँ॥
बाल-विनोद मोद मंजुल विधु, लीला ललित जुन्हैया।
भूपति पुन्य-पयोधि उमँग, घर-घर आनन्द बधैया॥

माता कौशल्या अपने लाल को कनक-रत्नमय पालने में झुलाती हैं, उसमें विविध खिलौने, किंकिनी एवं मुक्ताहार लगे हुए हैं। वात्सल्य भाव सहित मधुर एवं सरस स्वर में लोरियों के रूप में कल-कीर्ति का गान करती हुई माता कौशल्या राम को पालने में झुला रही हैं—

पालने रघुपति झुलावै।
लै लै नाम सप्रेम सरस स्वर, कौसल्या कल कीरति गावै॥

अब राम कुछ बड़े ही हो जाते हैं और आँगन में घुटुरुवनि चलने लगते हैं। बालक की इस स्वाभाविक चेष्टा का वर्णन करते हुए तुलसी ने लिखा है—

आँगन फिरत घुटुरुवनि धाए।
नील जलद-तनु-स्याम-राम-सिसु जननि निरखि मुख निकट बोलाए॥

तदुपरान्त तुलसी ने राम की अटपटी बाल-क्रीड़ाओं के भी बड़े ही मनोरम चित्र अंकित किये हैं, जिनमें कहीं राम को ठुमकु-ठुमकु पग रखकर लड़खड़ाते हुए चलते दिखाया है, कहीं 'गहि मनि खम्भ डिंभ डगि डोलत' कहकर मणिखम्भ के समीप डगमगाते हुए दिखाया है, कहीं 'कौशल्या कल कनक अजरि महँ सिखवति चलत अँगुरिया लाए' कहकर उन्हें माता की उंगली पकड़कर चलना सीखते हुए दिखाया है, कहीं 'बिहरत अवध वीथिन राम' कहकर अयोध्या की गलियों में राम को विहार करते हुए चित्रित किया है, और कहीं 'कन्दुकि केलि-कुसल हय चढ़ि चढ़ मन कसि-कसि ठोंकि-ठोंकि खये' कहकर राम को घोड़े पर चढ़कर चौगान खेलते हुए अंकित किया है। इस प्रकार राम की विविध चेष्टाओं एवं क्रीड़ाओं का वर्णन करके तुलसी ने वात्सल्य के संयोग पक्ष का निरूपण किया है।

वात्सल्य के वियोग पक्ष का निरूपण करते हुए तुलसी ने राम-वन-गमन के अवसर पर माता-पिता के करुणापूर्ण हृदय की बड़ी ही मनोरम अभिव्यक्ति की है। माता का हृदय प्रेम-विह्वल होने के कारण किस तरह शतधा होकर फूट पड़ा है—

राम ! हौं कौन जतन घर रहि हौं ?
बार बार भरि अंक गोद लै, ललन कौन सों कहि हौं ?
इहि आँगन बिहरअ मेरे बारे ! तुम जो संग सिसु लीन्हें ।
कैसे प्रान रहत सुमिरत सुत, बहु विनोद तुम कीन्हें ।।

× × ×

तुलसीदास प्रेमवस श्रीहरि देखि विकल महतारी ।
गदगद कण्ठ, नयन जल भरि, फिर आवन कह्यो मुरारी ।।

इतना ही नहीं, राम वन-गमन के अवसर पर माता के साथ-साथ पिता का हृदय भी भर आता है, उसमें भी वात्सल्य भाव छलकता हुआ दिखाई देता है और वे भी स्नेहविह्वल होकर पुकार उठते हैं—

मोको विधुवदन विलोकन दीजै ।
राम लषन मेरी यहै भेंट, बलि जाउँ इहाँ मोहि मिल लीजै ।।

इसके साथ ही जब माता कौशल्या अपने समीप खग, मृग तथा अन्य जीवों की भी राम के वियोग में विह्वल देखती हैं, तब उनकी दशा और भी शोचनीय हो जाती है, क्योंकि औरों की क्या है, वे तो राम की माँ हैं। इसलिए जब कोई सखी उन्हें समझाने आती है, तब वे करुणा विगलित होकर पुकार उठती हैं—

जिनके विरह-विषाद बँटावन, खग मृग जीव दुखारी ।
मोहि कहो सजनी समुझावति, हौं तिनकी महतारी ।।
भरत-दसा सुनि सुमिर भूपगति, देखि दीन पुर बासी ।
तुलसी 'राम' कहति हौं सकुचति, ह्वै है जग उपहाँसी ।।

इतने पर भी जब वे राम के परम प्रिय घोड़ों की दशा देखती हैं, तब तो उनके हृदय में शोक का सागर ही उमड़ने लगता है, क्योंकि राम के वियोग में उनके प्रिय घोड़ दिन-प्रतिदिन 'झाँवरे' होते चले जा रहे हैं। इसीलिए माता वियोग-विह्वल होकर अपना करुण सन्देश भेज रही हैं, जिसमें मातृ-हृदय की कितनी कसक, कितनी टीस एवं कितनी पीड़ा भरी हुई है, इसका अनुमान लगाना सर्वथा असम्भव है। माता कौशल्या कह रही हैं—

राघौ ! एक बार फिरि आवौ ।
ए वर बाजि बिलोकि आपने, बहुरौ बनहिं सिधावौ ।।

× × ×

सुनहु पथिक ! जौ राम मिलहिं बन कहियौ मातु सँदेसो ।
तुलसी मोहिं और सबदिन तें इनको बड़ौ अँदेसो ।।

इस प्रकार तुलसी ने वात्सल्य के संयोग एवं वियोग पक्ष का सुन्दर वर्णन किया

है, परन्तु सम्पूर्ण वर्णन में सूर की-सी तत्परता एवं उत्कटता का सर्वथा अभाव है और बाल-क्रीड़ाओं की विविधता, वर्णन की सरसता एवं चेष्टाओं के परखने की गहनता की दृष्टि से भी तुलसी सूर की समता नहीं कर पाये हैं। इतना ही नहीं, बाल-वर्णन में सूर ने जिस तरह अपना हृदय उड़ेल दिया है, वैसा कार्य भी तुलसी नहीं कर सके हैं। तुलसी ने जो कुछ लिखा है, वह सूर के अनुकरण पर ही लिखा जान पड़ता है। सी कारण तुलसी का बाल-वर्णन 'सूर की जूठन' प्रतीत होता है।

गीतावली का काव्य-सौष्ठव—'गीतावली में वात्सल्य का तो सरस वर्णन है ही, वात्सल्य के अतिरिक्त इसमें अन्य भावों एवं रसों का भी सुन्दर वर्णन मिलता है। 'गीतावली' में श्रृंगार रस का वर्णन तो कितने ही स्थलों पर बड़ा ही सरस एवं सजीव मिलता है। सीता-स्वयंवर, राम-सीता का विवाह, राम-वनगमन, चित्रकूट-निवास, राम का पंचवटी-निवास, राम का नख-शिख, हिंडोला, वसन्त आदि के वर्णन में श्रृंगार रस की मधुर व्यञ्जना हुई है। गीतावली में श्रृंगार रस के संयोग एवं वियोग दोनों पक्षों का सजीव चित्रण मिलता है। संयोग श्रृंगार का वर्णन करते हुए तुलसी ने विवाह के अवसर पर सुसज्जित दूलह राम एवं दुलहिन सीता की जोड़ी का बड़ा ही सुन्दर एवं सजीव चित्र अंकित किया है—

दूलह राम, सीय दुलही री।
घन-दामिनि-बर-बरन, हरन-मन सुन्दरता नखसिख निबही री।

ऐसे ही वियोग-श्रृंगार का वर्णन करते हुए तुलसी ने वियोगिनी सीता की वियोग-विह्वल दशा का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है—

काँप के चलत सिय को मनु गहबरि आयो।
पुलक सिथिल भयो सरीर, नीर नयनन्हि छायो।।
कहन चह्यौ संदेस, नहिं कह्यौ, पिय के जिय की जान हृदय दुसह दुख दुरायो।
देखि दसा व्याकुल हरीस ग्रीषम के पथिक ज्यों धरनि तरनि तायो।।

'गीतावली' में वैसे वात्सल्य एवं श्रृंगार का ही प्राधान्य है, किन्तु यत्र-तत्र 'उत्साह' नामक स्थायीभाव के चित्रण द्वारा तुलसी ने वीर रस का भी सुन्दर निरूपण किया है। जैसे, लक्ष्मण-शक्ति के अवसर पर हनुमान के उत्साहपूर्ण उद्गारों में वीर रस की कैसी मधुर व्यञ्जना हुई है—

जौं हौं अब अनुसासन पावौं।
तौ चंद्रमहिं निचोरि चैल-ज्यौं, आनि सुधा सिर नावौं।।

ऐसे ही कहीं-कहीं हास्य-रस की भी अभिव्यक्ति मिल जाती है। जैसे 'जो चलि हैं रघुनाथ पयादेहिं सिला न रहहिं अवनी' कहकर तुलसी ने तनिक हास्य का अवसर निकाल लिया है। ऐसे ही 'राम के प्रसाद गुरु गौतम खसम भए, रावरेहु सतानन्द पूत भए माय के' कहकर कुछ हल्के हास्य की योजना की है। फिर भी तुलसी की मर्यादावादी प्रवृत्ति एवं भक्ति-भावना की अधिकता ने यहाँ भी हास्य के लिए अधिक अवसर नहीं आने दिया है।

'गीतावली' में 'शोक' स्थायीभाव का निरूपण करते हुए तुलसी ने करुण का सुन्दर चित्रण किया है। लक्ष्मण-शक्ति के अवसर पर राम ने अपनी असहाय निरीह अवस्था के साथ-साथ विभीषण की दुरवस्था की ओर संकेत करते हुए सब पुरुषारथ थाको' कहकर जो विलाप किया, उसमें करुण रस की सुन्दर व्यं मिलती है। ऐसे ही 'सुन्यौ जब फिरि सुमन्त पुर आयो' अथवा 'मुए हू न मिटैगो मानसिक पछिताउ' आदि पदों में राजा दशरथ के शोक-विह्वल हृदय का चित्रण हुए तुलसी ने करुण रस का अच्छा निरूपण किया है।

'गीतावली' में 'क्रोध' स्थायीभाव के निरूपण द्वारा रौद्र रस की भी व्यं हुई है। रावण को फटकारते हुए हनुमान ने जो कठोर बातें कही हैं, उनमें नामक स्थायीभाव के कारण रौद्र रस का बड़ा ही सजीव वर्णन मिलता है—

रावन ! जु पै राम रन रोषे।
को कहि सकै सुरासुर समरथ, विसिष काल-दसननि तें चोषे।

× × ×

जासु प्रसाद जनमि जग पुरषनि सागर सृजे खने अरु सोखे।
तुलसिदास जो स्वामि न सूझ्यो नयन बीस मन्दिर के से मोखे॥

इसके साथ ही 'गीतावली' में अद्‌भुत रस की भी व्यञ्जना हुई है। समय हनुमान कौतुक ही में पर्वत को उठाकर आकाश मार्ग से चले हैं, उस तुलसी ने आश्चर्यजनक वर्णन द्वारा 'विस्मय' स्थायीभाव सहित अद्‌भुत रस का निरूपण किया है—

कौतुक ही कपि कुधर लियौ है।
चल्यौ नभ नाइ नाथ रघुनार्थाह, सरसि न बेग वियो है।

इस तरह 'गीतावली' में विविध रसों का सुन्दर विवेचन मिलता है। शांत रस का वर्णन अधिक नहीं मिलता। यत्र-तत्र भक्ति-भावना से परिपूर्ण 'निर्वेद' स्थायीभाव की व्यंजना हुई है। इसके साथ ही वीभत्स रस के वर्णन के तो तुलसी को यहाँ अवसर ही नहीं मिला है, क्योंकि युद्ध-स्थल का वर्णन यहाँ के बराबर है। फिर भी श्रृंगार एवं वात्सल्य-वर्णन की दृष्टि से 'गीतावली' बड़ी सरस एवं मार्मिक रचना है।

'गीतावली' भी ब्रजभाषा का सरल काव्य है। इसमें ब्रजभाषा के सरस, एवं कोमल शब्दों का चयन करके तुलसी ने ब्रजभाषा के साहित्यिक स्वरूप को अपनाया है। इसमें संस्कृत के तत्सम एवं तद्‌भव शब्दों की ही बहुलता है। फिर भाषा में ओज, माधुर्य एवं प्रसाद तीनों गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। कहीं भाषा को ध्वन्यात्मक रूप देने के लिए कवि ने 'मजमनियाँ', 'नगफनियाँ' जैसे का भी प्रयोग किया है। साथ ही कहीं-कहीं मुहावरे एवं लोकोक्तियों के द्वारा में अर्थ-गाम्भीर्य एवं उक्ति-वैचित्र्य की भी स्थापना की गई है। जैसे—'लुनि सोई जोई जेहि बई है' या 'होत हरे होने विरवनि दल' अथवा 'पल में भये मेत

धोखे' आदि लोकोक्तियों एवं मुहावरों के द्वारा भाषा को सुसज्जित करने का प्रयास किया गया है ।

'गीतावली' के समस्त पद घनाक्षरी पद हैं, जिनमें गेयता एवं संगीत भरा हुआ है, क्योंकि ये सभी पद विभिन्न राग-रागनियों में लिखे गये हैं तथा स्वर, ताल, लय आदि की दृष्टि से सर्वांगपूर्ण हैं । इन गीतों में काव्यात्मक सौन्दर्य के साथ-साथ संगीतात्मकता का जो मणि-कांचन योग मिलता है, उससे इसकी कला-वृद्धि में बड़ी सहायता मिली है । निस्सन्देह संगीत एवं काव्यत्व की दृष्टि से यह ग्रन्थ सहज सौन्दर्य से ओतप्रोत दिखाई देता है और इसमें सहज अभिव्यक्ति के कारण नादात्मक सौन्दर्य के साथ-साथ गीतात्मक लालित्य भरा हुआ है ।

'गीतावली' काव्य विविध अलंकारों से भी अलंकृत है । इसमें कहीं 'राजत नयन मंजु अंजनयुत खंजन कंज मीन मद नाए' में अनुप्रास की छटा दिखाई देती है, तो कहीं 'रागऊ विराग भोग जोग जोगवन मन' में यमक की छटा विद्यमान है । ऐसे ही 'मदन जप के खम्भ से रचे खम्भ सरल विताल' या 'लोयन नील सरोज से' में उपमा अलंकार हैं, तो 'रूप रासि विरची विरंचि मनो सिला लवनि रति काम लही री' में उत्प्रेक्षा का सौन्दर्य विद्यमान है । इसी तरह 'बाल-विनोद मोद मंजुल-मनि किलकनि खानि खुलावौं, तेइ अनुराग-ताग गुहिबे कहँ मति-मृग-नयन बुलावौं' में सांगरूपक की सुषमा है, तो 'सरद-सरोजहु तें सुन्दर चरन' में व्यतिरेक विद्यमान है । इसी भाँति प्रतीप, सन्देह, भ्रम, यथाक्रम, अनन्वय, दृष्टान्त, निदर्शना आदि कितने ही अलंकारों का प्रयोग 'गीतावली' में हुआ है । किन्तु सबसे अधिक कवि ने रूपक, उपमा एवं उत्प्रेक्षा अलंकारों को ही अपनाया है और इनके द्वारा भावोत्कर्ष के साथ-साथ काव्य को कलात्मक सौन्दर्य से ओतप्रोत बनाने का सफल प्रयास किया है ।

इस तरह 'गीतावली' में सरसता, सजीवता एवं मनोहरता के साथ-साथ मधुर संगीत एवं उन्नत काव्यात्मक सौन्दर्य विद्यमान है और इसमें कवि की उन्नत प्रतिभा, उर्वर कल्पना एवं उत्कृष्ट उद्‌भावना-शक्ति के दर्शन होते हैं ।

(३) **कवितावली**—तुलसी का तीसरा गीतिकाव्य 'कवितावली' भी एक सरस एवं उत्कृष्ट रचना है । यह ग्रन्थ फुटकल कवित्तों का संग्रह है । इसमें मुख्यतया सवैया, कवित्त और छप्पय इन तीन छन्दों को अपनाया गया है; जिन्हें प्राचीन ग्रन्थों में भी कवित्त कहकर ही पुकारा जाता रहा है । इसी कारण इस ग्रन्थ का नाम कवित्त की अवली अर्थात् 'कवितावली' रखा गया है । इसकी रचना चन्द आदि भाटों की कवित्त-सवैया पद्धति पर ही हुई है और इसे तुलसी की अन्तिम रचना माना जाता है, क्योंकि इसमें 'रोग भयो भूत सो कुपुत भयौ तुलसी को भूतनाथ पाहि पद-पंकज गहतुहौं' कहकर तुलसी ने अपनी महामारी (ताऊन) का वर्णन किया है, जो स्मिथ के अनुसार सं० १६७३ से १६८१ तक फैली थी और इसी रोग में सम्भवतः तुलसीदासजी का सं० १६८० में निधन हो गया था । यह ग्रन्थ भी सप्तकाण्डों में विभक्त है, परन्तु इसके पद्यों का निर्माण प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से नहीं हुआ है, क्योंकि सभी पद्य स्वतन्त्र रूप

से समय-समय पर बनाये गये जान पड़ते हैं और अन्त में उनका संकलन या तो स्व गोस्वामी तुलसीदासजी ने ही राम-कथा की दृष्टि से कर दिया था अथवा उनके कि शिष्य ने इन्हें पीछे व्यवस्थित रूप दे दिया होगा। इसमें जितने कवित्तों का सम्ब राम-कथा से था, उन्हें तो लंकाकाण्ड तक विभक्त कर दिया है, और इसके अतिरि जिन कवित्तों का सम्बन्ध तुलसी के निजी जीवन से है या तत्कालीन समाज की द आदि से है, उन सबको उत्तरकाण्ड में संकलित कर दिया गया है। इसके अन्त में परिशिष्ट रूप में 'हनुमानबाहुक' को संकलित किया गया है, जिसका कोई सीधा सम्ब 'कवितावली' से दिखाई नहीं देता। इस ग्रन्थ को भी 'विनय-पत्रिका' तथा 'गीतावली' की भाँति प्रबन्धात्मक मुक्तक कहा जा सकता है, परन्तु इसमें उक्त दोनों ग्रन्थों की अपेक्षा प्रबन्धात्मकता अत्यन्त अल्प है। उत्तरकाण्ड में तो राम-जीवन सम्बन्धी कि भी घटना का उल्लेख नहीं है। वहाँ राम की भक्ति-वत्सलता, राम-नाम महात्म्य, अपना दारिद्र्य, अपनी दुरवस्था, तत्कालीन देश की विषम परिस्थिति तथा अन्य देवी-देवताओं की स्तुति का ही वर्णन मिलता है। इस प्रकार इस काण्ड का अन्य काण्डों से कोई कथात्मक सम्बन्ध नहीं है। इसमें तुलसी ने राम के सगुण रूप का ही वर्णन किया है और इसकी रचना राम-माहात्म्य को कवित्तों में भी वर्णन करने की दृष्टि से हुई है।

कवितावली का काव्य-सौष्ठव—'कवितावली' के आरम्भ में राम के बाल रू की झाँकी बड़ी सरसता एवं मार्मिकता के साथ अंकित की गई है। इन आरम्भिक सवैयाओं की अन्तिम पंक्ति 'अवधेश के बालक चारि सदा तुलसी मन-मन्दिर में विहरें' तो इतनी मार्मिक एवं प्रभावोत्पादक है कि एक बार पढ़ते ही राम के बाल-रूप का चित्र सहसा हृदय पर अंकित हो जाता है, किन्तु इसके अनन्तर सहसा सीता-स्वयंवर का वर्णन आ गया है और बीच की कथा को नहीं अपनाया गया है। इसी तरह फिर तुरन्त ही राम-वन-गमन का वर्णन आ जाता है, जो काव्य-कला एवं रचना-कौशल की दृष्टि से अत्यन्त सरस एवं सुन्दर है। उसमें ग्राम-वधुओं के कथोपकथन द्वारा तो कवि ने अनुपम रस की सृष्टि की है। इस तरह राम-कथा के अन्य सरस एवं सुन्दर स्थलों का वर्णन अन्य काण्डों में भी मिलता है। इनमें से सुन्दरकाण्ड के अन्तर्गत लंका-दहन का वर्णन बड़ा ही ओजपूर्ण है, इसमें कवि की उत्कृष्ट उद्भावना-शक्ति के दर्शन होते हैं।

तुलसी ने 'कवितावली' में भी विभिन्न रसों का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। जैसे, आरम्भिक बाल-रूप वर्णन में वात्सल्य रस है, तो राम-सीता-विवाह के अवसर पर 'दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माँही' नामक सवैया में शृंगार के संयोग पक्ष का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया गया है। ऐसे ही वन-गमन के अवसर पर ग्राम-वधुओं के द्वारा सीता से यह पूछने पर कि 'साँवरे से सखि रावरे को हैं', तब 'तिरछे करि नैन, दै सैन तिन्हें समुझाइ कछू मुसकाइ चली' द्वारा सीता की संकोच एवं स्मितिपूर्ण रतिभावना का जो चित्रण किया गया है, उसमें भी संयोग शृंगार का पूर्ण परिपाक हुआ है। संयोग के अतिरिक्त वियोग-शृंगार का वर्णन भी

'कवितावली' में मिल जाता है। सीता की वियोग-विह्वल दशा की ओर संकेत करते हुए तुलसी ने 'कहा कहौं तात देखे ज्यों बिहात दिन, बड़ी अवलम्ब ही सो चले तुम तोरि कै' कहकर जो सीता और हनुमान के सम्वाद की योजना की है, उसमें वियोग-शृङ्गार की सुन्दर झलक मिल जाती है।

'कवितावली' में वीर रस का सुन्दर चित्रण मिलता है। हनुमान तथा निशाचरों के युद्ध के अवसर पर तुलसी ने 'प्रवल प्रचण्ड वरिवण्ड वीर बाहुदण्ड वीर धाये जातुधान हनुमान लियो घेरि कै' कहकर ओजगुण के साथ-साथ 'उत्साह' नामक स्थायीभाव की बड़ी ही मार्मिक योजना की है। यहाँ 'ढहर ढहर परे कहरि कहरि उठें, हहरि हहरि सिद्ध हँसें हेरिकै' कहकर तो तुलसी ने नादात्मक सौंदर्य के साथ-साथ युद्ध के उत्साह का एक गत्यात्मक चित्र अङ्कित कर दिया है। ऐसे ही 'रजनीचर घरनि घर गर्भ-अर्भक स्रवत सुनत हनुमान की हाँक बाँकी' कहकर तुलसी ने हनुमान के जिस ओजस्वी उत्साह का वर्णन किया है, उसमें वीर रस की अत्यन्त सजीव व्यंजना हुई है। इसके अतिरिक्त धनुर्भंग के अवसर पर परशुराम के क्रोध का वर्णन करते हुए तुलसी ने 'भूप-मण्डली प्रचण्ड चंडीस-कोदण्ड खण्ड्यौ चण्ड बाहु दण्ड जाको ताही सों कहतु हौं' कहकर जो 'क्रोध' स्थायीभाव का चित्रण किया है, उसमें रौद्र रस की सुन्दर व्यंजना हुई है। इसी भाँति तुलसी ने 'कवितावली' में लङ्कादहन के अवसर पर भयानक रस की, लङ्का के जलने पर निशाचरियों की दुरवस्था के वर्णन में करुण रस की, लङ्काकाण्ड में युद्ध के अवसर पर 'सोनित सों सानि सानि गूदा खात सतुआ-से' कहकर वीभत्स रस की, राम के विंध्य प्रदेश में पधारने पर वहाँ के तपस्वियों द्वारा शिला को नारी बना देने वाले राम के स्वागत का वर्णन करने में हास्य रस की तथा राम के माहात्म्य-वर्णन में शान्त रस की सुन्दर योजना की है। इस तरह 'कवितावली' में विविध रसों का सुन्दर एवं सजीव वर्णन मिलता है।

'कवितावली' में विविध अलङ्कारों के प्रयोग द्वारा भावाभिव्यक्ति को अत्यन्त मंजुल एवं मनोरम बनाने की चेष्टा की गई है। इसमें कहीं 'चंचल चपट चोट चरन चकोट चाहँ' अथवा 'छोनी में के छोनीपति छाजै जिन्हें छत्रछाया, छोनी-छोनी छाये छिति आए निमिराज के' पदों में वृत्यनुप्रास अलङ्कार की छटा दिखाई देती है, तो कहीं 'मण्डलीक-मण्डली प्रताप-दाप दालिरी' में यमक अलङ्कार विद्यमान है। कहीं 'तुलसी मनरंजन रंजित अंजन नयन-सु खंजन जातक से' में उपमा अलङ्कार है, तो कहीं 'अनुराग तड़ाग में भानु उदै विगसीं मनो मंजुल कंज-कली' में वस्तूत्प्रेक्षा की छटा दिखाई देती है। कहीं 'गोरे को वरन देखे सोनो न सलोने लागैं' में प्रतीप अलङ्कार है, तो कहीं 'स्वामी सुसील समर्थ सुजान सो तो भो तुही दशरत्थ-दुलारे' में अनन्वय अलङ्कार की शोभा विद्यमान है। कहीं 'अवलोकि अलौकिक रूप मृगीमृग चौंकि चकैं चितवैं चित दै न भगैं जिय जानि सिलीमुख पंचधरे रतिनायक हैं' में भ्रमालङ्कार है, तो कहीं 'तुलसी सुरेस-चाप कैधों दामिनी कलाप, कैधों चली मेरु तें कृसानु-सरि भारी है' में सन्देह अलङ्कार विद्यमान है। ऐसे ही कहीं 'तुलसी समिधा

सौंज लङ्क-जज्ञकुण्ड लखि, जातुधान पुंगीफल जब तिलधान हैं' आदि में सांगरूपक सौंदर्य विद्यमान है, तो कहीं 'तुलसी बुलाइ एक राम घनस्याम हीतें आग बड़वाग्नि बड़ी है आग पेट की' में परिकर अलङ्कार भावोत्कर्ष में सहायक हो रहा है। तरह तुलसी ने विविध अलङ्कारों का प्रयोग करके अपनी भावाभिव्यंजना को अत्य मधुर एवं मनोरम बनाने की चेष्टा की है।

'कवितावली' की भाषा भी ब्रज भाषा है, परन्तु उसमें ब्रज के अतिरि अवधी, बंगला, राजस्थानी, बुन्देलखण्डी, अरबी, फारसी, तुर्की आदि के शब्द भी मि जाते हैं। इसमें जैसे—अजत, खपुआ, पँवारो, कलोरे, धारि आदि अवधी के श मिलते हैं, तो 'भाँडजाना' बुन्देलखण्डी का शब्द है; 'म्हाको' राजस्थानी का शब्द 'सँजोना', 'सकारे' आदि बंगला के शब्द हैं; हराम, गुलाम, कहरी आदि अरबी शब्द हैं; नेवाज, दगाबाज, कागर आदि फारसी के शब्द हैं तथा 'वैरख' तुर्की का श है। कुछ पदों में तुलसी ने डिंगल भाषा के आधार पर 'डिगति उर्वि अति गुर्वि पव्वै समुद्द सर' आदि द्वित्व वर्णों का भी प्रयोग किया है। तुलसी ने कुछ (पास), चुवा (चौपाया), खरखौकी (अग्नि) आदि देशज शब्दों का भी प्रयोग कि है। साधारणतया यहाँ 'लोपिहैं', 'कोपिहैं', 'टसकतु है' आदि ब्रजभाषा की क्रिया का ही प्रयोग हुआ है, किन्तु कहीं-कहीं 'कसकतु', 'पाटियतु' आदि अवधी की क्रिया को तथा 'बीता', 'जीता' आदि खड़ीवोली की क्रियाओं के प्रयोग भी मिल जाते है फिर भी 'कवितावली' की भाषा प्रायः भाव एवं रस के सर्वथा अनुकूल है। उ माधुर्य एवं ओज का प्राधान्य है तथा भाट-शैली पर लिखे जाने के कारण इसकी भा में सरसता, धारावाहिकता, वेग एवं त्वरा अत्यधिक मात्रा में विद्यमान हैं। भाषा अधिक सशक्त एवं सक्षम बनाने के लिए तुलसी ने यहाँ पर भी 'धोबी कौ सौ कू घर को न घाट को', 'जो पै राखि है राम तो मारि हैं को रे', 'वयो लुनियत स 'कछु सपनो दिन द्वै', कोढ़ में की खाज' आदि लोकोक्तियों एवं मुहावरों का प्रयोग किया है।

तुलसी ने 'कवितावली' में प्रसङ्गानुकूल एवं भावानुकूल ही छन्दों का प्र किया है। इसमें सवैया, कवित्त, घनाक्षरी, झूलना और छप्पय छन्दों का व्यवह हुआ है। इनमें से सरस, कोमल एवं मधुर भावों की अभिव्यक्ति के लिए सवैया छ अपनाया गया है, ओज एवं तेज के साथ वीरता, दर्प, दम्भ, अहङ्कार आदि सम्बन्धित भावों की अभिव्यक्ति के लिए कवित्तों का प्रयोग हुआ है और शौर्य पराक्रम की अभिव्यंजना के लिए छप्पय छन्द व्यवहृत हुआ है। गौरव एवं महत्त्व वर्णन में घनाक्षरी छन्द का प्रयोग किया है और यशोगान के लिए झूलना छन्द अपनाया गया है। इस ग्रन्थ के सभी छन्द शास्त्रीय दृष्टि से सर्वथा शुद्ध हैं तथा उन प्रयोग रसानुकूल ही दिखाई देता है।

सारांश यह है कि तुलसी की 'कवितावली' सरस भावों से युक्त एवं उत्कृ रचना है। इसमें विविध भावों के साथ-साथ तत्कालीन समाज की विषम परिस्थिति

का बड़ा ही सुन्दर एवं सजीव चित्रण किया गया है। इसमें तुलसी की दुरवस्था के साथ-साथ तत्कालीन दारिद्र्य, अकाल, महामारी, पाप, अधर्म, अत्याचार, राज्य-क्रान्ति आदि की सुन्दर झाँकी मिलती है। इसीलिए इतिहास एवं काव्य—दोनों दृष्टियों से यह काव्य महत्त्वपूर्ण है। इसमें कवि के वैयक्तिक जीवन का विवरण भी अन्य सभी ग्रन्थों की अपेक्षा अत्यधिक मात्रा में मिलता है तथा रस-परिपाक, ध्वनि-सौंदर्य, अलङ्कार-सुषमा, भाषा-सौष्टव आदि की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ उत्कृष्ट काव्य की कोटि में आता है।

तुलसी की भक्ति-पद्धति

तुलसी राम के अनन्य भक्त हैं। उन्होंने 'एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास' कहकर चातक को अपनी भक्ति का परम आदर्श माना है और अपने इष्टदेव के प्रति अनन्य प्रेम, अटूट श्रद्धा; परमविश्वास एवं गहन प्रीति-प्रतीति प्रकट करते हुए अपनी उत्कट भक्ति-भावना को प्रकट किया है। तुलसी की भक्ति में श्रद्धा और विश्वास का निगूढ़ समन्वय मिलता है और दैन्य इसका मूलाधार है। इसी दैन्य से प्रेरित होकर तुलसी ने अपने इष्टदेव के अत्यधिक महत्त्व का और अपने अत्यधिक लघुत्व का वर्णन किया है। तुलसी की दृष्टि में राम के बराबर महान् और अपने बराबर लघु कोई नहीं है। यही एक परम भक्त का दैन्य भाव है, जिसके परिणामस्वरूप तुलसी पुकार उठे हैं—

राम सो बड़ौ है कौन, मोसो कौन छोटो।
राम सो खरो है कौन, मोसो कौन खोटो।।

निस्संदेह एक अनन्य भक्त के लिए अपने इष्टदेव से महान् एवं सर्वगुण-सम्पन्न कोई नहीं दिखाई देता और अपने से अधिक छोटा, खोटा, पापी एवं नीच कोई और नहीं दृष्टि में आता। वैसे भी तुलसी सेव्य-सेवक-भाव से ओत-प्रोत होकर दास्य-भक्ति के अनुयायी हैं। उनके राम सेव्य हैं और तुलसी उनके सेवक हैं। इसी कारण तुलसी अपने राम के साथ अनेक सम्बन्ध मानते हैं। राम के अनन्य उपासक होने के कारण राम के अतिरिक्त तुलसी का सम्बन्धी और कोई भी नहीं है। इसी कारण तुलसी ने कहा है—

ब्रह्म तू हौं जीव, तू ठाकुर हौं चेरो।
तात, मात, गुरु, सखा, तू सब विधि हितु मेरो।।
तोहि मोहि नाते अनेक मानिए जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरन सरन पावै।।

साधारणतया भक्ति के नौ प्रकार माने गये हैं और इनके कारण ही नवधा-भक्ति प्रसिद्ध है, जिसमें श्रवण, कीर्तन, पाद-सेवन, अर्चना, वन्दना, दास्य और आत्म-निवेदन आते हैं। इनके द्वारा भगवान् राम के नाम, रूप, गुण, लीला और धाम का वर्णन करते हुए भगवन्नाम कीर्तन, उनकी लीलाओं का श्रवण और गान, उनके शक्ति-शील-सौंदर्यमय रूप की अर्चना-वन्दना, उनके सम्मुख आत्म-निवेदन आदि को तुलसी

ने भी महत्त्व प्रदान किया है। तुलसी ने भगवान् राम को अनेक नामों से पुकारा है, जिनमें से ब्रह्म, सच्चिदानन्द, परमात्मा, रघुवर, रघुवंशमणि, इन्दिरापति, रमारमन, श्रीरमण, सीतापति, हरि, विष्णु, गोविन्द आदि प्रसिद्ध हैं किन्तु 'राम सकल नामन्ह ते अधिका' कहकर 'राम' नाम को ही सर्वश्रेष्ठ घोषित किया है। इतना ही नहीं, एक रूपक द्वारा भक्ति को पूर्णिमा की रात्रि, राम को पूर्ण चन्द्र और अन्य नामों को तारागण कहकर राम-नाम की महत्ता सर्वोपरि सिद्ध की है।[1] तुलसी ने इसी राम-नाम को कल्पतरु कहकर कल्याणकारी बताया है। तुलसी ने नाम के अतिरिक्त अपने इष्टदेव के रूप का वर्णन करते हुए उन्हें निर्गुण एवं सगुण, निराकार एवं साकार दोनों रूपों में स्वीकार किया है। तुलसी के राम अज, सच्चिदानन्द, अरूप, अनाम, व्यापक, विश्वरूप आदि तो हैं ही, परन्तु भक्तों के कष्ट-निवारण-हेतु भूमि का भार हरने के लिए तथा गो-द्विज का हित करने के लिए अवतार ग्रहण किया करते हैं। इसीलिए वे निराकार एवं निर्गुण होकर भी भक्तों के लिए साकार एवं सगुण हो जाते हैं। तुलसी ने 'नरतन धरेउ सन्त सुर काजा' कहकर इसी आशय को स्पष्ट कर दिया है। तुलसी ने अपने राम को 'विधि हरि संभु नचावन हारे', कहकर, सर्वोपरि सिद्ध किया है, 'कोटि मनोज लजावन हारे' कहकर अनन्त सौंदर्य सम्पन्न बताया है तथा 'विश्वरूप रघुवंश मनि' कहकर विराट रूपधारी बताया है। तुलसी ने भगवान् राम के अन्तर्गत अनन्त सौंदर्य के साथ-साथ अनन्त गुणों का भी दर्शन किया है। इसी कारण 'जो चेतन कहं जड़ करइ, जड़हि करइ चैतन्य, अस समरथ रघुनाथहिं' कहकर राम को सर्व सामर्थ्य-सम्पन्न बताया गया है, 'सुनहु राम सर्वज्ञ सुजाना' कहकर उन्हें सर्वज्ञ घोषित किया गया है, 'सत्य-संध पालक स्रुति सेतू' कहकर सत्य-संध एवं श्रुतिपालक बताया गया है, तथा 'मङ्गल भवन अमङ्गलहारी' कहकर मङ्गलकर्त्ता कहा गया है। इतना ही नहीं, तुलसी के राम पतित-पावन हैं, ज्ञान-गुण-मन्दिर हैं, दानि-शिरोमणि हैं, भक्तवत्सल हैं, शरणागत-वत्सल हैं, करुणानिधान हैं तथा अशरण-शरण हैं। तुलसी ने भगवान् राम की विविध लीलाओं का भी गान किया है। तुलसी ने 'नट इव कपट चरित करि नाना, सदा स्वतन्त्र राम भगवाना' कहकर यह स्पष्ट सूचित कर दिया है कि वैसे तो भगवान् राम सर्वथा स्वतन्त्र हैं, किन्तु नट की भाँति कपट वेश धारण करके वे नाना प्रकार की लीलाएँ करते रहते हैं। राम की ये लीलाएँ दुष्टों के दमन हेतु एवं सन्तों की रक्षा हेतु हुआ करती हैं, क्योंकि 'सुर-हित दनुज-विमोहन-सीला' कहकर तुलसी ने राम की लीला का उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है। इतना ही नहीं, 'निज इच्छा अवतरइ प्रभु, सुर महि गो द्विज लागि' कहकर तुलसी ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि देवता, पृथ्वी, गौ, ब्राह्मण आदि का कल्याण करने के लिए ही भगवान् अवतार लिया करते

---

[1] राका रजनी भगति तब, राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडुगन विमल, बसहु भगत उर व्योम॥

है, परन्तु यह अवतार वे किसी के आग्रह एवं अनुरोध पर नहीं लेते, अपितु अपनी इच्छा से ही लिया करते हैं। इसके साथ ही तुलसी ने भगवान् राम का मूल निवास 'परमधाम' बताया है और पुराणों के आधार पर ही राम को क्षीर सागर तथा वैकुण्ठ का निवासी सिद्ध किया है।

तुलसी की भक्ति में विनय की भावना सर्वोपरि दृष्टिगोचर होती है। वैसे भी दास-भाव की भक्ति में दैन्य एवं विनय की ही 'प्रबलता रहती है। इसी कारण तुलसी की भक्ति में विनय की सातों भूमिकाएँ भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं। जैसे—'केहि विधि देउँ नाथहिं खोरि' कहकर तुलसी ने अपने को अत्यन्त तुच्छ समझते हुए 'दैन्य' नामक प्रथम भूमिका का निरूपण किया है, तो 'काहे ते हरि मोहि बिसार्‌यो' कहकर पूर्णतया अभिमान-शून्य होकर अपने इष्टदेव के समीप जाने का वर्णन करते हुए 'मानमर्षता' का उल्लेख किया है; ऐसे ही 'राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे' कहकर जीव को भय दिखाकर प्रभु की शरण में जाने का उल्लेख करते हुए 'भयदर्शना' का निरूपण किया है; 'ऐसी मूढ़ता या मन की' कहकर मन को डाँटते-डपटते हुए 'भर्त्सना' का उल्लेख किया है; इसी भाँति 'ऐसे राम दीन-हितकारी' कहकर प्रभु के गुणों पर विश्वास प्रकट करते हुए 'आश्वासन' का निरूपण किया है, तो 'कबहुँक हौ इहि रहनि रहौंगो' कहकर मन में बड़ी-बड़ी अभिलाषाएँ करके उनकी पूर्ति की आशा करते हुए 'मनोराज्य' का उल्लेख किया है और 'केसव कहि न जाइ का कहिए' कहकर माया-जाल की जटिलता का दिग्दर्शन कराके संसार में विरक्त एवं भक्ति में लीन होने का वर्णन करते हुए 'विचारणा' नामक अन्तिम विनय की भूमिका का निरूपण किया है। इस प्रकार तुलसी के भक्त-विह्वल हृदय ने परमेश्वर के सम्मुख अपने दैन्य, असामर्थ्य, विवशता, विषाद, पीड़ा आदि का वर्णन करके अपने स्वामी के प्रभुत्व एवं ऐश्वर्य का निरूपण किया है तथा उनके चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण करने का भाव व्यक्त किया है।

तुलसी ने भक्ति-प्राप्ति के लिए सत्संग को सर्वश्रेष्ठ बताया है, क्योंकि सन्त सदैव भगवान् पर आश्रित रहते हैं और उनके सम्पर्क में आकर मानव सहज ही भगवद्भक्ति की ओर उन्मुख हो सकता है। इसके अतिरिक्त ज्ञान और वैराग्य को भी तुलसी ने भक्ति का साधन बताया है। किन्तु वाक्य-ज्ञान की अपेक्षा तत्त्व ज्ञान से ही भक्ति की प्राप्ति होना सिद्ध किया है, क्योंकि 'वाक्य-ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई' कहकर वाक्य-ज्ञान की निन्दा की है। साथ ही तुलसी ने तप, संयम, श्रद्धा, विश्वास, प्रेम, भगवद् कृपा, प्रभु की शरणागति आदि को भी भक्ति का प्रमुख साधन सिद्ध किया है।

तुलसी की भक्ति में नारदसूत्रोक्त एकादश आसक्तियों का रूप भी मिल जाता है। जैसे—'छवि समुद्र हरि रूप विलोकी, एकटक रहे नयन पट रोकी' में 'रूपासक्ति' है, 'निरखि-निरखि रघुवीर छवि बाढ़े प्रीति न थोरि' में 'कान्तासक्ति' है', रामहिं देखि

एक अनुरागे, चितवत चले जाहिं संग लागे' में 'तन्मयतासक्ति' है, 'मन क्रम वचन चरन अनुरागी, केहि अपराध नाथ हौं त्यागी' में 'परम विरहासक्ति' है तथा 'कोटि विप्र बध लागहिं जाहू, आये सरन तजौं नहिं ताहू' शरणागत-वत्सलता' है। ऐसे ही गुण महात्म्यासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, आत्म-निवेदनासक्ति आदि का निरूपण भी तुलसी के भक्ति-सम्वन्धी पदों में मिल जाता है।

तुलसी की भक्ति-पद्धति में प्रभु की शरणागति के छः प्रकारों का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इसीलिए तुलसी ने 'अबलौं नसानी अब न नसैहौं' कहकर 'अनुकूल के संकल्प' का उल्लेख किया है, 'जानकी जीवन की वलि जेहौं' कहकर 'प्रतिकूल के परित्याग' का निरूपण किया है, 'तू दयालु दीन हौं तू दानि हौं भिखारी' कहकर 'गोप्तृत्व वरण' का उल्लेख किया है, 'कौन की आस करै तुलसी जो पै राखि है राम तौ मारि हैं कोरे' कहकर 'रक्षा का विश्वास' प्रकट किया है, 'तुम तजि हौं कासों कहौं और को हितू मेरे' कहकर 'कारुण्य' भाव व्यक्त किया है, 'मेरी रावरीयै गति रघुपति बलि जाउँ, निजल नीच निर्गुन निर्धन कहँ जग दूसरो न ठाकुर ठाउँ' कहकर 'आत्मनिक्षेप' नामक छठी शरणागति का निरूपण किया है।

सारांश यह है कि तुलसी की भक्ति-पद्धति में विनय, प्रेम, आसक्ति एवं शरणागति की प्रबलता होकर भी दैन्य का आधिक्य है। उनका भक्त-हृदय सर्वत्र दैन्यपूर्ण भावों से ओत-प्रोत होकर ही अपने आराध्य देव के सम्मुख उपस्थित हुआ है और अपना सारा दायित्व अपने इष्टदेव पर ही डाल देता है। भगवान् की कृपा को तुलसी ने सर्वोपरि माना है और उस कृपा की प्राप्ति के लिए ही श्रद्धा-विश्वास-युक्त अनन्य भक्ति को धारण किया है। तुलसी की भक्ति सात्विकी भक्ति है, क्योंकि यहाँ पर तुलसी ने पाप-विनाश के उद्देश्य से कर्मों के समस्त फलों को भगवान् राम के चरणों में समर्पित कर दिया है और सेव्य-सेवक भाव द्वारा भगवान् की पूजा-अर्चना करना अपना पावन कर्त्तव्य माना है। तुलसी की इस भक्ति में यश, ख्याति अथवा ऐश्वर्य-प्राप्ति की आकांक्षा नहीं है। यहाँ तो भक्त आत्म-समर्पण द्वारा केवल भगवान् का सामीप्य लाभ पाने का इच्छुक दिखाई देता है। इस तरह तुलसी यहाँ सर्वतोभावेन भगवच्चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण करके सांसारिक वैभव, सामाजिक बन्धन, पारिवारिक मोह-माया आदि से उपरत हो गये हैं और उनके हृदय में एकमात्र राम ही रमते हुए दिखाई देते हैं। भक्त तुलसी को इसीलिए दुर्लभ कैवल्य पद की भी चाह नहीं है और वे मुक्ति का निरादर करके एकमात्र भक्ति में ही लीन रहना अच्छा समझते हैं।

तुलसी के दार्शनिक विचार

तुलसी के दार्शनिक विचारों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि तुलसी ने ब्रह्म को निर्गुण निराकार, अज, निर्विकार, सर्वान्तर्यामी, सच्चिदानन्द, अनादि, व्यापक, एक, अनीह, अनाम, विश्वरूप आदि माना है तथा 'व्यापक एक ब्रह्म अविनासी, सत चेतन घन आनन्द रासी' कहकर इसकी पुष्टि की है। तुलसी ने राम को ही ब्रह्म

कहा है। उनको ही विरज, अकल, अभेद आदि बताया है। इसी कारण 'अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुन सगुन ब्रह्म सुमिरामि नरभूप रूपं' कहकर राम और ब्रह्म को अभेद दृष्टि से देखा है। तुलसी ने अपने ब्रह्मस्वरूप को अनघ, अद्वैत, अनवद्य, अव्यक्त, अज, अमित, अविकार, आनन्दसिन्धु, अचल अनिकेत, अनामय, अनारम्भ, अम्भोदनाघ्नबन्धु, प्रणतपाल, करुणाधाम आदि कहा है और माया, जीव, प्रकृति, गुण, ज्ञान, कर्म, महत् तत्त्वादि का अधिष्ठाता सिद्ध किया है। तुलसी का ब्रह्म स्वतंत्र एवं सच्चिदानन्दघन है, अखिल-अमोघ-शक्ति-सम्पन्न है, अविनाशी, विरज, अगुन, अदभ्र, गिरागोतीत, सर्वज्ञ, अनवद्य, अजित निर्मम, निराकार, निर्मोह, नित्य, निरंजन एवं सुख-सन्दोह है। इसके साथ ही वह सगुण एवं साकार भी है और राम के रूप में अवतार भी धारण करता है।

तुलसीदासजी ने जीव के बारे में विचार करते हुए बताया है कि यद्यपि जीव का निर्माण 'छिति जल पावक गगन समीरा' नामक पंच तत्त्वों से हुआ है, फिर भी वह देहेन्द्रिय, मन, प्राण एवं बुद्धि से विलक्षण है, चैतन्य है, नित्य है। तुलसी ने 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुख रासी' कहकर जीव को ईश्वर का अंश, अविनाशी, चेतन अमल एवं सहज सुखराशि बताया है। ईश्वर का अंश होने के कारण जीव में भी ईश्वर या ब्रह्म के से सभी गुण दिखाई देते हैं, परन्तु ईश्वर और जीव में विद्यमान अन्तर का स्पष्टीकरण करते हुए तुलसी ने 'परबस जीव स्वबस भगवन्ता' कहकर स्पष्ट बताया है कि जीव माया के वश में रहता है और ब्रह्म सर्वथा स्वतन्त्र है। यह जीव माया के प्रभाव के कारण ही अपने अमल रूप से आविल हो जाता है और सहज सुखराशि रूप से दुःखमय रूप को ग्रहण कर लेता है। तुलसी ने 'भूमि परत भा डावर पानी, जनु जीवहि माया लपटानी' कहकर यह बताया है कि जीव अपनी विशुद्ध, निर्विकार एवं सुखस्वरूप स्थिति से तभी दूर जा पड़ता है, जबकि माया उसे चारों ओर से आकर लपेट लेती है। 'सो माया वस परयो गुसाईं, बँध्यों कीर मरकट की नाईं' कहकर तुलसी ने माया के द्वारा वशीभूत जीव की स्थिति को बंधन में पड़े हुए मदारी के बन्दर की भाँति बताया है। इतना ही नहीं, तुलसी ने 'विषयी साधक सिद्ध सयाने, त्रिविध जीव जग वेद बखाने' कहकर जीवों के तीन भेद बताये हैं—(१) विषयी अर्थात् बद्ध जीव, (२) साधक अर्थात् मुमुक्षु जीव और (३) सिद्ध अर्थात् मुक्त जीव। साधारणतया अपने कर्मानुसार ही जीव सुख-दुःख का भागी होता है, किन्तु उसकी सम्पूर्ण गति-विधि ब्रह्म के हाथ में रहती है। ईश्वर और जीव के सम्बन्ध की चर्चा करते हुए तुलसी ने बताया है कि ब्रह्म मायापति हैं और जीव माया के वश में रहता है। इसलिए जीव ब्रह्म का सखा नहीं अपितु सेवक है। 'मैं सेवक रघुपति पति मोरे' कहकर तुलसी ने ब्रह्म और जीव के इसी सेव्य-सेवक भाव की ओर संकेत किया है। इतना ही नहीं, जीव माया पति नहीं है, पर ईश्वर मायापति है। ईश बन्ध-मोक्षदाता है, सबसे परे है, सबकी मर्यादा है, किन्तु जीव में यह सामर्थ्य नहीं है। माया से प्रेरित होकर यह जीव अविनाशी होकर भी काल, कर्म, स्वभाव और गुणों के

चक्कर में पड़कर चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता रहता है। इस प्रकार जीव को ईश्वर का अंश, अविनाशी, अमल आदि मानते हुए भी तुलसी ने जीव को ईश्वर से पृथक् माना है।

तुलसी ने जगत के बारे में विचार करते हुए जगत् को 'जद्यपि मृषा सत्य भासै, जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी' कहकर स्पष्ट ही मिथ्या एवं भ्रमपूर्ण बताया है, जो देखने में सत्य जैसा प्रतीत होता है। इतना ही नहीं, बूढ्यो मृगवारि खायो जेवरी को साँप रे' कहकर जगत् को 'मृगवारि' एवं 'जेवरी को साँप' की भाँति भ्रमात्मक बताया है और 'जागु जागु जीव जड़ जोहै जग-जामिनी, देह गेह नेह जानि जैसे घनदामिनी' कहकर जड़ जीव को सावधान किया है कि इस नश्वर जगत् के भुलावे में पड़कर भ्रमित होने की आवश्यकता नहीं है। 'अनुविचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी' कहकर तुलसी ने संसार की विषमता, भयंकरता आदि की ओर भी संकेत किया है। इतना ही नहीं 'व्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचण्ड, सेनापति कामादि भट दम्भ कपट पाखण्ड' कहकर संसार में व्याप्त माया की सम्पूर्ण सेना की ओर भी संकेत किया है, जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, तृष्णा, दम्भ, कपट, छल आदि के रूप में यहाँ विद्यमान होकर निरन्तर जीवों को भ्रमित करती रहती है और अधःपतन की ओर उन्मुख करती रहती है। इस संसार सम्वन्धी भ्रम की ओर तुलसी ने बड़ी तत्परता के साथ संकेत किया है। 'हे हरि यह भ्रम की अधिकाई' वाले पद में तो कवि ने जगत् की भ्रमात्मक सत्ता पर आश्चर्य भी प्रकट किया है। इतना ही नहीं 'जो निज मन परिहरै विकारा, तौ कत द्वैत जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा' कहकर तुलसी ने द्वैत को ही दुःखों का कारण वताया है और इस द्वैत ज्ञान का मूल कारण अज्ञान सिद्ध किया है। परन्तु यह द्वैत-भाव भगवान् की कृपा से ही नष्ट होता है। इस तरह तुलसी ने जगत् को मिथ्या तो सिद्ध किया है, परन्तु 'कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रवल कोऊ मानै, तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम को आपन पहिचानै' कहकर अन्त में संसार की सत्यता, असत्यता, सत्यासत्यता तीनों बातों को ही मिथ्या बताया है और तीनों मतों को भ्रमात्मक कहकर भक्ति को अपनाने का आग्रह किया है। इस तरह तुलसी ने जगत् के निरूपण में शंकर का अनुसरण करके भी अन्त में रामानन्द के अनुकूल ही भक्ति सम्बन्धी विचार प्रकट किये हैं।

तुलसी ने 'माया' के बारे में विचार करते हुए बताया है कि माया के दो रूप हैं—एक तो मैं अरु मोर तोर तैं माया' वाला रूप है, जिसके वश में सम्पूर्ण जीव रहते हैं और गो-गोचर जहाँ तक मन जा सकता है, वह सभी जिसके वश में रहता है, इसे अविद्या रूप बताया है और दूसरा माया का विद्या रूप है, जो ब्रह्म की शक्ति है और विश्व के निर्माण में सहायक होती है। इसी दूसरे रूप को स्पष्ट करते हुए तुलसी ने 'सुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीश माया जानकी, जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की' कहकर विद्या रूपी माया को विश्व का सृजन, सिंचन एवं संहार करने वाला बताया है। यह विद्या रूपी माया स्वयं कुछ नहीं करती। मायापति

की इच्छा से, उनकी प्रेरणा से ही सृष्टि, संहार आदि कार्यों में प्रवृत्त होती है। यही विद्या रूपी माया जीव को भगवान् से मिलाती है और इसी से जीव भव-बन्धन से छूटकर भगवान की शरण में जाता है। इसके विपरीत अविद्या रूपी माया मानव को अध:पतन की ओर ले जाती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, तृष्णा, कामिनि आदि इसके सहायक हैं। यह माया नाना प्रकार के छल-छद्मों द्वारा जगत् के प्राणियों को अन्धा बनाया करती है तथा नाना प्रकार की चिन्ताओं, तीनों प्रकार की ऐषणाओं आदि में फँसाती हुई मानव को पतन की ओर उन्मुख किया करती है। परन्तु 'हरि सेवकहिं न व्यापि अविद्या' कहकर तुलसी ने हरिभक्तों को अविद्या के प्रभाव से सदैव दूर ही बताया है।

तुलसी ने तात्त्विक दृष्टि से जीव और ब्रह्म को एक ही माना है, परन्तु अविद्या माया के कारण ही दोनों में अन्तर हो जाता है। इस तरह तुलसी जीव और ब्रह्म की एकता की ओर तो संकेत करते हैं, परन्तु रामानुज की पद्धति पर मुक्ति की अवस्था में जीव और ब्रह्म में द्वैत स्वीकार करते हैं। तुलसी के द्वारा संसार के मिथ्यात्व का प्रतिपादन देखकर कुछ विद्वान् तुलसी को अद्वैतवादी मानते हैं और जीव और ब्रह्म के अंशांशी भाव आदि को देखकर कुछ विद्वान् इन्हें विशिष्टाद्वैतवादी बताते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुलसी ने शंकर के अद्वैतवाद से प्रभावित होकर ही जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है, और शंकर की पदावली 'मृग-जल', 'जेवरी को साँप' आदि को भी अपनाया है। इसके साथ ही तुलसी ने शंकर की ही भाँति ब्रह्म के निर्गुण, निरुपाधि, अगम, अगोचर रूप को भी अपनाया है। परन्तु तुलसी रामानन्द के रामावत सम्प्रदाय के भक्त थे और रामावत सम्प्रदाय में विशिष्टाद्वैतवाद को ही अपनाया गया है। इसीलिए तुलसी ने रामावत सम्प्रदाय की भाँति राम को निर्गुण एवं सगुण दोनों रूपों में स्वीकार किया है और जीव का नानात्व एवं ब्रह्म से उसका भेद स्वीकार किया है, किन्तु जगत्, जीव एवं माया के वर्णन में शंकर की पद्धति का ही अनुसरण किया है तथा भक्तिवाद एवं शंकर के मायावाद में साम्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। रामानुज, वल्लभ, मध्वाचार्य आदि ने शंकर के मायावाद का खण्डन करके ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध की है, परन्तु तुलसी ने माया को ब्रह्म की शक्ति कहकर जगत् के भ्रममय रूप की पहचान ज्ञान द्वारा सिद्ध करके शंकर और रामानन्द के दार्शनिक विचारों में सुन्दर समन्वय स्थापित किया है। फिर दार्शनिक दृष्टि से तुलसी विशिष्टाद्वैतवाद के ही पोषक हैं और इसी आधार पर उनकी भक्ति-भावना स्थिर रह सकती है, नहीं तो शंकर का अद्वैतवाद स्वीकार कर लेने पर सेव्य-सेवक-भाव की भक्ति को खतरा उत्पन्न हो जाता है। इसीलिए शंकर का अनुमोदन करने पर भी तुलसी रामानन्द द्वारा प्रतिपादित विशिष्टाद्वैतवाद के ही समर्थक हैं।

तुलसी का समन्वयवाद

जिस युग में तुलसीदासजी का आविर्भाव हुआ, उस युग में धर्म, समाज,

राजनीति आदि के क्षेत्रों में सर्वत्र पारस्परिक वैषम्य एवं विभेद का बोलवाला था। धर्म के क्षेत्र में एक ओर हिन्दू-मुस्लिम भावनाओं के कारण वैमनस्य जड़ पकड़ रहा था, दूसरी ओर शैव, शाक्त एवं वैष्णव मत के अनुयायियों में भी पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष बढ़ता चला जा रहा था। दक्षिण भारत में तो यह विद्वेष एवं वैमनस्य इतना बढ़ा कि शिवकांची एवं विष्णुकांची तक का निर्माण हो गया। उत्तरी भारत में भी प्रायः धार्मिक संघर्ष चलते रहते थे और ये संघर्ष तत्कालीन धार्मिक शान्ति के सर्वथा प्रतिकूल थे। धार्मिक शान्ति के साथ-साथ सामाजिक शान्ति भी भंग हो रही थी। ब्राह्मण और शूद्र एवं ऊँच और नीच के भेदभाव से हिन्दू-समाज विशृंखलित हो रहा था, उसमें पारस्परिक वैमनस्य के साथ-साथ वर्ग-भेद उत्पन्न होता जा रहा था और वर्ग-भेद की रह खाई इतनी गहरी होती जा रही थी कि उसे देखकर यही ज्ञात होता था, कि हिन्दू-समाज पतन के कगार पर पहुँच चुका है। यही दशा राजनीति एवं साहित्यिक क्षेत्रों में भी थी। आपस में ईर्ष्या-द्वेष, वैमनस्य एवं विद्वेष के कारण समूचे भारत में घोर अशान्ति एवं विषमता का वातावरण उत्पन्न हो गया था। उस समय अकबर जैसे धार्मिक सहिष्णु शासक ने पारस्परिक ऐक्य एवं समता के लिए प्रयत्न अवश्य किये, परन्तु उन प्रयत्नों के पीछे उसकी स्वार्थमयी मनोवृत्ति एवं राज्य-लिप्सा होने के कारण उसे भी अधिक सफलता न मिली। हाँ, तत्कालीन सन्त-कवियों ने अवश्य सारे भारत में भावात्मक एकता स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया। गोस्वामी तुलसीदास भी उन्हीं सन्त-कवियों में से एक थे, जिन्होंने तत्कालीन परिस्थिति का गहराई के साथ अध्ययन एवं अनुशीलन करके समाज में व्याप्त विषमता एवं वैमनस्य दूर करने का प्रयत्न किया। तुलसीदासजी ने उस विषमता को दूर करने के लिए समन्वय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया और स्वयं धर्म, राजनीति, समाज, साहित्य आदि के क्षेत्रों में यथासम्भव समन्वय स्थापित करते हुए पारस्परिक विरोध एवं वैषम्य को दूर करने का प्रयास किया। इस समन्वय के लिए तुलसी ने सामाजिक, पारिवारिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, राजनीतिक, नैतिक आदि सभी क्षेत्रों को चुना और इन सभी क्षेत्रों में समन्वय स्थापित करते हुए तत्कालीन जन-जीवन में व्याप्त घोर अशान्ति, पापाचार, अनाचार, अधार्मिकता, विषमता आदि को दूर करने की सफल चेष्टा की। अपने इसी समन्वयात्मक दृष्टिकोण के कारण तुलसी लोकनायक भी कहलाते हैं और गौतम बुद्ध के पश्चात् आपको ही लोकनायकत्व का महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। संक्षेप में तुलसी के समन्वयवादी विचार इस प्रकार हैं :

(१) शैव एवं वैष्णव मत का समन्वय—भारतीय विचारधारा के अनुसार त्रिदेव की कल्पना बड़ी महत्त्वपूर्ण मानी गई है। इसके अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीन प्रमुख देव माने जाते हैं, जिनमें से ब्रह्मा सृष्टि के उत्पादक हैं, विष्णु सृष्टि के पालक हैं और शिव सृष्टि के संहारक हैं। इसी आधार पर विष्णु को अपना सर्वस्व मानने वाले भक्त 'वैष्णव' कहलाते हैं और शिव को अपना सर्वस्व मानने वाले 'शैव' कहलाते हैं। कालान्तर में वैष्णव एवं शैव मतों में विष्णु और शिव को ही सृष्टि का

उत्पादक, पालक एवं संहारक कहकर सर्वशक्तिमान माना जाने लगा और फिर आपस में विद्वेष भी फैल गया, जिसके परिणामस्वरूप वैष्णव शैवों को तुच्छ एवं हेय दृष्टि से देखने लगे और शैव-भक्त वैष्णवों से घृणा करने लगे। तुलसी के समय में यह विद्वेष अपनी चरमसीमा पर पहुँचा हुआ था। अतः तुलसी ने दोनों मतों में समन्वय स्थापित करने के लिए एक ओर तो शिव के मुख से 'सोइ मम इष्टदेव रघुवीरा, सेवत जाहि सदा मुनिधीरा' कहलवा कर शिव को राम का उपासक सिद्ध कर दिया और दूसरी ओर राम के मुख से 'संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास, ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ वास' कहलवा कर राम को शिव का अनन्य प्रेमी सिद्ध कर दिया है। इतना ही नहीं, तुलसी ने सेतु का निर्माण होने पर राम के द्वारा शिव की प्रतिष्ठा एवं पूजा-अर्चना कराके राम को शिव का अनन्य भक्त भी सिद्ध कर दिया है। साथ ही 'हरि हर पद रनि मति न कुतरकी'. तुलसी ने राम और शिव में अभेद एवं अभिन्नत्व भी स्थापित किया है और राम-स्तोत्र के साथ रामचरितमानस' में ही शिव-स्त्रोत्र की रचना करके इस पार्थक्य एवं वैषम्य को दूर करते हुए शिव एवं विष्णु के अवतार राम में पूर्णतया समन्वय स्थापित कर दिया है।

(२) **वैष्णव एवं शाक्त मत का समन्वय**—शिव और विष्णु के भक्तों में जिस तरह पारस्परिक वैमनस्य एवं विद्वेष फैला हुआ था, उसी तरह वैष्णवों एवं शाक्तों में भी उस समय घोर संघर्ष चलता रहता था। संभवतः इसी कारण कबीर ने भी 'वैष्णव की छपरी भली, नहिं साकत कौ गाँव' कहकर शाक्तों की अपेक्षा वैष्णवों को श्रेष्ठता प्रदान की थी। परन्तु तुलसी ने शैव एवं वैष्णवों की भाँति शाक्तों एवं वैष्णवों के संघर्ष एवं वैमनस्य को दूर करते हुए 'शक्ति' की भी उपासना की, और 'रामचरितमानस' में सीता को ब्रह्म की शक्ति बताकर तथा 'उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीं सर्वश्रेयकरी' आदि कहकर शक्ति की इस प्रकार प्रार्थना की—

नहि तव आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव वेद नहिं जाना॥
भव-भव विभव पराभव कारिनि। विश्व विमोहनि,स्ववस विहारिनि॥

उक्त कथन के द्वारा शाक्त मत में वर्णित शक्ति को भगवान राम की प्रिया कहते हुए तथा 'नतोऽहं रामवल्लभाम्' द्वारा उस शक्ति के प्रति पूज्य भाव प्रकट करते हुए तुलसी ने शाक्त एवं वैष्णवों में भी समन्वय स्थापित किया, जिससे शाक्त भी अपने को एक ही धर्म का अङ्ग समझने लगें।

(३) **रामावत सम्प्रदाय एवं पुष्टिमार्ग का समन्वय**—तुलसी स्वामी रामानन्द के शिष्य सम्प्रदाय में स्वामी नरहर्यानन्द के शिष्य होने के कारण रामावत सम्प्रदाय में ही दीक्षित हुए थे। रामावत सम्प्रदाय में राम को ही परब्रह्म माना गया है तथा ब्रह्म के पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार नामक पाँच रूप माने गये हैं। इन्हीं रूपों में उनकी आराधना एवं अर्चना होती है। तुलसी ने उक्त पाँचों रूपों के अनुकूल ही 'रामचरितमानस' में भगवान राम का चित्रण किया है, परन्तु इसके साथ

ही पुष्टिमार्ग के अनुसार ब्रह्म की कृपा अथवा अनुग्रह को भी सर्वोपरि बताया है और सिद्ध किया है कि कितनी ही पूजा, अर्चना एवं उपासना की जाये, किन्तु भगवान् की कृपा के बिना कभी कुछ नहीं होता। इसीलिए तुलसी ने 'तुम्हरिहिं कृपा तुमहि रघुनन्दन, जानहिं भगत-भगत उर चन्दन' कहकर स्पष्ट किया है कि भगवान् की कृपा से ही भगवत् साक्षात्कार होता है। साथ ही बिना भगवान् की कृपा के राम की भक्ति भी प्राप्त नहीं होती। इसीलिए तुलसी लिखते हैं—

राम भगति मन उर बस जाके। दुख लवलेश न सपनेहुँ ताके॥
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥
सो मनि जदपि प्रकट जग अहई। राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई॥

इस प्रकार राम की भक्ति में भी राम की कृपा की महत्ता प्रदर्शित करते हुए तुलसी ने रामावत सम्प्रदाय एवं पुष्टिमार्गीय मत में सुन्दर समन्वय स्थापित किया है।

(४) अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद का समन्वय—तुलसी ने दार्शनिक विचारों में भी समन्वय स्थापित करने का सुन्दर प्रयास किया है। तुलसी से पूर्व सभी भक्ताचार्यों ने शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन करके अपने-अपने मत की स्थापना की थी। इसीलिए रामानुजाचार्य ने शंकर के अद्वैतवाद का विरोध करके अपने विशिष्टाद्वैतवाद का प्रचार किया, मध्वाचार्य ने द्वैतवाद का प्रचार किया, विष्णुस्वामी ने शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया और निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैत का प्रचार किया था। यद्यपि गोस्वामीजी रामानुजाचार्य के मतानुयायी होने के कारण विशिष्टाद्वैतवाद को मानते थे और इसी कारण आपने जीव को ईश्वर का अंश कहकर ईश्वर की ही भाँति चेतन, अमल, अविनाशी आदि कहा है; ब्रह्म को सगुण, निर्गुण, अगुण, अरूप, अलख, अज आदि कहकर विशिष्टता प्रदान की है तथा 'पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे' तथा 'जौं जग मृषा ताप-त्रय अनुभव होत कहहु केहि लेखें' आदि कहकर विशिष्टाद्वैतवादियों की भाँति संसार को नित्य, शाश्वत एवं अविनाशी घोषित किया है, परन्तु 'विनय-पत्रिका' में आकर तुलसी ने शंकर के अनुसार ही ब्रह्म को अज, स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, सत्य आदि कहा है; जीव एवं जगत् को सोपाधिक एवं मिथ्या बताया है तथा माया का निरूपण भी शंकर की ही भाँति किया है। इस तरह तुलसी के विचारों में अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद का भी समन्वय मिलता है और इसके द्वारा नुलसी ने दार्शनिक विद्वेष एवं वैमनस्य को दूर किया है।

(५) ज्ञान और भक्ति का समन्वय—तुलसी के समय में ज्ञानियों एवं भक्तों में बड़ा विवाद चलता था, जिसके फलस्वरूप ज्ञानीजन भक्तों को तुच्छ मानकर स्वयं को श्रेष्ठ समझते थे और भक्तजन ज्ञानियों को तुच्छ समझते हुए स्वयं को श्रेष्ठ मानते थे। ज्ञान की इस श्रेष्ठता की ओर 'कहहिं सन्त मुनि वेद पुराना, नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना' कहकर तुलसी ने भी संकेत किया है। परन्तु तुलसी ने भक्ति के

लिए ज्ञान की महत्ता घोषित की। यद्यपि तुलसी ने 'ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका' अथवा 'ग्यान का पंथ कृपान की धारा' आदि कहकर ज्ञान-मार्ग की कठिनाइयों की ओर संकेत किया है और 'भक्ति सुतन्त्र सकल सुख खानी' कहकर भक्ति को ज्ञान की अपेक्षा श्रेष्ठ सिद्ध किया है, तथापि तुलसी ने 'भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव-सम्भव खेदा' कहकर दोनों की समता भी सिद्ध की है। साथ ही 'जोग अगिनि करि प्रकट तब कर्म सुभासुभ लाइ, बुद्धि सिरावै ग्यान घृत ममता मल जरि जाइ' कहकर तुलसी ने ज्ञान को श्रेष्ठ बताया है, जिसके द्वारा चित्त रूपी दीपक प्रज्वलित होता है और मोह मदादि रूपी शलभ सब नष्ट हो जाते हैं, इसके साथ ही कहहिं भगति भगवन्त कै संजुत ग्यान विराग' कहकर भक्ति को ज्ञान एवं वैराग्य से युक्त बताया गया है तथा 'श्रुति सम्मत हरि-भगति पथ संजुत विरति विवेक' कहकर की भक्ति और ज्ञान के समन्वय की ओर संकेत किया गया है।

(६) सगुण और निर्गुण का समन्वय—तुलसी से पूर्ववर्ती भक्तों में ही ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण स्वरूप पर पर्याप्त संघर्ष चला आ रहा था। इसी संघर्ष के परिणाम-स्वरूप महात्मा सूरदास ने अपने 'भ्रमरगीत' में ब्रह्म के निर्गुण रूप का खण्डन करके सगुण की महत्ता का प्रतिपादन किया था। परन्तु गोस्वामी तुलसीदास ने सगुण और निर्गुण के विद्वेष एवं वैमनस्य को मिटाते हुए दोनों में समन्वय स्थापित किया है और बताया है कि यद्यपि ब्रह्म निर्गुण, निराकार, अज, अनघ, अद्वैत, अव्यक्त, अविकार, अचल, अनिकेत, अविरल, अनामय, अनारम्भ एवं अमल है; तथापि वह दीनबन्धु, दयालु, शरणागत-वत्सल, भक्तवत्सल है और गो, द्विज, सुर आदि के कष्टों का निवारण करने के लिए सगुण रूप धारण करता है। इसी कारण तुलसी ने राम को निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में देखा है और 'अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुन सगुन ब्रह्म सुमिरामि नरभूप रूप कहकर उनकी स्तुति की है। इस तरह तुलसी ने निर्गुण एवं सगुण के विवाद को दूर करके दोनों में सुन्दर समन्वय स्थापित किया है।

(७) नर और नारायण का समन्वय—तुलसी से पूर्व राम का महत्त्व दशरथ के पुत्र के रूप में ही था। उन्हें बहुत कम लोग परात्पर ब्रह्म, अज एवं अविनाशी मानते थे। इसीलिए कबीर ने 'दशरथ सुत तिहूँ लोक बखाना, राम-नाम परम है आना' कहकर राम के दशरथ-पुत्र रूप को ब्रह्म से पृथक् कहा था। परन्तु तुलसी ने 'भए प्रकट कृपाला दीनदयाला कौशल्या हितकारी' कहकर उन्हीं ब्रह्म को कौशल्या-पुत्र या दशरथ-सुत के रूप में अवतरित दिखाकर अपने इष्टदेव को साधारण 'नर' से ऊपर उठाते हुए 'नारायण' के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित किया है। इसी कारण तुलसी के राम अवतारी पुरुष होकर भी अज, अनवद्य, अरूप एवं अचल हैं, सगुण होकर भी निर्गुण एवं निर्विकार हैं, साकेत-निवासी होकर भी अनिकेत हैं, शील एवं सौन्दर्य-युक्त होकर भी अखण्ड, अनन्त एवं व्यापक हैं। इस प्रकार तुलसी ने राम के रूप में नर और नारायण का अथवा जीव और ब्रह्म का सुन्दर समन्वय स्थापित किया है।

(८) **द्विज और शूद्र का समन्वय**—तुलसीदासजी के समय में जाति-पाँति एवं छुआछूत का भेद-भाव अत्यधिक बढ़ा-चढ़ा था। उच्च-वर्ण के व्यक्ति नीच वर्ण के शूद्रादि से घृणा करते थे और उनसे अपना व्यवहार रखना भी बुरा मानते थे। तुलसी ने इस सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए अपने 'रामचरितमानस' में ब्राह्मण-कुलावतंश गुरु वसिष्ठ को शूद्रकुल में उत्पन्न निषादराज से भेंट करते हुए दिखाकर ब्राह्मण एवं शूद्रों में भी समन्वय स्थापित किया है तथा उच्च क्षत्रिय कुलोद्भव राम को तुच्छ वानर, भालु, रीछ, विभीषण राक्षस तक का प्रेमालिङ्गन करते हुए दिखाकर उच्च-वर्ग एवं निम्न-वर्ग में सुन्दर समन्वय स्थापित किया है।

(९) **राजा और प्रजा का समन्वय**—तुलसी के काल में राजा और प्रजा के अन्तर्गत गहरी खाई बनती जा रही थी। राजा प्रजा से कहीं अधिक श्रेष्ठ, उन्नत एवं महान् समझा जाता था और ईश्वर का रूप तक माना जाता था। इसीलिए 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' कहकर दिल्लीश्वर की प्रशंसा की जाती थी। तुलसी ने 'रामचरितमानस' में राजा और प्रजा के कर्त्तव्यों का निर्धारण करते हुए दोनों के सम्यक् रूप की व्यवस्था की और बताया कि 'सेवक कर पद नयन से, मुख सो साहिबु होइ' अर्थात् राजा को मुख के समान और प्रजा को कर, पद एवं नेत्रों के समान राजा का हितैषी होना चाहिए। इतना ही नहीं 'मुखिया मुख सो चाहिए खान-पान कहुँ एक, पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित विवेक' कहकर तुलसी ने राजा को मुखके तुल्य बताते हुए अपनी प्रजा के पालन-पोषण के लिए ही वस्तुओं का संग्रह करने वाला घोषित किया है। इस प्रकार शरीर में जिस तरह मुख तथा अन्य अंगों का समन्वय रहता है, उसी तरह तुलसी ने राजा और प्रजा के समन्वय पर जोर दिया है।

(१०) **पारिवारिक क्षेत्र में समन्वय**—तुलसी ने धर्म एवं समाज के क्षेत्र में ही समन्वय स्थापित नहीं किया, अपितु पारिवारिक क्षेत्र के अन्तर्गत पिता और पुत्र में, पति और पत्नी में, सास और पुत्रवधू में, भाई-भाई में, स्वामी और अनुचर में तथा पत्नी और सपत्नी में भी समन्वय स्थापित किया है। इसी कारण तुलसी के राम जितने पिता के भक्त हैं, उतने ही वे माताओं के भी भक्त हैं और माता-पिता भी राम के उतने ही भक्त हैं। ऐसे ही जितना आदर वधुएँ अपनी सासों का करती हैं, उतना ही स्नेह उन्हें सासों से भी प्राप्त होता है, साथ ही जितना स्नेह राम अपने भाइयों से करते हैं, उतना ही स्नेह उन्हें अपने भ्राताओं से भी प्राप्त होता है, और जितना प्रेम राजा दशरथ या राजा राम अपने सेवकों से करते हैं, उतना ही प्रेम उन्हें सेवकों से प्राप्त होता है। इस प्रकार तुलसी ने पारिवारिक जीवन में समन्वय स्थापित करते हुए एक आदर्श परिवार की प्रतिष्ठा की है।

(११) **साहित्यिक क्षेत्र में समन्वय**—तुलसी ने धर्म, राजनीति, परिवार एवं समाज के अतिरिक्त साहित्य के क्षेत्र में भी सुन्दर समन्वय की स्थापना की है। यही कारण है कि तुलसी ने अवधी और ब्रज दोनों भाषाओं का समन्वय करके 'रामचरितमानस' की रचना की है, इसीलिए हिन्दी के साथ-साथ, संस्कृत भाषा के श्लोकों की

रचना करके तथा 'मानस' और 'विनयपत्रिका' के स्तोत्रों में संस्कृत-गर्भित हिन्दी का प्रयोग करके संस्कृत और हिन्दी का सुन्दर समन्वय किया है, इसी कारण अपनी रचनाओं में वर्णिक और मात्रिक छन्दों का प्रयोग करके छन्द-सम्बन्धी समन्वय को भी स्थान दिया है, इसीलिए लम्बी-लम्बी समासान्त पदावली युक्त क्लिष्ट रचना-शैली तथा सरल एवं सुबोध शैली को अपनाते हुए 'विनय-पत्रिका' में शैलीगत समन्वय को भी अपनाया है और 'मानस' में विवरणात्मक कथा-रूप के साथ-साथ राम एवं शिव-सम्बन्धी स्तोत्रों की रचना करके कथा-शैली एवं स्तोत्र-शैली का भी समन्वय किया है; जिसमें पौराणिक एवं ऐतिहासिक शैली का भी समन्वथ दृष्टिगोचर होता है। इसी तरह तुलसी ने विभिन्न ग्रन्थों से राम-कथा को लेकर ऐसे सुन्दर कथा सम्बन्धी समन्वय की स्थापना की है, जिससे 'निगमागमसम्मत' होकर भी 'रामचरितमानस' सर्वथा अद्भुत, अलौकिक एवं मौलिक दिखाई देता है। इतना ही नहीं, तुलसी ने दोहा-चौपाई पद्धति पर 'मानस' लिखकर; पद-पद्धति पर 'विनय-पत्रिका', 'गीतावली' और 'कृष्ण-गीतावली' लिखकर; दोहा-पद्धति पर 'दोहावली' लिखकर; कवित्त-सवैया-छप्पय-पद्धति पर 'कवितावली' लिखकर; बरवै-पद्धति पर 'बरवैरामायण' लिखकर तथा लोकगीत-पद्धति पर सोहर छन्द में 'रामललानहछू' लिखकर तत्कालीन काव्य में प्रचलित सभी रचना-पद्धतियों में भी सुन्दर समन्वय स्थापित किया है।

सारांश यह है कि तुलसी एक उच्च कोटि के समन्वयवादी कवि थे। उन्होंने जीवन और जगत् के सभी क्षेत्रों में समन्वय स्थापित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया और अपने समन्वयवादी विचारों द्वारा तत्कालीन समाज में व्याप्त विषमता, विद्वेष, वैमनस्य, कटुता आदि को दूर करके पारस्परिक स्नेह, सौहार्द्र, समता, सहानुभूति आदि का प्रचार किया। इसीलिए तुलसी एक उच्च कोटि के कवि, महान् लोकनायक, सफल समाज-सुधारक, भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ प्रचारक, समाज में उन्नत आदर्श के संस्थापक तथा समन्वयवाद के प्रतिष्ठापक सन्त कहलाते हैं।

तुलसी की भाषा

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने समय में प्रचलित ब्रज एवं अवधी—दोनों साहित्यिक भाषाओं में रचनाएँ की हैं। उनकी सम्पूर्ण रचनाओं में से 'श्रीकृष्ण-गीतावली', 'कवितावली', 'विनय-पत्रिका', 'गीतावली', 'दोहावली' तथा 'वैराग्य-संदीपनी' ग्रन्थ व्रजभाषा में लिखे गये हैं और 'रामचरितमानस', 'रामलला-नहछू', 'बरवै रामायण' 'पार्वती-मंगल, 'जानकी-मंगल' तथा 'रामाज्ञा प्रश्न' अवधी भाषा की रचनाएँ हैं। तुलसी की दोनों भाषाओं के शब्द भण्डार का अध्ययन करने के लिए उन्हें सुविधा की दृष्टि से पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं।

१. संस्कृत के तत्सम शब्द,

२. मध्यकालीन पालि, प्राकृत अपभ्रंश आदि के शब्द,

३. विदेशी शब्द,

४. तत्कालीन प्रान्तीय भाषाओं के शब्द,
५. हिन्दी की अन्य बोलियों के शब्द।

(१) संस्कृत के तत्सम शब्द—तुलसी की रचनाओं में संस्कृत के तत्सम शब्द पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। तुलसी ने कुछ पद तो पूर्णतया संस्कृत में ही लिखे हैं; जिनमें संस्कृत के तत्सम शब्दों को ही अपनाया गया है। जैसे—'वर्णनामर्थ संघानां रसानां छन्दसामपि' अथवा 'नमामीशमीशान निर्वाण रूपं' आदि। इसके अतिरिक्त कुछ पदों का निर्माण तुलसी ने हिन्दी-संस्कृत की मिश्रित पदावली द्वारा किया है और उसमें भी संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता है; जैसे—'विनय-पत्रिका' में 'श्री रामचन्द्र कृपालु भजु मन हरन भवमय दारुनं' अथवा 'जयति मरुदंजनामोद मन्दिर नतग्रीवं-सुग्रीव दुःखैक बन्धो' आदि। तीसरे, तुलसी की अन्य ब्रज एवं अवधी की रचनाओं में भी पर्याप्त संस्कृत के तत्सम शब्द मिल जाते हैं; जैसे—'भद्रदाताऽसमाकं', 'नौमि श्रीरामसौमित्रि साकं', 'सुमिरामि नर भूपं रूपं', 'वल्लभं', 'दुर्लभं', 'करुनाकरं', 'भुवनैकभर्त्ता', 'जयति वैराग्य विज्ञान-वारांनिधे', 'नौमिजनक सुतावरं', 'भक्ति वैराग्य-विज्ञान समादान-दम नाम-आधीन साधन अनेक' आदि। इस प्रकार तुलसी के काव्यों में संस्कृत-पदावली का व्यवहार स्तोत्र एवं स्तुतियों में तो मिलता ही है, उनके अतिरिक्त भी तुलसी ने संस्कृत के तत्सम शब्दों को सबसे अधिक मात्रा में अपनाया है।

(२) पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के शब्द—तुलसी के काव्यों में पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं के शब्द भी पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। प्रायः वीर, रौद्र या भयानक रस का निरूपण करते समय तुलसी ने उक्त भाषाओं के शब्दों का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में किया है। क्योंकि इन भाषाओं में प्रयुक्त शब्दों के अन्तर्गत द्वित्व वर्णों का प्राधान्य होने के कारण उक्त रसों के लिए ये शब्द बड़े सहायक होते है। इसलिए तुलसी ने भट्टा, घट्टा, चमंकहिं, दमंकहिं, कटकट्ट कट्ठहिं, दपट्टहिं, खग्ग, अलुज्झि, जुज्झ, उर्वि, गुर्वि, पब्बै, बिद्दरनि, उच्छलित, मर्दि, लक्ख, पक्खर, तिक्खन, अच्छ, कच्छ, विपच्छ, कुम्भकरन्न, बोल्लहिं, डोल्लहिं, रघुप्पति, दसरथ्थ, लक्खन, परब्बत आदि का प्रयोग किया है। इन शब्दों के कारण नाद-सौन्दर्य के साथ-साथ ओजगुण एवं रौद्र तथा वीर रस की व्यंजना में बड़ी सहायता मिलती है।

(३) विदेशी भाषाओं के शब्द—तुलसी की समन्वयात्मक प्रवृत्ति होने के कारण उन्होंने भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त नित्यप्रति व्यवहार में आने वाले कितने ही अरबी, फारसी, तुर्की आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों को भी अपने काव्यों में अपनाया है। इसी कारण तुलसी ने गरूर, गुमान, गुनी, गरीब, साहेव, रहम, गरीब-निवाज, गरीबी, खसम, कलई, सीपर, सबील, जहान, कागज, बखशीश, रुख, गरदन, ख्वार, शोर, हवाले, खलक, हल्क, कहरी, बहरी, विरमानी, हबूब, फहम, हलाकी, मिसकीन आदि अनेक अरबी, फारसी एवं तुर्की शब्दों का प्रयोग किया है। इनमें से

कुछ शब्दों में देशी प्रत्यय लगाकर भी इन विदेशी शब्दों का व्यवहार किया गया है। जैसे—दगाई, मिसकीनता, अलायक, सरीकता, हलाकी आदि।

(४) **प्रान्तीय भाषाओं के शब्द**—तुलसी की रचनाओं में उत्तरी भारत के विभिन्न प्रान्तों की भाषाओं के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। जैसे—दारु, नारि (गर्दन), म्हाको, मेला, सार्‌यो, पूजि, ठोंकि-ठोंकि खये आदि राजस्थानी के शब्द मिलते हैं और बूत, लाधे (प्राप्त किया), मूकिये, (छोड़िये), मोंगी (मौन) आदि शब्द गुजराती के मिलते हैं। ऐसे ही वैसा (बैठा), पारा (सका), खटाइ (निभती) आदि शब्द बंगला में मिलते हैं, तथा पवाँरो, अवकलत आदि शब्द मरीठी के भी मिल जाते हैं।

(५) **हिन्दी की अन्य बोलियों के शब्द**—तुलसी की भाषा में ब्रज तथा अवधी बोली के शब्दों का व्यवहार तो अत्यधिक मात्रा में हुआ ही है। इनके अतिरिक्त हिन्दी की अन्य बोलियों के शब्द भी मिल जाते हैं। जैसे—सरल (सड़ा हुआ), दिहल (दिया), धायल (दौड़ा), सूतल (सोया), राउर, रावरी, जहवाँ, तहवाँ, लोइ, लोई (लोग) आदि भोजपुरी बोली के शब्द आये हैं; तेरी, मेरी, तुम्हारा, हमारा, देखो तुकिया, शरण आया; सोर मचा, लीजिए, कीजिए, गई, देना आदि खड़ीबोली के शब्द प्रयुक्त हुए हैं और सुआर, बागत (घूमते) आदि बघेली बोली तथा छत्तीसगढ़ी के शब्द भी मिलते हैं।

शब्द-शक्तियाँ—तुलसी की भाषा में अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में मिलता है। सरल एवं सुबोध रचनाओं में तो अभिधा का ही प्राधान्य है। किन्तु मुहावरे एवं लोकोक्तियों के प्रयोग में तुलसी ने लक्षणा-शक्ति का सफल प्रयोग किया है, जिससे अर्थ-गाम्भीर्य के साथ-साथ उक्ति-वैचित्र्य की भी सृष्टि हुई है। जैसे—'करत गगन को गेंडुआ', 'जारिकै हीयो', 'जाहिंगे चाटि दिवारी को दीयो', 'वयो लुनियतु', 'जानत हौं चारिफल चारि ही चनक को' आदि पदों में लक्षणा का प्रयोग हुआ है। इसके साथ ही तुलसी में व्यंजना-शक्ति का प्रयोग भी अत्यधिक मात्रा में मिलता है। जैसे—'जेई बाटिका बसति तहँ खगमृग तजि तजि भजे पुरातन पौन' अथवा 'स्वांस समीर भेंट भइ भोरेहुँ, तेहि मग पग न धर्‌यो तिहुँ पौन' कहकर सीता की विरह विदग्ध दशा की सुन्दर व्यंजना की गई है। ऐसे ही 'ससि तें सीतल मोको लागै माई री तरनि' कहकर तुलसी ने गोपियों की विरहावस्था की मार्मिक व्यंजना की है।

लोकोक्ति एवं मुहावरे—तुलसी की भाषा में लोकोक्ति एवं मुहावरों की भरमार मिलती है। जैसे—'धोबी कैसो कूकर, न घर को न घाट को', 'धान को गाँव पयार ते जानिय', 'खाती दीप मालिक ठठाइत सूप हैं', 'आपने चना चबाइ हाथ चाटियत है', 'त्यों-त्यों होइगी गरुई ज्यों-ज्यों कामिरि भीजै', 'दूध कौ जर्‌यो पियत फूँकि-फूँकि मह्यो हौं', 'जस काछिय तस चाहिय नाँचा', 'तसि पूजा चाहिए जस देवा', 'सूझ जुआरिहिं आपन दाऊ', 'बाजु सुराग कि गाँडर ताँती', 'रहत न आरत के चित चेतू' आदि लोकोक्तियों का प्रयोग मिलता है तथा 'जैहैं बारह बाट', 'कहब

जीभ करि दूजी', 'ठग के से लाडू खये', 'पानी भरी खाल है', 'मुँह लाए मूँड़हि चढ़ी', मींजो गुरु पीठ', 'हमहुँ कहब अब ठकुरसुहाती', 'गालु बड़ तोरे', 'खेत के से धोखे', 'छोट बदन कहहुँ बड़ी बाता', 'जीवन पाउँ न पाछे धरहीं', 'पूतरो बाँधि है', 'पीपिलिकनि पंख लागो', 'तज्यो दूध माखी ज्यों', 'कोढ़ में की खाज', 'भौंतवा भौंर को हौं', 'बूझ्यौ राग बाजी ताँति', 'पाके छत जनु लाग अँगारू', 'डासत ही गई बीत निसा' आदि अनेक मुहावों का सुन्दर एवं सजीव प्रयोग हुआ है ।

इस तरह तुलसी ने विभिन्न प्रकार की लोकोक्तियों एवं मुहावरों के द्वारा सरल एवं क्लिष्ट, सरल एवं अलंकृत तथा व्यावहारिक एवं साहित्यिक भाषा का प्रयोग किया है । इसीलिए 'रामलला-नहछू' तथा बरवै रामायण' में यदि अवधी का ग्रामीण एवं लोक-प्रचलित रूप दिखाई देता है, तो 'रामचरितमानस' में शुद्ध साहित्यिक रूप का ही प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है । इस तरह 'कृष्ण-गीतावली' में ब्रजभाषा के लोक व्यवहृत रूप के दर्शन होते हैं, तो 'गीतावली', 'कवितावली' तथा 'विनयपत्रिका' में उनके शुद्ध साहित्यिक रूप को देखा जा सकता है ।

सारांश यह है कि तुलसी का ब्रज और अवधी पर समान अधिकार था और इसी प्रकार तुलसी ने दोनों भाषाओं का प्रयोग बड़ी सजीवता, मार्मिकता, प्रभावोत्पादकता एवं सफलता के साथ किया है । उनकी भाषा में कलात्मक सौन्दर्य के साथ-साथ सामाजिक एवं सांस्कृतिक शब्दावली का प्राधान्य होने के कारण हमारे जन-जीवन का समग्र रूप विद्यमान है। तुलसी ने इसीलिए सामान्य दैनिक जीवन में प्रयुक्त वस्तुओं एवं व्यापारों का बड़ी रोचकता एवं सरसता के साथ वर्णन किया है तथा भारतीय जीवन में व्याप्त परम्परागत सांस्कृतिक कृत्यों का उल्लेख भी बड़ी तत्परता एवं सजीवता के साथ किया है । अतः तुलसी की भाषा भाव एवं प्रसङ्ग के अनुकूल होने के साथ-साथ हमारे सांस्कृतिक एवं व्यावहारिक जीवन को चित्रित करने में पूर्ण सशक्त, समर्थ एवं सक्षम दिखाई देती है, उसमें राम कथा के साथ-साथ हमारे सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की सजीव झाँकी अंकित हुई है और जनसाधारण व्याप्त रीति-रिवाज, त्यौहार, संस्कार, जन-विश्वास आदि का चित्रण भी बड़ी ही मार्मिकता के साथ किया गया है ।

सूर और तुलसी की तुलना

साम्य—सूर और तुलसी दोनों कवि हिन्दी काव्य-गगन के देदीप्यमान नक्षत्र हैं। इसीलिए 'सूर सूर तुलसी ससी' कहकर एक को सूर्य और दूसरे को चन्द्र कहा जाता है । दोनों प्रतिभाशाली कवि हैं और दोनों का काव्य भक्ति-साहित्य के अन्तर्गत शीर्ष-स्थानीय माना जाता है । इनमें से एक ने यदि 'सूरसागर' की रचना करके भक्ति-पिपासु जनों के लिए भक्तिरसामृत का अक्षय भण्डार प्रदान किया है, तो दूसरे ने गहन एवं गम्भीर 'मानस की रचना करके भव-आतप से विह्वल प्राणियों के लिए निर्मल एवं शीतल भक्ति-जल से परिपूर्ण भक्ति-सरोवर का निर्माण किया है, जिसका

पय-पान करके प्राणी अनायास ही भव-बन्धन से छूट जाते हैं। दोनों भक्त कवियों ने हिन्दी काव्य-सागर को अगणित भाव-रत्नों से परिपूर्ण किया है और संगीत के मधुर संयोग द्वारा हिन्दी-काव्य को प्रभावोत्पादक एवं मनोरंजक बनाया है। दोनों ने भगवान् के शक्ति, शील एवं सौन्दर्य से सम्पन्न दिव्य अलौकिक रूप का वर्णन करके भक्ति के सुदृढ़ आलम्बन प्रदान किये हैं और दोनों ने ही मानव-जीवन के अन्तराल में प्रवेश करके जीवन की विविध भावमयी झाँकियाँ अंकित की हैं। दोनों ने भक्ति का सुदृढ़ आलम्बन देकर तत्कालीन हिन्दू-समाज में व्याप्त नैराश्य-जनित खिन्नता को दूर किया है और दोनों ने भगवान् की लोकरंजनकारिणी मूर्ति का सजीव चित्रण करके तत्कालीन भूली-भटकी जनता को भक्ति-पथ पर आरूढ़ किया है। दोनों ने सरस पद-शैली में मधुर राग-रागनिओं के अन्तर्गत भगवान् के गुणानुवाद का गान किया है और दोनों ने अपनी, सरस, सुबोध एवं संगीतमयी रचनाओं द्वारा हिन्दी के काव्य-भण्डार की पूर्ति की है। दोनों ने विविध रसों के अन्तर्गत मिलन एवं विरह के गीत गाये हैं तथा दोनों ने भगवान् की विविध लीलाओं का मनोहर एवं मनोरंजक वर्णन करके लोक-मानस के अन्तर्गत भगवान् के सगुण रूप की प्रतिष्ठा की है। दोनों ने अपने-अपने काव्य में मानव-जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के विविध वर्णमय चित्र अंकित किये हैं और दोनों ने अपनी-अपनी अलंकृत वाणी द्वारा हिन्दी-काव्य का शृंगार किया है। इस तरह दोनों ही चतुर चितेरे हैं, कुशल कलाकार हैं, गुणी गायक हैं, सरस स्रष्टा हैं, श्रेष्ठ भक्त हैं और महाकवि हैं।

वैषम्य—इतने साम्य के होते हुए भी सूर और तुलसी में पर्याप्त वैषम्य है। सूर कृष्ण के परम भक्त हैं और तुलसी राम के। सूर बल्लभाचार्य द्वारा प्रस्थापित पुष्टि-मार्ग के अनुयायी हैं और तुलसी रामानुजाचार्य द्वारा प्रस्थापित श्री सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। सूर ने सखा भाव की भक्ति को अपनाया है और तुलसी ने दास्य-भाव की भक्ति को अंगीकार किया है। सूर दार्शनिक दृष्टि से शुद्धाद्वैतवाद को मानते हैं और तुलसी विशिष्टाद्वैतवाद के पोषक हैं। सूर ने अपने इष्टदेव (कृष्ण) में सौन्दर्य की ही प्रतिष्ठा की है और उनके बाल-रूप का अधिक तत्परता एवं तल्लीनता के साथ वर्णन किया है, जबकि तुलसी ने अपने इष्टदेव (राम) में सौन्दर्य के साथ शक्ति एवं शील की भी प्रतिष्ठा की है तथा राम के बचपन से लेकर प्रौढ़ जीवन तक की मनोरंजक झाँकियाँ अंकित की हैं। इसीलिए सूर के कृष्ण में लोकानुरंजनकारी माधुर्य एवं सौन्दर्य का ही प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है, जिस पर अनेक गोप-रमणियाँ अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देती हैं, जबकि तुलसी के राम में लोकहितकारी एवं लोकरक्षक रूप प्राधान्य होने के कारण अनन्तशील एवं अनन्त शक्ति के दर्शन होते हैं, जिसे देखकर निर्बल, दीन, असहाय एवं अशरण व्यक्तियों के हृदय में आशा का संचार होता है। सूर के कृष्ण मोहक, अनुरंजक एवं आकर्षक सौन्दर्य के भण्डार हैं, जबकि तुलसी के राम अनीति एवं अन्याय के विध्वंसक, असुरों एवं अधर्मों के विनाशक एवं भू-गो-द्विज एवं सुरों के कल्याण हेतु अवतार ग्रहण करने वाले पूर्ण शक्ति-सम्पन्न अवतारी

पुरुष हैं। इसीलिए सूर जहाँ कृष्ण के अवतरित होने का कोई कारण नहीं देते, वहाँ तुलसी ने 'जब-जब होय धरम की हानी, बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी', 'करहिं अनीति जाहि नहिं वरनी, सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी', 'तब-तब प्रभु धरि विविध सरीरा, हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा' कहकर राम के अवतार का उद्देश्य स्पष्ट घोषित किया है।

सूर मुख्यतया वात्सल्य एवं शृंगार के कवि हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उक्त दोनों रसों का वर्णन जितनी मार्मिकता, सजीवता, विविधता एवं निपुणता के साथ सूर ने किया है, उतना हिन्दी का कोई अन्य कवि नहीं कर सका है। निस्सन्देह सूर वात्सल्य एवं शृंगार रस का तो कोना-कोना झाँक आये हैं। वात्सल्य-वर्णन में तो आज तक कोई कवि सूर की समानता नहीं कर सका है। इसके अतिरिक्त एक-दो स्थलों पर करुण, भयानक, वीर, रौद्र आदि रसों का भी वर्णन मिल जाता है। परन्तु तुलसी रस-सम्राट् हैं। यद्यपि तुलसी का बाल-वर्णन सूर की अपेक्षा अधिक सजीव एवं चित्ताकर्षक नहीं है, क्योंकि उसमें न तो विविध बाल-व्यापारों का चित्रण है और न सूर जैसी गहराई ही है, तथापि तुलसी का अन्य रसों पर पूरा अधिकार है। तुलसी ने शृङ्गार, वीर, हास्य, करुण, रौद्र आदि सभी रसों का अत्यन्त मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। तुलसी का शृंगार-वर्णन भी सूर की भाँति अमर्यादित नहीं है, अपितु उसमें शील एवं मर्यादा का बराबर ध्यान रखा गया है। इसके साथ ही तुलसी के काव्य में विविध भावों की भी मधुर एवं मनमोहक व्यंजना मिलती है। वहाँ जनकपुर की वाटिका में सीता और राम के मिलन में यदि मधुर प्रेम के दर्शन होते हैं, तो लक्ष्मण एवं परशुराम की उक्तियों में उत्साह एवं क्रोध का सुन्दर रूप विद्यमान है। ऐसे ही यदि वन-गमन एवं लक्ष्मण-शक्ति के प्रसंग में शोक के दर्शन होते हैं, तो लंका-दहन के अवसर पर भय का सजीव रूप दृष्टिगोचर होता है। इसी तरह आश्चर्य, हास्य, निर्वेद आदि अनेक भावों का सजीव निरूपण तुलसी के काव्य में मिलता है।

सूर और तुलसी ने अन्तःप्रकृति का चित्रण ही नहीं किया है, अपि वे बाह्य प्रकृति के विविध रूपों की छटा अंकित करने में भी लीन दिखाई देते हैं। परन्तु सूर ने प्रकृति के आलम्बन रूप की स्वतन्त्र झाँकियाँ कम अंकित की हैं और वे प्रकृति के उद्दीपन रूप को चित्रित करने में लीन रहे हैं। इसीलिए सूर के काव्य में हमें कहीं 'पिया बिनु नागिन कारी राति' गोपियों को डसती हुई दिखाई देती है, कहीं 'बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजें' उन्हें विरहाग्नि में जलाती हुई जान पड़ती हैं, कहीं 'चहुँ दिसि तैं घन' घोर-घोर कर उन पर हाथियों की तरह आक्रमण करते हुए दिखाई देते हैं, तो कहीं चातक, कोयल दादुर आदि के साथ-साथ हरा-भरा मधुवन उन्हें पीड़ा पहुँचाता हुआ दृष्टिगोचर होता है। परन्तु तुलसी ने प्रकृति के आलम्बन रूप की बड़ी मनोरम एवं संश्लिष्ट झाँकियाँ अंकित की हैं, जिनमें कहीं चित्रकूट का बिम्बग्राही वर्णन

लता है,[१] तो कहीं वर्षा, शरद् आदि ऋतुओं के मर्मस्पर्शी चित्र मिलते हैं,[२] कहीं म्पा-सरोवर का मनोरम वर्णन मिलता है,[३] तो कहीं पंचवटी की मधुर झाँकी मिल ती है[४] और इसी भाँति कहीं सूर्योदय का प्रभावशाली वर्णन मिलता है,[५] तो कहीं न्द्रोदय का बड़ा ही अलंकृत एवं मनोरंजक वर्णन मिलता है।[६]

सूर और तुलसी दोनों ने ही भगवान् के सगुण रूप का वर्णन किया है। परन्तु र साम्प्रदायिक भावना से ऊपर नहीं उठ पाये हैं, इसलिए सगुण का वर्णन करते हुए र ने भ्रमर-गीत में निगुर्ण का डटकर खण्डन किया है, जबकि तुलसी के हृदय में क-हित एवं लोक-कल्याण की भावना विद्यमान रही है। इसी कारण तुलसी ने ने युग में प्रचलित वैषम्य एवं वैमनस्य को दूर करने के लिए समन्वयवादी प्रवृत्ति ो अपनाते हुए सगुण के साथ-साथ निर्गुण के महत्त्व का भी प्रतिपादन किया है, तथा क्ति के साथ-साथ ज्ञान की भी महत्ता बताई है। इतना ही नहीं, तुलसी शैव और व, वैष्णव और शाक्त, रामावत सम्प्रदाय और पुष्टिमार्ग, अद्वैतवाद और विशिष्टा-द्वैतवाद, ब्राह्मण और शूद्र, राजा और प्रजा, स्वामी और सेवक, पिता और पुत्र, धर्म र नीति, धर्म और राजनीति आदि का समन्वय करके लोक-हित की नींव पुष्ट की और इसी कारण तुलसी समाज-सुधारक एवं लोकनायक भी कहलाते हैं, जबकि र केवल भक्त कवि ही रह गये हैं।

सूरदास ने केवल ब्रजभाषा में ही अपनी रचनाएँ की हैं, जबकि तुलसी का ज और अवधी पर समान अधिकार था तथा वे संस्कृत के भी प्रकांड पंडित थे। लिए तुलसी ने ब्रज एवं अवधी की सरस रचनाओं के साथ-साथ संस्कृत के सुन्दर ं अलंकृत श्लोकों की भी रचना की है। इतना ही नहीं, सूर ने केवल पद-शैली को नाकर घनाक्षरी पदों में ही अपनी कविता का सृजन किया है, जबकि तुलसी ने ने युग तक प्रचलित समस्त रचना-पद्धतियों में अपनी कविता की है। इसी कारण सी ने जयदेव, विद्यापति एवं सूर की सी गीत-पद्धति में 'गीतावली', कृष्ण-गीतावली', नय-पत्रिका' आदि का निर्माण किया है, वीरगाथा-काल की छप्पय-पद्धति में वितावली' एवं 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत छप्पय लिखे हैं, गंग भट्ट आदि की वित्त-सवैया-पद्धति में कवितावली' का निर्माण किया है, जायसी आदि सूफी कवियों दोहा-चौपाई-पद्धति में 'रामचरितमानस' का निर्माण किया है, कबीर आदि संतों दोहा-पद्धति में 'दोहावली' की रचना की है और तत्कालीन अवधी की लोकगीत-

---

गीतावली (अयोध्याकाण्ड), ४६-५०।

रामचरितमानस (किष्किधाकाण्ड), दोहा सं० १३ से १७ तक।

वही (अरण्यकाण्ड), दोहा सं० ३८ से ४० तक।

गीतावली (अरण्यकाण्ड), ३-५।

रामचरितमानस (वालकाण्ड), दोहा सं० २५४-५५।

वही (लंकाकाण्ड), दोहा सं० ११ से १२ तक।

पद्धति पर 'रामलला-नहछू' का निर्माण किया है। इतना ही नहीं, सूर तो केवल मुक्तक-काव्य की रचना में ही लगे रहे, जबकि तुलसी ने मुक्तक-रचना के अतिरिक्त 'रामचरितमानस', 'जानकीमंगल', 'पार्वतीमंगल' आदि प्रबन्ध-काव्यों की भी रचना की, जिनमें से 'रामचरितमानस' तो हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है और 'गीतावली', 'विनयपत्रिका' आदि प्रबन्धात्मक मुक्तकों की कोटि में आते हैं। इस तरह तुलसी तत्कालीन साहित्यिक भाषाओं अवधी और ब्रज पर तो असाधारण अधिकार रखते ही थे, साथ ही उस युग तक प्रचलित सम्पूर्ण रचना-पद्धतियों के भी पूर्ण ज्ञाता थे। इसीलिए उन पद्धतियों के प्रयोग में तुलसी को असाधारण सफलता मिली है।

कला के क्षेत्र में भी तुलसी सूर की अपेक्षा कहीं अधिक कुशल एवं मर्मज्ञ दिखाई देते हैं, क्योंकि तुलसी ने जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के जितने मार्मिक एवं मनोहर चित्र अंकित किये हैं, उतने सूर नहीं कर सके हैं। तुलसी के काव्य में सम्पूर्ण जीवन चित्रित है, जबकि सूर जीवन के कुछ अंगों (मिलन, विरह आदि) तक ही सीमित रहे हैं। यह माना कि तुलसीदास की अपेक्षा सूर में उक्ति-वैचित्र्य एवं वाग्वैदग्ध्य का प्राधान्य है और इसीलिए सभी कवि सूर का लोहा मानते हैं, परन्तु तुलसीदास की अनूठी उक्तियाँ भी सर्वजन-मान्य हैं। इतना ही नहीं, सूर ने उत्प्रेक्षा और उपमा अलंकारों के द्वारा ही उक्ति-चमत्कार दिखाने की चेष्टा की है, जबकि तुलसी ने भावोत्कर्ष की व्यंजना करने, क्रिया-व्यापार को तीव्र करने तथा रूप-सौन्दर्य का तीव्र अनुभव कराने में सहायक सभी प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया है। यह ठीक है कि सूर के अलंकार उक्ति-सौन्दर्य को बढ़ाने, उस पर तीव्र रंग चढ़ाने तथा ऊहात्मक सौन्दर्य का सृजन करने में बड़े सफल दिखाई देते हैं, किन्तु तुलसी के अलंकार वस्तुओं का बिम्बग्राही चित्र अंकित करने में तथा उन चित्रों के अन्तर्गत गत्यात्मक सौन्दर्य की सृष्टि करने में अधिक सफल हुए हैं। इस प्रकार भावाभिव्यक्ति के क्षेत्र में तुलसी सूर की अपेक्षा कहीं अधिक निपुण एवं प्रवीण दिखाई देते हैं।

इतना सब कुछ होने पर भी दोनों में से किसे सूर्य और चन्द्र कहा जाय अथवा दोनों में से किसे श्रेष्ठता प्रदान की जाय यह प्रश्न फिर भी विचारणीय ही रह जाता है, क्योंकि सूर ने जिस क्षेत्र में अपनी कला का प्रदर्शन किया है, उस क्षेत्र में तुलसी उनकी समानता नहीं कर सके हैं और तुलसी ने जिस असाधारण काव्य-कौशल के द्वारा अपनी कलाभिव्यक्ति से जनता को विमोहित किया है, वैसा कार्य सूर नहीं कर पाये हैं। अतएव दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में दिव्यालोक पूर्ण सूर्य हैं और दोनों ही शीतलता, सुन्दरता एवं मधुरता से परिपूर्ण चन्द्रमा हैं। दोनों के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं और दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र के सम्राट् कवि हैं।

सात

केशवदास

आचार्य-कवि सम्बन्धी रीतिकाव्य-धारा में केशव का स्थान ●
केशव का महाकाव्यत्व ●
केशव का प्रकृति-निरूपण ●
केशव का संवाद-सौष्ठव ●
केशव का आचार्यत्व ●
कविप्रिया में केशव का आचार्यत्व ●
रसिकप्रिया में केशव का आचार्यत्व ●
9mP 84 केशव की हृदयहीनता ●
केशव की सहृदयता ●
केशव की भाषा ●

७

केशवदास

आचार्य-कवि सम्बन्धी रीतिकाव्य-धारा में केशव का स्थान

आचार्य-कवि सम्बन्धी रीतिकाव्य-धारा से हमारा तात्पर्य ऐसी धारा से है, जिसमें रस, अलंकार, नायिका-भेद, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि काव्य-सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर लक्षण-ग्रन्थ लिखे गये हैं। संस्कृत-साहित्य में ऐसे ग्रन्थों को 'काव्य-शास्त्र', 'साहित्य-शास्त्र' अथवा 'अलंकार-शास्त्र' के नाम से अभिहित किया गया है; परन्तु संस्कृत के काव्य-शास्त्र एवं हिन्दी के इस रीतिकाव्य में यह अन्तर है कि संस्कृत-काव्यशास्त्र के प्रणेता लक्षण तो अपने लिखते थे। किन्तु उदाहरण अन्य प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं से दिया करते थे। जबकि हिन्दी के इन रीतिकाव्य-प्रणेताओं के लक्षण और उदाहरण सभी कुछ स्वरचित होते हैं। वैसे हिन्दी के इस रीतिकाव्य को मूल प्रेरणा संस्कृत काव्य-शास्त्रों से ही मिली है और संस्कृत के 'नाट्यशास्त्र', 'काव्यालंकार-सूत्र', 'काव्यादर्श,' 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य-दर्पण', 'रस-गंगाधर', 'शृंगार-तिलक', 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानन्द', 'रस-मंजरी', 'अलंकार-शेखर', 'काव्यकल्पलता-वृत्ति' आदि साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों के आधार पर ही हिन्दी के इन रीतिकाव्यों का निर्माण हुआ है।

हिन्दी में उक्त रीति-काव्य का एक सुदीर्घ परम्परा विद्यमान है। हिन्दी का प्रथम कवि पुष्प माना जाता है, जिसने एक अलंकार-ग्रन्थ की रचना लगभग सं० ७७० वि० के आसपास की थी, किन्तु आज वह ग्रन्थ अप्राप्य है। इस परम्परा के अन्तर्गत ब्रजभाषा के क्षेम कवि और मुनिलाल का नाम भी लिया जाता है, किन्तु इनके ग्रन्थ भी अप्राप्य हैं।[1] हिन्दी की इस धारा का सर्वप्रथम प्राप्य ग्रन्थ कृपाराम रचित 'हिततरंगिणी' है, जिसमें रीतिकाव्य-धारा के अनुकूल लक्षण-ग्रन्थ के दर्शन होते

---

[1] आचार्य केशवदास—डा० हीरालाल दीक्षित, पृ० २३०।

हैं। कृपाराम महाकवि सूर के समसामयिक थे और उन्होंने सं० १५६८ वि० में अपने इस रीतिकाव्य का प्रणयन किया था। इसमें नायिका-भेद का वर्णन बड़े विस्तार के साथ मिलता है, जिसमें लक्षण और उदाहरणों के द्वारा नायिकाओं के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद को बड़ी सजीव एवं सशक्त भाषा में समझाया गया है। इनके ही समसामयिक गोप कवि रचित 'राम-भूषण' और मोहनलाल कवि रचित अलंकार-चन्द्रिका' नामक अलंकार-ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु ये ग्रन्थ भी अभी प्राप्त नहीं हुए हैं। कवि मोहनलाल ने एक 'श्रृंगार-सागर' नामक सम्भवतः रस-ग्रन्थ भी लिखा था, किन्तु वह भी उपलब्ध नहीं है। इसी समय कविवर रहीम कृत बरवै छन्द में 'नायिका-भेद' नामक रीति-काव्य मिलता है, जो अवधी भाषा का ग्रन्थ है तथा जिसमें केवल नायिकाओं के भेदों का ही सुन्दर निरूपण हुआ है, उनके लक्षण नहीं दिये हैं। इसी समय की एक रचना नन्ददास कृत 'रस-मंजरी' भी रीति-काव्य की ही परम्परा में आती है, क्योंकि उसमें ब्रजबालाओं के विरह-सम्बन्धी पद हैं, जिनका सम्बन्ध बारहमासे से है और जो चन्द्रमा को सम्बोधित करके लिखे गये हैं। तुलसी की 'बरवै-रामायण' भी अलंकार-निरूपण की सी पद्धति पर लिखी गई है। इसी समय कर्णेश कवि ने 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' और 'भूप भूषण' नामक तीन अलंकार-ग्रन्थ लिखे, जिनमें रीतिग्रन्थों का विशुद्ध रूप विद्यमान है। कवि केशव के बड़े भाई बलभद्र मिश्र ने भी 'दूषण-विचार' तथा 'नखशिख' नामक दो रीति-ग्रन्थ लिखे थे, परन्तु अभी तक व्यवस्थित रूप से साहित्य-शास्त्र पर लेखनी चलाने का कार्य नहीं हुआ था। इस दिशा में सर्वप्रथम महाकवि केशव ने 'कवि-प्रिया' और 'रसिक-प्रिया' नामक दो रीति-ग्रन्थों का निर्माण करके साहित्य-शास्त्र पर व्यवस्थित रूप से लिखने का कार्य आरम्भ किया। इनमें से 'कवि-प्रिया' में अलंकारों का विवेचन किया गया है और 'रसिक-प्रिया' में नायक एवं नायिका के भेद एवं उनकी चेष्टादि के निरूपण के साथ-साथ रसों का सांगोपांग निरूपण किया गया है। इनके अतिरिक्त 'छन्दमाला' ग्रन्थ में विभिन्न मात्रिक एवं वर्णिक छन्दों के लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। इस तरह केशव ने विभिन्न काव्यांगों का सम्यक् निरूपण करते हुए भाषा का कार्य, कवि-योग्यता, कविता का स्वरूप, कविता का उद्देश्य, कवियों के भेद, काव्य-रचना के ढंग, काव्य-विषय, वर्णन के ढंग, काव्य-दोष, अलंकार, रस, छन्द, विविध वृत्तियाँ आदि पर सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप में लिखा है। इसीलिए आचार्य श्यामसुन्दरदास ने केशव को ही रीतिकाल का प्रवर्त्तक माना है।[1] श्री श्यामबिहारी मिश्र भी अपने खोज-रिपोर्ट में केशव को ही रीतिकाव्य-धारा का संस्थापक कवि मानते हैं[2] और आचार्य गुलाबरा

---

[1] हिन्दी-साहित्य, पृ० २४६।

[2] Kesave Das (1555-1617) was practically the founder of the Technical School of Hindi poetry—*Search for Hindi Manuscripts* (1909-11) by Shyam Behari Misra.

ने भी स्पष्ट लिखा है कि "रीतिकाल की मूल प्रवृत्ति लक्षण-ग्रन्थों को लिखने और लक्षणों के अनुकूल उदाहरण प्रस्तुत करने में थी। इस प्रवृत्ति का पूर्ण परिपाक केशव में मिलता है। वस्तुतः केशव को ही रीतिकाल का प्रवर्त्तक मानना चाहिए।"[1]

इसके अनन्तर सं० १६७३ वि० में लिखित पुहकर कवि कृत 'रस-रतन' रीति-ग्रन्थ भी मिलता है, जिसमें पूर्वराग, नखशिख, ऋतु-वर्णन आदि शृंगार-सम्बन्धी बातों का उल्लेख हुआ है। तदुपरान्त सुन्दर कवि कृत 'सुन्दर-शृंगार' नामक नायिका-भेद का रीति-ग्रन्थ प्राप्त होता है, जो शाहजहाँ के समय में लिखा गया था। तदनन्तर चिन्तामणि त्रिपाठी कृत 'कवि-कुल-कल्पतरु' नामक रीति-ग्रन्थ प्राप्त होता है, जिसकी रचना सं० १७०७ वि० में हुई थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने केशव की बजाय चिन्तामणि त्रिपाठी को रीतिकाल का प्रवर्त्तक प्रथम कवि माना है और लिखा है कि "इसमें सन्देह नहीं कि काव्य-रीति का सम्यक् समावेश पहले-पहल आचार्य केशव ने ही किया। पर हिन्दी में रीतिग्रन्थों की अविरल और अखण्डित परम्परा का प्रवाह केशव की 'कविप्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला और वह भी भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नहीं। ....हिन्दी रीति-ग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली। अतः रीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए।"[2] परन्तु अब विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं, क्योंकि केशव के समय से ही रीति-काव्य की अखण्ड परम्परा मिल जाती है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अतएव चिन्तामणि को रीति-काल का आरम्भकर्त्ता कवि न मानकर केशव को ही रीति-काल का प्रवर्त्तक माना जाता है।

चिन्तामणि के उपरान्त भूषण, मतिराम, जसवन्तसिंह, कुलपति मिश्र, देव, श्रीपति, भिखारीदास, दूलह, बेनी प्रवीन, पदमाकर, ग्वाल, प्रतापसिंह आदि प्रमुख रीतिग्रन्थकार कवि मिलते हैं, जिन्होंने भाव, रस, अलंकार एवं नायिका-भेद पर अपने रीति-काव्यों का सृजन किया है। इनमें से मतिराम, कुलपति, देव, श्रीपति, पदमाकर, ग्वाल तथा प्रतापसाहि ने प्रमुख रूप से भाव, रस एवं नायिका-भेद का निरूपण किया है और अलंकारों का निरूपण अपेक्षाकृत कम किया है, किन्तु भूषण, जसवन्तसिंह, भिखारीदास तथा दूलह ऐसे रीति-काव्य प्रणेता हुए हैं, जिन्होंने मुख्यतया अलंकारों का ही विवेचन किया है। इनमें से भूषण का 'शिवराजभूषण' मुख्यतया अलंकार-ग्रन्थ है। मतिराम का 'ललित-ललाम' अलंकार-सम्बन्धी ग्रन्थ है तथा 'रसराज' में नायिका-भेद एवं भावादि का वर्णन है। जसवन्तसिंह का 'भाषा-भूषण' अलंकार-ग्रन्थ है, किन्तु आरम्भ में नायक-नायिका-भेद, हाव-भाव, रस, अनुभाव-विभाव आदि का भी संक्षेप में वर्णन किया गया है। कुलपति मिश्र कृत 'रस-रहस्य' ग्रन्थ मिलता है, जो 'काव्य-प्रकाश' का छायानुवाद प्रतीत होता है। महाकवि देव कृत 'भाव-विलास', 'भवानी-

---

[1] हिन्दी काव्य-विमर्श, पृ० १५२।

[2] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २३२-२३३।

विलास', 'प्रेम-तरंग', 'कुशल-विलास', 'प्रेम-चन्द्रिका', 'रस-विलास' आदि ग्रन्थों में भाव, रस, नायिका-भेद आदि का सुन्दर विवेचन मिलता है तथा 'काव्य-रसायन' में रस, शब्द-शक्ति, अलंकार, छन्द आदि का निरूपण हुआ है।

देव उच्च कोटि के कवि हैं और उनके ग्रन्थों में लक्षण एवं उदाहरणों के अन्तर्गत पूर्ण सामंजस्य के दर्शन होते हैं। श्रीपति कृत 'काव्य-सरोज' एक प्रौढ़ रीति-ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त इनके 'कविकल्पद्रुम', 'रस-सागर', 'अनुप्रास-विनोद', 'अलंकार-गंगा' आदि ग्रन्थ मिलते हैं। श्रीपति ने काव्य के विविध अंगों का बड़ा ही विशद निरूपण किया है। भिखारीदास कृत 'काव्य-निर्णय' नामक रीति-ग्रन्थ प्रसिद्ध है, जिसमें रस, रीति, अलंकार, गुण-दोष, शब्द-शक्ति, छन्द आदि विविध काव्यांगों का निरूपण बड़ी सूक्ष्मता के साथ किया गया है। इसी तरह दूलह कृत 'कविकुल-कंठाभरण', वेनी प्रवीन कृत 'नवरस-तरंग', पदमाकर कृत 'जगद्विनोद', ग्वाल कवि कृत 'रसिकानन्द', 'रसरंग', 'नखशिख' तथा 'दूषण-दर्पण' और प्रतापसाहि कृत 'व्यंग्यार्थकौमुदी' तथा 'काव्य-विलास' नामक प्रमुख रीति-ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें काव्यांगों का सुन्दर विवेचन हुआ है।

इस प्रकार रीति-काव्यों की सुदीर्घ परम्परा का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि केशव से पूर्व हिन्दी काव्य-कला अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी। उस समय तक उच्च कोटि के लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण तो पर्याप्त मात्रा में हो गया था, किन्तु अभी लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण व्यवस्थित रूप से आरम्भ नहीं हुआ था। सर्वप्रथम केशव का ध्यान इस ओर गया और केशव ने ही सबसे पहले विभिन्न काव्यांगों का शास्त्रीय ढङ्ग से विस्तृत विवेचन करके रीति-काव्य के क्षेत्र में पथ-प्रदर्शन का कार्य किया। इसके उपरान्त तो अनेक उच्च कोटि के रीतिकाव्य-प्रणेता कवि एवं आचार्य हुए, परन्तु केशव से पूर्व कोई भी सुन्दर एवं सुव्यवस्थित लक्षण-ग्रन्थ-प्रणेता कवि नहीं दिखाई देता। निस्सन्देह केशव हिन्दी के प्रथम श्रेष्ठ काव्य-शास्त्र प्रणेता हैं, रीतिकाव्य के प्रवर्त्तक कवि हैं और रीति-काव्य के प्रतिनिधि आचार्य हैं, क्योंकि अन्य पूर्ववर्ती हिन्दी आचार्यों की अपेक्षा केशव का प्रयत्न इस दिशा में अधिक गहन एवं विस्तृत है और हिन्दी रीति-काव्य की मूल-प्रवृत्ति के अनुकूल लक्षण-ग्रन्थों के लिखने एवं लक्षण तथा उदाहरण देने में केशव ने ही सर्वप्रथम सुन्दर एवं सुव्यवस्थित प्रयास किया है। अतएव केशव को रीति-काव्य-धारा का प्रमुख प्रवर्तक मानना सर्वथा न्यायसंगत है।

केशव का महाकाव्यत्व

केशवदास ने दो प्रबन्धकाव्यों की रचना की है—(१) वीरसिंहदेव चरित और (२) रामचन्द्रिका। इनमें से प्रथम तो स्तुति-परक काव्य है, जिसमें राजा वीरसिंहदेव का चरित तो थोड़ा-सा लिखा है, किन्तु उनके दान, लोभ आदि के संवादों की भरमार है। दूसरा काव्य 'रामचन्द्रिका' है, जो महाकाव्य की दृष्टि से लिखा गया है। यह

काव्य संस्कृत साहित्य-शास्त्र के अनुसार महाकाव्य के लक्षणों को आधार बनाकर लिखा गया है। इसी कारण इसमें आठ से अधिक सर्ग हैं, जिन्हें ‘प्रकाश’ नाम दिया गया है। इसके नायक उच्चकुलोद्भव मर्यादा-पुरुषोत्तम राम हैं, जो धीरोदात्त क्षत्रिय हैं। राम-कथा होने के कारण इसकी विश्व-विश्रुत ऐतिहासिक कथा है। इसमें उच्च-वंश के जनकादि अनेक राजाओं का वर्णन है। इसकी कथा में महाकाव्य का सा पूर्ण विस्तार है। प्रत्येक सर्ग में विविध छन्दों का सुन्दर प्रयोग हुआ है और अन्त में छन्द भी बदल गया है। बीच-बीच में अलंकृत एवं रमणीय वर्णनों का भी अभाव नहीं है, क्योंकि सरयू, वाटिका, अयोध्या, सूर्योदय, मिथिला, पंचवटी, दंडकवन, गोदावरी, वर्षा, शरद, त्रिवेणी, भारद्वाज आश्रम, युद्ध, पर्वत, जलाशय आदि के वर्णन अत्यन्त सजीव एवं मर्मस्पर्शी हैं। इसमें मुख्यतया शृङ्गार, वीर एवं शान्त रस का प्रभावोत्पादक वर्णन मिलता है। इस काव्य की रचना-शैली भी चमत्कारपूर्ण एवं अलंकृत है, क्योंकि संवादों की चारुता, भावात्मकता, वर्णनों की कलात्मकता एवं अलंकारों की सुष्ठु योजना इस काव्य को एक कलापूर्ण उत्कृष्ट महाकाव्य की सी गुरुता प्रदान करती है। अतएव उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार ‘रामचन्द्रिका’ एक कलात्मक महाकाव्य की कोटि में आती है, किन्तु कुछ विद्वान् इसे महाकाव्य नहीं मानते। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसके महाकाव्यत्व पर आक्षेप करते हुए लिखा है कि "उनकी रामचन्द्रिका’ अलग-अलग लिखे हुए वर्णनों का संग्रह-सी जान पड़ती है।"[१] इसका तात्पर्य यह है कि ‘रामचन्द्रिका’ में प्रबन्धात्मकता का अभाव है। इतना अवश्य है कि इसमें ‘वाल्मीकि रामायण’ तथा तुलसी कृत ‘रामचरितमानस’ की भाँति कथा-प्रवाह नहीं है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इसमें प्रबन्धात्मकता का सर्वथा अभाव है। इस काव्य को कवि ने गणेश सरस्वती-वन्दना से आरम्भ करके रामचन्द्र की वन्दना की है। वंश-परिचय, रचना-काल तथा रचना का कारण बताकर कथा का श्रीगणेश किया है। राम के जन्म के उपरान्त उनके शैशव-काल का वर्णन अवश्य नहीं किया है, किन्तु विश्वामित्र का अयोध्या-आगमन और राम-लक्ष्मण का विश्वामित्र के साथ आश्रय-गमन आदि का वर्णन यथाक्रम ही है। वहाँ राम ताड़का वध करते हैं और फिर विश्वामित्र के साथ जनकपुर में धनुष-यज्ञ के अन्तर्गत सम्मिलित होते हैं। धनुष-भंग तथा राम-विवाह का वर्णन भी क्रम-बद्ध मिलता है। तदनन्तर राम वन-गमन से लेकर रावण-वध तथा राम-सीता मिलन तक की कथा ‘रामचन्द्रिका’ के बीस प्रकाशों में आई है और यहीं ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध समाप्त होता है। इस कथा के मूलाधार ग्रन्थ ‘वाल्मीकि रामायण’, अध्यात्म रामायण’, ‘हनुमन्नाटक’ एवं ‘प्रसन्नराघव’ है। तदनन्तर ‘रामचन्द्रिका’ के उत्तरार्द्ध में केशव ने राम-भरत-मिलाप, अयोध्या-प्रवेश; राज्यतिलकोत्सव, राम-राज्य-वर्णन, शम्बूक-वध’ सीता-वनवास, लवकुश-जन्म, लवणासुर-वध, लव-लक्ष्मण-युद्ध, राम-सीता मिलन तक तो राम-कथा से सम्बद्ध प्रसंगों को ही लिया है। इसके पश्चात्

---

[१] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २१० ।

केशव ने राज्यश्री-निन्दा, रामनाम की महत्ता, चौगान, अयोध्या की रोशनी, शयनागार छप्पन प्रकार के भोजन, वसंत, चन्द्र, शिखनख, सरिता, जलाशय, स्वान-संन्यासी, मथुरा-माहात्म्य, रामचन्द्रिका-महात्म्य आदि का जो वर्णन किया है, वह रामकथा से सर्वथा असंबद्ध है। किन्तु ऐसा वर्णन तो 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड में भी मिलता है। यह पौराणिक शैली है, जिसका अनुसरण केशव ने भी किया है। इतना अवश्य है कि केशव ने अपनी रुचि के अनुकूल राम-कथा के कुछ रोचक अंशों का वर्णन अधिक किया हैं और शेष कथा को जल्दी ही समाप्त कर दिया है। फिर भी यह कहना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता कि 'रामचन्द्रिका' अलग-अलग लिखे हुए कुछ वर्णनों का संग्रह है। 'रामचन्द्रिका' में एक व्यवस्थित कथा है, उसमें प्रवन्धात्मकता है और सम्वादों के कारण कथा-प्रवाह कुछ विच्छिन्न-सा दिखाई देता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसमें कथा-प्रवाह बिल्कुल ही नहीं है।

आचार्य शुक्ल ने दूसरा आक्षेप यह लगाया है कि "उस कथा के भीतर जो मार्मिक स्थल हैं उनकी ओर केशव का ध्यान बहुत कम गया है। वे ऐसे स्थलों को या तो छोड़ गये है या यों ही इतिवृत्तमात्र कहकर चलता कर दिया है।"[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'रामचरितमानस' में तुलसी ने जिन-जिन गम्भीर एवं मार्मिक स्थलों का वर्णन किया है, उनका वर्णन केशव ने अपनी 'रामचन्द्रिका' में नहीं किया है। इसका मूल कारण यह है कि केशव विद्वान् एवं संस्कृत के पण्डित थे। वे जानते थे कि तुलसी ने जिन स्थलों का वर्णन कर दिया है, यदि उनका वर्णन वे भी करते तो यह पिष्टपेषण ही होता और यह बात केशवदास को सहन न थी। दूसरे आचार्य जगन्नाथ तिवारी का कथन भी ठीक है कि "सब की रुचि एक ही समान नहीं होती और इसी कारण मार्मिकता की भी कोई विशेष कसौटी नहीं हो सकती। जो स्थल एक व्यक्ति को अधिक मार्मिक प्रतीत होते हैं, दूसरे को उतने मार्मिक नहीं प्रतीत होते।"[2] अतः 'भिन्न रुचिर्हि लोकः' के अनुसार केशव के लिए वे मार्मिक स्थल नहीं हो सकते, जो तुलसी के लिए रहे हैं। केशव एक दरबारी कवि थे। उनके मस्तिष्क में राज्य-दरबार की शोभा, राज्य के आडम्बर, नगर-शोभा, युद्ध, विवाह सेना की तैयारी आदि ही अधिक मार्मिक हो सकते थे। इसके अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य-शास्त्रों में करुणा एवं शोक से भरे हुए स्थल महाकाव्य के लिए उचित नहीं माने गये हैं। इसी कारण केशव ने संस्कृत काव्यशास्त्र की परिपाटी का अनुसरण करने के कारण ऐसे स्थलों को अपने महाकाव्य के लिए नहीं चुना है, जो करुणा एवं शोक से परिपूर्ण हों, भले ही वे स्थल अधिक मार्मिक हो सकते थे। इतने पर भी केशव की 'रामचन्द्रिका' में मार्मिक एवं गम्भीर स्थलों का सर्वथा अभाव भी नहीं है, क्योंकि सीता-स्वयंवर, परशुराम-सम्वाद, अंगद-रावण-सम्वाद, राम-रावण-युद्ध आदि

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २१० ।

२. संक्षिप्त रामचन्द्रिका—प्रस्तावना, पृ० १० ।

ऐसे प्रसंग हैं, जिनमें केशव ने नवीन उद्भावना-शक्ति के साथ-साथ मौलिकता एवं मार्मिकता का परिचय दिया है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का तीसरा आक्षेप यह है कि "दृश्यों की स्थानगत विशेषता (Local Colour) केशव की रचनाओं में ढूँढ़ना तो व्यर्थ ही है ।"[1] इसके बारे में आचार्य जगन्नाथ तिवारी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि विश्वामित्र के वन को विचित्र एवं अलौकिक वताने के लिए केशव ने उन वस्तुओं को भी वहाँ उत्पन्न होना हुआ दिखाया है, जो विहार प्रान्त में उत्पन्न नहीं होतीं । दूसरे, 'देखे मुख भावै अनदेखेई कमल चन्द, ताते मुख मुखै सखी कमलौ न चन्द री' का भी स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य तिवारी ने इस वात को अर्थवाद के रूप में स्वीकार किया है, सिद्धान्तवाद के रूप में नहीं ।[2] इसीलिए इस कथन के ऊपर केशव को कमल एवं चन्द्रमा के सौन्दर्य को अस्वीकार करने वाला मानना सर्वथा अनुचित है । इसके अतिरिक्त केशव ने अपनी 'रामचन्द्रिका' में वर्षा, शरद, आश्रम, सरोवर आदि का वर्णन करते हुए प्रकृति का कहीं आलम्बन रूप में चित्रण किया है, कहीं उद्दीपन रूप में; कहीं चन्द्रमा का वर्णन करते हुए उसकी सौम्य सुषमा का वर्णन किया है, तो कहीं प्रभातकालीन सूर्य की अरुणिमा के वर्णन में अद्भुत कला कौशल दिखाया है । इतना अवश्य है कि प्रकृति के कलापूर्ण वर्णन में हृदय की अपेक्षा बुद्धि का प्राधान्य है और इसीलिए चमत्कार-प्रियता तो अधिक दृष्टिगोचर होती है, परन्तु इन वर्णनों में यत्र-तत्र स्थानगत विशेषता के दर्शन न होते हों, ऐसी बात नहीं है ।

इसके अतिरिक्त डा० शम्भूनाथसिंह ने भी 'रामचन्द्रिका' के महाकाव्यत्व पर आक्षेप करते हुए उसके कतिपय अभावों की ओर संकेत किये हैं और लिखा है कि एक तो "रामचन्द्रिका में न तो किसी महान् आदर्श की स्थापना हो सकी है और न उसमें ऐसी महत् प्रेरणा ही दिखाई देती है, जिससे अभिभूत होकर कवि ने उसकी रचना की हो ।"[3] दूसरे, "महाकाव्य में जिस गम्भीर जीवन-दर्शन, लोककल्याणाभिनिवेशी दृष्टिकोण तथा आदर्शोद्भूत महानता की आवश्यकता होती है, रामचन्द्रिका में उसका अभाव है ।"[4] तीसरे, "रामचन्द्रिका में वस्तु-वर्णन की प्रधानता होते हुए भी जीवन के विभिन्न स्वरूपों का स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी उद्घाटन नहीं हुआ है ।"[5] चौथे, "रामचन्द्रिका में प्रबन्धत्व का अभाव है और उसमें कथा-सूत्र स्थान-स्थान पर टूट गये हैं ।"[6] पाँचवें, "रामचन्द्रिका चरित्र-चित्रण की दृष्टि से महत्त्वहीन हो गई है ।"[7] छठे, रामचन्द्रिका में उदात्त शैली है, क्योंकि इसमें "प्रबुद्ध पाठकों को

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २११ ।
२. संक्षिप्त रामचन्द्रिका—प्रस्तावना, पृ० ११-१२ ।
३. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० ६७५ ।
४. वही, पृ० ६७६ ।
५. वही, पृ० ६७७ ।
६. वही, पृ० ६७८ ।
७. वही, पृ० ६७९ ।

चमत्कृत करने की क्षमता तो है, पर उनकी भावनाओं को उद्बुद्ध करने की शक्ति नहीं है।"[१] सातवें, "भावाभिव्यंजना, रसवत्ता और प्रभावान्विति की दृष्टि से रामचन्द्रिका और भी असफल काव्य है।"[२] आठवें, इसमें महाकाव्य की-सी जीवन-शक्ति एवं प्राणवत्ता नहीं है।[3] अतः आपका मत है कि "रामचन्द्रिका को महाकाव्य क्या, एक सफल प्रबन्धकाव्य भी नहीं माना जा सकता।"[४] उक्त मत-स्थापनाओं पर तनिक ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि सर्वत्र डा० सिंह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से प्रभावित होकर एवं उनके मतों से अपनी बात की पुष्टि करते हुए 'रामचन्द्रिका' में अभावों के दर्शन कर रहे हैं, इसीलिए न उन्हें 'रामचन्द्रिका' में प्रबन्धात्मकता के दर्शन हुए हैं और न कहीं भावाभिव्यंजना एवं रसवत्ता दिखाई दी है।

उक्त आक्षेपों पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाय तो पता चलेगा कि जिस तरह तुलसी ने 'स्वान्तःसुखाय' एवं आत्मबोध हेतु 'रामचरितमानस' की रचना की है, उसी तरह केशव ने 'तिनके गुण कहिहौं सब सुख लहिहौं पाप पुरातन भागे' कहकर आत्मसुख एवं पाप-प्रक्षालन हेतु 'रामचन्द्रिका' की रचना की है और तुलसी के 'स्वान्तःसुखाय' में जिस प्रकार पर-हित एवं लोक-हित छिपा हुआ है, उसी प्रकार केशव के आत्मसुख एवं पाप-प्रक्षालन के अन्तर्गत पर-सुख एवं जनता के पाप-प्रक्षालन की भावना विद्यमान रहने के कारण लोकहित एवं पर-हित विद्यमान है। अतः यह कहना निरर्थक है कि केशव ने किसी महान् आदर्श एवं महत् प्रेरणा से प्रेरित होकर 'रामचन्द्रिका' का निर्माण नहीं किया है। दूसरे, यह माना कि 'रामचन्द्रिका' में 'रामचरितमानस' के समान गम्भीर जीवन-दर्शन, लोककल्याणाभिनिवेशी दृष्टिकोण एवं आदर्शोद्भूत महत्ता के दर्शन नहीं होते। किन्तु ऐसा नहीं है कि 'रामचन्द्रिका' में उक्त बातों का उल्लेख तनिक भी नहीं मिलता, क्योंकि ध्यान से देखा जाय तो 'रामचन्द्रिका' में दर्शन, भक्ति एवं धर्म तीनों के बारे में केशव ने अपने समुन्नत विचार व्यक्त किये हैं। "केशव तुलसी के समान ही धार्मिक समन्वयवाद के पोषक थे और केशव की चिन्तनभूमि भी अद्वैतवाद की है और तुलसी की अपेक्षा वह बहुत स्पष्ट है।"[५] इतना ही नहीं, केशव ने 'तुम आदि मध्य अवसान एक' आदि कहकर राम को अनन्त शक्ति के रूप में अवतरित होते हुए बताया है। साथ ही जीव, जगत्, माया, मुक्ति, भक्ति, सत्संग, संन्यास आदि का उल्लेख करते हुए अपनी 'रामचन्द्रिका' को ऐसे महान् विचारों से समन्वित किया है, जिसे पढ़कर केशव के स्वस्थ जीवन-दर्शन का आभास मिल जाता है तथा मानव सुन्दर भक्ति-भावना को ग्रहण कर अन्त में मुक्ति को भी प्राप्त कर सकता है—

---

१. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० ६७९।
२. वही, पृ० ६८०।
३. वही, पृ० ६८१।
४. वही, पृ० ६८१।
५. केशव और उनका साहित्य—डा० विजयपाल सिंह, पृ० ११६।

लहै सुभक्ति लोक लोक अन्त मुक्ति होहि ताहि ।
पढ़ै कहै सुनै गुनै जु रामचन्द्र-चन्द्रिकाहि ।

अतएव 'रामचन्द्रिका' में लोक-पक्ष-समन्वित भक्ति-भावना का निरूपण हुआ है और इसमें जीवन-दर्शन के साथ लोककल्याणाभिनिवेशी दृष्टिकोण के भी दर्शन होते हैं। इसके साथ ही यह माना कि 'रामचन्द्रिका' में जीवन की विविधता का चित्रण ऐसा नहीं मिलता, जैसा कि 'रामचरितमानस' में विद्यमान है, किन्तु जीवन की अन्तर्बाह्य स्थितियों से केशव पूर्णतया अनभिज्ञ थे—ऐसा कहना भी सर्वथा असंगत है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो केशव के संवादों में वह आनन्द न आता, जिसकी प्रशंसा सभी विद्वान् मुक्त कंठ से करते हैं। केशव अपने संवादों में राजनीतिक दाँव-पेचों के साथ-साथ व्यावहारिक जीवन की गहराई में प्रवेश करके उसके आन्तरिक तथ्यों का मनोवैज्ञानिक निरूपण करते हैं। केशव ने प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति को राम-नाम का अधिकारी घोषित करके वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध आवाज बुलन्द करते हुए सामाजिक समता की घोषणा की है और ऊँच-नीच के भेद-भाव को दूर करने की ओर भी संकेत किया है। इसीलिए केशव ने कहा है—

रामचन्द्र चरित्र को जु सुने सदा चित लाय ।
ताहि पुत्र कलत्र संपति देत श्री रघुराय ॥
यज्ञ दान अनेक तीरथ न्हान को फल होय ।
नारि का नर विप्र क्षत्रिय वैश्य शूद्र जो कोय ॥

इतना ही नहीं, यद्यपि केशव ने 'कामिनी काम की डोरि ग्रसी सी, मीन मनुष्यन की बनसी सी' कहकर नारी की निन्दा की है, किन्तु केशव 'पावक पापशिखा बड़वारी, जारति है नर को परनारी' कहकर स्वकीया की अपेक्षा परकीया या पर-नारी से सम्बन्ध रखने की बुराई करते हैं और इसी प्रसंग में नारी या कामिनी की निन्दा करते हैं। वैसे तुलसी की भाँति कुलवधू या पत्नी के आदर्श का निरूपण करते हुए केशव ने 'नारी धर्म' का भारतीय संस्कृति के अनुकूल ही बड़ा सुन्दर वर्णन किया है और लिखा है कि पत्नी के लिए पति देव-स्वरूप है। पत्नी को यदि दुख भी दे, तब भी उसे सुख मानकर शिरोधार्य करना चाहिए। नारी को स्वप्न में भी अपने पति का परित्याग नहीं करना चाहिए—चाहे वह पंगु, गूँगा; बहरा, वृद्ध, बावन, रोगी, पांडु, कुरूप, चोर, व्यभिचारी तथा जुआरी ही क्यों न हो। पति की मृत्यु के बाद भी पत्नी को उसका साथ नहीं छोड़ना चाहिए और सतीत्व ग्रहण करना चाहिए।[1] इसी तरह पुत्र-धर्म, पिता-धर्म, मित्र-धर्म, सत्संगति आदि के निरूपण में व्यावहारिक जीवन की अनेक बातें केशव ने अपनी 'रामचन्द्रिका' में बड़े सजीव ढंग से प्रस्तुत की हैं। इतना ही नहीं, प्रताप, ऐश्वर्य, वीरता, आतंक आदि का वर्णन करने में तो केशव अत्यन्त सफल दिखाई देते हैं। जहाँ तक रसवत्ता एवं भावाभि-

---

[1] रामचन्द्रिका, ६/१२-१६

व्यंजना का प्रश्न है, केशव की 'रामचन्द्रिका' में वीर, शृंगार एवं शान्त रस का तो बड़ा ही सुन्दर एवं सजीव वर्णन मिलता है। हाँ, इतना सत्य है कि राम-कथा के शोक-प्रधान प्रसंग केशव को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सके हैं और इसलिए केशव ने ऐसे शोक एवं करुणा-पूर्ण प्रसगों का वर्णन 'रामचन्द्रिका' में नहीं किया है। परन्तु क्या करुण ही एक ऐसा रस है, जिसके आधार पर कोई काव्य महाकाव्य की श्रेणी में गिना जाता है? क्या 'रामचन्द्रिका' के वीररस-प्रधान स्थल भावाभिव्यंजना में किसी प्रकार शिथिल एवं असफल दिखाई देते हैं? यह माना कि तुलसी की भांति केशव को कवि-हृदय प्राप्त नहीं हुआ था और कभी दो कवि एक जैसे प्रतिभा-सम्पन्न नहीं होते। इस दृष्टि से भले ही 'रामचरितमानस' की अपेक्षा 'रामचन्द्रिका' की भावाभिव्यंजना एवं वस्तु-वर्णनों में कुछ कमी दिखाई दे, किन्तु इस कमी के कारण उसे महाकाव्य न मानना तथा उसे असफल रचना घोषित करना न्याय-संगत नहीं जान पड़ता, जबकि 'रामचन्द्रिका' में प्रबन्धात्मकता है, सजीव भाव-निरूपण है, राम का उदात्त चरित्र-चित्रण है, कथोपकथनों एवं संवादों में सजीवता एवं नाटकीयता है, उत्कृष्ट अलंकार-योजना है और चमत्कारपूर्ण गंभीर रचना-शैली है। इतना ही नहीं, कथावस्तु की मौलिक योजना की दृष्टि से, विविध छन्दों के प्रयोग की दृष्टि से, आलंकारिक चमत्कार की दृष्टि से तथा नाटकीय शैली की उत्कृष्ट संवाद-योजना की दृष्टि से तो 'रामचन्द्रिका' का स्थान सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। साथ ही इसमें साहित्य-शास्त्रानुकूल महाकाव्य के सभी लक्षण भी विद्यमान हैं। अतः तुलसी के रामचरितमानस के आधार पर 'रामचन्द्रिका' की कटु कालोचना करना समीचीन नहीं ज्ञात होता। केशव में उत्कृष्ट-काव्य-प्रतिभा विद्यमान थी और पांडित्य में भी वे अपने समकालीन कवियों में सबसे बढ़े-चढ़े थे। इसी कारण 'रामचन्द्रिका' में सरसता की अपेक्षा कलात्मकता का प्राधान्य अवश्य हो गया है, किन्तु उसे महाकाव्य न मानना, उसके साथ अन्याय करना है। अतएव 'रामचन्द्रिका' को कलात्मक महाकाव्य (Epic of Art) मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

केशव का प्रकृति-निरूपण

जिस तरह केशव के महाकाव्य के बारे में कटु आलोचनाएँ हुई हैं, उसी तरह केशव के प्रकृति-चित्रण पर भी पर्याप्त आक्षेप हुए हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने तो उनकी कितनी ही कमियों की ओर संकेत करते हुए यहाँ तक लिख दिया है कि "ऐसे व्यक्ति से प्राकृतिक दृश्यों के सच्चे वर्णन की भला क्या आशा की जा सकती है?"[1] डा० श्यामसुन्दरदास ने भी लिखा है कि "प्रकृति के अतुलित सौन्दर्य से प्रभावित होने के लिए जिस भावुकता की आवश्यकता होती है, उसका केशव में सर्वथा अभाव है।"[2] परन्तु ऐसी बात नहीं है कि केशव प्रकृति-चित्रण में पूर्णतया असफल

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २११।

[2] हिन्दी-साहित्य, पृ० २५५।

हे हों और उनमें सर्वत्र भावुकता का अभाव दिखाई देता हो। यह माना कि अलंकारों के झमेले में पड़कर केशव का प्रकृति-चित्रण कहीं-कहीं शब्दों की कोरी करामात के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई पड़ता। उदाहरण के लिए दण्डक वन तथा पंचवटी का वर्णन लिया जा सकता है, जहाँ पाँच पांडव के साम्य के आधार पर 'पांडव की प्रतिमा सम लेखो, अर्जुन भीम महामति देखो' आदि कहकर केशव ने भद्दे शाब्दिक खिलवाड़ का प्रदर्शन किया है। ऐसे ही दण्डकवन का वर्णन करते हुए केशव ने 'बेर भयानक-सी अति लगै, अर्क समूह जहाँ जगमगै' कहकर श्लेष का चमत्कार दिखाते हुए शब्द की करामात दिखाने की ही कोशिश की है। ऐसे ही प्रभातकालीन सूर्य का वर्णन करते हुए केशव ने 'कै स्रोनित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को' कहकर अपनी भद्दी रुचि का परिचय दिया है। परन्तु सर्वत्र यही दशा हो, ऐसी बात नहीं है। केशव ने हिन्दी के अन्य कवियों की भाँति प्रकृति के उद्दीपन रूप का ही निरूपण सर्वाधिक किया है और केशव के काव्य में आधुनिक कवियों जैसा प्रकृति का संश्लिष्ट एवं बिम्बग्राही चित्रण मिलना सर्वथा असम्भव है, क्योंकि उस समय तक हिन्दी में यह परम्परा विकसित नहीं हुई थी। हिन्दी के सभी कवि साहित्य-शास्त्रों के अनुसार प्रकृति को उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत अंकित करना ही अपना परम कर्तव्य समझते थे। केशव ने भी उसी परम्परा का पालन किया है। फिर भी केशव ने विविध रूप में प्रकृति की झाँकियाँ अंकित की हैं, जो इस प्रकार हैं :—

(१) आलम्बन रूप में—केशव ने तत्कालीन प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रकृति को उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही न अंकित करके, उसको आलम्बन रूप में भी अंकित किया है। साधारणतया आलम्बन रूप में प्रकृति को दो प्रकार से चित्रित किया जाता है। एक तो उसके विविध पदार्थों के नाम गिनाये जाते हैं, जिसे 'नाम परिगणन-प्रणाली' कहते हैं। दूसरे, प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र अंकित करते हुए उनके द्वारा बिम्ब प्रस्तुत किया जाता है, जिसे 'बिम्ब-ग्रहण-प्रणाली' कहते हैं। केशव ने प्रथम प्रणाली को ही अधिक अपनाया है। इसीलिए विश्वामित्र के आश्रम के समीपवर्ती वन का वर्णन करते हुए केशव ने लिखा है—

तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर।
मंजुल वंजुल तिलक लकुच कुल नारिकेर वर।
एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहैं।
सारो सुक कुल कलित चित्त कोकिल अल-मोहैं।
सुभ राजहंस कलहंस कुल नाचत मत्त मयूर गन।
अति प्रफुलित फलित सदा रहै केशवदास विचित्रवन॥

इसमें कोई संदेह नहीं कि केशव ने इस नाम-परिगणन-प्रणाली का प्रयोग अधिक किया है और इसके द्वारा प्राकृतिक सौन्दर्य का कोई संश्लिष्ट चित्र पाठकों के सम्मुख अंकित नहीं किया है, क्योंकि इन वर्णनों में कवि का ध्यान प्रकृति के किसी एक सुरम्य स्थल अथवा रमणीक वातावरण की ओर नहीं गया है, अपितु वह अप्रस्तुत

के वर्णन में अधिक उलझ गया है। फिर भी कहीं-कहीं केशव ने प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र देने की चेष्टा की है, किन्तु उन चित्रों में भी केशव की अलंकार-प्रियता का प्राधान्य हो गया है। इसलिए इस प्रकृति-चित्रण को अलंकार-प्रधान कहा जाय, तो अधिक युक्तियुक्त होगा। जैसे, चन्द्रमा की प्राकृतिक सुषमा का चित्रण करते हुए केशव का ध्यान चन्द्रमा के सौन्दर्य से हटकर अप्रस्तुत-विधान के सौन्दर्य में उलझ गया है। इसी कारण कवि चन्द्रमा के बारे में नवीन-नवीन उद्भावनाएँ करता हुआ कह रहा है—

फूलन की सुभ गेंद नई। सूँघि सची जनु डारि दई।
दर्पन हो ससि श्री रति को। आसन काम महीपति को।
फेन किधौं नभ-सिंधु लसै। देवनदी जल हंस बसै।
संख किधौं हरि के कर सोहै। अम्बर सागर ते निकसो है।

प्रकृति-चित्रण की इसी अलंकृत प्रणाली का अनुसरण करते हुए केशव ने कहीं वर्षा को कालिका के रूप में देखा है, कहीं वसंत को शिव के रूप में देखा है, कहीं ग्रीष्म को शबर-समूह के रूप में चित्रित किया है, कहीं शरद को शारदा बना दिया है, कहीं हेमंत को विमुख प्रियतम की प्रिया बना दिया है और कहीं शिशिर को वर नारी के रूप में चित्रित किया है। सारांश यह है कि प्रकृति के आलम्बन रूप को अपनाते हुए भी केशव ने उसे इतना अधिक अलंकृत रूप दे दिया है कि उसकी नैसर्गिक सुषमा लुप्त हो गई है और कवि का शब्द-चमत्कार मुखरित हो उठा है।

(२) **उद्दीपन रूप में**—केशव ने उद्दीपन रूप में तो प्रकृति के अनेक रमणीय चित्र अंकित किये हैं। प्रायः विरह के क्षणों में प्रकृति विरहीजनों को अत्यन्त विक्षुब्ध एवं बेचैन बनाया करती है। उस समय चन्द्रमा सूर्य की भाँति संतप्त किया करता है, मलय पवन वज्र-तुल्य जान पड़ती है, सम्पूर्ण दिशाएँ जलाने लगती हैं, चन्दन-कर्पूरादि अंगराग शरीर को कष्ट पहुँचाते हैं और साधारण रात्रि भी कालरात्रि-सी प्रतीत होने लगती है। इसीलिए केशव ने प्रिया के अभाव में विरही राम की दुरवस्था का चित्रण करते हुए लिखा है—

हिमांशु सूर सी लगै, सो बात वज्र सी बहै।
दिशा जगैं कृसानु ज्यों, विलेप अंग को दहै।
विसेस कालराति सौं, कराल राति मानिये।
वियोग सीय को न, काल लोकहार जानिये।

इतना ही नहीं, कभी-कभी कवि प्रकृति के उद्दीपन रूप का वर्णन करते हुए नायिका के मान-मोचन की भी व्यवस्था किया करते हैं। केशव ने भी प्रकृति के उद्दीपनकारक पदार्थों को एकत्र करके राधा-कृष्ण के मान-मोचन का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है—

घनन की घोर सुनि मोरन की सोर सुनि,
सुनि सुनि केशव अपाल अली जन को।

दामिनी की दमकि देखि दीप की दिपति देख,
सुख सेज देखि देखि सुन्दर सुवन को ।
कुंकुम की वास घन सार की सुवास भयो,
फूलन की वास मन फूलि कै मिलन को।
हँसि हँसि बोले दोउ अनही मनायो मान,
छूटी गयो एक बार राधिका रमन को।

(३) **मानवीकरण के रूप**—केशव ने प्रकृति को केवल जड़रूप में ही चित्रित नहीं किया है, अपितु उसमें मानवीय-व्यापारों के समान सचेतनता के भी दर्शन किए हैं। इसीलिए प्रकृति मानवों की तरह विविध चेष्टाएँ करती हुई विभिन्न प्रकार के चेतन व्यापारों में लीन दिखाई दी है। यही कारण है कि केशव को अवधपुरी के भवनों पर सुशोभित ध्वजा-पताकाएँ दण्डधारिणी संन्यासिनियों के समान आचरण करती हुई जान पड़ती हैं और कवि उनके बारे में कह रहा है—

अति सुन्दर अति साधु। थिर न रहत पल आधु।
परम तपोमय मानि। दण्ड-धारिनी जानि।।

इसी कारण केशव को वर्षा ऋतु कभी अत्रि ऋषि की पत्नी अनुसूया के समान आचरण करती हुई दिखाई पड़ती है और कभी वह काली के तुल्य किलकारी करकर आती हुई प्रतीत होती है—

तरुनी यह अत्रि रिषीस्वर की-सी,
उर में हिम चन्द्रप्रभा सम दीसी।
वरषा न सुनो किलकै किल काली,
सब जानत हैं महिमा अहिमाली।

इतना ही नहीं, प्रकृति को मानवीय चेष्टाओं से युक्त देखने के कारण ही केशव को शरद ऋतु उस वृद्धा दासी की भाँति आचरण करती हुई दिखाई दी है, जो प्रायः राजभवनों में राजकुमारी को प्रातःकाल के समय जगाने के लिए आया करती है—

लछमन दासी बृद्ध सी आई सरद सुजाति।
मनहु जगावन को हमहिं बीते वरषा-राति।।

(४) **संवेदनात्मक रूप में**—केशव ने प्रकृति को मानव सृष्टि की ही भाँति सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, आनन्द-उल्लास आदि के अवसर पर संवेदना एवं सहानुभूति प्रकट करते हुए चित्रित किया है। यही कारण है कि जिस समय राम, लक्ष्मण और सीता वन में चले जा रहे हैं उस समय जो सरोवर जलहीन थे, वे सहसा जल से परिपूर्ण हो जाते हैं, उनमें कमल विकसित हो उठते हैं तथा भौरों का समूह उन पर मँडराने लगता है। मार्ग में जो वृक्ष एवं लताएँ सूख रही थीं वे हरी-भरी हो उठती

हैं; तथा चकोर, मोर, शुक, हंस आदि भी सहसा कलरव ध्वनि करके उसका मनोविनोद करने लगते हैं :

तड़ाग नीरहीन ते सनीर होत केशोदास पुंडरीक झुंड भौंर मंडलीन मंडही ।
तमाल बल्लरी समेत सूखि-सूखि कै रहे ते बाग फूलि-फूलि कै समूल सूल खंडही ॥
चितै चकोरनी चकोर मोर मोरनी समेत हंस-हंसिनी सुकादि सबै पढ़ैं ।
जहीं जहीं विराम लेत राम जू तहीं-तहीं अनेक भाँति के अनेक भोग भागसौं बढ़ैं ॥

(५) **अलंकार रूप में**—केशव ने प्रकृति का उपयोग अलंकार रूप में अत्यधिक मात्रा में किया है। केशव की अलंकार-योजना में प्रकृति के उपमानों की भरमार है। वैसे भी प्रायः सभी कवि प्राकृतिक पदार्थों को वस्तु-वर्णन, रूप-चित्रण एवं सौन्दर्य-निरूपण के लिए उपमान के रूप में ग्रहण किया करते हैं। केशव ने भी प्रकृति को उपमान के रूप में ग्रहण करके प्रकृति के अलंकार रूप का चित्रण अपने काव्य में पर्याप्त मात्रा में किया है : परन्तु केशव की विशेषता यह है कि कहीं-कहीं प्रकृति के उपमानों का प्रयोग नवीन ढंग से भी मिलता है, जिसमें कवि की मौलिकता के साथ-साथ नवीन उद्भावना-शक्ति के भी दर्शन होते हैं। जैसे, केशव ने वर्षा के बादलों के रूप में इन्द्र को सूर्य पर आक्रमण करते हुए दिखाकर अपनी नई सूझ-बूझ का परिचय देते हुए लिखा है—

घनघोर घने दसहूं दिसि छाये। मघवा जनु सूरज पै चढ़ि आए ॥
अपराध बिना क्षिति के तन ताये। तिन पीड़न पीड़ित ह्वै उठि धाए ॥
अति गाजत-बाजत दुंदुभि मानौ। निरघात सबै पविपात बखानौ ॥
धनु है यह गौरमदाइन नाहीं। सरजाल बहै जलधार बृथाही ॥
भट चातक दादुर मोर न बोले। चपला चमकै, न फिरै खग खोले ॥

इसी तरह राम के वन जाते ही सारा नगर उनके साथ चलने के लिए उमड़ पड़ता है। उस समय का चित्रण करने के लिए केशव ने अपनी मौलिक उद्भावना का परिचय देते हुए जनसमूह को भागीरथ के पीछे उमड़ते हुए भागीरथी के प्रवाह तुल्य बताया है—

राम चलत सब पुर चल्यो, जहँ तहँ सहित उछाह ।
मनो भगीरथ पथ चल्यो, भागीरथी प्रवाह ॥

(६) **उपदेशात्मक रूप में**—केशव ने तुलसी की भाँति प्रकृति का प्रयोग लोक-शिक्षा के लिए भी किया है। तुलसी ने जैसे वर्षाकाल का वर्णन करते हुए उपदेश दिये हैं, वैसे ही केशव भी वर्षा के घने अन्धकार का वर्णन करते हुए उपदेश दे रहे हैं—

बरनत केशव सकल कवि, विषम गाढ़ तम-सृष्टि ।
कुपुरुष सेवा ज्यों भई, संतत मिथ्या-दृष्टि ॥

ऐसे ही केशव ने मद्यपान आदि दुष्कर्मों से बचने का उपदेश देते हुए प्रकृति के माध्यम से बताया है कि जैसे चन्द्रमा जब वारुणी (पश्चिम दिशा) की इच्छा करता

तो वह अपने ऐश्वर्य को खो बैठता है, वैसे ही जो ब्राह्मण वारुणी (मदिरा) की इच्छा करता है, वह भी ऐश्वर्य-हीन हो जाता है—

जहीं वारुनी की करी रंचक रुचि द्विजराज ।
तहीं कियो भगवंत बिन संपति सोभा-साज ।।

(७) **वातावरण-निर्माण के रूप में**——केशव ने कहीं-कहीं वातावरण के निर्माण के लिए भी प्रकृति का सुन्दर उपयोग किया है । यही कारण है कि भारद्वाज मुनि के आश्रम में स्थित शान्तिपूर्ण वातावरण का चित्रण करते हुए केशव ने वहाँ पर मृग के बच्चों को बाघनियों का दूध पीते दिखाया है, गायों को बाघ के बच्चों का मुख चाटते हुए अंकित किया है, हाथी के बच्चों को अपनी सूँड़ों से सिंह के बाल ऐंचते हुए चित्रित किया है, सिंहों को हाथियों के दाँतों पर आसन जमाए हुए दिखाया है और साँपों के फनों पर मोर नाचते हुए तथा बन्दरों को अन्धे तपस्वियों के हाथ पकड़े हुए उन्हें रास्ता बताते हुए चित्रित किया है । इस प्रकार क्रोध, मद, निरोध एवं काम-रहित आश्रम के शान्त वातावरण का चित्र प्रस्तुत करने के लिए केशव ने प्रकृति के पदार्थों का सुन्दर प्रयोग किया है—

केशोदास मृगज-बछेरू चोषें बाघनीन,
चाटत सुरभि बाघ बालक वदन है ।
सिंहन की सटा ऐचें कलभ करनि करि,
सिंहन को आसन गयंद को रदन हैं ।
फणी के फणन पर नाचत मुदित मोर,
क्रोध न विरोध जहाँ मद न मदन हैं ।
बानर फिरत डोरे डोरे अंध तापमनि,
शिव को समाज कैधों ऋषि को सदन है ।

सारांश यह है कि केशव ने यद्यपि अपने प्रकृति-चित्रण में विश्वामित्र के आश्रम में 'ऐला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहै' कहकर भौगोलिक अज्ञान का परिचय दिया है, प्रातःकालीन मनोरम वातावरण का चित्रण करते हुए 'कै स्रोनित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को' कहकर वीभत्सता का वातावरण बना दिया है, पांडव की प्रतिमा सम लेखौ' कहकर राम के समय में पांडवों का वर्णन करके ऐतिहासिक अज्ञान एव काल-दोष का भी परिचय दिया है, 'गुन धूरजटी बन पंचवटी' कहकर प्राकृतिक सुषमा से मंडित पंचवटी को धूर्जटी (शिव) के समान बता दिया है और 'दिनकर वानर अरुन मुख' कहकर सूर्य को बन्दर बना दिया है, तथापि केशव ने प्रकृति का विविध रूपों में चित्रण करके नवीन परम्परा का श्रीगणेश किया है । इतना अवश्य है कि केशव में चमत्कार-प्रियता का प्राधान्य होने के कारण उनके प्राकृतिक वर्णनों में सर्वत्र बौद्धिकता एवं अलंकृत शैली की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है । इसका कारण यह है कि केशव ने प्रकृति को राज-दरबार के झरोखे से देखा है, वे प्रकृति के सुरम्य वातावरण में रहकर प्राकृतिक सुषमा का आनन्द नहीं ले पाये हैं । निरन्तर

वैभव एवं विलास के राजसी वातावरण में रहने वाले कवि से इससे अधिक और क्या अपेक्षा हो सकती थी। यही कारण है कि केशव ने प्रकृति-चित्रण में अपनी कलात्मक मनोवृत्ति का ही परिचय दिया है और इस कार्य में सर्वथा सफल दिखाई देते हैं।

केशव का संवाद-सौष्ठव

हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत केशव संवादों के लिए सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। केशव के समान वाक्-चातुर्य एवं त्वरापूर्ण संवाद लिखने में किसी को भी सफलता नहीं मिली है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने केशव के संवादों की प्रशंसा करते हुए स्पष्ट लिखा है कि "रामचन्द्रिका में केशव को सबसे अधिक सफलता हुई है संवादों में।"[1] साधारणतया संवाद या कथोपकथन किसी भी काव्य में तीन प्रमुख कार्य किया करते हैं—एक तो इनके द्वारा कथावस्तु को आगे बढ़ाने में सहायता मिलती है; दूसरे, चरित्र-चित्रण में इनके द्वारा बड़ी सहायता प्राप्त होती है, क्योंकि चरित्र-चित्रण के लिए सबसे अधिक सुन्दर अभिनयात्मक प्रणाली मानी गई है और इस प्रणाली के लिए कथोपकथन से ही सहायता मिलती है और तीसरे, तथा पढ़ते-पढ़ते जब पाठक का मन ऊबने लगता है तब काव्य में रोचकता उत्पन्न करने के लिए संवाद का ही सहारा लिया जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि केशव के संवाद उक्त तीनों कार्यों की पूर्ति करते हुए, 'रामचन्द्रिका' को सरस एवं रोचक बनाने में सफल सिद्ध हुए हैं। 'रामचन्द्रिका' में सबसे अधिक संवादों की योजना मिलती है।

'रामचन्द्रिका' में नौ संवाद मिलते हैं—(१) सुमति-विमति-संवाद, (२) रावण-वाणासुर-संवाद, (३) राम-परशुराम-संवाद, (४) राम-जानकी-संवाद, (५) राम-लक्ष्मण-संवाद, (६) राम-सूर्पणखा-संवाद, (७) सीता-रावण-संवाद, (८) सीता-हनुमान-संवाद और (९) रावण-अंगद-संवाद। इनमें से रावण-वाणासुर-संवाद, राम-परशुराम-संवाद तथा रावण-अंगद-संवाद अपेक्षाकृत बड़े हैं और अधिक सुन्दर हैं तथा छोटे-छोटे संवादों में से राम-सूर्पणखा-संवाद, सीता-रावण-संवाद और सीता-हनुमान-संवाद अधिक रोचक एवं प्रभावपूर्ण हैं। केशव के संवादों में निम्नलिखित विशेषताएँ मिलती हैं—

(१) **पात्रानुकूलता**—केशव के संवादों में सबसे बड़ी विशेषता है पात्रानुकूलता। 'रावण-वाणासुर-संवाद' के अन्तर्गत रावण और वाण दोनों ही बलशाली योद्धा अपने-अपने दर्प, गर्व, ऐश्वर्य, पराक्रम आदि का वर्णन करते हुए बड़े ही अनूठे ढंग से एक-दूसरे पर व्यंग्य-वाणों का प्रहार करते हैं। धनुष तोड़ने के लिए रंगशाला में प्रविष्ट होते ही रावण कहता है—

> शंभु कोदंड दै, राजपुत्री कितै।
> टूक द्वै तीन कै, जाहुँ लंकाहि लै।

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २१२।

रावण का उक्त कथन उसके सर्वथा अनुकूल है, क्योंकि इससे उसकी अहंकार-र्ण दर्पोक्ति का आभास मिल रहा है। यह सुनते ही वाणासुर भी बड़े ही करारे ग्य के साथ रावण को उत्तर देता है—

जुपै जिय जोर, तजौ सब सोर।
सरासन तोरि, लहौ सुख-कोरि।

तब रावण फिर 'केशव कोदंड विषदंड ऐसो खंडै अब, तेरे भुजदण्ड की बड़ी है विडम्बना' आदि कहकर अतिशयोक्ति के साथ अपने प्रचंड पराक्रम की प्रशंसा रता है। इसके उत्तर में वाणासुर बड़े सुन्दर ढंग से चुटकी लेता है—

बहुत बदन जाके। विविध वचन ताके॥

इस प्रकार रावण और वाण दोनों प्रचण्ड पराक्रमी योद्धाओं के अनुकूल ही रा संवाद आदि से अन्त तक लिखा गया है। यही बात रावण-अंगद-संवाद में भी है। ये दोनों ही चतुर राजनीतिज्ञ अपनी-अपनी व्यवहार-कुशलता एवं नीतिज्ञता का चय देते हुए अपने-अपने स्वभाव एवं पद के अनुकूल वार्त्तालाप करते हैं। दोनों के त्तर-प्रत्युत्तर पात्रानुकूलता के परिचायक हैं। जैसे, रावण सब कुछ जानते हुए भी गद के सामने हनुमान की हीनता दिखाता हुआ अनजान बनकर यह पूछता है—

कौन है वह बाँधि के हम देह पूछ सबै दही।

रावण का उक्त कथन उसके गर्व, अहंकार, पराक्रम एवं बल-दर्प का चायक है, परन्तु अंगद भी कम कुशल नहीं है। वह तुरन्त रावण के मर्म को झ जाता है और रावण को नीचा दिखाने के लिए कहता है—

लंक जारि संहारि अक्ष गयो सो बात वृथा कही।

(२) **प्रत्युत्पन्न मति**—केशव के संवादों में सर्वत्र प्रत्युत्पन्न मति के दर्शन होते क्योंकि केशव के सभी पात्र बातों में से बात निकालकर तुरन्त उत्तर देते हुए नी प्रत्युत्पन्न मति का परिचय देते हैं। वे प्रायः ऐसा उत्तर देते हैं जिससे प्रश्नकर्त्ता हक्का-बक्का सा रह जाता है। उदाहरण के लिए, रावण और अंगद का वार्त्तालाप ए, जिसमें रावण के प्रश्न करते ही अंगद अपनी प्रत्युत्पन्न मति के कारण ऐसा र देता है, जिसे सुनकर रावण दाँत तले उँगली दबा जाता है—

(रावण)—राम को काम कहा?
(अंगद)—रिपु जीतहिं,
(रावण)—कौन कबै रिपु जीत्यौ कहाँ?
(अंगद)—वालि बली,
(रावण)—छल सों,
(अंगद)—भृगुनन्दन गर्व हर्‌यो,
(रावण)—द्विज दीन महा।
(अंगद)—दीन सु क्यों? छिति छत्र हर्‌यौ बिन प्राणन हैहयराज कियो।
(रावण)—हैहय कौन?
(अंगद)—वहै बिसर्‌यो जित खेलत ही तोहि बाँधि लियो।

(३) **शिष्टाचार**—केशव ने अपने संवादों में पात्रोचित शिष्टाचार, शील, मर्यादा आदि का बड़ा ध्यान रखा है। केशव कहीं भी किसी पात्र के मुख से ऐसे वाक्य नहीं कहलवाते जो शिष्टाचार एवं सामाजिक मर्यादा के प्रतिकूल हों तथा जिनसे मर्यादा भंग होने की आशंका हो। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण हनुमान-सीता-संवाद में मिलता है। वहाँ हनुमान जी सीता जी से बातें करते हुए सीता के लिए 'जननि', राम के लिए 'रघुनाथ' या 'दशरथ-नन्दन' तथा दशरथ के लिए 'अज-तनय-चन्द' आदि शब्दों का प्रयोग करते हुए शील, मर्यादा एवं शिष्टाचार का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं—

(हनुमान)—**करि जोरि कह्यो हौं पवन-पूत,**
जिय जननि जानि रघुनाथ-दूत।
(सीता)—**रघुनाथ कौन ?**
(हनुमान)—**दसरत्थ नन्द।**
(सीता)—**दसरत्थ कौन ?**
(हनुमान)—**अज-तनय-चन्द।**

(४) **व्यंग्य एवं वाग्वैदग्ध्य**—केशव के संवादों में व्यंग्य एवं वाग्वैदग्ध्य की भरमार है। केशव के पात्र एक-दूसरे पर इस तरह व्यंग्य-वाण का प्रहार करते हैं कि उन्हें सुनकर अनायास ही नई स्फूर्ति, नये तेज, नये ओज एवं नये उत्साह का संचार हो जाता है। रावण ने अंगद से जब उसका और उसके पिता बालि का परिचय पूछा, तब अंगद कितने रोचक ढंग से व्यंग्य-प्रवाह करता हुआ उत्तर देता है, जिसमें वाग्वैदग्ध्य भरा हुआ है—

(रावण)—**कौन के सुत ?**
(अंगद)—**बालि के।**
(रावण)—**वह कौन बालि ?**
(अंगद)—**न जानिये ?**
काँख चाँपि जो तुम्हें सागर सात न्हात बखानिये।

(५) **नाटकीयता**—केशव के संवादों में सर्वत्र नाटकीयता का गुण विद्यमान है, क्योंकि 'रामचन्द्रिका' में वर्णित संवादों के समय पाठकों के सामने दोनों पात्रों का चित्र अनायास ही मानस-पटल पर अंकित हो जाता है और वे दोनों पात्र भी आदि से अन्त तक अभिनयात्मक ढंग से वातचीत करते हुए उत्तर-प्रत्युत्तर देते चले जाते हैं। उदाहरण के लिए बाण-रावण-संवाद सारा अभिनेयता के गुण से भरा हुआ है। उसमें छोटे-छोटे वाक्यों के अन्तर्गत दोनों बलशाली योद्धा अपनी-अपनी बातों को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करते हैं और दोनों ही एक-दूसरे की चुटकियाँ लेते हुए मर्म-स्थल पर प्रहार करते दिखाई देते हैं। जैसे—

रावण कह रहा है—'**वाण न बात तुम्हें कहि आवै।**' इसे सुनकर वाण भी तुरन्त उत्तर देता है—'**सोई कहौं जिय तोहि जो भावै।**' इस पर रावण

गम्भीर होकर कहता है—'**का करिहौ हम यों ही बरेंगे।**' यह सुनकर वाण भी गम्भीरता से उत्तर देता है—'**हैहयराज करी सो करेंगे।**'

(६) **कूटनीति**—केशव के संवादों में जहाँ नाटकीयता है, वहाँ वे राजनीतिक दाँव-पेंच अथवा कूटनीति से भी भरे हुए हैं। केशव एक दरबारी कवि थे और राज-दरबार में चलने वाले दाँव-पेचों को भली प्रकार जानते थे। यही कारण है कि केशव को अपने संवादों में कूटनीति, भेद-नीति अथवा राजनीतिक दाँव-पेंच के चित्र अंकित करने में बड़ी सफलता मिली है। 'अंगद-रावण-संवाद' तो मानो राजनीतिक दाँव-पेंच का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। यहाँ रावण और अंगद की वाग्विदग्धता के साथ-साथ कूटनीति एवं राजनीतिक दाँव-पेंच की भी अच्छी झाँकी मिल जाती है। जब रावण यह देखता है कि अंगद पर अपना रौब नहीं जम रहा है, तब वह भेद-नीति का सहारा लेता हुआ उसे अपनी ओर मिलाने के लिए इस तरह उकसाता है—

नील सुखेन हनू उनके नल और सबै कपिपुंज तिहारे ।।
आठहु आठ दिसा बलि दै, अपनौ पदु लै, पितु जा लगि मारे ।।
तो से सपूतहिं जाइ कै बालि अपूसन की पदवी पगु धारे ।।
अंगद संग लै मेरौ सबै दिल आजुहि क्यों न हतै बपु मारे ।।

इतना ही नहीं, फिर रावण नीति की दुहाई देता हुआ अपने पिता का प्रतिशोध लेने के लिए अंगद को उभाड़ने के लिए यहाँ तक कहता है—

जो सुत अपने बाप को बैर न लेइ प्रकास ।
ता सों जीवत ही मर्यौ लोग कहै तजि आस ।।

परन्तु अंगद इतने पर भी नहीं पसीजता और रावण को खोटी-खरी ही सुनाता रहता है, तब रावण फिर अंगद को 'राज्य' का प्रलोभन देकर अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न करता है—

उरसि अंगद लाज कछू गहौ ।
जनक घातक बात वृथा कहौ ।।
सहित लक्ष्मण रामहि संहरो ।
सकल बानर-राज तुम्है करौ ।।

इतने पर भी अंगद जली-भुनी बातें ही सुनाता चला जाता है, तब रावण भय दिखाकर अंगद को अपनी ओर मिलाने के लिए दाँव चलाता है—

मेरी बड़ी भूल कहा कहौं रे ।
तेरो कहौ दूत ! सबै सहौं रे ।।
वै जो सबै चाहत तोहि मार्यौ ।
मारौं कहा नोहि जो दैव मार्यो ।।

रावण का यह वाण भी खाली जाता है, तब रावण अंगद के सामने क्रोध न दिखाकर कुछ ऐसी शर्तें रखता है, जिन्हें राम यदि मान लें तो वह सीता

को लौटाने के लिए तैयार हो जायेगा। उन शर्तों में भी सबसे पहली शर्त यह है—

देहिं अंगद राज तो कहँ मारि वानर राज को ।

परन्तु अंगद पर इस प्रलोभन-भरी शर्त का भी कुछ असर नहीं होता और रावण के सभी कूटनीति भरे दाँव-पेंच व्यर्थ सिद्ध होते हैं। इस तरह केशव के संवाद साम, दाम, दण्ड और भेद के साथ-साथ राजनीति एवं कूटनीति के दाँव-पेचों से परिपूर्ण हैं।

(७) **पात्रानुकूल मनोभावों की व्यंजना**—केशव के सवादों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह दिखाई देती है कि उनमें पात्रों के अनुरूप आतंक, क्रोध, उत्साह आदि की सुन्दर एवं मर्मस्पर्शी व्यंजना मिलती है। रावण बड़ा ही क्रूर, दुस्साहसी, कठोर, क्रोधी, निष्ठुर एवं निर्मम शासक था, वह देवताओं का प्रबल शत्रु था तथा सारे देवता उसके आतंक के मारे थर्राते थे। इतना ही नहीं, रावण की क्रूरता के मारे उसके दरबार में आतंकपूर्ण वातावरण छाया रहता था, उसी वातावरण का चित्र केशव ने प्रतिहार के कथन द्वारा बड़े ही सजीव ढंग से अंकित किया है। यहाँ प्रतिहार अभिमानी एवं आतंकवादी रावण के दरबार में बैठे हुए देवताओं को फटकारता हुआ कह रहा है—

पढ़ौ विरंचि ! मौन वेद, जीव ! सोर छंड़ि रे ।
कुबेर ! बेर कै कही, न जच्छ-भीर मंडि रे ।।
दिनेस ! जाय दूरि बैठि नारदादि संग हो ।
न बोलु चंद-मंद-बुद्धि ! इन्द्र की सभा नहीं ।।

निस्संदेह यह रावण की सभा है, इन्द्र की सभा नहीं है। अतएव यहाँ तो देवताओं को रावण के प्रतिहार के कथनानुसार ही बैठना पड़ेगा। उक्त कथन में रावण के सर्वथा अनुकूल ही उसके दरबार में विद्यमान आतंक की सजीव व्यंजना हुई है।

(८) **ध्वनि-सौन्दर्य**—केशव के सवादों में वस्तु-ध्वनि एवं अलंकार-ध्वनि का सौन्दर्य पद-पद पर दृष्टिगोचर होता है। जैसे, हनुमान-रावण-संवाद के अन्तर्गत रावण जब हनुमान से बंधन का कारण पूछ रहा है, तब हनुमान बड़े ही कौशल के साथ अपने बंधन का कारण बताते हुए जो उत्तर देते हैं, उसमें वस्तु-ध्वनि की बड़ी ही सुन्दर व्यंजना मिलती है—

(रावण)—**कैसे बँधायौ ?**
(हनुमान)—**जो सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखौ ।**

इसका तात्पर्य यह है कि मैंने तो केवल आँख से ही तेरी स्त्री का स्पर्श किया जिसका परिणाम यह हुआ कि मुझे बन्धन में पड़ना पड़ा, किन्तु तेरी क्या दशा होगी? क्योंकि तू तो परायी स्त्री का अपहरण करके ले आया है और तूने तो शरीर से भी

उसका स्पर्श किया है। इस तरह की वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि आदि का सौन्दर्य केशव के संवादों में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है।

(९) पात्रों का नामांकन—केशव अपने संवादों में प्रायः 'राम कह्यो', 'रावण बोल्यो', 'अंगद कही' आदि लिखकर पात्र-निर्देश को स्थान देना उचित नहीं समझते। केशव ने नाटकों की भाँति पात्रों के नाम प्रायः अलग से बाहर लिख दिये हैं। इससे काव्य में नाटकीयता आ गई है और काव्य और नाटक का सुन्दर समन्वय हो गया है। जैसे—

रावण—**कौन हो पठये सो, कौनैं, ह्याँ तुम्हें कहा काम है ?**
अंगद—**जाति वानर, लंक नायक दूत, अंगद नाम है ?**

(१०) बोलचाल की भाषा का प्रयोग—केशव ने अपने संवादों में प्रायः धारा-प्रवाहपूर्ण दैनिक बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है। इसीलिए इन संवादों में उक्ति-वैचित्र्य के साथ-साथ व्यंग्य-बहार विद्यमान है, मुहावरों एवं लोकोक्तियों के साथ नोंक-झोंक दिखाई देती है और काव्यात्मक सजीवता के साथ-साथ सरलता एवं स्वाभाविकता के भी दर्शन होते हैं। केशव ने सरल भाषा द्वारा ही मीठी-मीटी चुटकियाँ ली हैं और करारे व्यंग्य-प्रहार किये हैं। उदाहरण के लिए 'अंगद-रावण-संवाद' में अंगद की सरल उक्तियों में बोलचाल की भाषा के अन्तर्गत ही कितनी मार्मिकता एवं कितना अर्थ-गाम्भीर्य विद्यमान है—

अंगद—**हाथी न साथी न घोरे न चेरे न गाउँ न ठाउँ कुठाउँ बिलैहैं।**
तात न मात न पुत्र न मित्र न वित्त न तीय कहूँ संग रैहैं।
केशव काम को राम बिसारत और निकाम ते काम न ऐहैं।
चेति रे चेति अजौं चित अंतर अंतक-लोक अकेलौई जैहैं।

सारांश यह कि केशव के संवाद नाटकीय सौन्दर्य के साथ-साथ काव्यात्मक सौन्दर्य में भी ओतप्रोत हैं। इनमें संक्षिप्तता, स्वाभाविकता, पात्रानुकूलता, अभिनेयता आदि के साथ-साथ शिष्टाचार, मर्यादा एवं शील-सौजन्य भी विद्यमान है। केशव के ये संवाद यद्यपि प्रबन्ध की कथा में सर्वत्र उपयुक्त नहीं दिखाई देते, उखड़े-उखड़े से जान पड़ते हैं और इन्हें यदि निकाल भी दिया जाय तो प्रबन्ध-काव्य में कोई अधिक हानि नहीं होगी, तथापि इन संवादों का अपना महत्त्व है, क्योंकि ये स्वतन्त्र रूप से विद्यमान होकर बड़े ही रोचक एवं मनोरंजक हैं, इनमें कूटनीति एवं राजनीतिक दाँव-पेंच भरे हुए हैं, ये कौतूहलवर्द्धक एवं स्फूर्तिदायक हैं। इनमें ओज, उत्साह, क्रोध आदि की सुन्दर व्यंजना हुई है। तथा इनमें सभी पात्र राजकीय शिष्टाचार के साथ-साथ सामाजिक मर्यादा एवं शील-सौजन्य आदि का सदैव ध्यान रखकर ही वार्त्तालाप करते हैं। केशव ने जहाँ श्लेष, यमक आदि के द्वारा काव्य में क्लिष्टता एवं दुरूहता उत्पन्न की है, वहाँ रोचक एवं मनोरचक संवाद लिखकर अपने काव्य में नाटकीय वातावरण का निर्माण करते हुए रोचकता का भी प्रसार किया है तथा इन संवादों के द्वारा पात्रों का चित्रण भी अभिनयात्मक ढङ्ग से बड़ी सरलतापूर्वक चित्रित किया है। निस्संदेह

केशव के ये संवाद लेखक की वाक्पटुता, भाषा-प्रवीणता, व्यवहार-कुशलता, राजनीतिज्ञता, प्रत्युत्पन्न मति एवं सूक्ष्म मनोविज्ञान के परिचायक हैं।

केशव का आचार्यत्व

यद्यपि रीति-ग्रन्थों की परम्परा केशव से पूर्व ही स्थापित हो चुकी थी, तथापि रीति-ग्रन्थों में साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी विवेचन को व्यवस्थित रूप देकर उसके लिए अबाध मार्ग खोलने का कार्य सर्वप्रथम केशव ने ही आरम्भ किया, क्योंकि केशव के पूर्ववर्ती रीतिग्रन्थकारों में कोई ऐसा लेखक नहीं दिखाई देता, जो आचार्य कहला सके। कृपाराम की 'हिततरंगिणी', गोप की 'अलंकार-चन्द्रिका', मोहनलाल का 'श्रृङ्गार-सागर', रहीम का 'नायिका-भेद', कर्णेश का 'कर्णाभरण', 'श्रुति-भूषण', बलभद्र का 'दूषण-विचार', 'नखशिख' आदि केशव के सम्पूर्ण पूर्ववर्ती रीति-ग्रन्थों में न तो साहित्य शास्त्र के सभी विषयों की तर्कपूर्ण एवं सारगर्भित विवेचना एक स्थान पर ही मिलती है और न इनमें साहित्य-शास्त्र के मर्म तक पहुँचने का प्रयत्न दिखाई देता है। डा० हीरालाल दीक्षित के मतानुसार उक्त सभी रीति-ग्रन्थ "क्षीण और उथले प्रयत्न थे और शनैः शनैः परिवर्तित होती हुई लोकरुचि की ओर संकेत-मात्र थे।"[1] अतः डा० विजयपालसिंह ने ठीक ही लिखा है कि "यों तो केशव के पूर्व ही हिन्दी में साहित्य-शास्त्र के कई अंगों—रस, नायिका-भेद, अलंकार—पर अलग अलग कुछ कार्य हुआ था, किन्तु उसके सभी अंगों को लेकर सांगोपांग निरूपण हिन्दी-साहित्य में सर्वप्रथम आचार्य केशवदास द्वारा ही हुआ।"[2] यही कारण है कि केशव रीति-काल के प्रथम आचार्य कहलाते हैं। वैसे भी केशव ने केवल ग्रन्थ लिखकर ही आचार्यत्व की पदवी प्राप्त नहीं की थी, अपितु वे व्यावहारिक दृष्टि से भी आचार्य थे, क्योंकि उन्होंने अपनी शिष्या प्रवीणराय के माध्यम से सम्पूर्ण कवि-समाज को काव्य-रचना की विविध बारीकियों, विभिन्न पद्धतियों एवं नाना विधियों का ज्ञान कराया था और इस कार्य में बड़े ही कुशल एवं सिद्धहस्त थे।

(क) 'कविप्रिया' में केशव का आचार्यत्व—केशव का आचार्यत्व स्थापना करने वाली दो पुस्तकें हैं—'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया'। इनमें से 'कविप्रिया' के अन्तर्गत सोलह प्रभाव हैं, जिनमें से पहले प्रभाव में गणेश-बन्दना के उपरान्त ग्रन्थ-प्रणयन-काल तथा नृप-वंश का वर्णन मिलता है। दूसरे प्रभाव में कवि ने अपने वंश का उल्लेख किया है, तीसरे प्रभाव में काव्य-दोष तथा गण-अगण का वर्णन किया है, चौथे प्रभाव में कवि-भेद तथा कवि-रीति एवं कवि-प्रसिद्धियों का वर्णन किया है, पाँचवें प्रभाव में अलंकारों के भेदों का वर्णन किया है, जिसमें पहले अलंकार के सामान्य और विशेष दो भेद किये हैं, फिर सामान्य के वर्ण, वर्ण्य; भूश्री और राजश्री चार भेद किये हैं और तत्पश्चात् वर्णालंकार के श्वेत, पीत, कृष्ण, धूमर, अरुण, नील एवं मिश्र सात

---

[1] **आचार्य केशवदास, पृ० २३०।**

[2] **केशव और उनका साहित्य, पृ० १३९।**

भेद किये हैं। इसके अनन्तर छठे प्रभाव में कवि ने वर्ण्यालंकार का वर्णन किया है, जिसमें सम्पूर्ण, आवर्त आदि अट्ठाईस प्रकार के वर्ण्यविषयों—जाति, गुण, क्रिया, द्रव्यात्मक आदि की तालिका दी है, सातवें प्रभाव में देश, नगर, वन, बाग, गिरि, आश्रम आदि प्राकृतिक वर्ण्य-विषयों का वर्णन करते हुए भूश्री का उल्लेख किया है, आठवें प्रभाव में राजा, रानी, मन्त्री, संग्राम, आखेट आदि राज्य सम्बन्धी वर्ण्य-विषय का उल्लेख करते हुए राज्यश्री का वर्णन किया है, नवें प्रभाव से लेकर चौदहवें प्रभाव तक स्वभावोक्ति, विभावना, आक्षेप, आशिष, वक्रोक्ति, समाहित, उपमा आदि विशिष्टालंकारों का विस्तार-सहित वर्णन किया है, पन्द्रहवें प्रभाव में नखशिख-वर्णन करते हुए यमक और उसके भेदों का भी उल्लेख किया है और सोलहवें प्रभाव में चित्रकाव्य तथा उसके भेदों का वर्णन किया है। इस प्रकार 'कविप्रिया' में केशव ने अन्य काव्यांगों की अपेक्षा अलंकारों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। वैसे भी केशव के काव्य में अलंकारों का प्राधान्य होने के कारण केशव को अलंकारवादी कहा जाता है। केशव ने स्वयं भी काव्य में अलंकारों को सर्वोच्च स्थान प्रदान करते हुए लिखा है—

> जदपि सुजाति सुलच्छिनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
> भूषन बिनु न विराजहीं, कविता बनिता मित्त ॥

दंडी आदि अन्य अलंकारवादी आचार्यों की भाँति केशव ने भी रस की सत्ता स्वीकार करते हुए रस की गणना 'रसवत्' अलंकार के अन्तर्गत की है और 'कविप्रिया' में रसवत् अलंकार का उल्लेख करते हुए उसमें सभी रसों का वर्णन किया है। केशव के अलंकार-निरूपण में विविधता एवं विस्तार के साथ नवीनता के भी दर्शन होते हैं। जैसे—केशव ने सुसिद्ध, प्रसिद्ध, विपरीत तथा अन्योक्ति नामक कुछ नवीन अलंकारों का वर्णन किया है, जिनका उल्लेख भट्टि, भामह, दंडी, उद्भट, वामन, भोज, मम्मट आदि किसी भी संस्कृत के आचार्य ने नहीं किया है। इसके साथ ही केशव ने सामान्य और विशिष्ट वर्गों में अलंकारों का जो विभाजन किया है, वह भी केशव की मौलिक उद्भावना का द्योतक है। इनमें से सामान्य अलंकारों का वर्णन मुख्य रूप से 'अलंकारशेखर' तथा 'काव्यकल्पलतावृत्ति' के आधार पर किया गया है, फिर भी केशव के वर्णन में मौलिकता एवं नवीनता के दर्शन होते हैं। ऐसे ही केशव ने विशिष्ट अलंकारों का वर्णन 'काव्यादर्श' तथा 'अलंकार-सूत्र' के आधार पर किया है, फिर भी कुछ अलंकार के भेदों तथा कुछ नवीन अलंकारों के निरूपण में केशव ने मौलिकता का परिचय दिया है।

केशव ने अलंकारों का वर्णन बड़ी कुशलता एवं तत्परता के साथ किया है, फिर भी केशव के अलंकार-निरूपण में कितने ही दोष दिखाई देते हैं। सर्वप्रथम तो केशव द्वारा दिये गये अलंकारों के लक्षण और उदाहरण स्पष्ट नहीं हैं। जैसे क्रमालंकार, प्रेमालंकार, निदर्शना आदि के लक्षण पढ़कर कोई भी व्यक्ति इन अलंकारों का ठीक स्वरूप समझ नहीं सकता। दूसरे, केशव के कुछ अलंकारों के लक्षण एक

समान हो गये हैं। जैसे केशव ने 'पर्यायोक्ति' तथा 'समाहित' अलंकारों के लक्षण एक से ही दिये हैं। यही बात 'स्वभावोक्ति' एवं 'उक्त' अलंकारों में भी पाई जाती है। जैसे स्वभावोक्ति का लक्षण यह है—

जाको जैसो रूप गुण, कहिए ताही साज।
तासो जानि स्वभाव सब, कहि बरणत कविराज।

यही बात 'उक्त' अलंकार में भी दिखाई देती है—

जा को जैसा रूप बल कहिए ताही रूप।
ताको कवि कुल उक्त कहि, बरणत विविध स्वरूप।

तीसरे, केशव के कतिपय अलंकारों के लक्षण और उदाहरणों में परस्पर सामंजस्य नहीं दिखाई देता। इसका परिणाम यह हुआ कि लक्षण कुछ है और उदाहरण किसी और अलंकार का हो गया है। इसीलिए विरोधालंकार का उदाहरण प्रथम विभावना का हो गया है, 'भूषणोपमा' का उदाहरण केशव द्वारा वर्णित 'श्लेषोपमा' का हो गया है। 'अतिशयोपमा' का उदाहरण 'अनन्योपमा' का उदाहरण हो गया है। चौथे, केशव के कतिपय उदाहरणों में असंगति के दर्शन होते हैं। जैसे, केशव अपने उदाहरण में वर्णन तो अनाथों की 'अबलता' का करना चाहते हैं, किन्तु वहाँ अनाथों की 'सबलता' का वर्णन हो गया है। पाँचवें, केशव ने कुछ अलंकारों के उपभेद तो कर डाले हैं, परन्तु उनके लक्षण नहीं दिये। इस तरह केशव ने अलंकार-निरूपण में मौलिकता का परिचय देते हुए कतिपय भूलें भी की हैं।

(ख) 'रसिकप्रिया' में केशव का आचार्यत्व—केशव को आचार्यत्व प्रदान करने वाली दूसरी रचना 'रसिकप्रिया' है। इसमें भी सोलह प्रकाश हैं। केशव ने पहले प्रकाश में मंगलाचरण के पश्चात् शृंगार के दोनों भेद संयोग और वियोग का वर्णन किया है; दूसरे प्रकाश में नायक के भेदों का उल्लेख किया है; तीसरे प्रकाश में जाति, कर्म, अवस्था तथा मान के अनुसार नायिकाओं के भेद किये हैं; चौथे प्रकाश में साक्षात्, चित्र, स्वप्न तथा श्रवण नामक चार प्रकार के दर्शनों का वर्णन किया है; पाँचवें प्रकाश में नायक-नायिका की चेष्टाओं, स्वयंदूतीत्व एवं उनके मिलन आदि का वर्णन किया है; छठे प्रकाश में भाव, विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव आदि का निरूपण किया है; सातवें प्रकाश में काल और गुण के अनुसार नायिकाओं के भेद किये हैं, आठवें प्रकाश में विप्रलम्भ शृंगार के चार भेद करके पूर्वानुराग का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है; नवें प्रकाश में मान के भेदों का वर्णन किया है; दसवें प्रकाश में मान-मोचन के उपायों का उल्लेख किया है; ग्यारहवें प्रकाश में पूर्वानुराग से इतर विप्रलम्भ शृंगार के भेदों का वर्णन किया है; बारहवें प्रकाश में सखियों के भेद बताये हैं; तथा तेरहवें प्रकाश में सखियों के कार्यों का वर्णन किया है। यहाँ तक शृंगार रस के विभिन्न अंगों का वर्णन करने के उपरान्त चौदहवें प्रकाश में केशव ने अन्य आठ रसों का विवेचन किया है; पन्द्रहवें प्रकाश में विभिन्न वृत्तियों का वर्णन किया है और सोलहवें प्रकाश में कतिपय काव्य-दोषों का

वर्णन किया है। इस प्रकार केशव ने 'रसिकप्रिया' में मुख्यतः रस, नायक एवं नायिका-भेद का वर्णन किया है।

'रसिकप्रिया' में केशव ने शृंगार का रसराजत्व स्थापित किया है। केशव ने वैसे 'अति रति गति मति एक करि विविध विवेक विलास' कहकर विभिन्न रस-भेद, विविध संचारी भावों, अनेक वृत्तियों आदि की ओर संकेत किया है, किन्तु केशव ने इतना कहकर भी अन्त में विविध वृत्ति, रीति एवं भावादि को शृंगार रस के अन्तर्गत ही प्रदर्शित करके शृंगार रस का सर्वत्र प्राधान्य घोषित किया है। इतना होने पर भी केशव ने शृंगार रस के संयोग एवं वियोग नामक दोनों भेदों का उल्लेख तो किया है, किन्तु उनके लक्षण नहीं दिये हैं। इसके साथ ही संयोग और वियोग के 'प्रच्छन्न' एवं 'प्रकाश' नामक दो भेद किये हैं और नायक, स्वयंदूतत्व, दर्शन के भेदों, आठ नायिकाओं, वियोग की दस दशाओं, संचारीभावों, मान आदि में से प्रत्येक के 'प्रच्छन्न' और 'प्रकाश' दो भेद किये हैं। यद्यपि केशव का यह वर्गीकरण सर्वथा मौलिक है तथा ऐसे उपभेद किसी भी संस्कृत ग्रन्थ में नहीं मिलते, फिर भी इन उपभेदों का कोई मनोवैज्ञानिक आधार नहीं दिखाई देता। इसके अतिरिक्त केशव ने नायक एवं नायिकाओं के जो भेद-उपभेद किये हैं, वे परम्परागत हैं। इनमें से केशव ने स्वकीया, परकीया एवं सामान्या नायिकाओं में से सामान्या का विवेचन तो अनुचित जानकर छोड़ दिया है, किन्तु परकीया के भी अधिक भेद-प्रभेद नहीं किये हैं, केवल स्वकीया का ही विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इसके साथ ही केशव ने आलम्बन एवं उद्दीपन विभाव का वर्णन करते हुए आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायक-नायिका के यौवन, रूप, जाति, लक्षण, वसंत ऋतु, पुष्प, फल, दल, उपवन, जलधारा युक्त जलाशय, कमल, चालक, मोर, कोकिल की कूक, भौंरों की गुंजार आदि की गणना की है, किन्तु ये सभी वस्तुएँ आलम्बन विभाव के अन्तर्गत न आकर उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आती हैं। इसके साथ ही केशव ने उद्दीपन के अन्तर्गत केवल नायक-नायिका का परस्पर देखना, आलाप, आलिंगन, नखदान, रददान, चुम्बन, मर्दन तथा स्पर्श की गणना की है। केशव ने विभिन्न भावों के भी लक्षण दिये हैं, परन्तु 'विलास' तथा 'कुट्टमित' के लक्षण अस्पष्ट हैं। इसके साथ ही केशव ने हास्य रस के नवीन चार भेद किये हैं—मंदहास, कलहास, अतिहास तथा परिहास; जबकि संस्कृत आचार्यों ने हास्य के स्मित, हसित, विहसित, अपहसित, अतिहसित तथा उपहसित नामक छः भेद किये हैं। केशव ने विवाद एवं आधि नामक दो नये संचारी भावों को जोड़कर संचारियों की संख्या पेंतीस स्वीकार की है।

इस तरह केशव ने अलंकारों की अपेक्षा रस का विवेचन कहीं अधिक सफलता के साथ किया है, परन्तु केशव के रस-विवेचन में भी कितने ही दोष विद्यमान हैं। यहाँ भी लक्षण और उदाहरणों में सामंजस्य नहीं दिखाई देता तथा बहुत से लक्षण अस्पष्ट हो गये हैं। फिर भी संयोग एवं वियोग शृंगार के उपभेदों, पेंतीस संचारी भावों, नायक-नायिका के मिलन-स्थानों, सखीजन के नवीन कार्यों आदि के वर्णन में

केशव की मौलिकता एवं नवीन उद्‌भावना-शक्ति के दर्शन होते हैं। केशव ने कितने ही स्थलों पर अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण से काम लिया है तथा अपनी गहरी सूझ-बूझ का परिचय दिया है। केशव ने परम्परागत लक्षणों में तनिक परिवर्तन अवश्य किया है, किन्तु वह भी सकारण है, उससे केशव के गम्भीर पाण्डित्य एवं उर्वर प्रतिभा का पता चलता है। इसके साथ ही जब उनके लक्षणों की तुलना विभिन्न संस्कृत-ग्रन्थों से करते हैं, तब केशव के गहन एवं विस्तृत अध्ययन का भी पता चलता है। इतना अवश्य है कि केशव ने अलंकार-निरूपण एवं रस-विवेचन में कतिपय भूलें की हैं और उन भूलों को देखकर कभी-कभी उनके पांडित्य पर सन्देह होने लगता है, फिर भी उनके साहित्यशास्त्र सम्बन्धी विवेचन को देखकर मानना पड़ता है कि केशव रीतिकाल के प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने साहित्य-शास्त्र की गम्भीर चर्चा करके हिन्दी में एक नवीन पद्धति का शुभारम्भ किया है। इसके साथ ही ऐतिहासिक दृष्टि से भी केशव का महत्त्व सर्वोपरि है, क्योंकि केशव सम्पूर्ण पूर्ववर्ती रीतिग्रन्थकारों में श्रेष्ठ हैं तथा परवर्ती रीतिग्रन्थकारों के पथ-प्रदर्शक हैं।

केशव की हृदयहीनता

केशव की कविता में पांडित्य का प्राधान्य है। इसीलिए उसमें प्रायः सहृदयता के स्थान पर बौद्धिकता के दर्शन होते हैं, भावुकता के स्थान पर हृदयहीनता के दर्शन होते हैं और सरसता एवं सरलता के स्थान पर नीरसता एवं क्लिष्टता के दर्शन होते हैं। केशव के इस पांडित्य-प्रदर्शन को देखकर ही किसी आलोचक ने उन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' तक कहा है, किसी ने उन्हें 'कवि को देन न चहै बिदाई, पूछै केशव की कविताई' कहकर क्लिष्ट-काव्य-रचयिता माना है और किसी ने उन्हें 'हृदय-हीन' कहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो केशव के पांडित्य-प्रदर्शन को देखकर यहाँ तक कह गये हैं कि "केशव को कवि-हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए। वे संस्कृत साहित्य से सामग्री लेकर अपने पांडित्य और रचना-कौशल की धाक जमाना चाहते थे, पर इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए भाषा पर जैसा अधिकार चाहिए, वैसा उन्हें प्राप्त न था।"[1] आचार्य श्यामसुन्दरदास ने भी लिखा है कि "शृंगार के वर्णन में ही पांडित्य-प्रदर्शन की रुचि, चमत्कार-विधान की प्रेरणा तथा शृंगार के नंगे दृश्यों को अंकित करने में आनन्द की भावना ने केशव को काव्योचित कल्पना, संयम और धार्मिकता से काम नहीं लेने दिया है। ....उनकी रुचि क्लिष्ट कल्पना की ओर थी। ......शृंगार को छोड़कर करुण से करुण दृश्य केशव के हृदय को पिघला नहीं सका है। ऐसे समय में भी उनकी आँखें अलंकार-वैचित्र्य की ओर लगी रहती हैं।"[2] उक्त कथनों के आधार पर स्पष्ट पता चलता है कि केशव की कविता पर जो क्लिष्टता, हृदयहीनता एवं

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २०९।

[2] हिन्दी-साहित्य, पृ० २५२-२५३।

नीरसता से लांछन लगाये गये हैं उनका मुख्य कारण पांडित्य-प्रदर्शन की रुचि एवं चमत्कार-विधात की प्रेरणा है और इस रुचि एवं प्रेरणा को कार्यरूप में परिणत करने के लिए केशव ने अलंकार-वैचित्र्य का पल्ला पकड़ा है। वैसे भी केशव की कविता-वनी में श्लेष एवं यमक के ऐसे झाड़-झंखाड़ विद्यमान हैं कि उन्हें देखकर अच्छे-अच्छे विद्वानों के हौसले पस्त हो जाते हैं। केशव में अलंकार-प्रियता का होना कोई बुरी बात नहीं थी, इससे वे अपने कथन में पर्याप्त सरसता एवं भावुकता का समावेश कर सकते थे और भावानुकूल अलंकारों का प्रयोग करके प्राय: सभी महाकवि अपने कथन में वैचित्र्य की स्थापना करते हुए सरसता का संचार किया करते हैं। किन्तु केशव ने उन अलंकारों को अधिक अपनाया है, जिनमें शब्दों के खिलवाड़ का प्राधान्य होता है, जो हृदय की अपेक्षा बुद्धि को खुरच-खुरचकर अधिक लिखे जाते हैं और जिनमें कृत्रिमता एवं आडम्बर की बहुलता होती है। इनमें श्लेष, विरोधाभास, परिसंख्या आदि ऐसे अलंकार आते हैं, जिनके कारण केशव का काव्य सर्वसाधारण के लिए क्लिष्ट, कठिन एवं दुरूह हो गया है और उन स्थलों पर केशव की हृदय-हीनता ही दिखाई देती है। उदाहरण के लिए केशव के वर्षा-वर्णन में से "भौंहें सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर" वाला कवित्त ले सकते हैं, जिसमें केशव ने अपने पांडित्य का प्रदर्शन करने के लिए कालिका एवं वर्षा से सम्बन्धित ऐसे पद रखे हैं, जो द्वयर्थक हैं तथा जिनको तोड़-मरोड़कर ही कालिका तथा वर्षा के पक्ष में अर्थ लगाया जाता है। इसके लिए अच्छे-अच्छे विद्वानों को भी घुटने टेकने पड़ते हैं।

केशव की क्लिष्टता का दूसरा कारण यह है कि केशव ने कोरे शब्द-साम्य को आधार बनाकर श्लेषात्मक कविता की है, जिसमें शाब्दिक खिलवाड़ मात्र के अतिरिक्त कहीं भी भावुकता एवं सरसता के दर्शन नहीं होते। उदाहरण के लिए 'पांडव की प्रतिमा सम लेखो, अर्जुन भीम महामति देखो' पंक्तियाँ ले सकते हैं। यहाँ पर केशव ने न तो रूप-साम्य को अपने कथन का आधार बनाया है, न गुण-साम्य को ही अपनाया है और न क्रिया-साम्य के आधार पर ही यह उक्ति लिखी है, अपितु कोरे शब्द-साम्य को अपनाकर दंडकवनी को पांडवों की प्रतिमा के समान बताया है, क्योंकि पांडवों में जैसे अर्जुन और भीम थे, वैसे ही दंडक-वन में भी अर्जुन (ककुभ) तथा भीम (अम्लबेत) के पेड़ विद्यमान थे। अतएव इस श्लेषात्मक अलंकार-योजना में कोरा शब्द-साम्य ही क्लिष्टता का कारण बन गया है।

तीसरे, केशव कहीं-कहीं विरोधाभास के चक्कर में पड़कर अपने काव्य की सरसता एवं सरलता को खो बैठे हैं और उनके काव्य में क्लिष्टता एवं दुरूहता आ गई है। उदाहरण के लिए गोदावरी का वर्णन लिया जा सकता है, जहाँ पर 'विषमय यह गोदावरी अमृतन को फल देति, केशव जीवनहार के दुख अशेष हर लेति' कहकर केशव ने गोदावरी को विषमय कहकर भी अमृत-फल देने वाली कहा है। इसमें 'विष' शब्द का प्रयोग जल के लिए किया गया है, किन्तु केशव के इस अर्थ तक पहुँचना बड़ा कठिन कार्य है।

श्रीमती [illegible] सिंह

चौथे, केशव की क्लिष्टता का कारण परिसंख्या अलंकार का प्रयोग भी है। परिसंख्या अलंकार के द्वारा केशव ने अपने पांडित्य का तो खूब प्रदर्शन किया है, किन्तु उसमें न तो सरसता है और न प्रभावात्मकता है। हाँ, इतना अवश्य है कि केशव के पांडित्य की धाक प्रत्येक विद्वान को स्वीकार करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए 'मूलन ही की जहाँ अधोगति केशव गाइय, होम हुतासन धूम नगर एकै मलिनाइय। दुर्गति दुर्गन ही, जो कुटिल गति सरितन ही में, श्रीफल को अभिलाष प्रगट कविकुल के जी में' अथवा 'अति चंचल जहँ चलदलै विधवा बनी न नारि' आदि पद लिए जा सकते हैं, जिनमें चमत्कार-प्रदर्शन के कारण काव्यात्मक सरसता का गला घोंट दिया गया है।

पाँचवें, केशव की क्लिष्ट कल्पना ने भी जहाँ काव्यगत सहज सरसता को नष्ट कर दिया है, वहाँ केशव की क्लिष्टता के साथ-साथ हृदयहीनता को भी जन्म दे दिया है। यह क्लिष्ट कल्पना कई स्थलों पर दिखाई देती है। जैसे अयोध्या को देवपुरी के समान बताने के लिए केशव ने 'कविकुल विद्याधर सकल कलाधर राजराज वर वेष बने' आदि कहते हुए श्लेष एवं मुद्रालंकार द्वारा अद्भुत कल्पना की है। साथ ही इस क्लिष्ट कल्पना के कारण 'गुन धूरजटी वन पंचवटी' कहकर केशव ने पंचवटी के सहज प्राकृतिक सौन्दर्य से आँखें फेरकर उसे शिवमूर्ति के समान अद्भुत एवं अजीब बना दिया है। इसी कारण केशव को प्रभातकालीन बाल-रवि में अनुपम सौन्दर्य के दर्शन न होकर खून से भरे हुए कपाल के दर्शन हुए हैं, तभी केशव ने 'कै स्रोनित कलित कपोल यह किल कापानिक काल को' कहकर बाल सूर्य को कापालिक का शोणितपूर्ण कपाल बताया है। इसी कारण केशव को सूर्य लाल मुख का बन्दर भी जान पड़ता है, क्योंकि 'चढ़्यो गगन-तरु धाइ दिनकर-बानर अरुन-मुख, कीन्हो झुकि झहराय सकल तारका-कुसुम बिन' कहकर केशव ने सूर्य को पूर्णतया बन्दर की सी चेष्टाएँ करते हुए अंकित किया है।

केशव की सहृदयता

केशव के काव्य में स्थान-स्थान पर क्लिष्टता, दुरूहता एवं नीरसता के दर्शन होते हैं और यही जान पड़ता है कि केशव की भाव-व्यंजना अलंकारों के बोझ से इतनी दब गई है कि वह कहीं भी उभर नहीं पाई है। परन्तु केशव की भाव-व्यंजना सर्वत्र ही अलंकार-योजना से दब गई हो, यह बात नहीं है। अनेक स्थलों पर उनकी भाव-व्यंजना अत्यन्त मार्मिक भी हुई है। जैसे लक्ष्मण के शक्ति लगने पर केशव ने जो राम का विलाप लिखा है, उसमें केशव की सहृदयता एवं भावुकता के भी दर्शन होते हैं तथा केशव की इन पंक्तियों में शोक-विह्वल करने की भी सामर्थ्य दिखाई देती है—

लक्ष्मण राम जहीं अवलोक्यो, नैनन ते न रह्यो जल रोक्यो।
बारक लक्ष्मण मोहि बिलोकौ, मो कहँ प्राण चले तजि रोकौ।
हौं सुमिरौ गुन केतिक तेरे, सोदर पुत्र सहायक मेरे।
लोचन बान तुही धनु मेरो। तू बल विक्रम बारक हेरो।

दूसरे, केशव की भावुकता एवं सहृदयता वात्सल्यपूर्ण करुण का चित्र अंकित करने में भी दृष्टिगोचर होती है। जिस समय विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को अपने साथ लेकर चलते हैं उस समय के हृदयद्रावक चित्र को अंकित करते हुए केशव ने अपनी सहृदयता का अच्छा परिचय दिया है—

राम चलत नृप के युग लोचन, वारि भरित भये वारिद रोचन।
पायन परि ऋषि के सजि मौनहिं, केशव उठि गये भीतर भौनहिं।

तीसरे, केशव ने सीता-हरण के समय राम के शोक का जो वर्णन किया है, उसमें भी पाठकों के हृदय को विह्वल कर देने की क्षमता दिखाई देती है। राम मारीच को मारकर जैसे ही अपनी कुटी पर लौटते हैं और वहाँ सीता को कुटिया में नहीं देखते वैसे ही वे संशय एवं सन्देह में डूब जाते हैं। केशव ने राम की उस तर्क-वितर्क पूर्ण सन्देहावस्था का बड़ा ही रोचक एवं एवं मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। राम लक्ष्मण से कह रहे हैं—

निज देखौं तहीं शुभ गीतहि सीतहिं कारण कौन कहौं अबहीं।
अति मोहित कै बन माँझ गई सुर मारग हौं मृग मार्‌यो जहीं।
कटु बात कछू तुम सों कहि आई किधौं तेहि त्रास दुराय रहीं।
अब है यह पर्णकुटी किधौं और किधौं वह लक्ष्मण होइ नहीं।

चौथे, मेघनाथ का वध हो जाने पर रावण की सारी योजनाओं पर पानी फिर जाता है और उस समय रावण शोक-विह्वल होकर सर्वस्व त्यागने के लिए तैयार हो जाता है। केशव ने रावण की उसी शोकपूर्ण अवस्था का चित्रण करते हुए जो अपनी सहृदयता एवं सरसता का अच्छा परिचय दिया है। रावण कह रहा है—

आज्जु आदित्य जल, पवन पावक प्रबल,
चंद आनन्द भय, त्रास जग को हरौ।
गान किन्नर करो, नृत्य गंधर्व कुल,
यक्ष विधि लक्ष उर यक्ष कर्दम धरौ।
ब्रह्म रुद्रादि दै देव तिहुँ-लोक के,
राज को जाय अभिषेक इन्द्रहिं करौ।
आजु सिय राम दै, लंक कुलदूषणहिं,
यज्ञ को जाय सर्वज्ञ विप्रहु बरौ।

पाँचवें, केशव की सहृदयता एवं सरसता के जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं वे सभी 'रामचन्द्रिका' से लिए हैं। 'रामचन्द्रिका' के अतिरिक्त केशव की 'रसिकप्रिया' एवं 'कविप्रिया' तो सरसता एवं सहृदयता से ओतप्रोत हैं। वहाँ तो स्थान-स्थान पर केशव की भावुकता के मार्मिकता के चित्र मिलते हैं। कारण यह है कि इन ग्रन्थों में केशव ने नायक-नायिका के प्रेम और उनकी विभिन्न दशाओं एवं परिस्थितियों के जो चित्र अंकित किये हैं, उनमें भावों की गम्भीर एवं मार्मिक व्यंजना हुई है। सच पूछा

जाय तो केशव की 'रामचन्द्रिका' उतनी सरस एवं मार्मिक नहीं है, जितनी कि 'रसिकप्रिया' एवं 'कविप्रिया' हैं। प्रायः आलोचकों ने केशव की 'रामचन्द्रिका' को ही देखकर उन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत', 'क्लिष्ट कवि' अथवा 'हृदय-हीन' कह डाला है। यदि वे केशव की 'रसिकप्रिया' एवं 'कविप्रिया' को ध्यान से पढ़ते, तो केशव को कभी हृदयहीन कवि नहीं कह सकते थे। उदाहरण के लिए रसिकप्रिया' से केशव के वियोग-वर्णन का एक छन्द लेते है, जिसमें केशव ने राधिका की वियोग व्यथा का कैसा मार्मिक चित्र अंकित किया है—

केशव चौंकति सी चितवै क्षिति या धरकै तरकै तकि छाहीं।
बूझिये और कहै मुख और सु और की और भई क्षण-माहीं।
डीढि लगी किधौं बाई लगी, मन फूलि पर्यो कै कर्यो कछु काही।
घूँघट की घट की पट की हरि आजु कछू सुधि राधिकै नाहीं॥

छठे, केशव द्वारा अंकित वियोग का एक चित्र 'कविप्रिया' से भी लेते हैं, जिसमें प्रिय से वियुक्त नायिका की आँखें वर्षा से होड़ लगा रही हैं, साँसों के साथ ही रात्रि भी बढ़ती जा रही है, हँसी हंसिनी के समान लुप्त हो गई है, नींद क्षण भर के लिए बिजली के समान आती है और न जाने फिर कहाँ चली जाती है। वह पपीहे की भाँतिं दिन-रात 'पी-पी' रटती रहती है और उसका शरीर आग के विना ही विरह ताप से सन्तप्त हो रहा है। केशव की सरसता एवं सहृदयता से समन्वित यह चित्र इस प्रकार अंकित किया गया है—

मेह कि हैं सखि आँसू उसासनि माथ निसा सु विसासिनि बाढ़ी।
हाँसी गई उड़ि हंसिनि ज्यों, चपला सम नींद भई पति काढ़ी॥
चातकि ज्यों पिऊ पिउ रटै, चढ़ी चाप तरंगिनि ज्यों तन गाढ़ी।
केशव वाकी दसा सुनि हौं अब, अग्नि बिना अंग अंगन डाढ़ी॥

सारांश यह है कि केशव की 'रामचन्द्रिका' में भले ही सरस एवं मार्मिक स्थलों का अभाव हो, किन्तु 'रसिकप्रिया' एवं 'कविप्रिया' में अनेक ऐसे स्थल मिलते हैं जिन्हें देखकर यह कहा जा सकता है कि केशव में मानव-मनोभावों को परखने की पूर्ण क्षमता थी, भावों का मनोवैज्ञानिक चित्रण करने की अद्भुत शक्ति थी और उसमें भावुकता एवं सहृदयता भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी। इसके साथ ही बुढ़ापे में पनघट पर चन्द्रवदनि-मृगलोचनियों द्वारा 'बाबा' कहे जाने पर केशव द्वारा अपने सफेद बालों का कोसना इस बात का ज्वलंत प्रमाण है कि केशव अन्तिम अवस्था तक हृदय-हीन नहीं थे।[1] वे बड़े ही सरस, भावुक एवं सहृदय कवि थे।

केशव की भाषा

केशव संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। उनके वंश में भी सभी व्यक्ति संस्कृत के

---

१. केशव केसन अस करी, जस अरिहू न कराहिं।
चन्द्रबदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहिं॥

उद्भट विद्वान् हुए थे। परन्तु केशव ने अपनी कविता जनसाधारण की भाषा में की थी, जिसके लिए केशव को स्वयं अपनी भर्त्सना भी करनी पड़ी।[१] उस समय हिन्दी के क्षेत्र में ब्रज और अवधी दो भाषाओं का अधिकार था। केशव बुन्देलखण्ड के रहने वाले थे और बुन्देलखण्ड ब्रज के अत्यन्त समीप होने के कारण वहाँ के कवि प्रायः ब्रजभाषा में ही रचना किया करते थे। इसी कारण केशव ने भी अपनी कविताएँ ब्रजभाषा में ही लिखी हैं। परन्तु केशव की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा नहीं है, उस पर संस्कृत, बुन्देलखंडी, अवधी, अरवी-फारसी आदि कितनी ही तत्कालीन प्रचलित भाषाओं का प्रभाव परिलक्षित होता है। इसके साथ केशव की भाषा में अभिधा का ही प्राधान्य है। उन्होंने अभिधा के द्वारा ही अपनी कविता में चमत्कार उत्पन्न करने की चेष्टा की है तथा लाक्षणिक प्रयोगों का कम सहारा लिया है। सुविधा की दृष्टि से केशव की भाषा में प्रयुक्त शब्दावली को निम्नलिखित ढंग से विभक्त कर सकते हैं :

१—संस्कृत के शब्द,
२—प्राकृत एवं अपभ्रंश के शब्द,
३—बुन्देलखंडी के शब्द,
४—अवधी के शब्द,
५—अरवी-फारसी के शब्द,
६—अप्रचलित शब्द,
७—विकृत शब्द।

(१) संस्कृत के शब्द—केशव की ब्रजभाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। 'रामचन्द्रिका' में तो संस्कृत-पदावली का ही प्राधान्य दिखाई देता है। इसका मूल कारण यह है कि केशव ने अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए जो मार्ग अपनाया था, उसमें लोकभाषा की अपेक्षा संस्कृत भाषा की पदावली ही आपको उपयुक्त ठहरती थी। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि केशव ने 'रामचन्द्रिका' के अन्तर्गत वीच-वीच में संस्कृत श्लोक भी लिख डाले हैं। जैसे—

रामचंद्रपदपद्मं वृन्दारकवृन्दाभिवंदनीयम् ।
केशवमति भूतनया लोचनं चंचरीकायते ।।

इतना ही नहीं, कितने ही स्थलों पर तो ब्रजभाषा के अन्तर्गत ही संस्कृत-मयता का प्राधान्य हो गया है और कवि सरस पदावली का प्रयोग न करके संस्कृत के श्लोकों जैसी भाषा लिखने लगा है। जैसे—

शिरंचन्द्र की चन्द्रिका चारु हाशे ।
महापातकी ध्वांत धाम प्रणाशे ।

---

[१] भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास ।
भाषा कवि भो मंदमति, तेहिं कुल केशवदास ।।

फणी दुग्ध भावे अनंगारि अंगे ।
नमो देवि गंगे नमो देवि गंगे ॥

वैसे इस प्रकार की संस्कृतमयता अधिक नहीं है, फिर भी संस्कृत के तत्सम शब्द एवं संस्कृत की पदावली पर्याप्त मात्रा में मिलती है। जैसे—सृजति, शस्ययुक्ता, समुद्रावधि; सप्तईतिर्विमुक्ता, स्वलीलया, निजेच्छया, लीलयेव, पतन्ति, चलन्ति, अदृष्ट, अष्ट, मनसा, कर्मणा, रावणादिक, परस्परोपमा आदि।

(२) **प्राकृत एवं अपभ्रंश के शब्द**—केशव ने वीरगाथाकालीन कवियों की भाँति प्राकृत एवं अपभ्रंश की पदावली का भी जहाँ-तहाँ प्रयोग किया है। प्रायः वीर एवं रौद्र रस के वर्णन में ऐसी पदावली अधिक उपयुक्त मानी जाती है। इसी कारण केशव ने भी द्वित्ववर्णयुक्त वीरगाथाकालीन पदावली का प्रयोग करते हुए कहीं-कहीं प्राकृत एवं अपभ्रंश के शब्दों को अपनाया है। जैसे—तिच्छ, कटाच्छ, अकत्थ, समरत्थ, भरत्थ, छुद्र, अच्छत, सवच्छन, भिक्छ, छुद्रराज, सूच्छम, सुक्ख, पच्छ, राच्छस, अच्छकुमार, ऋच्छ, अच्छ, लच्छ, विच्चच्छन, जुद्ध, उपज्जिय, सज्जिय आदि।

(३) **बुन्देलखंडी के शब्द**—केशव स्वयं बुन्देलखंड के रहने वाले थे। अतएव उनकी साहित्यिक भाषा में अपने प्रदेश के शब्दों की भरमार होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। केशव की व्रजभाषा में इसीलिए बुन्देलखंडी भाषा के शब्दों की भरमार मिलती है। जैसे—वोक, गेंडुआ, गौरमदाइन, स्यों, गलसुई, भाट्यो, छन्दी, जानिबी, मानिबी, आनिबी, घोरिला (खूँटी), खारक (खहारा), उपदि, मसकर (आपत्तियाँ), चोली (पान की पिटारी), ओली, छीय, उरगना (स्वीकार करना), भौंहरे चेटुवा कीवी, छीवै आदि। बुन्देलखंडी के शब्दों की वहुलता के कारण इनकी भाषा बुन्देलखंडी मिश्रित व्रजभाषा कहलाती है।

(४) **अवधी के शब्द**—केशव की भाषा में अवधी के शब्द भी जहाँ तहाँ मिल जाते हैं। इसका कारण यह है कि उस समय हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत अवधी और व्रजभाषा दोनों का ही प्राधान्य था और बुन्देलखंड इन दोनों भाषाओं से ही प्रभावित था। इसके साथ ही सूफी कवियों एवं तुलसी ने दोहा-चौपाई छन्दों की रचना अवधी में करके इन छन्दों के लिए अवधी को एकाधिकार प्रदान कर दिया है। अतएव केशव ने भी जहाँ-कहीं दोहा-चौपाई छन्दों का प्रयोग किया, वहाँ अवधी के शब्द आ गये हैं। जैसे—इहाँ, उहाँ, दिखाउ, रिझाउ, दीन, कीन, सहलीन आदि।

(५) **अरबी-फारसी के शब्द**—केशव के समय तक उत्तरी भारत में अरबी-फारसी का प्रचार पर्याप्त मात्रा में हो गया था और सूर, तुलसी जैसे सन्त महाकवि भी अपनी भाषा में इनका प्रयोग पर्याप्त मात्रा में करने लगे थे, क्योंकि ये शब्द जन-साधारण की बोलचाल में घर करते जा रहे थे। फिर केशव जैसे दरबारी कवि के लिए तो यह अत्यन्त आवश्यक था कि वह दरबार की बोलचाल वाली भाषा का प्रयोग करे और दरबारों में उस समय अरबी-फारसी का ही बोलबाला था। केशव ने इसीलिए अपनी रचनाओं में अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग पर्याप्त मात्रा में किया है।

केशव की कविता में इसी कारण बकसाए, वकसीस, अफताली (अफसर), ताजन (कोड़ा), सिरताज, मरातिब, फिरादहिं, गुदरानो, फील, सतरंज, बाजी, कसम, शमशेर, असलेम, शोर, तेग, कूँच, दरबार, हजारा, पयादा, ऐन, महल, गरीब, गरीबनिवाज, साहिसलेम, फरमान आदि कितने ही अरबी-फारसी के शब्द मिलते हैं।

(६) **अप्रचलित शब्द**—केशव ने अपनी रचनाओं में कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है, जो तत्कालीन साहित्यिक भाषाओं में प्रयुक्त नहीं होते थे और जो यदि प्रयुक्त भी होते थे तो इन अर्थों में नहीं आते थे, जिनमें कि केशव ने उनका प्रयोग किया है। जैसे—सन्त के अर्थ में 'विशेष', रघुनन्दन के अर्थ में 'शत्रुघ्न', बाप को मारने वाले के अर्थ में 'बपमारे', रिश्वत के अर्थ में 'लाच', समूह के अर्थ में 'नारी', सुख के अर्थ में 'सहज' आदि। इतना ही नहीं, केशव ने कुछ ऐसी भाव-व्यंजक संज्ञाओं तथा क्रियाओं का भी प्रयोग किया है, जो उस समय प्रचलित न थीं। जैसे—वालकता, घालकता, मुचावन, दिखसाध, वरख्यो, जेय, लेय, मिलेव (मिले+अब), भयेव (भये+अब) आदि।

(७) **विकृत शब्द**—हिन्दी के अन्य कवियों की भाँति केशव ने भी कुछ शब्दों को मनमाने ढग से तोड़ा-मरोड़ा है। यद्यपि यह कार्य भूषण और बिहारी की अपेक्षा केशव ने कम किया है, तथापि केशव ने 'निरंकुशाः कवयः' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए कतिपय शब्दों को ऐसा विकृत कर दिया है कि उनके मूल रूप का जानना सर्वथा कठिन हो जाता है। जैसे—साधु के स्थान पर 'साध', लाजक के स्थान पर 'लायक', वेश्या के स्थान पर 'विश्वा', परवाह के स्थान पर 'प्रवाह', समाय के स्थान पर 'माय' आदि।

मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ

केशव की भाषा में यद्यपि अभिधा का ही प्राधान्य है, तथापि केशव ने मुहावरे एवं लोकोक्तियों का प्रयोग करके जहाँ-तहाँ लाक्षणिक पदावली का भी प्रयोग किया है, जिससे भाषा-सौन्दर्य के साथ-साथ भावाभिव्यंजना भी सशक्त एवं मार्मिक हो गई है। केशव की रचनाओं में अलंकारों का प्राधान्य होने के कारण वैसे मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ कम ही प्रयुक्त हुई हैं, फिर भी जो कुछ मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ मिलती हैं, इनके द्वारा केशव की भाषा का सुन्दर शृंगार हुआ है। केशव के मुहावरे उनकी व्यवहारकुशलता एवं प्रयोगनिपुणता के परिचायक हैं। जैसे—

मुहावरे—'बीस बिसै वृत भंग भयो', 'बोलत बोल फूल से झरैं', 'काको घर जानिबे को बसे कहा घनश्याम', 'फूल्यौ अंग न माय', 'अब जो तू मुख मोरिहैं', 'राज-सभा तिनुका करि लैखौं', 'झूँठ पाठ कंठ पाठकारी फाठ मारिए' आदि।

लोकोक्तियाँ—होनहार ह्वै रहै मिटै मेटी न मिटाई, आग का तो दाध्यो सो आग ही सिरातु है, तातो है दूध सिराई न पीजै, गाइन जाने नाचि मांगि आवे नहिं मोही, सोने सिगारहु सीधे सँवारहु पीतर की पितराई न जाई, होय तिनूका वज्र, वज्र तिनुका ह्वै टूटे, प्यास बुझाइ न ओस के चाटे आदि।

भाषा में गुण एवं दोष

गुण—केशव की भाषा में ओज, माधुर्य एवं प्रसाद तीनों गुण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। केशव की 'रामचन्द्रिका' और 'रतन बावनी' में ओज का प्राधान्य है, वहाँ कितने ही ओज-प्रधान स्थल मिल जाते हैं। जैसे—

बोरौं सबै रघुवंश कुठार की धार में बारन बाज सरत्थहिं ।
वाण की वायु उड़ाइ के लक्षन लक्ष करौं अरिहा समरत्थहिं ।।
रामहिं बाम समेत पठै बन कोप के भार में भूँजौं भरत्थहिं ।
जो धनु हाथ धरै रघुनाथ, तौ अजु अनाथ करौं दशरत्थहिं ।।

केशव की 'रसिक-प्रिया' में माधुर्य गुण का प्राधान्य है। उसके श्रृंगारिक छन्द माधुर्य-गुण के ओत-प्रोत हैं। जैसे—

एक रदन गज वदन सदन बुधि मदन-करन-सुत ।
गौरि-नंद आवंद-कंद जगवंद चंद-युत ।।
सुखदायक दायक सुकीर्ति जगनायक नायक ।
खलघायक घायक दरिद्र सब लायक लायक ।।

वैसे केशव 'कठिन काव्य के प्रेत' कहलाते हैं और उनकी कविता में क्लिष्टता का प्राधान्य है, फिर भी केशव ने ऐसे पद भी पर्याप्त मात्रा में लिखे हैं, जो प्रसाद गुण से ओतप्रोत हैं। 'रामचन्द्रिका' एवं 'कविप्रिया' में जहाँ क्लिष्ट पद मिलते हैं, वहाँ प्रसाद-गुण-पूर्ण सरल एवं सरस पद भी विद्यमान हैं। यथा—

शोभित मंचन की अवली गजदंतमयी छवि उज्ज्वल छाई ।
ईश मनो वसुधा में सुधारि सुधाधर मंडल मंडि जोन्हाई ।।
तामहँ केशवदास विराजत राजकुमार सबै सुखदाई ।
देवन स्यों जनु देवसभा सुभ सीय स्वयंवर देखन आई ।।

दोष—इतना होने पर भी केशव की भाषा में कतिपय दोष भी मिल जाते हैं। उसमें कहीं व्याकरण के विरुद्ध प्रयोग होने के कारण च्युति-संस्कृति दोष मिलता है, जैसे 'पीछे मघवा मोहिं साप दई', तो कहीं 'विषमय यह गोदावरी' में 'विष' जैसे शब्द का जल के अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग होने के कारण निहितार्थत्व दोष विद्यमान है। ऐसे ही 'जनु अग्निज्वाल महँ धूममयी' में 'मयी' शब्द का व्यर्थ प्रयोग होने से अधिकपदत्व दोष है, तो 'दुख देख्यो ज्यों काल्हि त्यों आजहु देखो' में अश्लीलत्व दोष भी मिल जाता है। इसी भाँति 'अमानुषी भूमि अवानरी करौं' में अक्रमत्व दोष है, तो 'गाइ द्विजराज तिय काज न पुकार लागै, भोगवै नरक घोर चोर को अभयदानि' में 'भोगवै नरक घोर' के साथ ही वाक्य की समाप्ति हो चुकी थी, किन्तु 'चोर को अभयदानि' कहकर इसी वाक्य को फिर उठा लेने के कारण समाप्त-पुनरावृत्त दोष है।

सारांश यह है कि केशव के समीप शब्द-भंडार की कमी न थी, क्योंकि ब्रजभाषा के अतिरिक्त केशव के पास बुन्देलखंडी, अवधी, अरबी-फारसी के साथ-साथ संस्कृत भाषा के शब्दों का अक्षय भंडार विद्यमान था। केशव की संस्कृत भाषा में अबाध गति थी और संस्कृत-शब्दों की बहुलता के कारण ही केशव की भाषा में सरसता एवं सरलता के स्थान पर क्लिष्टता एवं कठोरता दृष्टिगोचर होती है। परन्तु केशव का हिन्दी भाषा की समृद्धि एवं शब्द-भंडार की पूर्ति में जो योगदान है तथा केशव ने हिन्दी भाषा को विविध अर्थों के प्रकट करने में जो सक्षम एवं सशक्त बनाया है, इस कार्य के लिए वे चिरस्मरणीय रहेंगे। केशव ने हिन्दी भाषा को संस्कृत के ही समान चमत्कारपूर्ण एवं विविध अर्थमयी बनाने में बड़ा सराहनीय कार्य किया है। यह दूसरी बात है कि ऐसा करने से केशव की कविता क्लिष्ट हो गई है और उसे जनसाधारण समझ नहीं सकता, परन्तु इससे हिन्दी-भाषा का उत्कर्ष हुआ है, उसमें चमत्कार उत्पन्न करने की शक्ति आई है और इससे हिन्दी को गौरव प्राप्त हुआ है, क्योंकि हिन्दी में सूर और तुलसी की अपेक्षा केशव की ही ऐसी कविता है, जिसे समझने के लिए पांडित्य की आवश्यकता होती है, जिसमें एक-एक पंक्ति के पाँच-पाँच अर्थ होते हैं, जो विविध अलंकारों से अलंकृत है और जो शास्त्रीय विशेषताओं से अधिक विभूषित है। निस्सन्देह, केशव की भाषा में सशक्तता एवं काव्योपयोगिता का प्राधान्य है, उसमें भावानुकूल गति है, संवादानुकूल धारा-प्रवाह है, नाटकीय सजीवता है, साहित्यिक गम्भीरता है और इन सबसे अधिक उत्कृष्ट अभिव्यंजना-शक्ति विद्यमान है। इसीलिए केशव की भाषा केशव की उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति की परिचायक है तथा काव्य-भाषा पर कवि के पूर्ण अधिकार की द्योतक है।

आठ

बिहारीलाल

- शृङ्गार सम्बन्धी मुक्तक-काव्य-धारा में बिहारी का स्थान
- सतसई की परम्परा में बिहारी-सतसई का स्थान
- रीतिकालीन सामान्य प्रवृत्तियाँ और उनमें बिहारी का प्रतिनिधित्व
- संयोग-वर्णन
- वियोग-वर्णन

Imp
84

- ऋतु-चित्रण
- बिहारी का उक्ति-वैचित्र्य एवं अर्थ-गांभीर्य
- बिहारी की समास-पद्धति
- बिहारी की बहुज्ञता
- बिहारी की भाषा
- बिहारी की लोकप्रियता
- बिहारी की अनुभूतिगत विशेषताएँ
- बिहारी की अभिव्यक्तिगत विशेषताएँ

८

बिहारीलाल

शृंगार सम्बन्धी मुक्तक-काव्यधारा में बिहारी का स्थान

शृंगार रस अन्य सभी रसों की अपेक्षा कहीं अधिक मधुर, मार्मिक एवं आकर्षक होता है। साहित्य के क्षेत्र में इसे 'रसराज' की उपाधि से विभूषित किया गया है, क्योंकि यही एक ऐसा रस है, जिसमें अधिकांश मनोभावों का वर्णन होता है तथा इसके स्थायीभाव 'रति' का इतना व्यापक एवं विशद क्षेत्र है कि विश्व का कोई भी पदार्थ इसके आकर्षण-सूत्र से बचा नहीं है। इस रस में सम्पूर्ण जगत् को रसमय करने की अपूर्व क्षमता है। इसीलिए 'शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्' कहकर इस रस के मर्मज्ञ कवियों की कृतियों को सम्पूर्ण विश्व को रसमय करने में सक्षम एवं सशक्त बताया गया है। वैसे भी शृंगार रस अन्य सभी रसों की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक होता है, क्योंकि इसमें प्रेम का प्राधान्य होने के कारण अधिक भावोत्कृष्टता एवं भात्र-प्रेषणीयता विद्यमान रहती है। इसका सीधा सम्बन्ध मानव-जीवन से होता है। इसीलिए मानव मात्र का इसकी ओर सहज आकर्षण होना अत्यन्त स्वाभाविक है। इस रस का सर्वाधिक उत्कर्ष मुक्तक काव्य में देखा जाता है।

शृंगार सम्बन्धी मुक्तक-काव्य-धारा का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि मुक्तक-काव्य का श्रीगणेश ऋग्वेद से ही हुआ है। ऋग्वेद में विभिन्न देवी-देवताओं से सम्बन्धित स्वतन्त्र सूक्त मिलते हैं जो मुक्तक-काव्य के आरम्भिक स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। ऋग्वेद की यही मुक्तक-परम्परा संस्कृत एवं प्राकृत के अन्तर्गत दिखाई देती है। मुक्तक-काव्य 'वह काव्य है जो पूर्वापर निरपेक्ष एवं स्वतः पर्यवसित पद्य तक सीमित हो।' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा भी है—"मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल

उठती है। यदि प्रबन्ध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से यह सभा-समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक रमणीय खंड-दृश्य इस प्रकार सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मंत्रमुग्ध सा हो जाता है।"[1] इस तरह मुक्तक-काव्य में समग्र जीवन या जीवन के लिए किसी पूर्ण अंग का प्रदर्शन तो नहीं होता, किन्तु सम्पूर्ण जीवन या जीवन के सामान्य क्रिया-व्यापारों के मेल में आने वाले किसी खंडचित्र को लेकर ही बंधान किया जाता है, उन चित्रों में सरसता एवं मार्मिकता अधिक होती है और वे मानव-मनोवृत्तियों को झंकृत करने में अधिक सफल होते हैं। इसीलिए डा० ग्रियर्सन ने भी मुक्तक-काव्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "भारतीय काव्यानन्द का सम्यक् रूप में यदि प्रस्फुटन हुआ है तो वह उसके मुक्तक-काव्य में ही हुआ है।" वास्तव में भारतीय मुक्तक-काव्य के अन्तर्गत ऐसे-ऐसे रमणीय भावों की योजना की गई है, जिनका अनुशीलन करते ही हृदय मुक्तावस्था को प्राप्त हो जाता है

भारतीय मुक्तक-काव्य की श्रृंगार सम्बन्धी रचनाओं के अन्तर्गत सर्वप्रथम स्थान हाल रचित 'गाथा सप्तशती' का है। इसकी रचना ईसा की द्वितीय शताब्दी के आस-पास हुई थी। तदनन्तर 'अमरुक शतक' आता है। इस शतक ने भी श्रृंगार-मुक्तक सम्बन्धी काव्य-धारा को अग्रसर करने में पर्याप्त योग प्रदान किया है। इसके पश्चात् गोवर्द्धन कृत 'आर्या-सप्तशती' आती है, जिसका हिन्दी की श्रृंगार सम्बन्धी मुक्तक रचनाओं पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। श्रृंगार एवं प्रेम सम्बन्धी मुक्तक-धारा को आगे बढ़ाने में संस्कृत के 'श्रृंगार-तिलक', 'घटकर्परि'; 'भर्तृहरिकृत 'श्रृंगार शतक'; बिल्हण कृत 'चौर पंचाशिका' आदि ने भी पर्याप्त सहायता दी है। इसके उपरान्त जयदेव कृत 'गीत-गोविन्द' ने भी श्रृंगार सम्बन्धी मुक्तक-काव्य धारा को प्रवाहित करने का सराहनीय कार्य किया है, क्योंकि श्रृंगार-मुक्तकों के अन्तर्गत जिस ऐन्द्रिय श्रृंगारिकता का प्राधान्य होता है, वह 'गीत-गोविन्द' के अन्तर्गत पर्याप्त मात्रा में मिलती है तथा इसी से प्रभावित होकर विद्यापति ने भी अपने मुक्तक-पदों की रचना की है। मैथिल-कोकिल विद्यापति के पदों में हमें सर्वप्रथम हिन्दी के श्रृंगार-मुक्तक की स्वच्छन्द काव्य-धारा के दर्शन होते हैं, क्योंकि विद्यापति ने राधा-कृष्ण की श्रृंगारिक चेष्टाओं का जो मर्मस्पर्शी वर्णन किया है, उसमें हिन्दी की रीतिकालीन श्रृंगारिक परम्परा के तत्त्व विद्यमान हैं। विद्यापति के उपरान्त सूर के मुक्तक-पदों में भी रीति-बद्ध श्रृंगार-चित्र पर्याप्त मात्रा में अंकित हुए हैं। विद्यापति की भाँति सूर ने भी राधा और कृष्ण की श्रृंगारिक चेष्टाओं, हावभावों आदि का लौकिक नायक-नायिकाओं की भाँति ही वर्णन किया है। इसी तरह अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २४७।

भी शृंगार का वर्णन किया है। इन भक्त कवियों ने शृंगार-वर्णन में भले ही अलौकिकता हो, किन्तु लौकिक जीवों पर उसमें वर्णित शृंगार का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा भी है कि "जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन भक्तों ने अपनी गूढ़ातिगूढ़ चरम भक्ति का व्यंजक बनाया, उसको लेकर आगे के कवियों ने शृंगार की उन्मादकारिणी उक्तियों से हिन्दी-काव्य को भर दिया।"[1] इसका दुष्परिणाम और कुछ हुआ हो इसमें सन्देह है, किन्तु इतना तो सत्य ही है कि सूर की शृंगार-भावना से प्रभावित होकर ही कुछ राम-भक्त कवियों ने भी पति-पत्नी भाव की प्रधानता का चित्रण करते हुए राम-सम्बन्धी शृंगार-मुक्तकों की रचना की। इनमें से श्री रामचरणदास प्रसिद्ध हैं, जिन्होने 'कौशल खण्ड' में राम की रासलीला, विहार आदि के अनेक शृंगारपूर्ण अश्लील वृत्तों की कल्पना की है।

भक्तिकाल के उपरान्त रीतिकाल के आते ही शृंगार-मुक्तकों का प्राधान्य हो गया। इस युग के रीतिबद्ध एवं रीत्यनुसारी कवि काव्याङ्गों के लक्षणों और उदाहरणों सहित अपने-अपने शृंगार सम्बन्धी मुक्तकों की रचना करने लगे, जिनमें नायिका-भेद, संयोग एवं वियोग-वर्णन, ऋतु-वर्णन, रति स्थायीभाव के साथ-साथ शृंगार के आलम्बन एवं उद्दीपन विभाव, अनुभाव, संचारीभाव आदि का निरूपण बड़े अनूठे ढंग से किया जाने लगा। इन रीत्यनुसारी शृंगार-मुक्तक लिखने वालों में सर्वप्रथम बिहारी आते हैं। रीतिकालीन शृंगार रस के मुक्तक-ग्रन्थों में 'बिहारी-सतसई' सबसे अधिक लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध है। इन ७०० दोहों के आधार पर जितनी ख्याति बिहारी को प्राप्त हुई है उतनी अन्य किसी कवि को प्राप्त नहीं हुई। 'बिहारी-सतसई' की हिन्दी, संस्कृत, फारसी, गुजराती, उर्दू आदि अनेक भाषाओं में टीकाएँ लिखी गई हैं। आज लगभग ५० से अधिक टीकाएँ हिन्दी के केवल इसी ग्रन्थ पर मिलती हैं। बिहारी के अतिरिक्त शृंगार-मुक्तकों की परम्परा में बेनी, मतिराम, कुलपति मिश्र, सुखदेव मिश्र, कालिदास त्रिवेदी, रसनिधि, नृपशंभु, नेवाज, देव, श्रीपति, कृष्ण कवि, गोपनिधि, रसलीन, दूलह, बेनी प्रवीन, पदमाकर, ग्वालकवि, हठीजी, रामसहायदास, पजनेस, द्विजदेव आदि कितने ही कवि आते हैं परन्तु शृंगार-रस के निरूपण में जो सफलता बिहारी को मिली है, वह अन्य किसी भी कवि को प्राप्त नहीं हुई है। इसका मुख्य कारण यह है कि काव्य-रीति का पूर्णतया पालन करते हुए मानव-प्रकृति के कोमल मनोभावों का वर्णन जितनी कुशलता एवं रसात्मकता के साथ बिहारी ने किया है उतना अन्य कोई भी कवि नहीं कर सका है। तुलसी के 'रामचरितमानस' के उपरान्त 'बिहारी सतसई' ही ऐसी रचना है, जिसने अपनी रसात्मकता, कलात्मकता, लाक्षणिकता, वचन-विदग्धता आदि के कारण हिन्दी-प्रेमियों का हृदय सबसे अधिक अपनी ओर आकृष्ट किया है बिहारी ने बड़ी निपुणता के साथ बाह्य एवं आभ्यन्तर

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० १६४।

प्रकृति का निरूपण करते हुए नायिका-भेद, नख-शिख, हाव-भाव आदि शृंगार के विविध विषयों का मर्मस्पर्शी वर्णन किया है।

बिहारी की तुलना के लिए प्रायः देव का नाम लिया जाता है। परन्तु महाकवि देव ने मानव-प्रकृति के रहस्यों का चित्रण करने के लिए जिस सवैया जैसे चार पंक्तियों के बड़े छन्द को अपनाया है, बिहारी ने वही कार्य अपने छोटे से दोहे में बड़ी विदग्धता के साथ कर दिखाया है। यह माना कि संगीतात्मकता एवं मसृणता की दृष्टि से देव में भी कोई कमी नहीं दिखाई देती, परन्तु लोकप्रियता की दृष्टि से यदि देव और बिहारी की तुलना की जाय, तो देव बिहारी की समता में कहीं नहीं ठहरते। यह माना कि रसार्द्रता की दृष्टि से देव की कविता पर्याप्त उत्कृष्ट है, किन्तु जहाँ तक तन्मयता एवं द्रवणशीलता का प्रश्न है, बिहारी में देव से कहीं अधिक उक्त दोनों बातें मिलती हैं। इसके साथ ही डा० नगेन्द्र का कथन अक्षरशः सत्य है कि "बिहारी में सौन्दर्य के सूक्ष्म तत्त्व को ग्रहण कर शब्द-बद्ध करने की जैसी अपूर्व क्षमता है, वैसी देव अथवा रीति-युग के किसी भी कवि में नहीं है।"[1] यही कारण है कि बिहारी हिन्दी की शृंगार सम्बन्धी मुक्तक-काव्य-धारा के प्रतिनिधि कवि हैं, वे रीति-शृङ्गार-सम्बन्धी काव्य के युग-प्रवर्त्तक हैं, रीत्यानुसारी काव्य लिखने वाले कवियों के पथ-प्रदर्शक हैं और शृङ्गार के अधिष्ठाता कवि हैं। निस्संदेह सूर और तुलसी के उपरान्त हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में यदि किसी कवि को सर्वाधिक मान-सम्मान प्राप्त हुआ है तो वे बिहारी ही हैं, क्योंकि बिहारी के दोहों ने साधारण जनों एवं काव्य-मर्मज्ञों को समान रूप से प्रभावित किया है। इसीलिए कविता के प्रभाव की दृष्टि से बिहारी का स्थान रीत्यनुसारी काव्य लिखने वाले कवियों में सर्वोच्च माना जाता है।

सतसई की परम्परा में बिहारी सतसई का स्थान

'सतसई' शब्द संस्कृति के 'सप्तशती' शब्द का अपभ्रंश रूप है। पहले संस्कृत में सप्तशती, शतक, सहस्रनाम आदि संख्यावाचक ग्रन्थों की रचना भक्ति एवं स्तोत्र सम्बन्धी साहित्य के लिए हुआ करती थी। इसीलिए 'दुर्गासप्तशती', 'शिव-सहस्र-नाम', 'विष्णु-सहस्र-नाम', 'वैराग्य-शतक' आदि ग्रन्थ संस्कृत में मिलते हैं। परन्तु जब से भारत में आभीर जाति का प्रवेश हुआ और आभीरों के स्वच्छन्द एवं ऐहिकता-मूलक जीवन का प्रभाव भारतीय जनों पर पड़ा, तभी से भारतीय जन भी मोक्ष एवं परलोक की चिन्ता छोड़कर आभीरों की ही भाँति ऐहिक जीवन की ओर आकृष्ट हुए और भक्ति-परक एवं मुक्ति-सम्बन्धी साहित्य की रचना न करके साधारण जीवन में व्याप्त प्रेम-भावनाओं, शृङ्गार सम्बन्धी चेष्टाओं एवं दैनिक हास-परिहास पूर्ण क्रिया-व्यापारों का वर्णन करने लगे। इसका सर्वप्रथम प्रयास हालकृत 'गाथा-सप्तशती' के अन्तर्गत दिखाई देता है। यह 'गाथा-सप्तशती' प्राकृत भाषा में लिखित ७०० गाथाओं (आर्या छन्दों) का संग्रह है, जिसमें आमुष्मिकता की चिन्ता से सर्वथा परे दैनिक जीवन व्याप्त

---

[1] साहित्य-सन्देश—'रीति काव्यालोचन' विशेषांक, पृ० ११६।

उन्मुक्त एवं स्वच्छन्द काम-चेष्टाओं एवं शृंगार सम्बन्धी व्यापारों का बड़ा ही सरस एवं मार्मिक वर्णन मिलता है। सम्पूर्ण 'गाथा-सप्तशती' प्रणय के मार्मिक चित्रों की चित्रपटी है। इसमें मुख्य रूप से अहीर एवं अहीरिनियों की प्रेम-गाथाएँ, ग्राम-वधुओं की शृंगार-चेष्टाएँ, दाम्पत्य जीवन की अनेक रोचक घटनाएँ तथा चक्की पीसती हुई अथवा पौधों को सींचती हुई कामिनियों के मृदुल, मनोहर एवं मोहक चित्र हैं, जो हमारी भावनाओं को वरबस आकृष्ट कर लेते हैं।

'गाथा-सप्तशती' के उपरान्त इस सतसई-साहित्य की परम्परा में भर्तृहरि कृत 'शृंगार-शतक' आता है, जिसमें मधुर एवं ललित शैली के अन्तर्गत ऐहिक शृंगार का बड़ा ही सरस एवं आकर्षक वर्णन मिलता है। तदनन्तर इस परम्परा में अमरुक कृत 'अमरुक-शतक' आता है। श्री आनन्दवर्द्धनाचार्य ने 'तथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृंगाररसयन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा इव' कहकर अमरुक-शतक की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। निस्संदेह 'अमरुक-शतक' संस्कृत-साहित्य का शृंगार है, वह सहृदयों का कंठहार है तथा शृंगार की ललित लीला-भंगिमाओं का आगार है। इसके पश्चात् कवि विल्हण कृत 'चौर-पंचाशिका' भी इसी परम्परा में आती है, क्योंकि इसका नाम पद्यों की संख्या के आधार पर रखा गया है। इसमें ५० पद्यों के अन्तर्गत शृंगारिक चेष्टाओं का अत्यन्त आह्लादकारी वर्णन मिलता है। तदनन्तर गोवर्द्धनाचार्य कृत 'आर्या-सप्तशती' आती है। यह ग्रन्थ संस्कृत के आर्या छन्दों के अन्तर्गत शृंगार रस के संयोग एवं वियोग का चित्र अंकित करने के लिए लिखा गया है। इसके अन्तर्गत सुन्दर, सुचारु एवं परिष्कृत रूप में प्रेमी एवं प्रेमिकाओं के अन्तस्तल में विद्यमान ललित मनोभावों, मधुर उत्कण्ठाओं एवं सुकुमार भाव-भंगिमाओं को अंकित किया गया है। इस प्रकार संस्कृत-साहित्य में शतक एवं सप्तशती ग्रन्थों के अन्तर्गत शृंगार रस की बड़ी मार्मिक एवं मनोहर व्यंजना मिलती है।

हिन्दी में शतक एवं सप्तशती जैसे संख्यावाचक ग्रन्थों की परम्परा में तुलसी कृत 'तुलती सतसई' तथा रहीम कृत 'रहीम सतसई' अवश्य आती हैं, परन्तु इनमें से 'तुलसी सतसई' में शान्तरस का प्राधान्य है और 'रहीम सतसई' में नीतिपरक दोहे हैं। अतः उक्त दोनों ग्रन्थ शृंगार रस से सम्बन्धित सतसई की परम्परा के अन्तर्गत नहीं आते। हिन्दी में शृंगार सम्बन्धी सतसई काव्य का श्रीगणेश 'बिहारी सतसई' से ही होता है। वैसे 'बिहारी सतसई' में भी नीति, ज्योतिष, गणित, भक्ति, दर्शन, राजनीति, वैद्यक आदि विविध विषयों का समावेश मिलता है, किन्तु इसमें शृंगार रस का ही प्राधान्य है। 'बिहारी सतसई' के उपरान्त मतिराम कृत 'मतिराम सतसई' मिलती है, जिसके दोहे बिहारी के समान ही सरस एवं आकर्षक हैं तथा जिसमें शृंगार सम्बन्धी विविध चेष्टाओं, प्रेम-व्यापारों, नखशिख आदि का मर्मस्पर्शी वर्णन मिलता है, परन्तु इस पर बिहारी का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

इसके अनन्तर कवि वृन्द कृत 'वृन्द सतसई' अवश्य मिलती हैं, परन्तु इसमें नीतिपरक ७०० दोहे हैं और इसी कारण यह शृंगार सम्बन्धी सतसई की परम्परा में

नहीं आती। इसके पश्चात् रसनिधि कृत 'रतनहजारा' अथवा 'रसनिधि सतसई' मिलती है। यह ग्रन्थ शृंगार रस सम्बन्धी चेष्टाओं, व्यापारों, मानवीय क्रीड़ाओं आदि के वर्णनों से परिपूर्ण है। परन्तु इस ग्रन्थ की रचना 'बिहारी सतसई' के पूर्णतया अनुकरण पर ही हुई है और कहीं-कहीं इसमें बिहारी के वाक्य तक मिल जाते हैं। इसके उपरान्त रामसहायदास कृत 'राम सतसई' मिलती है, जिसमें शृंगार के दोनों पक्ष संयोग एवं वियोग के साथ-साथ नखशिख एवं रूप-सौन्दर्य का सजीव वर्णन अवश्य मिलता है, किन्तु यह ग्रन्थ भी बिहारी से पूर्णतया प्रभावित है। इसके उपरान्त 'विक्रम सतसई' आती है। हिन्दी के रीतिकाल में सतसई-साहित्य की परम्परा में यह अन्तिम श्रेष्ठ रचना मानी जाती है। इसके लेखक चरखारी नरेश विक्रमादित्य हैं। इसमें मुख्य रूप से शृंगार का ही वर्णन है, किन्तु बीच-बीच में शान्त रस का भी वर्णन मिल जाता है। इसका शृंगार-वर्णन सरसता एवं मार्मिकता की दृष्टि से बिहारी से किसी भाँति कम नहीं है, परन्तु यह ग्रन्थ भी बिहारी के ही अनुकरण पर लिखा गया है। इसके उपरान्त आधुनिक युग में लिखे हुए कवि रत्नाकर कृत 'उद्धव शतक' एवं वियोगी हरि कृत 'वीर सतसई' ग्रन्थ भी इसी सतसई-परम्परा के अन्तर्गत आते हैं, किन्तु इनमें से 'उद्धव शतक' पर तो भक्ति-भावना का आवरण चढ़ा हुआ है तथा 'वीर सतसई' में आधुनिक वीरों का वर्णन किया गया है। अतः ये दोनों ग्रन्थ शृंगार रस की धारा से भिन्न हैं।

इस तरह सतसई की परम्परा का अध्ययन करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत के सप्तशती-साहित्य में शृंगार रस का जैसा मार्मिक एवं मनोहर वर्णन मिलता है तथा संयोग एवं वियोग की दशाओं में प्रेमी-प्रेमिकाओं के अन्तःकरण में उत्पन्न मंजुल भावनाओं, प्रेमिल उत्कण्ठाओं एवं मृदुल कल्पनाओं का जैसा चित्ताकर्षक वर्णन मिलता है, उससे भी अधिक मर्मस्पर्शी एव प्रभावोत्पादक वर्णन 'बिहारी सतसई' में मिलता है। 'बिहारी सतसई' की होड़ में आगे चलकर जितनी भी सतसइयाँ लिखी गई हैं, वे या तो 'बिहारी सतसई' से प्रभावित होने के कारण उसकी अनुकरणमात्र हैं या वे उससे तुच्छ एवं अपरिष्कृत हैं। 'विहारी सतसई' के अन्तर्गत हाव-भावों का जो सुन्दर विधान किया गया है, शृंगारिक चेष्टाओं का जो मनोहर चित्रण किया गया है तथा संचारी भावों की जो मधुर व्यंजना हुई है, वैसी बातें अन्यत्र किसी भी सतसई-ग्रन्थ में दिखाई नहीं देतीं। 'बिहारी सतसई' सम्पूर्ण सतसई-साहित्य का नेतृत्व कर रही है और वह शृंगार रस के सरस वर्णन, भावों के मार्मिक चित्रण, अलंकारों के प्रभावोत्पादक निरूपण, प्रकृति के मनोमुग्धकारी चित्रण, जीवनव्यापी अनुभवों के हृदयस्पर्शी विवेचन आदि से ओतप्रोत होने के कारण सम्पूर्ण सतसई-साहित्य का शृंगार है। निस्संदेह 'बिहारी सतसई' में शृंगार रस का सागर लहरा रहा है, उसमें मानव-मनोवृत्तियों के सहज सुकुमार चित्र अंकित हैं और सरस एवं प्रांजल भाषा में मंजुल भावों की कल्पना-मूर्तियों को साकार रूप दिया गया है, किन्तु इससे भी अधिक 'बिहारी सतसई' में तत्कालीन जन-जीवन का जीता-जागता चित्र

विद्यमान है तथा उसमें मानव की शाश्वत भावनाओं एवं अनुभूतियों का साकार रूप अंकित है। इसी कारण 'बिहारी सतसई' को सम्पूर्ण सतसई-साहित्य में अत्यन्त गौरव-पूर्ण स्थान प्राप्त है और वह श्रृंगार रस की सर्वश्रेष्ठ कृति है।

रीतिकालीन सामान्य प्रवृत्तियाँ और उनमें बिहारी का प्रतिनिधित्व

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल 'स्वर्ण काल' कहलाता है, क्योंकि भक्ति काल में हिन्दी-काव्य का बहुमुखी विकास हुआ था और भक्तिकाल के भक्त एवं सन्त कवियों ने अपनी रचनाओं में मानव-हृदय को स्पर्श करने वाली एवं मानव मात्र से सहानुभूति रखने वाली ऐसी उदार भावनाएँ अंकित की थीं, जिनसे सामाजिक संकीर्णता दूर हुई, जनता मानवता की ओर उन्मुख हुई और शक्ति, शील एवं सौन्दर्य से सम्पन्न उस अलौकिक सत्ता की ओर सहज आकर्षण उत्पन्न हुआ। इसके ठीक विपरीत रीतिकाल में आकर कवि-दृष्टि पूर्णतया बदल गई। इस समय कविजन मानवता की ओर उन्मुख न होकर किसी राजा अथवा व्यक्ति-विशेष की ओर उन्मुख होने लगे, अलौकिक सत्ता के सौन्दर्य का चित्रण न करके रूप-गुण-सम्पन्न नारी की कामोद्दीपक चेष्टाओं, क्रीड़ाओं आदि के सौन्दर्य का निरूपण करने लगे, अध्यात्मिकता से पराङ्मुख होकर सांसारिकता एवं विलासिता के गीत गाने लगे, ईश्वरीय विभूति का विवेचन न करके मानवीय ऐश्वर्य एवं वैभव का गुण-गान करने लगे तथा दैवी कार्यों का चित्रण न करके काम-क्रीड़ाओं में रत नायक-नायिकाओं के व्यापारों का चित्रण करने लगे। इतना अवश्य है कि इस युग में आकर कला का अत्यधिक विकास हुआ। मुगल शासकों की कलापूर्ण रुचि के कारण स्थापत्य, मूर्ति, संगीत आदि ललित कलाओं के साथ-साथ काव्य-कला भी अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई और काव्यात्मक अभिव्यक्ति में पहले से कहीं अधिक सूक्ष्मता, गहनता, प्रांजलता एवं चमत्कार-प्रियता के दर्शन होने लगे। इस युग की सहज प्रवृत्तियाँ रीतिकालीन सभी कवियों में थोड़ी-बहुत मात्रा में विद्यमान हैं, किन्तु बिहारी में इनका चरमोत्कर्ष दिखाई देता है। अतएव अब रीतिकालीन सामान्य प्रवृत्तियों का निरूपण करते हुए बिहारी के काव्य में उनके चरम विकास को दिखाने की चेष्टा की जायेगी। सामान्यतः रीतिकाल की प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं :—

(१) **राज्याश्रयता**—रीतिकाल में कवि न तो निर्जन प्रदेश, तीर्थस्थान, गिरि-कन्दरा या देव-मन्दिर में रहना पसन्द करते थे और न किसी 'प्राकृत-जन' के गुण-गान करने में उनकी माता सरस्वती सिर धुनकर पश्चाताप करती थी, अपितु सामन्तकालीन वातावरण में पालन-पोषण होने के कारण राजा-महाराजाओं के सुसज्जित महलों में रहना अच्छा समझते थे तथा किसी अलौकिक सत्ता की अपेक्षा लौकिक सत्ता अथवा प्राकृत-जन का गुण-गान करना अपना परम सौभाग्य समझते थे, क्योंकि इन्हीं प्राकृत-जनों अथवा राजा-महाराजाओं से इन्हें धन और यश की प्राप्ति होती थी, इनके दरबारों में आकर ही इनकी प्रतिभा प्रस्फुटित होती थी और इनके समीप रहने पर ही

इनकी वाणी का श्रृंगार होता था। उस समय यदि कोई कवि किसी राजा के आश्रय में न रहकर साधारण जनता के मध्य निवास करता हुआ कुछ रचना करता था, तो उसे न तो समाज में आदर प्राप्त होता था और न धन एवं ऐश्वर्य की ही प्राप्ति होती थी। इसीलिए प्रायः सभी रीतिकालीन कवि किसी न किसी राजा के दरबार में रहकर अपनी रचनाएँ प्रस्तुत किया करते थे और धन, यश एवं ऐश्वर्य प्राप्त किया करते थे। इसी कारण महाकवि केशव ओरछा नरेश इन्द्रजीत के दरबारी कवि बने, महाकवि बिहारी जयपुर नरेश मिर्जा राजा जयसिंह के दरबार में रहे, महाकवि मतिराम बूँदीनरेश महाकवि भावसिंह के आश्रित होकर रहे, महाकवि भूषण छत्रपति शिवाजी के दरबारी कवि बने और महाकवि देव को तो कितने ही आश्रयदाताओं का सहारा लेना पड़ा। रीतिकाल के इन सभी महान् कवियों में से बिहारी ने सर्वाधिक ऐश्वर्य एवं यश अर्जित किया। कहा जाता है कि बिहारी को उनके प्रत्येक दोहे पर एक-एक अशर्फी मिलती थी और इनके छोटे से छोटे दोहे को सुनकर सभी कला-मर्मज्ञ एवं सहृदय दरबारी-जन गद्-गद् हो जाते थे। इसका कारण यह था कि बिहारी के 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' वाले दोहे ने कामासक्त राजा जयसिंह पर ऐसा जादू डाल दिया था कि वे काम-क्रीड़ा छोड़कर राजकाज देखने के लिए विवश हो गये थे। बिहारी की कविता में यह अद्भुत शक्ति थी, जिसने बिहारी को अद्भुत यश एवं अपार धनराशि प्रदान की थी।

(२) **सांसारिकता**—भक्तिकालीन कवि यद्यपि राजनीतिक दासता के शिकंजे में फँसे हुए थे, तथापि उनके हृदय में आध्यात्मिकता की आभा सदैव देदीप्यमान रहती थी। किन्तु रीतिकालीन कवियों के हृदय से यह आध्यात्मिकता सदैव के लिए लुप्त हो गई। वे सामंतयुगीन वैभवपूर्ण वातावरण में रहते-रहते पूर्णतया सांसारिक हो गये और उनका वह आध्यात्मिक तेज सदैव के लिए सांसारिकता के अन्धकार में विलीन हो गया। उनके हृदय पर राजाओं के ऐश्वर्य एवं धन ने ऐसा प्रभाव स्थापित कर दिया कि वे 'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत को चरितार्थ करते हुए रात-दिन सांसारिक भोग-विलास, एशोआराम, काम-क्रीड़ा, नारी-सौन्दर्य, कामीजनों के गूढ़ातिगूढ़ रहस्यों, नारियों के हाव-भावों आदि के चित्रण में ही लीन रहने लगे और अपने काव्य द्वारा पर्याप्त धनोपार्जन भी करने लगे। इस दिशा में बिहारी ने सर्वाधिक ख्याति प्राप्त की। उनकी कविता सांसारिकता के सभी तत्त्वों से परिपूर्ण है, क्योंकि उसमें उस परम सत्ता के रूप-सौन्दर्य के स्थान पर नायिकाओं के अंग-प्रत्यंग का सौन्दर्य-चित्रण मिलता है, उस परम सत्ता के अलौकिक कार्यों के स्थान पर नायक-नायिकाओं की काम-चेष्टाओं का निरूपण मिलता है, उस परम सत्ता के सर्वव्यापी ऐश्वर्य के स्थान पर सांसारिक नरेशों के ऐश्वर्य एवं वैभव की मनोरंजक झाँकियाँ मिलती हैं। इसीलिए बिहारी में आध्यात्मिकता के स्थान पर सांसारिकता का ही वर्णन मिलता है। जहाँ कहीं बिहारी के भक्ति-सम्बन्धी दोहों के अन्तर्गत थोड़ी बहुत आध्यात्मिकता दिखाई

देती है, वह केवल राधाकृष्ण के सुमिरन का बहाना है। इसलिए बिहारी में सर्वत्र अपने आश्रयदाता एव रसिक जनों को रिझाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

(३) **विलासिता**—रीतिकालीन काव्यों में तत्कालीन भूपालों के ऐश्वर्य एवं भोग-विलास का चित्रण ही अधिक मात्रा में मिलता है। प्रायः रीतिकाल के सभी कवि अपने-अपने आश्रयदाताओं के शीशमहलों, उच्च अट्टालिकाओं, झाड़-फानूसों, कुसुमित कुंजों, बिहार-भूमियों, संकेत-स्थलों, सुरम्य वापी एवं तड़ागों, शीतल फुब्बारों-सुरभित उपवनों, क्रीड़ा-पर्वतों आदि के वर्णन में ही लीन दिखाई देते हैं। बिहारी ने भी अपने विलासप्रिय जयपुर नरेश मिर्जा राजा जयसिंह के उस सुरम्य शीशमहल का वर्णन किया है, जो आमेरगढ़ में बनवाया गया था तथा जिसमें ऐसे छोटे-छोटे शीशे जड़े हुए थे, जिनमें प्रतिबिम्ब पड़ते ही एक व्यक्ति के अगणित रूप दिखाई देते थे।[1] बिहारी ने विलासी जनों के योग्य कामोद्दीपक एवं मनोरंजक उन कलित, ललित एवं कुसुमित मालती कुंजों का भी वर्णन किया है, जहाँ बैठकर प्रायः विलासी व्यक्ति ग्रीष्मकाल में मनोरंजन किया करते थे।[2] ऐसे ही बिहारी ने विलासी कामीजनों के संकेत-स्थलों एवं मिलन-स्थलों का भी वर्णन किया है, जिनमें से सन के खेत, वन के खेत, ईख के खेत एवं अरहर के खेत उन विलासीजनों के एकान्त मिलन-स्थल थे, जो प्रायः ग्रामों में रहा करते थे[3] और घनी लताओं से आच्छादित सघन-कुंजें नागरिकों के मिलन-स्थल थे, जहाँ हर समय घना अन्धकार छाया रहता था।[4] इतना ही नहीं बिहारी ने तत्कालीन विलासिता का दिग्दर्शन कराते हुए अरगजा, चंदन, केसर आदि अंगरागों; मोती-माला, मणि-हार आदि आभूषणों; विभिन्न प्रकार के झीने एवं पारदर्शी वस्त्रों आदि का भी वर्णन किया है और यह भी दिखाया है कि किसी प्रकार तत्कालीन विलासी नायक एवं नायिकाएँ अपने-अपने प्रेमियों के गल-बाँही डालकर घर की अटारी पर एकान्त में घूमा करते थे और वहीं से वर्षा के उमड़ते हुए बादलों की छटा निहारा करते थे।[5] इस तरह बिहारी ने तत्कालीन जीवन में व्याप्त विलासिता का जीता-जगता चित्र अंकित किया है।

---

[1] प्रतिबिम्बित जयसाहि-दुति, दीपनि दरपन-धाम।
सब जगु जीतन कौं कर्‌यौ, काय-ब्यूहु मन काम॥

[2] धाम धरीक निवारियै, कलित अलि-पुंज।
जमुना-तीर-तमाल-तरु, मिलित मालती कुंज॥

[3] सनु सूक्यौ, बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि।
हरी-हरी अरहरि अजौं, धरि नरहरि जिय नारि॥

[4] सघन कुंज, घन घन-तिमिरु, अधिक अँधेरी राति।
तऊ न दुरि है स्याम वह, दीपसिखा सी जाति॥

[5] छिनुक चलित, ठठुकति छिकुन, भुज प्रीतम-गल-डर।
चढ़ी अटा देखति घटा, बिज्जु-छटा सी नारि॥

(४) कामुकता—रीतिकालीन कवियों के काव्य में नायक-नायिकाओं की काम-क्रीड़ाओं का ऐसा चित्रण मिलता है, जिनमें कामुकता अथवा कामातुरता का ही प्राधान्य सर्वत्र दिखाई देता है। इन कवियों ने प्रत्येक नायक एवं नायिका को ऐसी-काम-क्रीड़ाओं में निरन्तर लीन दिखाया है, जिनसे यह ज्ञात होता है कि उस समय सिवाय काम-क्रीड़ा के उन पर और कुछ कार्य नहीं था। बिहारी ने भी अपने नायक एवं नायिकाओं को सदैव ऐसी ही कामातुर अवस्था में लींन दिखाया है। इसी लिए यहाँ कभी नायक लड़का लेने के वहाने नायिका के स्तनों का अचानक अंगुली से स्पर्श करता हुआ दिखाई देता है,[१] तो कभी नायिका के नयन-वाण से घायल होकर वह बेचैन एवं विह्वल होता हुआ नायिका के तीक्ष्ण कटाक्षपूर्ण नयनों की प्रशंसा करता हुआ दिखाई देता है।[२] ऐसी ही कोई नायिका घूँघट-पट में से अपने ललचाये हुए नेत्रों से नायक को डटकर देखती है और अपनी छाया से नायक की छाया का स्पर्श करके नायक को अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न कर रही है,[3] तो कभी कोई नायिका नायक के साथ बातचीत करने का आनन्द प्राप्त करने के लिए उसकी कोई वस्तु छिपाकर रख देती है और जव वह ढूँढ़ता है तब पहले सौगन्ध खाकर निषेध कर देती है, फिर भौंहों में हँसकर वस्तु का होना सूचित कर देती है, किन्तु माँगने पर फिर मुकर जाती है।[४] इस तरह बिहारी ने नायक-नायिकाओं की अनेक काम-चेष्टाओं का ऐसा वर्णन किया है, जिनमें से कामुकता एवं कामातुरता स्पष्ट झलक रही है।

(५) नायिका-भेद—रीतिकालीन कवियों ने नायिकाओं के सामाजिक व्यवहार, नायक के साथ संयोग एवं वियोग, नायक के प्रति प्रेम, स्वभाव, यौवन-क्रीड़ा, गुण आदि के आधार पर कितने ही भेद-प्रभेद किये हैं, जिनके परिणामस्वरूप नायिकाओं के तीन से तीन-सौ चौरासी तक भेद किये गये हैं। प्रायः स्वकीया, परकीया और सामान्या या वेश्या ये तीन भेद ही पहले प्रचलित थे, परन्तु फिर तो विभिन्न प्रकार से नायिकाओं का वर्गीकरण होने लगा। फिर भी इन समस्त वर्गीकरणों एवं चित्रणों का मूलाधार नारी के रूप के प्रति कवियों की आसक्ति थी और नारी के रूप-सौन्दर्य की विविध झाँकियाँ अंकित करने के लिए ही नायिकाओं का वर्गीकरण एवं विश्लेषण हुआ था। बिहारी ने नायिकाओं का वर्गीकरण तो नहीं किया है, किन्तु सभी प्रकार

---

१. लरिका लैबे कैं मिसनु, लंगरु मो ढिग आइ।
गयौ अचानक आँगुरी, छाती छैलु छुवाइ॥

२. दृगनु लगतु, बेधत हियहिं, विकल करत अँग-जान।
ए तेरे सब तैं विषम, ईछन-तीछन बान॥

३. चितई ललचौहैं चखनु, डटि घूँघट-पट माँह।
छल सों चली, छुवाइ कै, छिनकु छबीली छाँह॥

४. बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै, भौंहनु हँसै, दैन कहै, नटि जाई॥

की नायिकाओं के सौन्दर्य सम्बन्धी चित्र बिहारी ने अवश्य अंकित किये हैं। नायिका में शोभा, दीप्ति, कान्ति आदि जो उसके सौन्दर्य-विधायक सहज गुण होते हैं, उनका चित्रण करते हुए बिहारी ने नव-यौवना परकीया नायिका के अंग-अंग में उमड़ने वाली सौन्दर्य की लपट का बड़ा ही मनमोहक वर्णन किया है, जिसके परिणामस्वरूप वह सुन्दरी पतले शरीर वाली होने पर ही गदकारी लग रही है।[1] ऐसे ही बिहारी ने रूप-गुण-गर्विता एवं नवविवाहिता स्वकीया का भी चित्रण किया है, जिसमें नायक को सुघर सौत के वश में सुनकर उसे प्रसन्न होता हुआ दिखाया गया है, क्योंकि उसे विश्वास है कि यदि नायक सुधर स्त्री के वश में रहता है, तो वह भी अपनी सुधरता के कारण एक दिन उसे अवश्य ही अपने वश में कर लेगी।[2] बिहारी ने एक ऐसी विरह-कातर प्रोषितपतिका नायिका का भी सजीव चित्रण किया है, जो अपने पति को ऐसी चिट्ठी भेजती है, जो लिखते समय उसके हाथ के ताप से झुलस गई है, कज्जल-मिश्रित आँसुओं के गिरने से गल गई और जो बिना लिखी होने पर भी नायक को उस विरह-विह्वल-नायिका की व्यथा को बता रही है।[3] बिहारी ने ऐसी मध्या नायिका का भी वर्णन किया है, जिसको नायक ने रति-क्रीड़ा के लिए पकड़ लिया है और लज्जावश 'नहीं-नहीं' कह रही है, किन्तु जिसकी भौंहों में विद्यमान हँसी उसकी 'हाँ' को प्रकट कर रही है।[4] साथ ही बिहारी ने ऐसी उत्तमा खंडिता नायिका का भी चित्र अंकित किया है, जिसका पति रात भर कहीं और रहा है और जो यद्यपि नायक के रातभर अन्यत्र रहने के कारण क्रोधाग्नि से जल रही है तथापि नायक को लज्जित देखकर उससे क्रोधपूर्वक बोलते हुए लजा रही है।[5] इस प्रकार बिहारी ने पूर्वानुरागिनी, अन्य संभोग-दुःखिता, स्वयंदूतिका, अज्ञात यौवना, मुग्धा, नवोढ़ा, प्रौढ़ा, ज्ञातयौवना, विरहोत्कंठिता, स्वाधीनपतिका, वासक-सज्जा आदि विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के बड़े ही मार्मिक एवं मनोरंजक चित्र अंकित किये हैं।

---

[1] अंग अंग छरि की लपट उपटति जाति अछेह ।
खरो पातरीऊ, तऊ लगै भरी सो देह ।।

[2] सुघर-सौति-बस पिउ सुनत दुलहिन दुगुनि हुलास ।
लखी-सखी तन दीठि करि सगरब, सलज, सहास ।।

[3] तर-झरसी, ऊपर गरी, कज्जल-जल छिरकाइ ।
पिय पाती बिन ही लिखी, बाँची बिरह-बलाइ ।।

[4] जदपि नाहिं नाहीं नहीं बदन लगी जक जाति ।
तदपि भौंह-हाँसी-भरिनु, हाँ सी यें ठहराति ।।

[5] अनत बसे निसि की रिसनु, उर बरि रहै बिसेषि ।
तऊ लाज आई झुकत खरे लजौंहैं देखि ।।

(६) **नखशिख**—रीतिकालीन कवियों की यह प्रवृत्ति भी प्रमुख रूप से रही है कि ये नायिका के रूप-सौन्दर्य का चित्र अंकित करने के लिए उसके नाखून से लेकर चोटी तक अंग-प्रत्यंग की छवि का चित्र प्रस्तुत किया करते हैं। कवियों की यह मनोवृत्ति उनकी रूप-लिप्सा की ही द्योतक है, किन्तु सभी शृंगारी कवि इस 'नखशिख' के चक्कर में पड़कर घोर शृंगारिकता एवं कामुकता के चित्रण में लीन रहे हैं और कोई भी इस दलदल से नहीं बच सका है। बिहारी ने तो इस दिशा में और भी कौशल दिखाया है, क्योंकि बिहारी ने नखशिख-वर्णन में सहज सौन्दर्य के साथ-साथ इन्द्रियोत्तेजकता एवं आलंकारिकता अत्यधिक मात्रा में विद्यमान हैं। यही कारण है कि कवि कभी अपनी नायिका के मुख-सौन्दर्य का चित्रण करते हुए उसके मुख को पूर्णिमा का चन्द्रमा घोषित करता है, जिसके फलस्वरूप नायिका के घर के समीप रहने वालों को केवल पत्रा द्वारा ही तिथि का ज्ञान होता है[1] और कभी वह नायिका के मुख की प्रशंसा करता हुआ यहाँ तक कह डालता है कि सूर्य के उदित होने पर भी चकोर निश्चल आँखों से उस नायिका के मुख को जो सुषमा की सीमा है, चारों ओर से मुदित-मन देखा करते हैं।[2] ऐसे ही कवि ने नायिका के नेत्रों का वर्णन करते हुए कहीं उन्हें मृग के समान कहकर चतुर नागरिकों का शिकार करते हुए बताया है,[3] कहीं उन्हें शृंगार रस में निमज्जित रहने के कारण कमलों का मान-मर्दन करने वाले एवं अंजन के बिना भी खंजन पक्षियों का तिरस्कार करने वाला बताया है[4] और कहीं बिहारी ने नायिका के नेत्रों को सायंकाल के समान मायावी तथा तीन प्रकार के रंगों से रँगा हुआ बताया है, जिन्हें देखकर जलाशय में कमल लज्जित हो जाते हैं और मछलियाँ दुःखी होकर पानी में छिप जाती हैं।[5] इसी भाँति बिहारी ने नायिका के सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंगों की बड़ी ही सजीव एवं मार्मिक झाँकियाँ अंकित की हैं, जिनमें कहीं नायिका के झीने पट में उसके शरीर की झिलमिलाती हुई अंग-कान्ति झलकती दिखाई देती है, कहीं नाक का छेद नायक के मन को वेधता दिखाई देता है, कहीं कान का तरवन आकृष्ट करता जान पड़ता है और कहीं नायिका के हाथ, पैर, त्रिवली, कुच, नितम्ब आदि अपनी

---

१. पत्रा ही तिथि पाइये वा घर कैं चहुँ पास ।
नितप्रति पून्यौई रहै आनन-ओप-उजास ।।

२. सूर उदति हु मुदित-मन, मुखु सुखमा की ओर ।
चितै रहत चहुँ ओर तैं, निहचल चखनु चकोर ।।

३. खेलनि सिखिए अलि भलें चतुर अहेरी मार ।
कानन-चारी नैन-मृग, नागर नरनु सिकार ।।

४. रस सिंगार किए, कंजनु भंजनु दैन ।
अंजनु रंजनु हूँ बिना, खंजनु गंजनु नैन ।।

५. सायक-सम मायक नयन, रँगे त्रिविध रँग गात ।
झखौ बिलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात ।।

और बरबस आकर्षण पैदा करते हुए जान पड़ते हैं। बिहारी का यह नखशिख-वर्णन शृंगारिकता के साथ-साथ सौन्दर्य-चेतना को उद्‌बुद्ध करने वाला है और इसमें विलक्षणता का प्राधान्य है।

P.M.(5) **संयोग-वर्णन**—रसराज शृंगार के दो भेद माने गये हैं—सम्भोग शृंगार और विप्रलम्भ शृंगार। इनमें सम्भोग शृंगार ही 'संयोग' शृंगार कहलाता है और विप्रलम्भ शृंगार को 'वियोग' शृंगार कहते हैं। रीतिकालीन कवियों ने शृंगार का इतना अधिक वर्णन किया है कि पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र तो इस काल को 'शृंगार-काल' कहना ही अधिक समीचीन समझते हैं। रीतिकालीन कवियों के शृंगार के संयोग पक्ष का वर्णन करते हुए विभिन्न क्रीड़ा-व्यापारों, काम-चेष्टाओं, अठखेलियों, विभिन्न प्रकार की रति-केलियों आदि का निरूपण किया है। शृंगार के इसी क्षेत्र में नायिका का रूप-सौन्दर्य-चित्रण, नायिका भेद, दूत-दूती-प्रेषण, हास-परिहास-निरूपण आदि भी आते हैं। इनके साथ ही विविध काम-केलियाँ—जैसे, जल-विहार, वन-विहार, उपवन में आँखमिचौनी, फाग खेलना, पतंगबाजी, कबूतरबाजी आदि भी इसी के अन्तर्गत आती हैं। इस प्रकार संयोग-शृंगार के अन्तर्गत नायक-नायिकाओं की अनेकानेक क्रीड़ाओं एवं रस-केलियों का वर्णन किया जाता है। रीतिकालीन कविता में संयोग-शृंगार सम्बन्धी उक्त सभी काम-केलियों का बड़ा ही मनोरंजक वर्णन मिलता है, जिनमें कहीं नायक-नायिकाओं के साथ पनघट एवं नदी-सरोवर के तट पर छेड़छाड़ कर रहा है, कहीं वन-उपवन में क्रीड़ाएँ कर रहा है, कहीं गुरुजनों के बीच में बैठी हुई नायिका ही नयनों के संकेतों द्वारा शृंगारिक चेष्टाएँ प्रकट कर रही है, तो कहीं गलीहाट में परस्पर मिल जाने पर नायिका और नायक वासनात्मक चेष्टाओं एवं काम-क्रीड़ा सम्बन्धी उद्‌गारों को व्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं। बिहारी ने तो इस दिशा में कमाल ही कर दिखाया है। बिहारी के दोहे तो सयोग-शृंगार के मंडन हैं, उनमें संयोग-शृंगार की विविध क्रीड़ाओं, चेष्टाओं, व्यापारों, मनोवृत्तियों, हाव-भावों आदि का बड़ा ही सजीव एवं आकर्षक वर्णन मिलता है। बिहारी के संयोग-वर्णन में काम-क्रीड़ा, सुरत आदि का वर्णन अधिक होने के कारण आलिंगन, परिरम्भण, चुम्बन आदि विविध बाह्य व्यापारों का चित्रण बड़ी सजीवता के साथ मिलता है। ये समस्त बाह्य व्यापार एवं इन्द्रियों की बाह्य चेष्टाएँ दो भागों में विभक्त की गई हैं। इसमें से जो सचेष्ट व्यापार हैं, वे 'हाव' कहलाते हैं और जो सहज एवं स्वाभाविक चेष्टाएँ होती हैं, उन्हें 'अनुभाव' कहते हैं। बिहारी में दोनों का ही प्राधान्य है। उदाहरण के लिए सचेष्ट व्यापार-सम्पन्न 'हाव' का वर्णन बिहारी ने इस प्रकार किया है—

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहन हँसे, दैन कहै, नटि जाय॥

यहाँ पर सौह करना, भौंहों में हँसना, देने के लिए कहना, नट जाना आदि जो बाह्य व्यापार किसी विशेष उद्देश्य से चेष्टापूर्वक हुए हैं, किन्तु बिहारी ने नायिका के सहज एवं स्वाभाविक व्यापार-सम्पन्न 'अनुभाव' का भी बड़ा ही सजीव

भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।
कीनै हूँ कोटिक जतन, अब कहि काढ़ै कौन।
भो मन-मोहन रूप मिलि, पानी में कौ लौन॥

निरूपण किया है, जिसमें नायक के कर का स्पर्श होते ही नायिका के शरीर में पसीना आ जाता है और रोमांच खड़े हो जाते हैं—

स्वेद सलिल रोमांच कुस गहि दुलहि अरु नाथ।
हियो दियो सँग हाथ के हथलेवा ही हाथ॥

बिहारी ने संयोग-शृंगार के अन्तर्गत नायिकाओं के अभिसार का बड़ा ही मनोरंजक वर्णन किया है। कोई नायिका शुक्लपक्ष की रात्रि में चाँदनी के अन्तर्गत अपने प्रिय से मिलने जाती है, तब वह शुक्लाभिसारिका कहलाती है। बिहारी ने ऐसी नायिका का वर्णन करते हुए बताया है कि वह गौर वर्ण की युवती चाँदनी में ऐसी मिल गई है कि अभिसार को जाती हुई वह किसी को भी दिखाई नहीं पड़ती। उसके साथ उसकी सखी केवल उसके शरीर की सुगन्ध के सहारे चल रही है।[1] ऐसे ही कृष्णपक्ष की रात्रि में प्रिय के समीप अभिसार हेतु जाने वाली नायिका कृष्णाभिसारिका कहलाती है। बिहारी ने ऐसी नायिका के अभिसार का वर्णन करते हुए अभिसार के उपरान्त लौटने पर मार्ग में चन्द्रमा के निकल आने से उत्पन्न उसकी घबराहट भयभीतावस्था, छिपने की कुशलता, प्रेम-प्रवणता, कामातुरता आदि का बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया है।[2]

बिहारी ने संयोग-शृंगार के अन्तर्गत चुम्बन, आलिंगन, परिभाषा, दंतक्षत, नखक्षत आदि विविध बाह्य क्रीड़ाओं का भी वर्णन किया है। इसीलिए बिहारी के दोहों में कहीं सोने का बहाना बनाकर पड़े हुए नायक का नायिका अचानक चुम्बन करती हुई एवं तदुपरान्त भेद खुल जाने पर दोनों परस्पर आलिंगन एवं परिरम्भण करते हुए दिखाये गये हैं,[3] कहीं रात को चुम्बन के समय नायक के द्वारा नायिका के अधर पर दिए दन्तक्षत को वह नायिका सारे दिन दर्पण में देखती हुई दिखाई गई है,[4] कहीं नायक अचानक पीछे से आकर नायिका की आँखें मींच लेता है और वह नायक के कर-स्पर्श का सुख प्राप्त करती हुई दिखाई गई है[5] और कहीं दोनों ही आँखमिचौनी के खेल में अतृप्ति का अनुभव करते हुए छिपने पर भी परस्पर

---

[1] जुवति जोन्ह में मिली गई नैंक न होति लखाइ।
सौंधे कैं डोरैं लगी अली चली सँग जाइ॥

[2] अरी खरी सरपट पर बिधु मग हेरि।
संग लगे मधुपनि लई भागति गली अँधेरि॥

[3] मैं मिसहा सोयौ समुझि मुँह चूम्यौ ढिग जाइ।
हँस्यौ, खिसानी, गल गह्यौ, रही गरैं लपटाइ॥

[4] छिनक उघारति, छिनु छुवत, राखति छिनकु छिपाइ।
सबु दिनु पिय-खंडित अधर दरपन देखत जाइ॥

[5] प्रीतम दृग मींचत प्रिया पानि-परस-सुख पाइ।
जानि पिछानि अज्ञान लौं नैंकु न होति जनाइ॥

1- कहत नटत रीझत [illegible] जात — — — —
2- बतरस लालच लाल --
3- ऊँचे चितै सराहियतु —

आलिंगन का सुख लेते हुए और छुए जाने पर भी आलिंगन का सुख लूटते हुए दिखाये गये हैं।[1]

बिहारी ने संयोग का वर्णन करते हुए उन बाह्य व्यापारों का भी वर्णन किया है, जिनमें नायक एवं नायिका अद्भुत आनन्द का अनुभव किया करते हैं। इनमें से पतंगबाजी, कबूतरबाजी, फाग आदि कितने ही प्रेम-व्यापार उस समय चला करते थे। वैसे भी प्रिय की सभी वस्तुएँ एवं सभी कार्य प्रियतमा को अच्छे लगते हैं। इसी आधार पर बिहारी ने पतंगबाजी का वर्णन करते हुए बताया है कि नायक की पतंग को उड़ती देखकर वह छबीली नायिका पतंग की परछाहीं छूती हुई आँगन में बावली सी दौड़ती फिरती है।[2] ऐसे ही एक दूसरा दृश्य कबूतरबाजी का भी मिलता है। नायक अपनी अटारी पर खड़ा कबूतर उड़ा रहा है और नायिका उसके गिरहबाज कबूतर को देख-देखकर कभी प्रसन्न होती है, कभी मुस्कराती है और कभी रोमांचित हो जाती है।[3] बिहारी ने ऐसे ही होली के समय पिचकारी से खेलने, गुलाल मलने, फगुआ देने आदि का भी बड़ा ही सरस वर्णन किया है। इनमें से कभी नायक-नायिका प्रेम के रंग से नैन रूपी पिचकारी द्वारा होली खेलते हुए दिखाये गये हैं[4] और कभी दोनों परस्पर गुलाल की मूठें भर-भरकर चलाते हुए दिखाये गये हैं, किन्तु स्वेद के कारण दोनों के हाथों में गुलाल चिपका रह जाता है और मूठें छूटने पर रीती-सी जान पड़ती हैं।[5]

बिहारी ने संयोग का वर्णन करते हुए रति-क्रीड़ा का भी बड़ा ही कामोद्दीपक वर्णन किया है। इसमें से कभी कोई नायिका प्रथम समागम के अवसर पर अपने नायक को भौंहों से डाँटती हुई, मुख से निषेध करती हुई, किन्तु आँखों से मिलन की इच्छा प्रकट करती हुई तथा खींचातानी में स्वयं नायक की ओर खिचती चली आती हुई दिखाई गई है,[6] कहीं रात भर नायक के साथ रति-उत्सव में जागरण करने के

---

[1] दोऊ चोर मिहीचनी, खेलु न खेल अघात।
दुरति हियैं लपटाइ कै, छुवत हियै लपटात ॥

[2] उड़ति गुड़ी लखि ललन की, अँगना-अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति, छुवति छबीली छाँह ॥

[3] ऊँचें चितै सराहियतु, गिरह कबूतरु लेतु।
झलकित दृग, पुलकित बदन, तनु पुलकित किहिं हेतु ॥

[4] रस-भिजए दोऊ दुहुनि, तउ टिकि रहे टरैं न।
छवि सौं छिरकत प्रेम-रँगु, भरि पिचकारी नैन ॥

[5] गिरै कंपि कछु, कछु रहैं, कर पसीजि लपटाइ।
लीयौ मुठी गुलाल भरि, छुटत झुठी ह्वै जाइ ॥

[6] भौंहनु त्रासति मुँह नटति, आँखनु सौं लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति करु इँची, आगैं आवति जाति ॥

कारण नायिका की आँखें अलसा रही हैं, किन्तु वह किसी उत्सव के 'रतजगे' का बहाना करती हुई दिखाई गई है[१] और कहीं कोई नायिका अपने नायक के साथ विपरीत रति में लीन दिखाई गई है, जिसमें नायिका के नूपुर मौन एवं किंकिनी कोलाहल करती हुई दिखाई गई है।[२] इतना ही नहीं, विहारी ने तो रति के सम्पूर्ण व्यापारों का उल्लेख करते हुए यहाँ तक कहा है कि जिस रति में चमक, तमक, हांसी, सिसक, मसक, झपट, लपटानि आदि क्रियाएँ होती हैं वही रति मुक्ति जैसी परमानन्द दायिनी होती है, उसके सम्मुख अन्य मुक्तियाँ तो व्यर्थ हैं।[३]

इस प्रकार बिहारी ने संयोग श्रृंगार का बड़ा ही कामोद्दीपक, भावोत्तेजक, मनोरंजक एवं वासनात्मक वर्णन किया है। इसमें मर्यादा का भी उल्लंघन हो गया है और विपरीत रति, गर्भवती नायिका की सूरति आदि के वर्णन में अश्लीलता के साथ-साथ सामाजिकता की सीमा का भी अतिक्रमण हो गया है। भले ही इन वर्णनों में मनोवैज्ञानिकता एवं यथार्थता हो, किन्तु समाज पर इनका कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। कला की दृष्टि से ये वर्णन अवश्य उत्कृष्ट माने जाते हैं, किन्तु सामाजिक दृष्टि से सर्वथा हेय एवं घृणास्पद हैं, क्योंकि इनमें अमर्यादित श्रृंगार का प्राधान्य होने के कारण ये इन्द्रियोत्तेजक एवं अश्लीलता के प्रेरक हैं। फिर भी इन वर्णनों में सौन्दर्य-चेतना को उद्‌बुद्ध करने की अपूर्व क्षमता है तथा हृदय पर प्रभाव डालने की अद्‌भुत शक्ति है। इसी कारण सौन्दर्य के सरस चित्र अंकित करने में विहारी सर्वोत्कृष्ट कवि माने जाते हैं।

(८) **वियोग-वर्णन**—रीतिकालीन कवियों ने वियोग के विभिन्न भेदों एवं विविध काम-दशाओं का बड़ा ही सजीव एवं मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। साधारणतया वियोग चार प्रकार का होता है—(१) पूर्वराग, (२) मान, (३) प्रवास और (४) करुण। वियोग का तात्पर्य मिलन के अभाव से है। यदि नायक और नायिका एक ही नगर में रहते हैं अथवा एक ही घर में रहते हैं, फिर भी किसी कारणवश मिल नहीं पाते, तो वहाँ पर वियोग ही माना जाता है। इसी कारण पूर्वराग एवं मान को भी वियोग के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया गया है। विहारी ने उक्त सभी भेदों का निरूपण बड़ी तत्परता एवं तल्लीनता के साथ किया है। पूर्वराग सम्बन्धी वियोग में किसी के गुणों को सुनकर अथवा किसी का रूप-सौन्दर्य देखकर हृदय में उसके प्रति सहज अनुराग एवं आकर्षण उत्पन्न हो जाता है, परन्तु किसी कारणवश वे परस्पर मिलने के लिए

---

१. सहो रँगीलै रति-जगैं जगी पगी सुख चैन।
अलसौंहैं सौंहैं कियैं कहैं हँसौहैं नैन॥

२. पर्‌यौ जोरु विपरीत रति रुपी सुरत रन-धीर।
करति कुलाहल किंकनी गह्यौ मौंन मंजीर॥

३. चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट, लपटानि।
ए जिहिं रति सो रति मुकति; और मुकति अति हानि॥

-इन दुखिया अखियान कौ सुख सिरजोइ नाहि
देखत बनै न देखते, अन देखे अकुलाहि

विवश रहे आते हैं। बिहारी ने इस 'पूर्वराग' की दशा का चित्रण करते हुए पूर्वानुरागिनी नायिका की व्यथित दशा का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है और लिखा है कि जब से उसके नेत्र नायक के छवि रूपी जल में गिरे हैं, तब से एक क्षण के लिए भी उससे बिछुड़ नहीं पाते और समय-सूचक कटोरी की भाँति निरन्तर भरते-ढरते डूबते-उतराते रहते हैं।[1] ऐसे ही बिहारी ने 'मान' सम्बन्धी विरह का भी बड़ा ही प्रभावशाली वर्णन किया है। यह मान सम्बन्धी विरह प्रायः दो प्रकार का होता है—(१) प्रणय-मान और (२) ईर्ष्या-मान। प्रणय-मान में नायक-नायिका तनिक सी बात पर यों ही रूठ जाते हैं, किन्तु ईर्ष्या-मान में नायक को अन्य कामिनियों के प्रति आसक्त देखकर नायिका के हृदय में रोष उत्पन्न होता है। इनमें से प्रणय-मान का वर्णन करते हुए बिहारी ने एक ऐसी मानिनी नायिका और मानी नायक का चित्र अङ्कित किया है, जिसमें दोनों को अपने-अपने रूप-सौन्दर्य के घमण्ड में चूर दिखाया गया है और दोनों ही एक दिन यह ठान लेते हैं कि देखें पहले कौन मनाता है और कौन पहले मान छोड़ता है।[2] ऐसे ही ईर्ष्या-मान का वर्णन करते हुए बिहारी ने एक ऐसी नायिका के मान का वर्णन किया है, जो नायक को बुलाने के लिए अपनी दूती भेजती है किन्तु दूती नायक के साथ रमण करके फिर उन्हें अपने साथ लाती है। रमण करने के कारण दूती और नायक की आँखें सकुचा रही हैं; जिससे नायिका को उनकी चोरी का पता चल जाता है और वह ईर्ष्या-मान कर बैठती है।[3]

प्रवास सम्बन्धी विरह का वर्णन तो बिहारी सतसई में अत्यधिक मात्रा में मिलता है। बिहारी का सर्वाधिक कौशल इसी विरह-वर्णन में दिखाई देता है। इसमें बिहारी ने प्रथम तो नायक के विदेश-गमन का समाचार पाते ही नायिका को अत्यन्त उद्विग्न एवं बेचैन दिखाया है। उस क्षण प्रिय के परदेश-गमन की बात सुनकर वह चुप रह जाती है और बेचैनी के मारे एक शब्द भी मुँह से नहीं कहती, मानो प्रियतम की डबडबाई हुई दृष्टि ने उसके गले को रूँध दिया हो।[4] दूसरे, बिहारी ने नायक के परदेश में रहने पर नायिका की विरह-विदग्ध दशा का अत्यन्त हृदय-विदारक वर्णन किया है। इसमें कहीं नायिका विरह में इतनी अधिक जलती हुई दिखाई गई है कि जाड़े की रात में भी गीले कपड़ों की आड़ देकर और बड़ी हिम्मत करके उसकी सखियाँ

---

[1] हरि-छवि-जल जब तें परे, तब तें छिनु बिछुरैं न।
भरत, ढरत, बूढ़त, तरत, रहत घरी लौं नैन ॥

[2] दोऊ अधिकाई-भरे एकै गौं गहराइ।
कौनु मनावै, को मनै, माने मन ठहराइ ॥

[3] गह्यौ अबोलौ बोलि प्यौ, आपुहि पठैं बसीठि।
दीठि चुराई दुहनु की, लखि सकुचौंहीं दीठि ॥

[4] ललन-चलनु सुनि चुप रही, बोली आपु न ईठि।
राख्यौ गहि गाढ़ै, गरे, मनो गलगली डीठि ॥

स्नेह के कारण उसके समीप जाती हैं,[१] कहीं वह वियोग में इतनी प्रज्ज्वलित रहती है कि वियोगाग्नि में जला हुआ तथा आँखों के मार्ग से आँसुओं के साथ बहा हुआ उसका हृदय आठों पहर आह रूपी समीर से उड़ा करता है।[२] तीसरे, बिहारी ने परदेश से लौटकर आये हुए नायक के दर्शन के लिए उत्सुक एवं उत्कण्ठित नायिका के विरह-विह्वल हृदय का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। जैसे, नायक परदेश से लौटकर आ गया है और वह घर के दालान में गुरुजनों एवं इष्टमित्रों से मिल रहा है। इसी कारण नायिका के पास पहुँचने में उसे देर हो रही है; किन्तु नायिका को मिलन की आतुरता के कारण एक-एक घड़ी ब्रह्मा की घड़ी के समान अत्यन्त लम्बी प्रतीत हो रही है।[3] चौथे, बिहारी ने प्रवास-जन्य विरह का वर्णन करते हुए विरहिणी के अत्यधिक सन्ताप का चित्रण करने के लिए अतिशयोक्तियों का भी अत्यधिक सहारा लिया है, जिससे कहीं तो नायिका विरह में इतनी क्षीण हो गई कि चश्मा लगाकर देखने पर भी मृत्यु को वह दिखाई नहीं देती[४] और कहीं विरह में जलती हुई नायिका के ऊपर गुलाब जल की शीशी उलट दी जाती है तो गुलाब जल विरहाग्नि की लपटों के मारे बीच में ही सूख जाता है और नायिका के शरीर पर एक बूँद भी नहीं गिरती।[५] इसके साथ ही विरहिणी को चन्द्रमा, चन्दन, गुलाब आदि शीतल पदार्थों से व्यथित एवं बेचैन होते हुए अङ्कित किया गया है। इसके साथ ही बिहारी ने करुण विप्रलम्भ का वर्णन अधिक नहीं किया है। फिर भी राधा एवं गोपियों के दो एक विरह-चित्रों में करुण विप्रलम्भ की छटा मिल जाती है। जैसे एक दोहे में बिहारी ने राधा की विरह-विह्वल दशा का वर्णन करते हुए लिखा है कि श्री राधाजी यमुना के किनारे को देखती हुई श्याम का स्मरण करके अपने आँसुओं से यमुना के तटवर्ती जल को खारा करती रहती हैं[६] तथा दूसरे दोहे में गोपियों की विरहावस्था का वर्णन करते हुए बताया है कि व्रज की गली-गली तथा घरों के द्वार-द्वार पर गोपियों के

---

१. आड़े दै आले बसन, जाड़े हूँ की राति।
साहसु ककै सनेह-बस, सखी सबै ढिंग जाति॥
२. प्रजर्‌यो आगि वियोग कौ बह्यौ बिलोचन-नीर।
आठौं जाम हियौ रहै उड़्‌यौ उसास-समीर॥
३. रहे बरोठे मैं मिलत पियु प्रानन‍ु के ईसु।
आवत आवत की भई विध की घरी घरी सु॥
४. करी बिरह ऐसी तऊ गैल न छाँड़तु नीचु।
दीने हूँ चसमा चखनु चहै लहै ना मीचु॥
५. औंधाई सीसी सु लखि बिरह-बरति बिललात।
बिच ही सूखि गुलाब गौ, छींटौं छुई न गात॥
६. स्याम सुरति कर राधिका, तकति तरनिजा-तीरु।
अँसुवनि करति तरौंस कौ खिनकु खरौं हौं नीरु॥

आँसुओं से भरी हुई ऐसी नदी बह रही है, जो कभी सूख नहीं सकती।[1] इन दोनों दोहों में कृष्ण से निराश होकर राधा एवं गोपियों की विरह-विदग्धावस्था का चित्रण हुआ है। यहाँ राधा और गोपियाँ यह जानती हैं कि कृष्ण मथुरा चले गये हैं और अब उनके आने की सम्भावना नहीं है, फिर भी अपनी प्रीति प्रकट करती हैं। इसीलिए यहाँ करुण विप्रलम्भ है।

विहारी ने उक्त विरह-सम्बन्धी भेदों का वर्णन करने के अतिरिक्त विरह-जन्य काम-दशाओं का भी बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। साधारणतया काम-दशाएँ दस मानी गई हैं, जो चिन्ता, अभिलाषा, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण कहलाती हैं। इनमें से सभी दशाओं का वर्णन विहारी ने बड़े मनोयोग के साथ किया है। जैसे,

चिन्ता— देखत वुरैं कपूर लौं उपै जाइ जिन लाल।
छिन-छिन जात परी खरी, छीन छबीली बाल॥
अभिलाषा— बाम बाँह फरकत मिलै जो हरि जीवन मूरि।
तौ तोही सों भेटि हौं राखि दाहिनी दूरि॥
स्मृति— जहाँ-जहाँ ठाड़्यौ लख्यौ स्याम सुभग सिर मौर।
बिनहूँ उन छिनु गहि रहतु आँखिनु अजौंव ठौर॥
गुणकथन— लाल तुम्हारे विरह की अगनि अनूप अपार।
सरसैं बरसै नीर हूँ झर हू मिटै न झार॥
उद्वेग— ह्याँ तैं ह्वाँ ह्वाँ तैं इहाँ नैकों धरति न धीर।
निसिदिन डाढ़ी सी रहति बाढ़ी गाढ़ी पीर॥
प्रलाप— कहे जु बचन वियोगिनी विरह विकल बिललाइ।
किए न किहिं अँसुवा-सहित सुवा ति बोल सुनाइ॥
उन्माद— बिरह-जरी लखि जीगननु कह्यौ न डहि कै बार।
अरी आहु भजि भीतरी बरसत आजु अँगार॥
व्याधि— प्रिय प्राननि की पाहरू करति जतन अति आपु।
जाकी दुसह दसा पर्‌यौ सौतिन हूँ संतापु॥
जड़ता— मरी डरी कि टरी बिथा कहाँ खरी चलि चाहि।
रही कराहि कराहि अति अब मुख आहि न आहि॥
मरण— कहा कहौं वाकी दशा हरि प्रानन के ईस।
विरह ज्वाला जरिबौ लखैं मरिबौ भयो असीस॥

सारांश यह है कि विहारी ने विरह के विविध भेदों में सर्वाधिक प्रवास-जन्य विरह का वर्णन किया है और विरह-जन्य काम-दशाओं में से सर्वाधिक व्याधि का

---

[1] गोपिनु कैं अँसुवनु भरी, सदा असोस अपार।
डगर-डगर नैं ह्वै रही, बगर-बगर कैं बार॥

निरूपण किया है। इसीलिए बिहारी के विरह-वर्णन में विरह-ताप-जन्य कृशता एवं तीव्र संताप सम्बन्धी ऊहात्मक उक्तियों का प्राधान्य है, जिनमें विरहिणी की व्यथा एवं वेदना की विवृति हास्यास्पद सी हो गई है। वैसे भी बिहारी के शृंगार-वर्णन में वियोग की अपेक्षा संयोग-वर्णन कहीं अधिक उत्कृष्ट एवं प्रभावशाली है। यह ठीक भी है, क्योंकि बिहारी जैसे वैभव-विलास में लालित-पालित कवि को वियोग की अपेक्षा संयोग की ही अधिक गहन अनुभूति हो सकती थी। अतएव बिहारी को विरह-वर्णन में उतनी सफलता नहीं मिली है, जितनी कि संयोग-वर्णन में मिली है।

(६) **ऋतु-चित्रण**—रीतिकालीन कवियों की यह भी मनोवृत्ति रही है कि उन्होंने सभी ऋतुओं का उद्दीपन की दृष्टि से वर्णन किया है। बिहारी ने भी अपने छोटे से दोहे में प्रत्येक ऋतु के अन्तर्गत छिटकने वाली प्राकृतिक सुषमा की अनुपम झलक अंकित करने की सुन्दर चेष्टा की है। रीतिकालीन प्रवृत्ति के कारण बिहारी भी ऋतुओं के स्वतन्त्र एवं आलम्बन रूप में चित्र अंकित नहीं कर पाये हैं, किन्तु कुछ प्रकृति-चित्र ऐसे अवश्य बन गये हैं, जिन्हें किसी सीमा तक स्वतन्त्र कह सकते हैं और वे प्रकृति के आलम्बन रूप को प्रस्तुत करते हैं। जैसे, कवि ने वसंत ऋतु का वर्णन करते समय आम के बौरों की सुगन्ध से तृप्त तथा माधुरी लता के पुष्पों की मधुर सुगन्ध से सने हुए एवं मकरन्द पान करने के कारण उन्मत्त बने हुए भौंरों के झुण्डों को स्थान-स्थान पर झूमते एवं झुकते हुए अंकित किया है।[1] ऐसे ही बिहारी ने ग्रीष्म ऋतु का वर्णन करते हुए ग्रीष्म की प्रचण्डता का उल्लेख किया है, जिसने अपने प्रभाव से सम्पूर्ण विश्व को तपोवन बना दिया है और इसीलिए गर्मी के मारे सर्प-मोर तथा मृग-बाघ परस्पर विरोधी होकर भी अपना-अपना बैर भूलकर एकत्र निवास कर रहे हैं।[2] बिहारी ने इसी तरह वर्षाऋतु का भी बड़ा ही प्रभावशाली वर्णन किया है, जिसमें वर्षाकालीन सघन घटाओं का वर्णन करता हुआ कवि बता रहा है कि वर्षाकाल के घने बादलों के अंधेरे के कारण पृथ्वी पर रात और दिन में कोई भेद नहीं रहा है। अब रात-दिन का भेद केवल चकई-चकवा को लक्षित करके ही जान पड़ता है।[3] इसी भाँति बिहारी ने शरद ऋतु का एक सुन्दरी स्त्री के रूप में वर्णन करते हुए बताया है कि अरुण सरोरुह ही उसके हाथ और पाँव हैं, खंजन पक्षी ही उसकी आँखें हैं और चन्द्रमा ही उसका मुख है। ऐसी शरद रूपी सुन्दरी

---

[1] छकि रसाल-सौरभ सने मधुर माधवी-गन्ध ।
ठौर-ठौर झौंरत झँपत, भौंर-भौंर मधु अन्ध ।।

[2] कहलाने एकत बसत अहि-मयूर मृग-बाघ ।
जगतु तपोवन सौ कियौ दीरघ-दाघ निदाघ ।।

[3] पावस-घन-अँधियार महिं रह्यौ भेदु नहिं आनु ।
रात द्यौस जान्यौ परतु लखि चकई चकवानु ।।

अपने समय पर आकर किसे आनन्दित नहीं करती ।[१] ऐसे ही हेमंत ऋतु का वर्णन करते हुए विहारी ने लिखा है कि हेमंत ऋतु में जैसे-जैसे रात्रि वढ़ती है, वैसे ही वैसे लोगों के सुख और चकवा-चकवी का अनन्त दुःख वढ़ता जाता है ।[२] साथ ही शिशिर ऋतु का वर्णन करते हुए भी विहारी ने उस समय दिन के अत्यन्त छोटे हो जाने का बड़ा ही सरस एवं सुन्दर वर्णन किया है, क्योंकि इस ऋतु के दिन की समता ससुराल में रहने वाले जामाता (जमाई) से की है ।[3]

इस प्रकार बिहारी ने षट् ऋतुओं की मार्मिक झाँकी प्रस्तुत करते हुए प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण किया है । किन्तु बिहारी में प्रकृति के उद्दीपन रूप का ही प्राधान्य है । इसीलिए कहीं तो बिहारी का कोई नायक पहले-पहल यात्रा करने निकलता है और वसन्त ऋतु में पलास के लाल-लाल पुष्पों को खिला हुआ देखकर उन्हें दावाग्नि समझता हुआ उन्हें देखकर घर लौट आता है और विदेश नहीं जाता ।[४] वैसे ही विहारी की किसी नायिका को वर्षा का प्रथम बादल पृथ्वी पर से उठा हुआ धुआं दिखाई देता है और उसमें वह यह अनुमान लगाती है कि वर्षा का पहला बादल संसार को जलाता हुआ आ रहा है ।[५] ऐसे ही कोई विरहिणी नायिका वर्षा काल में रात्रि के समय चमकते हुए जुगुनुओं को अंगार समझकर अपनी सखी से कह रही है कि आज वाहर पानी के वदले अंगार वरस रहे हैं,[६] तो किसी विरहिणी नायिका के प्राणों को कुमार्गगामी वादल खुल्लमखुल्ला लूटते हुए दिखाई देते हैं और वह विचारी असहाय एवं अनाथ होकर वेचैन दिखाई देती है ।[७] बिहारी की किसी वियोगिनी नायिका को ग्रीष्म ऋतु ऋतुराज वसन्त के विरह में लुओं के रूप में आहें

अरुन सरोरुह-कर-चरन, दृग-खंजन मुख-चन्द ।
समै आइ सुन्दरि-सरद, काहि न करति अनंद ।।

ज्यौं-ज्यौं वढ़ति विभावरी त्यौं-त्यौं बढ़त अनन्त ।
ओक-ओक सब लोक-सुख, कोक-कोक हेमन्त ।।

आवत जात न जानियतु तेजहिं तजि सियरानु ।
घरहँ जमाई लौं घट्यो खरौ पूस दिन-मानु ।।

फिरि घरकों नूतन पथिक, चले चकित चित भागि ।
फूल्यो देखि पलास वन, समुहैं समुझि दवागि ।।

धुरवा होहिं न अलि, उठै धुँवा धरनि चहुं कोद ।
जारत आवत जगत कौं पावस प्रथम पयोद ।।

विरह-जरी लखि जीगननु कह्यौ न डहि के बार ।
अरी आउ भजि भीतरी, बरसत आजु अँगार ।।

कौन सुनै कासौं कहौं सुरति विसारी नाह ।
बदावदी ज्यौं लेत हैं, ए बदरा बदराह ।।

भरती हुई जान पड़ती है[१] तो किसी वियोगिनी को वसन्त में चारों ओर खिले हुए पुष्प-समूह से युक्त उपवन बाणों का पिंजरा (शर-पिंजर) दिखाई पड़ रहा है, जो ऋतुराज ने वियोगियों को दण्ड देने के निमित्त बनाया है।[२]

प्रकृति के उद्दीपन के रूप के अतिरिक्त कहीं-कहीं बिहारी ने प्रकृति के मानवीकरण रूप की झाँकी भी अङ्कित की है। प्रायः मानवीकरण के अन्तर्गत प्राकृतिक पदार्थों को सचेतन मानवों की भाँति चेष्टा एवं व्यापार करते हुए चित्रित किया जाता है। बिहारी ने एक स्थान पर वसन्त ऋतु का वर्णन करते हुए कोकिल को 'कुहौ', 'कुहौ' अर्थात् 'मारो-मारो' कहकर और लाल-लाल आँखें करके विरहियों पर डाकुओं की भाँति आक्रमण करते हुए दिखाया है,[३] जिसमें कोयल मानवों की सी चेष्टा कर रही है। दूसरे स्थान पर 'नाहिन ये पावक प्रबल' नामक दोहे में ग्रीष्म ऋतु को एक विरहिणी की भाँति ऋतुराज के विरह में आहें भरते हुए बताया है और तीसरे स्थान पर 'धुरवा होंहि न अलि इहैं धुआँ धरनि चहुँ कोद' कहकर वर्षा के प्रथम बादल को सम्पूर्ण संसार में किसी आततायी की भाँति आग लगाये हुए अङ्कित किया है। ऐ ही चौथे स्थान पर बिहारी ने वायु का मानवीकरण के रूप में वर्णन करते हुए शीतल, मन्द एवं सुगन्धित दक्षिण-पवन को एक बटोही के रूप में आता हुआ कहा है जिसके पसीने मकरन्द-कण के रूप में गिर रहे हैं और जो धीरे-धीरे चलने के कारण तरु-तरु के नीचे विश्राम करके आता हुआ जान पड़ता है।[४] इसके साथ ही दूसरे दोहे में बिहारी ने वसन्त की सुखद वायु को हाथी के समान मन्द-मन्द चति से चलता हुआ कहकर प्रकृति के मानवीकरण रूप की झाँकी अङ्कित की है।[५]

इस प्रकार बिहारी ने ऋतु-निरूपण के अन्तर्गत प्रकृति के मृदु-मंजुल रूप की अत्यन्त मनोहर झाँकी अङ्कित की है, जिसमें देशगत, कालगत एवं सांस्कृतिक विशेषताओं के साथ-साथ गहन अनुभूति एवं सूक्ष्म निरीक्षण विद्यमान है। बिहारी के

---

१. नाहिं न ए पावक-प्रबल, लुवैं चलैं चहुँ पास।
मानहु बिरह बसन्त कैं, ग्रीष्म लेत उसास॥

२. दिसि दिसि कुसुमित देखियत, उपवन-विपिन-समाज॥
मनहुँ वियोगिनु कौं कियौ, सर-पंजर ऋतुराज॥

३. बन-बाटनु पिक-बटपरा लखि विरहिनु मत मैंन।
कुहौ कुहौ कहि कहि उठैं, करि करि राते नैंन॥

[illegible]

४. चुवतु स्वेद मकरन्द-कन, तरु-तरु तर बिरमाइ।
आवतु दच्छिन देश तैं, थक्यौ बटोही बाइ॥

५. रनित भृंग-घंटावली, झरति दान मधु नीरु।
मन्द-मन्द आवतु चल्यौ, कुंजरु कुंज-समीर॥

कृति-चित्रों में उक्ति-वैचित्र्य एवं भाव-गांभीर्य भी पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगोचर होता और इनमें आलंकारिकता के साथ-साथ पर्याप्त स्वाभाविकता भी विद्यमान है। वैसे हारी ने प्रकृति की सौम्य सुषमा की अपेक्षा नारी के पार्थिव सौन्दर्य का ही वर्णन धिक किया है और जो कुछ प्रकृति-चित्र मिलते हैं, वे भी मानव-भाव सापेक्ष हैं, र भी बिहारी के प्रकृति-चित्रों में भावात्मकता, मनोहरता, स्वाभाविकता, वाग्-ग्धता, आलंकारिकता आदि के साथ-साथ कलात्मकता एवं चमत्कार-प्रियता का ही प्य है। बिहारी ने ऋतुओं के मानव-सापेक्ष एवं निरपेक्ष—दोनों प्रकार के सजीव त्र अंकित किये हैं और दोनों में सरलता एवं मादकता पर्याप्त मात्रा में दिखाई ती हैं, किन्तु इन ऋतु-वर्णनों में परम्परा का पालन ही अधिक हुआ है। इसीलिए यः ऋतुओं से सम्बन्धित प्राकृतिक पदार्थों एवं ऋतुओं के अन्तर्गत प्रचलित सामान्य हारों के अतिरिक्त बिहारी ने ऋतुओं में व्याप्त नैसर्गिक आभा एवं प्राकृतिक षमा की झाँकियाँ कम अंकित की हैं।

(१०) **भक्ति एवं नीति का निरूपण**—रीतिकालीन कवियों की प्रायः यह प्रवृत्ति रही है कि वे जहाँ श्रृङ्गार का अश्लील से अश्लील वर्णन करते हैं, वहाँ भक्ति एवं नीति सम्बन्धी कविताएँ भी लिखते रहे हैं। इन भक्ति एवं नीति म्बन्धी कविताओं में भले ही उनका मन न रमा हो और ये रचनाएँ कोरी परम्परा पालन करने के लिए ही लिखी गई हों, किन्तु सभी कवियों की भक्ति एवं नीति म्बन्धी उक्तियाँ मिलती हैं। डा० नगेन्द्र के मतानुसार तो इन कवियों की भक्ति भी नकी श्रृङ्गारिकता का ही एक अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये न घबड़ा उठते होंगे, तब राधाकृष्ण का यही अनुराग उनके धर्मभीरु मन को श्वासन देता होगा।[1] वैसे भी राधाकृष्ण के 'सुमिरन का बहाना' करके ही इन वियों ने अपने भक्ति-सम्बन्धी उद्गार व्यक्त किये हैं। इसीलिए इन उद्गारों के धार पर न तो इन्हें भक्त कवि कहा जा सकता है और न नीति सम्बन्धी उक्तियों आधार पर ये बड़े नीतिज्ञ ही माने जा सकते हैं। बिहारी ने भी भक्ति एवं नीति म्बन्धी कितने ही दोहे लिखे हैं, जो श्रृङ्गार रस-रूपी ईख के गन्ने के बीच-बीच पड़ी हुई गाँठ जैसे जान पड़ते हैं। इनमें से भक्ति सम्बन्धी दोहों के अन्तर्गत कहीं हारी ने संसार के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हुए जगत् को कच्चे काँच के मान असत्य कहा है, जिसके प्रत्येक पदार्थ में उसी एक अनन्त रूप की आभा तिबिम्बित होती हुई दिखाई दे रही है।[2] दूसरे दोहे में सूरदास की भाँति कुछ ता-सी दिखाते हुए बिहारी ने यहाँ तक कहा है कि हे मुरारि! अब देखना है

---

[1] रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—पूर्वार्द्ध, पृ० १८७।

[2] मैं समुझ्यो निरधार, यह जगु काँचो काँच सौ।
एकै रूपु अपार, प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ॥

कि आपका विरद किस प्रकार रहता है, क्योंकि आप एक सामान्य पापी गृद्ध को तारकर अब मुझ महापापी से आकर उलझे हो।[1] तीसरे दोहे में और भी अनूठी कल्पना करते हुए बिहारी ने लिखा है कि हे दीनदयालु ! संसार भले ही मेरी निन्दा किया करे, परन्तु मैं अपनी कुटिलता नहीं छोड़ूँगा, क्योंकि यदि मैं कुटिलता छोड़ दूँगा तो आप त्रिभंगी होने के कारण मेरे सरल एवं सीधे चित्त में निवास करते हुए दुःखी होंगे, क्योंकि टेढ़ी वस्तु सीधी वस्तु के अन्दर समा नहीं सकती।[2] इन उक्तियों को देखकर सरलता से पता चल जाता है कि कवि का ध्यान भक्ति-भावना की ओर उतना नहीं है, जितना कि उक्ति-वैचित्र्य एवं वाणी का कौशल दिखाने की ओर गया है।

ऐसे ही बिहारी ने नीतिपरक दोहे भी लिखे हैं, जिनमें कहीं स्वर्ण अथवा की निंदा की है,[3] कहीं दुहरे शासन में दुःखी प्रजा को देखकर उस शासन की निन्दा की है,[4] कहीं नीच प्रकृति के मनुष्यों के अपरिवर्तनशील स्वभाव का वर्णन किया है, कहीं माला, छापा, तिलक आदि धारण करके वाह्याडम्बरों में लीन रहने वाले व्यक्तियों को समझाया है[6] और कहीं दुष्टों का सम्मान होते देखकर संसार की उल्टी चाल का निरूपण किया है कि जिससे बुराई या हानि की आशंका होती है उसी का संसार में आदर होता है; परन्तु साधु-स्वभाव के सज्जनों को कोई नहीं पूछता।[7] इस प्रकार बिहारी ने नीति-सम्बन्धी दोहों में लोक-व्यवहार के आधार पर पर्याप्त शिक्षाएँ दी हैं। बिहारी के ये दोहे गहन अनुभूति के भण्डार हैं और इनमें लोक एवं शास्त्र का समन्वित ज्ञान भरा हुआ है, किन्तु इन दोहों में भी नीति की अपेक्षा बिहारी की चमत्कारप्रियता एवं वाग्विदग्धता ही सर्वोपरि दिखाई देती है।

---

१. कौन भाँति रहिहै विरदु, अब देखिबी मुरारि।
बीधे मोसों आइकै गीधे गीधहिं तारि॥
२. करौ कुबत जगु, कुटिलता तजौं न दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय, बसत त्रिभंगीलाल॥
३. कनक-कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
वा खाये बौराइ जग, या पाये बौराइ॥
४. दुसह दुराज प्रजान कौ, क्यों न बढ़ै दुख दंदु।
अधिक अँधेरौ जग करत मिलि मावस रवि-चन्दु॥
५. कोटि जतन कोऊ करौ, परै न प्रकृतिहिं बीचु।
नल बल जलु ऊँचो चढ़ै, अन्त नीच को नीचु॥
६. जप माला, छापैं तिलक, सरै न एकौ कामु।
मन-काँचे नाचै वृथा, साँचै राचै रामु॥
७. बसै बुराई जासु तनु, ताही कौ सनमानु।
भलौ-भलौ कहि छोड़ियै, खोटैं ग्रह जपु दानु॥

(११) **अलंकार-प्रियता**—रीतियुग की सबसे बड़ी कलागत विशेषता यह दिखाई देती है कि इस युग के सभी कवियों में चमत्कार-प्रदर्शन एवं वाणी का कौशल दिखाने की प्रवृत्ति सबसे अधिक रही है। इसके लिए प्रायः सभी कवियों ने अलंकारों का पल्ला पकड़ा है। वैसे भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार "अलंकार वर्णन की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ हैं, कहने के खास-खास ढंग हैं।"[1] अतएव इन कवियों ने एक ही बात को भिन्न-भिन्न ढंग से कहने के लिए या भिन्न-भिन्न रूप में प्रस्तुत करने के लिए अलंकारों का सर्वाधिक सहारा लिया है। इस क्षेत्र में बिहारी ने सबसे अधिक कौशल दिखाया है, क्योंकि छोटे से दोहे में अलंकारों के सहारे ही अद्भुत उक्ति के साथ-साथ अनुपम भावों की व्यंजना की है। बिहारी के प्रायः सभी अलंकार भावप्रेषणीयता में अन्य सभी कवियों की अपेक्षा अधिक सफल सिद्ध हुए हैं। इनमें तथा भावानुकूल अलंकारों का ही प्रयोग हुआ है और बिहारी का प्रत्येक दोहा अलंकारों के अनुपम सौंदर्य से ओतप्रोत है। यद्यपि बिहारी के इन दोहों में अलंकारों के कारण चमत्कार का प्राधान्य है, तथापि चित्रोपमता का भी कहीं अभाव नहीं दिखाई देता। बिहारी के प्रत्येक दोहे पर बड़े ही सुन्दर एवं सजीव चित्र का निर्माण हुआ है।

बिहारी की अलंकार-योजना को सुविधा की दृष्टि से चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) सादृश्यमूलक अलंकार, (२) सम्भावनामूलक अलंकार, (३) चमत्कारमूलक अलंकार और (४) अतिशयमूलक अलंकार। इनमें से प्रथम सादृश्यमूलक अलंकारों में सादृश्य की प्रधानता होती है और यह सादृश्य प्रायः तीन प्रकार का माना गया है—(१) रूप-सादृश्य, (२) धर्म-सादृश्य और (३) प्रभाव-सादृश्य। बिहारी ने तीनों प्रकार के सादृश्यों का सहारा लेकर बड़े ही सुन्दर एवं सजीव अलंकारों की योजना की है। इन सादृश्यों के आधार पर बिहारी ने कहीं नायिका के नेत्रों से हिरनी के नेत्रों की समता की है और हिरनी के नेत्रों से भी बढ़कर नायिका के नेत्र कहकर व्यतिरेक अलंकार को अपनाया है।[2] कहीं नारी की समता नागिनी से करके सुन्दर पूर्णोपमा अलंकार अपनाया है;[3] कहीं ठोढ़ी में गड्ढे में, नयनों में बटोही का, चिलक में चौंध का, रूप-सौंदर्य में ठग का और हँसी में फाँसी का आरोप करके सांगरूपक अलंकार का प्रयोग किया है।[4] इनमें से प्रथम उदाहरण रूप-सादृश्य का है, दूसरा उदाहरण धर्म-सादृश्य का है और तीसरा उदाहरण

---

[1] चिन्तामणि (भाग १), पृ० २४६।

[2] वर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनान तैं, हरि, नीके ए नैन॥

[3] चिलक चिकनई, चटकसी लफति सटक लौं आइ।
नारि सलौनी साँवरी, नागिन सी डसि जाइ॥

[4] डारे ठोड़ी-गाड़, गहि, नैन बटोही मारि।
चिलक-चौंध मैं रूप-ठग, हाँसी-फाँसी डारि॥

क्रपश: प्रभाव-सादृश्य का है, क्योंकि यहाँ ठोड़ी और गड्ढे में, नयन और वटोही में, रूप और डग में न तो कोई रूप-साम्य है और न कोई धर्म-साम्य, किन्तु प्रभाव-साम्य है।

सम्भावनामूलक अलंकारों में से बिहारी ने उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग करते हुए बड़ी दूर की उड़ान भरी है। एक दोहे में कहा है कि नायिका के मुख पर हीर जड़ी बेंदी देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो पूर्ण चन्द्रमा ने अपने पुत्र बुध को अप गोद में ले लिया हो।[१] ऐसे ही दूसरे दोहे में विहारी ने नायिका की श्वेत साड़ी से ढँका उसके कानों में हिलता हुआ तर्यौना देखकर उत्प्रेक्षा की है कि मानो प्रभात के सूर्य का प्रतिबिम्ब गंगाजी के हिलते हुए जल में पड़ा हो।[२] ऐसे ही अनेक दोहे लि जा सकते हैं, जिनमें बिहारी ने दूर की कौड़ी लाकर अपनी गहन सूझ-बूझ ए दूरारूढ़ कल्पना का परिचय दिया है।

चमत्कारमूलक अलंकारों में से बिहारी ने कहीं तो दृगों के उलझने प कुटुम्ब को टूटता हुआ, चतुरों के चित्त को जुड़ता हुआ और दुर्जनों के हृदय में गां पड़ती हुई दिखाकर सुन्दर असंगति अलंकार का प्रयोग किया है[3], कहीं तन्त्रीनाद कवित्त-रस, सरस राग और रति-रंग में अनबूढ़ों को डूबते हुए और पूर्ण रूप से डू हुओं को तैरते हुए दिखाकर बड़े ही सजीव विरोधाभास अलंकार का प्रयोग किया है और कहीं दूसरों की नजर लगने से बचाने के लिए नायिका के मुख पर लगे हु दिठौना को देखकर और अधिक दूसरों की नजर पड़ने का वर्णन करते हुए बिहारी ने बड़े ही सरस विषम अलंकार का प्रयोग किया है।[४]

बिहारी ने अतिशयमूलक अलंकारों के द्वारा ऊँची उड़ान भरते हुए भी कहीं कहीं विरह-वेदना के आधिक्य की वडी मनोरम व्यंजना की है। जैसे, विरह-विह नायिका के ऊपर गुलाब-जल से भरी शीशी औंधा देने पर भी उसके शरीर पर गुलाब जल की एक बूँद भी न गिरने तथा बीच में ही गुलाब जल के सूख जाने का वर्ण

---

१. तिय-मुख लखि हीरा जरी बेंदी बढ़ैं विनोद।
सुत-सनेह मानौ लियौ विधु पूरन बुधु गोद॥

२. लसतु सेत सारी-ढप्यौ, तरल तर्यौना कान।
पर्यौ मनौ सुरसरि-सलिल रबि-प्रतिबिंबु विहान॥

३. दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हियैं, दई, नई यह रीति॥

४. तंत्री-नाद, कवित्त-रस, सरस राग, रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग॥

५. लौनैं मुँहुँ दीठि न लगै, यौं कहि दीनौ ईठि।
दूनी ह्वै लागन लगी, दियैं दिठौना दीठि॥

इसके अतिशयोक्ति अलंकार के द्वारा विरहिणी नायिका के विरह-ताप की अतिशयता की मार्मिक व्यंजना की गई है।[1] ऐसे ही विरहिणियों को शिशिर में भी ग्रीष्म का अनुभव करते हुए तथा अन्य ऐसी ही अतिशयोक्तियों में बिहारी ने अतिशयमूलक अलंकारों द्वारा भावों को व्यक्त करते हुए काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि में योग प्रदान किया है।

इस प्रकार बिहारी की अलंकार-योजना में कहीं-कहीं भले ही चमत्कारप्रियता एवं दूरारूढ़ कल्पना मिलती है, फिर भी उनमें सरसता एवं भावात्मकता ही पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। बिहारी के अधिकांश अलंकार भावानुकूल होने के कारण अतिशयोक्तिमूलक होने पर भी भावाभिव्यंजना में सहायक सिद्ध हुए हैं और उनमें रस-चेतना एवं भावानुभूति भी पर्याप्त मात्रा में दिखाई देती है। वैसे बिहारी ने भाव-चित्रण की अपेक्षा रूप-चित्रण के लिए अलंकारों का अधिक प्रयोग किया है और इसी में बिहारी को सर्वाधिक सफलता प्राप्त हुई है, किन्तु अलंकारों द्वारा बिहारी का भाव-चित्रण भी पर्याप्त आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक है।

बिहारी का उक्ति-वैचित्र्य एवं अर्थ-गांभीर्य

'उक्ति-वैचित्र्य' से तात्पर्य किसी कवि के उस वाणीगत कौशल से है, जिसमें अद्भुत अभिव्यंजना-शक्ति होती है तथा जिसको सुनकर या पढ़कर सहृदयों के हृदय रस-निमग्न होकर सहसा 'वाह-वाह' कह उठते हैं। ऐसी कौशलपूर्ण उक्तियों में एक अनुपम आकर्षण होता है, जिससे श्रोता या पाठक उन उक्तियों को सुनकर या पढ़कर उनके भावों में आन्दोलित हो उठता है। इन उक्तियों में एक अद्भुत सरसता, विलक्षण चमत्कार, अनुपम आकर्षण एवं अलौकिक रस-संचार-शक्ति होती है। इन उक्तियों के रस छींटों में ग्रीष्म-ऋतु के अन्तर्गत प्राप्त होने वाले फुब्बारों के छींटों का-सा मजा आता है, एक अद्भुत सिहरन उत्पन्न होती है और सहृदय-जन एक विलक्षण फुरहरी जैसा आनन्द प्राप्त करते हैं। निस्सन्देह ऐसी सरस एवं मादक उक्तियों में सहृदयों को मस्त बनाने की पूर्ण क्षमता होती है। तथा इनमें कोरा वस्तुगत चमत्कार ही नहीं होता, अपितु अर्थ-गांभीर्य भी होता है। यदि कोई उक्ति अपने बाह्य रूप से एक क्षण के लिए किसी सहृदय को आकृष्ट करती है और उसमें अधिक देर तक रमाने की क्षमता नहीं होती, ता उसमें अर्थ की गहराई का अभाव होगा और यदि किसी कवि की कोई उक्ति बार-बार सुनने पर भी सहृदयों में 'ऊब' उत्पन्न नहीं करती, बार-बार अनुपम रस के छींटों से उन्हें रस-मग्न करती रहती है, तो निस्सन्देह यह मानना पड़ेगा कि उस उक्ति में चमत्कार एवं वैचित्र्य के साथ-साथ अर्थ की गहनता अथवा अर्थ-गांभीर्य भी विद्यमान है। कहने की आवश्यकता नहीं कि बिहारी के दोहों में ऐसी ही

---

[1] औंधाई सीसी सुलखि बिरह-बरति बिललात।
बिच हो सूखि गुलाब गौ छींटौं छुई न गात॥

सरस, विलक्षण एवं वैचित्र्यपूर्ण उक्तियाँ मिलती हैं, जिनमें रस-मग्न करने की पूर्ण क्षमता है और जो अपने अनुपम आकर्षण, अलौकिक चमत्कार एवं अद्‌भुत रस-संचार शक्ति के साथ-साथ अर्थ-गाम्भीर्य से भी ओतप्रोत हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसीलिए लिखा है कि "बिहारी की कृति का मूल्य जो बहुत अधिक आँका गया है उसे अधिकतर रचना की बारीक या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यतः दृष्टि रखने वाले पारखियों के पक्ष से समझना चाहिए—उनके पक्षों से समझना चाहिए जो किसी हाथी दाँत के टुकड़े पर महीन बेल-बूटे देख घण्टों 'वाह-वाह' किया करते हैं।"[1] पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी लिखा है कि "बिहारी के कला-पक्ष के भीतर वाग्वैदग्ध्य बहुत सच्चा पाया जाता है, इसलिए उनकी कविता लोगों को मस्त कर देती है।"[2]

बिहारी ने अपने छोटे से दोहे में नपी-तुली शब्दावली के अन्तर्गत उक्तियों में जो वैचित्र्य एवं वैलक्षण्य उत्पन्न किया है तथा उनमें अर्थ का जो गाम्भीर्य भरा है उन्हें देख-देखकर अच्छे-अच्छे विद्वान् दंग रह जाते हैं, क्योंकि ऐसा चमत्कार आज तक हिन्दी का कोई अन्य कवि नहीं दिखा सका है। बिहारी का तो प्रत्येक दोहा किसी न किसी विलक्षण उक्ति एवं अनुपम अर्थ में परिपूर्ण दिखाई देता है। बिहारी का पहला दोहा ही देखिए जिसमें कवि मंगलाचरण के रूप में शृंगार-रस की अधिष्ठातृ देवी श्रीमती राधिका जी से अपनी 'भव-बाधा' हरने की प्रार्थना कर रहा है।[3] किन्तु इसमें उक्ति-चमत्कार के साथ-साथ कैसा अद्‌भुत अर्थ-गांभीर्य विद्यमान है कि जिसके 'झाँई परैं', 'स्याम' और 'हरित दुति' पदों में से प्रत्येक पद के तीन-तीन अर्थ हो जाते हैं। इस एक ही दोहे में पहले कवि उस राधा नागरी से प्रार्थना करता है, जिसके गोरे शरीर की आभा पड़ने से श्याम रंग-वाले श्रीकृष्ण हरे रंग की आभा वाले हो जाते हैं। दूसरे, कवि उस राधारानी से प्रार्थना करता है, जिसके सौन्दर्य सम्पन्न शरीर की झलक पड़ते ही श्रीकृष्ण प्रसन्न-वदन हो जाते हैं और तीसरे, कवि उस राधारानी से प्रार्थना कर रहा है, जिसके स्वरूप का ध्यान करते ही सम्पूर्ण कल्मष एवं पातक अपनी कल्मषता छोड़ देते हैं। इस तरह यह छोटा-सा दोहा ही अद्‌भुत उक्ति के साथ-साथ गहन अर्थों से भरा हुआ है।

बिहारी का ऐसा ही विलक्षण दूसरा दोहा वह है जिसमें उक्ति-वैचित्र्य के बल पर ही कोई सखी वाटिका में भ्रमण करती हुई किसी रुष्ट नायिका के सम्मुख नायिका के इष्ट की गुप्त बात इस तरह कहती है कि उसकी अन्य सखियाँ, माली आदि तो यह समझें कि यह वाक्य माली से कहा जा रहा है और नायिका उसका इष्टार्थ समझ

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २५१।

२. बिहारी की वाग्विभूति, पृ० १८७।

३. मेरी भव-बाधा हरो, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँई परैं, स्यामु हरित दुति होइ॥

जाय। इस दोहे में 'सुमनु', 'सफलु', 'वारी', 'वारि', 'सुहृदयता वारि' आदि ऐसे शब्दों की योजना की गई है, जिनके दो-दो, तीन-तीन अर्थ हो जाते हैं। इसी कारण जहाँ नायक के न आने पर क्रोधित एवं रुष्ट नायिका जब मन बहलाने के लिए वाटिका में टहल रही थी और वहीं पर माली भी अपना कुछ कार्य कर रहा था तब नायिका की एक सखी, जो नायक के समीप से समाचार लेकर आई है, इस तरह कहती है कि हे वाले ! तेरा सुमन जो लगा हुआ है वह अवश्य सफल होगा। तू अपनी वारी को सुहृदयता के वारि से सींचकर आतप के रोष को निवारित कर।[1] इसके दोनों ही भाव हैं, एक ओर तो उस भोली नायिका से यह कहा जा रहा है कि तेरा मन जिस नायक में लगा हुआ है वह अवश्य ही तुझे प्राप्त होगा, किन्तु तू इस दुःखदायी रोष को दूर करके अपनी पारी पर उस नायक को मैत्री एवं सुहृदयता के वाक्यों द्वारा प्रसन्न करना। दूसरी ओर इसका यह भी अभिप्राय है कि हे माली ! तेरी वाटिका में जो फूल लगा है, वह अवश्य फलवान होगा, किन्तु तुझे अपनी वाटिका को सानुकूल जल से सींचकर धूप के प्रचंड प्रभाव से बचाना चाहिए।

बिहारी का उक्ति-वैचित्र्य से भरा हुआ एक वह दोहा लिया जा सकता है, जिसमें नायक और नायिका गुरुजनों के बीच में बैठे रहने पर भी अपनी आँखों की विभिन्न चेष्टाओं द्वारा हृदय के सम्पूर्ण भावों को व्यक्त कर देते हैं। इस दोहे में एक विस्तृत अर्थ सिमट कर आ भरा है। यहाँ कवि कह तो यह रहा है कि "इन दोनों की चातुरी देखो कि गुरुजनों से भरे हुए भवन में भी ये आँखों ही आँखों में अपनी अभीष्ट बातें कर लेते हैं। कभी कुछ कहते हैं, कभी नटते हैं, कभी रीझते हैं, कभी खीझते हैं, फिर कभी मेल कर लेते हैं, कभी खिलते हैं और कभी लज्जित होते हैं।"[2] इनमें उक्ति-वैचित्र्य तो है ही, किन्तु अर्थ-गांभीर्य यह है कि नायक पहले नेत्र के संकेत से रति की प्रार्थना करता है (कहत), इस पर नायिका आँख घुमाकर निषेध करती है (नटत), नायक उसके इस निषेध करने पर रीझता है (रीझत), तब नायिका उसके रीझने की चेष्टा को देखकर कुछ क्रोध-सा व्यक्त करती है (खीझत) और अपनी नजर हटा लेती है, किन्तु फिर अनायास दोनों की दृष्टि मिल जाती है (मिलत) और नायक झट हँस देता है (खिलत), इस पर खीझी हुई नायिका लज्जित हो जाती है (लजियात)। इस प्रकार की उक्तियों में गहन-अर्थ की सृष्टि करना सचमुच बिहारी जैसे रससिद्ध कवि का ही कार्य है।

ऐसे ही विलक्षण उक्ति के साथ अर्थ-गांभीर्य से भरा हुआ बिहारी का वह

---

[1] लग्यौ सुमंन ह्वै है सफलु, आतप-रोसु निवारि।
बारी, बारी आपनी सींचि सुहृदयता-वारि।।

[2] कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौंन मैं करत हैं नैंननु हीं सब बात।।

दोहा भी है, जिसमें बिहारी ने नायिका के मद-भरे नेत्रों की समता सायंकाल से की है। उसमें कवि ने बताया है कि जिस तरह सायंकाल का समय अनेक प्रकार के रंग बदलने एवं जादू-टौना चलाने के लिए उपयुक्त होने के कारण मायावी होता है, उसी तरह नायिका के नेत्र भी हाव-भाव आदि से परिपूर्ण एवं दूसरों को आकृष्ट करने में निपुण होने के कारण मायावी हैं। जैसे सायंकाल का समय प्रायः श्वेत, श्याम एवं लाल रंग से युक्त होता है, वैसे ही नायिका के नेत्र भी श्वेत, श्याम एवं रतनारे हैं। अतएव त्रिविध रंग से रंगे हुए हैं। सायंकाल के समय प्रायः मछलियाँ अपनी दिन भर की थकान के कारण पानी के अन्दर छिप जाती हैं, वैसे ही चंचल आँखों की समता न करने के कारण नायिका की आँखों को देखकर मछलियाँ जल में छिप जाती हैं और जिस तरह सायंकाल के समय कमल संकुचित हो जाते हैं उसी तरह कमल से भी अधिक सुन्दर नायिका ने नेत्रों को देखकर उनकी समानता न कर पाने के कारण कमल संकुचित हो जाते हैं।[1] इस प्रकार बिहारी ने नायिका के मायावी नेत्रों को सायंकाल के समान बताकर बड़ी ही अद्भुत उद्भावना के साथ-साथ सरस उक्ति-वैचित्र्य एवं अनुपम अर्थ-गाम्भीर्य की सृष्टि की है।

इसी तरह बिहारी ने कहीं 'दीपति देह दुहून मिलि दिपति ताफता रंग' कहकर नायिका की वय-संधि का बड़ा ही सरस एवं मादक वर्णन किया है, जिससे धूप-छाँह के कपड़े द्वारा नायिका के बचपन एवं यौवन की सन्धि का सजीव चित्र सामने आ जाता है, कहीं 'भौ मनमोहन रूपु मिलि पानी में कौ लौनु' कहकर नमक के पानी में घुल जाने की उक्ति द्वारा मनमोहन के रूप-सौन्दर्य में लीन मन की स्थिति का अनुपम चित्रण किया है, कहीं 'को हो जानतु दीठि कौं दीठि किरकिटी होति' कहकर आँखों से आँखें मिल जाने पर जो दुःख होता है उसकी आँख में किरकिरी पड़ जाने से समता करके बड़ी ही सजीव कल्पना की है तथा कहीं 'लगा लगी करि लोइननु उर में लाई लाइ' कहकर अपनी सरस उक्ति द्वारा यह बताया है कि मेल-मिलाप तो नेत्र किया करते हैं किन्तु आग हृदय में लगा करती है। ऐसी अनेक सरस एवं सजीव उक्तियों के द्वारा बिहारी ने उक्ति-वैचित्र्य एवं वाग्वैदग्ध्य के साथ-साथ विलक्षण अर्थ-गांभीर्य का सृजन किया है।

बिहारी की समास-पद्धति

बिहारी जिस तरह अनुपम उक्ति-वैचित्र्य एवं सरस अर्थ-गाम्भीर्य के लिए प्रसिद्ध हैं, उसी तरह वे अपनी समास-पद्धति के लिए भी विख्यात हैं, क्योंकि बिहारी ने छोटे से दोहे में बड़े-बड़े प्रसंगों का विधान इतनी सरलता एवं निपुणता के साथ किया है कि उसे देखकर कोई इन्हें 'गागर में सागर' भरने वाला बताता है, तो कोई

---

[1] सायक सम मायक नयन, रँगे त्रिविध रँग गात।
झखौं बिलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात॥

'सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर, देखत में छोटे लगैं, वेधैं सकल सरीर' कहकर इनके दोहों की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। इतना ही नहीं, अपनी इसी समास-पद्धति के कारण बिहारी हिन्दी के सम्पूर्ण मुक्तककारों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं, क्योंकि आचार्य शुक्ल के मतानुसार "जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की समासशक्ति जितनी ही अधिक होगी, उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल माना जाता है।"[1] इस दृष्टि से विहारी की समास-पद्धति में एक ओर कल्पना की समाहार-शक्ति भी उत्कृष्ट रूप में विद्यमान है तथा दूसरी ओर इनकी भाषा में अनुपम समास-शक्ति भी दिखाई देती है।

बिहारी की समास-पद्धति का उत्कृष्ट रूप वहाँ दिखाई देता है, जहाँ बिहारी ने छोटे-छोटे दोहों में वड़े-बड़े सांगरूपकों की सफल योजनाएँ की हैं। उदाहरण के लिए, क्रोधित नायिका के तेवर चढ़ने का वर्णन करते हुए विहारी ने सांगरूपक की योजना करते हुए नायिका के मस्तक पर लगे हुए आड़े तिलक में धनुष की प्रत्यंचा का, नायिका की भृकुटी में धनुष का, कामदेव में बधिक का, युवकों में मृग का, नायिका के तिलक में वाण का और नायिका की नासिका पर लगे हुए नुकीले तिलक में वाण के फल का आरोप करके बिहारी ने इस छोटे से दोहे में बड़े ही सजीव ढंग से नायिका द्वारा युवकों को आकृष्ट करने के व्यापार का वर्णन किया है।[2] इसमें बिहारी ने कामदेव को वधिक बनाकर नायिका को वह साधन बनाया है, जिसके द्वारा कामदेव युवकों को मोहित किया करता है। ऐसी ही सफल योजना बिहारी के उस दोहे में मिलती है, जहाँ बिहारी ने नायिका के मस्तक पर लगे हुए लाल बिन्दु में मंगल का, मुख में चन्द्रमा का, केसर की पीली आड़ में वृहस्पति का, नारी में राशि का और नायक के नेत्रों में जगत् का आरोप करके एक सजीव सांगरूपक की योजना की है।[3] इसमें विशेषता यह भी है कि विहारी ने रंगों का भी वड़ा ध्यान रखा है और ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार जब चन्द्रमा, मंगल और बृहस्पति एक ही राशि पर आ जाते हैं, तब जिस प्रकार घोर वर्षा होती है, उसी प्रकार यहाँ नायिका के सिंदूर-बिन्दु, सुन्दर मुख एवं केसर की आड़ ने नायक के नेत्रों को रसमय कर दिया है।

विहारी की समास-पद्धति में दूसरी विशेषता यह है कि बिहारी ने बड़े-बड़े प्रसंगों को छोटे से एक ही दोहे में लाकर बड़ी सफलता के साथ नियोजित कर दिया है। उदाहरण के लिए, विहारी का वह दोहा ले सकते हैं, जिनमें इन्द्र के कोप से ब्रज-वासियों की रक्षा करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण का अपने हाथ पर गोवर्द्धन पर्वत धारण करने का वर्णन किया गया है। वहाँ बिहारी ने दिखाया है कि जिस समय

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २४७।

[2] खौरि-पनच भृकुटी-धनुषु, बधिक-समरु, तजि कानि।
हनतु तरुन-मृग, तिलक-सर, सुरक-भाल भरि तानि॥

[3] मंगल बिंदु सुरंगु, मुखु-ससि, केसरि-आड़-गुरु।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन जगत॥

श्रीकृष्ण गोवर्द्धन पर्वत को अपने हाथ पर धारण करते है, उसी समय उन्हें राधिकाजी सामने दिखाई दे जाती हैं। उन्हें देखते ही 'कंप' नामक सात्विक भाव के कारण श्रीकृष्ण का वह हाथ डगमगा जाता है, जिस पर गोवर्द्धन पर्वत उठा रखा है और इससे वह पर्वत भी डगमगाने लगता है। इस डगमगाहट को देखकर समस्त ब्रजवासी घबड़ा उठते हैं और उनकी घबड़ाहट देखकर श्रीकृष्ण भी लज्जित हो जाते हैं।[1] अब इतने बड़े प्रसंग को एक छोटे से दोहे में लाकर संगुम्फित कर देना यही बिहारी की निपुणता है। ऐसे ही एक और लम्बे प्रणय-प्रसंग को बिहारी ने अपने छोटे से दोहे में संगुम्फित किया है, जिसमें नायिका ने प्रणय-मान किया है और नायक उसे मनाकर हार गया हैं, किन्तु वह मान नहीं छोड़ पाई है, तब नायक चुपचाप सोने का बहाना करके लेट गया है। नायिका अब यह सोच रही है कि यह तो सो ही गया है, अब मैं अपना मान भी नहीं छोड़ूँ और चुपके से इसके मुख-चुम्बन का सुख भी लूट लूँ। इसलिए वह पास जाकर चुपचाप प्रियतम का मुख चूम लेती है। नायक तो बहाना बनाये पड़ा ही है। इसलिए उसके मुख चूमने पर वह झट हँस पड़ता है, क्योंकि कहाँ तो यह अभी तक मनाने पर भी नहीं मान रही थी और अब स्वंय आकर मुख चूम रही है। इस पर नायिका खिसिया जाती है, तब नायक उसके गले में बाँह डाल देता है और नायिका तुरन्त उससे लिपट जाती है।[2] इतने बड़े प्रसंग को बिहारी अपने छोटे से दोहे में बड़ी सफाई के साथ प्रस्तुत करते हैं।

बिहारी की समास-पद्धति में तीसरी विशेषता यह है कि बिहारी ने विभिन्न व्यापारों का वर्णन बड़ी निपुणता के साथ एक छोटे से ही दोहे में कर दिया है। इसके लिए अन्य रीतिकालीन कवियों ने बड़े-बड़े सवैया एवं कवित्त लिखे हैं, फिर भी इतने व्यापारों को वे एक स्थान पर नहीं ला पाये हैं, जबकि बिहारी ने बड़ी सफलता के साथ विभिन्न व्यापारों की योजना एक ही दोहे में की है। उदाहरण के लिए, बिहारी का वह दोहा लिया जा सकता है, जिसमें राधाजी वार्त्तालाप का आनन्द लूटने के लिए श्रीकृष्ण की मुरली छिपाकर रख देती हैं। जब श्रीकृष्ण राधा से पूछते हैं कि तुमने मेरी मुरली तो नही छिपाई है, तब वे झट सौगन्ध खा जाती हैं और इस सौगन्ध द्वारा मुरली के न होने का भाव व्यक्त कर देती हैं, किन्तु जब कृष्ण जाने लगते हैं, तब उन्हें लक्ष्य करके भौंहों में मुस्कराने लगती हैं, जिससे कृष्ण को उन पर पुनः संदेह हो जाता है। इस पर कृष्ण लौट पड़ते हैं और राधा से मुरली देने के लिए कहते हैं, परन्तु राधा फिर मुकर जाती हैं और कह देती हैं कि मैंने तो आपकी मुरली देखी ही नहीं।[3] इस

---

[1] डिगति पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल ।
कंपि किसोरी दरसि कै खरैं लजाने लाल ।।

[2] मैं मिसहा सोयौ समुझि मुँहु चूम्यौ ढिग जाइ ।
हँस्यौ, खिसानी, गल गह्यौ, रही गरैं लपटाइ ।।

[3] बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाई ।
सौंह करैं, भौंहनु हँसै, देन कहै, नटि जाइ ।।

प्रकार के विभिन्न व्यापारों का वर्णन एक स्थान पर करके बिहारी ने सजीव समास-पद्धति का प्रयोग किया है।

बिहारी की समास-पद्धति में चौथी विशेषता यह भी है कि पौराणिक एवं ऐतिहासिक प्रसंगों से सम्बन्ध स्थापित करते हुए बिहारी ने नायिकाओं की स्थितियों का संक्षिप्त किन्तु मार्मिक वर्णन किया है। उदाहरण के लिए, बिहारी ने एक पूर्वानुरागिनी नायिका के प्रेम की सचाई का वर्णन करने के लिए उसका सम्बन्ध सीताजी की अग्नि-परीक्षा से स्थापित किया है और लिखा है कि जिस तरह सीताजी दशमुख रावण के वश में रही थीं, उसी तरह नायिका संकोच के वश में रही है और जिस तरह सीताजी ने अपने सत्य की परीक्षा के लिए अग्नि में अपने शरीर का शोधन किया था, उसी तरह वह नायिका रात-दिन विरहाग्नि में जलती हुई अपने प्रेम की सत्यता प्रकट कर रही है।[1] इस प्रकार समता देते हुए बिहारी ने सजीव समास-पद्धति का प्रयोग किया है।

बिहारी की समास-पद्धति में पाँचवीं विशेषता यह भी है कि जिस तरह बिहारी ने उपमा, रूपक या सांगरूपक आदि सादृश्यमूलक अलंकारों द्वारा लम्बे-लम्बे प्रसंगों का छोटे से दोहे में विधान किया है, उसी तरह असंगति, विरोधाभास आदि विरोधमूलक अलंकारों द्वारा भी सुन्दर प्रसंग-विधान किया है, जिससे दोहे में चमत्कार के साथ-साथ चारुता भी आ गई है। उदाहरण के लिए, बिहारी ने असंगति अलंकार द्वारा एक बड़े सुन्दर एवं विस्तृत प्रसंग को दोहे की दो पंक्तियों में कौशलपूर्वक निबद्ध करते हुए लिखा है कि प्रेम-व्यापार में दो प्रेमियों के प्रायः नेत्र तो उलझा करते हैं, किन्तु परिवार के लोगों में कहा-सुनी के कारण कुटुम्ब टूट जाते हैं। इतने पर भी जो वस्तु टूटती है वही फिर जोड़ी जाती है। किन्तु यहाँ चतुरों के चित्त जुड़ा करते हैं और जोड़ी जाने वाली वस्तुओं में ही गाँठ पड़ा करती है, किन्तु यहाँ दुर्जन के हृदय में गाँठ पड़ा करती है। इस तरह विधाता ने इस प्रेम-व्यापार की एक विलक्षण रीति बना दी है।[2] इसी तरह विरोधाभास अलंकार द्वारा प्रसंग-विधान करते हुए बिहारी ने कई वस्तुओं को एक स्थान पर लाकर उपस्थित कर दिया है और उन सब की समान विशेषता बताते हुए लिखा है कि तन्त्री नाद, कवित्त-रस, सरस राग और रति-क्रीड़ा में जो अनबूड़े हैं अर्थात् पूर्ण रूप से प्रविष्ट नहीं हुए हैं, वे

---

[1] बसि संकोच-दसबदन-बस, साँचु दिखावति बाल।
सिय लौं सोधति तिय तनहिं, लगनि अगिनि की ज्वाल॥

[2] दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हियँ, दई नई यह रीति॥

तो डूब जाते हैं; अर्थात् कोई आनन्द प्राप्त नहीं करते हैं, किन्तु इनमें जो पूर्णरूप से डूब जाते हैं वे तर जाते हैं, अर्थात् उन्हें ही अभीष्ट आनन्द की प्राप्ति होती है।[1]

विहारी की समास-पद्धति में छठी विशेषता यह भी है कि विहारी ने समासोक्ति, अन्योक्ति आदि वस्तुव्यंजनामूलक अलंकारों द्वारा भी बड़े-बड़े प्रसंगों का संक्षेप में बड़ी कुशलतापूर्वक विधान किया है। उदाहरण के लिए, बिहारी ने एक नवयौवना मुग्धा नायिका से मिलने के लिए उत्सुक नायक को समझाने के लिए एक भ्रमर की क्रीड़ाओं का संकेत देकर समासोक्ति अलंकार के सहारे बताया है कि देखिए, रसीले कुसुम पर भौंरा पहले मँडराता रहता है, कभी झुककर तथा झपट कर उससे एकाएक लिपट नहीं जाता। वह उस पुष्प का अत्यन्त सुकुमार शरीर देखकर उसका स्पर्श करने में भी अपने मन के अन्तर्गत विश्वास नहीं करता, क्योंकि उसे यह आशंका रही आती है कि यह सुकुमार कुसुम मेरे भार को सहन नहीं कर पायेगा।[2] इसी प्रकार विहारी ने दूसरे अन्योक्ति अलंकार का सहारा लेकर भी बड़ा ही सजीव प्रसंग-विधान किया है। ऐसा कहा जाता है कि जब विहारी सर्वप्रथम मिर्जा राजा जयशाह के दरवार में जयपुर पहुँचे, तब राजा अपनी नवयौवना नई रानी में रातदिन अनुरक्त रहे आते थे और राज-काज तक नहीं देखा करते थे, तब बिहारी ने राजा को सचेत एवं सावधान करने के लिए अन्योक्तिमूलक यह प्रसंग लिखकर दोहे में भेजा कि न तो अभी इसमें पराग है, न मधुर मधु है और न अभी पूर्ण विकास ही हुआ है। हे भ्रमर! तू अभी इस कली ही से ऐसा विंधा हुआ है, तो आगे चलकर तेरी क्या दशा होगी?[3] जिसका अभिप्राय यह था कि अभी तो इस नवयौवना रानी में न तो जवानी की रंगत है, न सरसता ही है और न इसके अंग-प्रत्यंगों का पूर्ण विकास ही हुआ है। हे राजन्! यदि ऐसी मुग्धा नायिका में अपना सब कर्त्तव्य छोड़कर तुम दिन-रात लवलीन रहे आते हो, तो आगे चलकर जव यह पूर्ण युवती होगी, तब तुम्हारा क्या हाल होगा? इस तरह बिहारी ने अपनी समास-पद्धति द्वारा जीवन-सुधार का उपदेश भी दिया है और काव्य-कौशल भी प्रकट कर दिया है।

विहारी की समास-पद्धति में सातवीं विशेषता यह भी है कि वे बड़ी-बड़ी पौराणिक कथाओं को एक छोटे से ही दोहे में निबद्ध कर देते हैं। जैसे रुक्मिणी-हरण की कथा वड़ी लम्वी एवं विस्तृत है, किन्तु बिहारी ने रुक्मिणी-हरण के समय का वड़ा ही मार्मिक निरूपण करके इस कथा का संक्षेप में सजीव चित्रण किया है।

---

१. तंत्री-नाद, कवित्त-रस, सरस राग, रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग॥

२. सरस कुसुम मँडरात अलि, न झुकि झपटि लपटातु।
दरसत अति सुकुमार तनु, परसत मन न पत्यातु॥

३. नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहिं काल।
अली, कली ही सौं विंध्यौ, आगें कौन हवाल॥

रुक्मिणी का पाणिग्रहण करने के लिए शिशुपाल आया हुआ है और कृष्ण के भय से उसके साथ जरासंध, वाणासुर आदि भी युद्ध के लिए तैयार होकर आए हैं। उधर कृष्ण अकेले आकर कुण्डिनपुर में ठहर गये हैं। रुक्मिणी देवी-पूजन के लिए बाहर मन्दिर में आती हैं। चारों ओर शिशुपाल तथा उसके सहायकों की सेनाएँ सुरक्षा के लिए लगा दी गई हैं। उधर कुण्डिनपुर की सेना भी रुक्मिणी की सुरक्षा के लिए सुसज्जित खड़ी है। देवी के मन्दिर में आकर रुक्मिणी पूजन करती हैं और भगवान् कृष्ण को पति के रूप में प्राप्त करने के लिए देवी से वरदान माँगती हैं। उसी समय तुरन्त कृष्ण आ उपस्थित होते हैं। इसी क्षण का वर्णन करते हुए विहारी कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने आते ही तुरन्त सिंह की सी गर्जना करके अपनी ललकार सुनाई, जिसे सुनकर सेना के घेरे में बन्द रुक्मिणी सब की ओर देखकर व्यंग्यपूर्वक हँस पड़ीं।[1] यहाँ रुक्मिणी इसीलिए सबका उपहास करती हुई हँसीं कि वे जानती थीं कि श्रीकृष्ण के सामने इनमें से कोई भी योद्धा ठहर नहीं सकेगा और श्रीकृष्ण सम्पूर्ण सेना के मध्य में से भी मुझे अवश्य ले जायेंगे। इसी तरह बिहारी ने 'प्रलय करन बरसन लगे'[2] दोहे में गोवर्द्धन-धारण की कथा को संक्षेप में कहा है तथा 'हरी पूतना अरु दियौ जग मुँह जग दिखराइ'[3] में पूतना-वध तथा विराट् रूप के दर्शन की कथा का वर्णन किया है।

इस प्रकार विहारी ने 'थोड़े में बहुत' कहते हुए अथवा 'गागर में सागर' भरते हुए समास-पद्धति द्वारा जो कौशल प्रकट किया है, वही बिहारी की ख्याति का मूलाधार है। इस पद्धति द्वारा न केवल भाषा में रमणीयता एवं प्रांजलता का समावेश हुआ है, अपितु दोहा जैसे छोटे से छन्द में भाव-गांभीर्य एवं वाग्वैदग्ध्य की भी पर्याप्त मात्रा में में सृष्टि हुई है। निस्सन्देह बिहारी अपनी इसी समास-पद्धति द्वारा कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ-साथ सरल एवं भावाभिव्यंजक मुक्तक लिखने में पूर्ण सफल हुए हैं।

बिहारी की बहुज्ञता

आचार्य मम्मट ने काव्य के हेतुओं की चर्चा करते हुए लिखा है कि "एक तो कविता रचने की शक्ति, दूसरे लोक और शास्त्र आदि के अध्ययन से उत्पन्न चतुरता, तीसरे काव्य जानने वालों द्वारा शिक्षा पाकर अभ्यास करना—ये तीनों बातें काव्य की

---

[1] नाह गरजि, नाहर-गरज बोलु सुनायो टेरि।
फँसी फौज में बन्दि बिच हँसी सबनु तनु हेरि॥

[2] बिहारी-रत्नाकर, दोहा सं० ५४१।

[3] वही (उपकरण—२,) दोहा सं० ८१।

उत्पत्ति में हेतु होती हैं।''[१] इसमें से प्रथम हेतु 'शक्ति' बताई गई है, जिसका तात्पर्य प्रतिभा से है, जो कि ईश्वर-प्रदत्त होती है, किन्तु कोरी प्रतिभा से ही किसी सुन्दर काव्य का निर्माण नहीं होता। इसके लिए किसी कवि को लोक और शास्त्रादि का ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक माना गया है। इसी ज्ञान के आधार पर वह सुन्दर, सरस एवं सटीक काव्य की रचना कर सकता है। इसीलिए किसी कवि के पांडित्य एवं बहुज्ञता के लिए लोक एवं शास्त्र आदि का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। बिहारी ने भी लोक एवं शास्त्र का अत्यधिक ज्ञान प्राप्त किया था। अत: अब बिहारी की बहुज्ञता अथवा पांडित्य का अध्ययन करने के लिए सुगमता की दृष्टि के उनके ज्ञान को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) लोक सम्बन्धी ज्ञान, और (२) विविध शास्त्रों का ज्ञान।

(१) **लोक सम्बन्धी-ज्ञान**—बिहारी में अद्‌भुत प्रतिभा विद्यमान थी। परन्तु उस प्रतिभा को सुव्यवस्थित एवं सुगठित रूप देने के लिए बिहारी ने लोक का बड़ी गहराई के साथ अध्ययन किया था। 'काव्य-प्रकाश' में लोक से तात्पर्य उन सभी व्यापारों से बताया गया है, जो स्थावर, जंगम अथवा चराचर पदार्थों से सम्बन्ध रखते हैं।[२] इसके अन्तर्गत विविध लौकिक क्रियाएँ एवं सर्वसाधारण के व्यापार आते हैं, जो नित्यप्रति समाज में चलते रहते हैं। बिहारी ने इन लौकिक क्रियाओं, खेलों, आमोद-प्रमोदों आदि का निकट से अध्ययन किया था। इसी कारण 'बिहारी सतसई' में स्थान-स्थान पर बिहारी के लोक-ज्ञान की छाप विद्यमान है। अपने लोक-सम्बन्धी ज्ञान के आधार पर ही बिहारी कहीं पतंगबाजी का वर्णन करते हैं,[३] तो कहीं गिरहबाज कबूतर की उड़ान का उल्लेख करके कबूतरबाजी का वर्णन करते हैं।[४] ऐसे ही कहीं पोलो की भाँति घोड़े पर चढ़कर खेले जाने वाले 'चौगान' नामक खेल का वर्णन मिलता है,[५] तो कहीं राजा और नवाबों में प्रचलित आखेट के मनोरंजन खेल का उल्लेख मिलता है।[६]

---

१. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्‌भवे॥
—काव्यप्रकाश, ३।

२. लोकस्य स्थावरजंगमात्मकलोकवृत्तस्य—वही, ३।

३. दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन विस्तारन काल।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि चंग रंग भूपाल॥

४. ऊँचु चितै पराहियतु गिरह कबूतर लेतु।
झलकति दृग मुलकित बदनु तनु पुलकित किहिं हेतु॥

५. सरस सुमिल चित-तुरंग की करि करि अमित उठान।
गोइ निबाहैं जीतियै खेलि प्रेम चौगान॥

६. खेलन सिखए अलि भलै चतुर अहेरी-मार।
कानन-चारी नैन-मृग नागर नरनु शिकार॥

ऐसे ही कहीं -आंख-मिचौनी' के प्रसिद्ध मनोरंजक खेल का वर्णन आया है,[१] तो कहीं जन-साधारण में लोक-प्रिय 'नट के खेल' का उल्लेख मिलता है ।[२] इसी प्रकार बिहारी के दोहों में कहीं 'गान-विद्या' का सजीव चित्रण मिलता है,[३] तो कहीं विविध अंग-भंगिमाओं के साथ अत्यन्त सरस, सजीव एवं लोक-प्रिय 'नृत्य-कला' का वर्णन मिलता है।[४] ऐसे ही कहीं बिहारी में 'लट्टू फिराने' का वर्णन मिलता है,[५] तो कहीं 'फिरकनी घुमाने' का उल्लेख मिलता है[६] और कहीं 'चकई फिराने' का वर्णन भी मिलता है ।[७] ऐसे ही कहीं जल-क्रीड़ा का उल्लेख आया है,[८] तो कहीं फागुन के महीने में होली खेलने अथवा गुलाल मलने का वर्णन मिलता है ।[९] इतना ही नहीं, बिहारी को विभिन्न पुष्पों का भी अच्छा ज्ञान था, इसीलिए एक ही दोहे में लपटइया (इश्कपेंच), मोगरा, सोनजुही, कमल (निशिसैन), चंपावरणी (पणी), गुल्लाला, नैन (पंचनैना) आदि पुष्पों का वर्णन करके मुद्रालंकार द्वारा बड़ा ही सुन्दर भाव व्यक्त किया गया है ।[१०] इसी तरह बिहारी ने कहीं 'सेंहुड़ कौ सी आँकु' कहकर सैहुड़ वृक्ष का, कहीं 'सूरन लौ मुहुँ लागि' कहकर सूरण या जमींकन्द का तथा कहीं 'जिये मतीरनु सोधि' कहकर मारवाड़

---

१. दोऊ चोर मिहीचनी खेल न खेलि अघात ।
दुरत हियैं लपटाइ कै, छुवत हियै लपटात ।।

२. फूले फुदकत लै फरी, पल कटाच्छ-करवार ।
करत बचावत बिय-नयन-पाइक घाइ हजार ।।

३. सुरति न तालन तान की उठ्यो न सुरु ठहराइ ।
ए री रागु बिगारि गौ बैरी बोलु सुनाइ ।।

४. सब अँग करि रागी सुघर नाइक नेह सिखाइ ।
रसजुत लेसि अनंत गति पुतरी पातुरराइ ।।

५. झटकि चढ़ति उतरति अटा, नैंक न थाकति देह ।
भई रहति नट कौं बटा, अटकी नागर-नेह ।।

६. नई लगनि कुल की सकुच विकल भई अकुलाइ ।
दुहूँ ओर ऐंची फिरति, फिरिकी लौं दिनु जाइ ।।

७. इततैं उत, उत तैं इतै, छिनु न कहूँ ठहराति ।
जक न परति, चकई भई, फिरि आवति फिरि जात ।।

८. छिरके नारि नवोढ़ दृग, कर पिचकी जल जोर ।
रोचन रंग लाली भई बिय तिय लोचन कोर ।।

९. पीठि दियें ही नैक मुरि, कर घूँघट पटु डारि ।
भरि गुलाल की मूठि तिय, गई मूठि सी मारि ।।

१०. कत लपटइयतु मो गरैं, सो न जुही निस सैन ।
जा चम्पक वरनी किए, गल्लाला रंग नैन ।।

में होने वाले मतीरे या तरबूजे का भी वर्णन किया है। इतना ही नहीं, बिहारी ने जनता में प्रचलित अन्धविश्वाओं, जादू-टोनों आदि का भी वर्णन किया है। इसलिए कहीं बिहारी 'वाही त्यौं ठहराति यह कवितनवी लौं दीठि' कहकर उस कटोरी का वर्णन करते हैं, जो उस समय प्रायः किसी की चोरी का भेद खोलने के लिए पानी से भरकर मंत्र द्वारा चलाई जाती थी तथा 'छनकु छ्वाइ छवि-गुर-डरी छले छबीले छैल' कहकर बिहारी ने उस अभिमन्त्रित गुड़ की डली की ओर संकेत किया है, जिसे दिखाकर ठग लोग किसी भी व्यक्ति को अपने पीछे-पीछे चलने के लिए बाध्य कर देते थे और घने जंगल में ले जाकर उसे लूट लेते थे। इस प्रकार बिहारी ने अपने दोहों में विविध प्रकार से लोक सम्बन्धी अद्‌भुत ज्ञान का परिचय दिया है।

(२) **विविध शास्त्रों का ज्ञान**—बिहारी ने विविध शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन किया था, ऐसा तो नहीं जान पड़ता, किन्तु इतना अवश्य है कि बिहारी को अनेक शास्त्रों का ज्ञान था। विशेषकर ज्योतिष-शास्त्र सम्बन्धी उक्तियाँ देखकर तो दंग रह जाना पड़ता है, क्योंकि बिहारी ने अपने दोहों में ज्योतिष के जिन गहन सिद्धान्तों की ओर संकेत किये हैं, वे बिहारी के गहन अध्ययन एवं विशेष पाण्डित्य के परिचायक हैं। 'नरपतिजयचर्या' नामक ज्योतिष-ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है कि जब चन्द्रमा, मंगल तथा बृहस्पति ग्रह किसी एक ही नाड़ी पर स्थित होते हैं तब संसार-व्यापिनी वृष्टि होती है, जिससे सारी भूमि जलमय हो जाती है।[1] बिहारी ने इसी ज्योतिष-सिद्धान्त के आधार पर अपने भी एक दोहे का निर्माण किया है, जिसमें नारी के लाल बिन्दु को मंगल, मुख को चन्द्रमा, केसर की पीली आड़ को बृहस्पति कहकर तीनों को एक ही नारी (नाड़ी) के मुख पर स्थित बताया है, जिसे देखकर लोचन रूपी जगत् रसमय हो जाते हैं।[2] ऐसे ही 'जातक संग्रह' के अन्तर्गत 'राजयोग' प्रकरण में ज्योतिष का यह सिद्धान्त मिलता है कि यदि किसी व्यक्ति के जन्म-समय तुला, धनु या मीन लग्न हो और शनिग्रह भी उस समय जन्म-राशि में हो, तो वह व्यक्ति राजा होता है।[3] बिहारी ने ज्योतिष के इसी सिद्धान्त को आधार बनाकर अपने दूसरे दोहे में लिखा है कि नायिका के नेत्र रूपी मीन-लग्न में कज्जल रूपी शनिग्रह की स्थिति पड़ जाने से इस शुभ अवसर पर नायिक-नायिका की आँखें मिलने से नायक के हृदय में स्नेह रूपी पुत्र उत्पन्न हो गया है। अब वह स्नेह रूपी पुत्र नायिका के शरीर रूपी सुदेश

---

[1] एक नाड़ी समारूढ़ौ चन्द्रमाधरणीसुतौ।
यदि तत्र भवज्जीवस्तदैकार्णविता मयी॥—नरपतिजयचर्या ३।२६

[2] मंगल-बिन्दु सुरंग, मुखु ससि केसर-आड़ गुरु।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन-जगत॥

[3] तुलाकोदण्डमीनस्थो लग्नस्थोऽपि शनैश्चरः।
करोति भूततेर्जन्म वंशे च नृपतिर्भवेत्॥
—जातक-संग्रह (राजयोग-प्रकरण), श्लोक १३।

अथवा सार्वभौम राज्य को पाकर क्यों न उसका भोग करेगा ?[1] ऐसे ही ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार सूर्य-पथ के बारह भाग माने जाते हैं और प्रत्येक भाग को राशि कहते हैं। जब सूर्य एक राशि को समाप्त करके दूसरी राशि में प्रविष्ट होता है, तब उसे दोनों राशियों की संधि-रेखा पार करनी पड़ती है। इसी संधि-रेखा के पार करने को संक्रमण या संक्रान्ति कहते हैं। सूर्य-पिण्ड के मध्य बिन्दु को इस संधि-रेखा के स्पर्श एवं त्याग करने में जितना समय लगता है, यही संक्रान्ति का 'पुण्य काल' कहलाता है। विहारी ने इसी संक्रान्ति के पुण्य काल का उल्लेख करते हुए एक दोहे में लिखा है कि उस स्त्री रूपी तिथि में इस समय युवा और किशोर दोनों अवस्थाएँ संक्रान्ति के पुण्य काल के तुल्य स्थित हैं और यह वय संधि रूपी संक्रान्ति-काल किसी व्यक्ति को बड़े पुण्य से ही प्राप्त होता है।[2] ऐसे ही कहीं विहारी ने 'इन्दु कला कुज में बसी मनौ राहुभय भाजि' कहकर चन्द्रमा की कलाओं को राहु के भय से विभक्त होकर मंगल-ग्रह में निवास करते हुए लिखा है, कहीं 'गह्यो राहु अति आहु करि मनु ससि-सूर समेत' कहकर राहु के द्वारा शशि और सूर्य दोनों के पकड़े जाने का अथवा सूर्य-ग्रहण और चन्द्र-ग्रहण का वर्णन किया है, कहीं 'सुत सनेह मानौ लियौ विधु पूरन बुध गोद' कहकर बुध को चन्द्रमा का सुत बताते हुए बुध को चन्द्रमा की गोद में स्थित लिखा है। इस तरह बिहारी ने विविध रूप में ज्योतिष सम्बन्धी सिद्धान्तों एवं मान्यताओं का निरूपण किया है।

विहारी को आयुर्वेदशास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था। इसी कारण बिहारी के दोहों में स्थान-स्थान पर आयुर्वेद-सम्बन्धी संकेत मिलते हैं। जैसे, एक दोहे में बिहारी ने 'जरी विषम जुर जाइये आय सुदरपन देहु' कहकर विषम ज्वर के समय सुदर्शन चूर्ण देने का संकेत किया है, दूसरे दोहे में 'बहु धनु लै अहसानु कै पारौ देत सराहि' कहकर नपुंसकता को दूर करने के लिए पारे के सेवन की चर्चा की है, तीसरे दोहे में 'पीनस वारै जो तज्यौ सोरा जानि कपूर' कहकर पीनस रोग की ओर संकेत किया है, चौथे दोहे में 'मैं लखि नारी-जानु' कहकर नाड़ी की परीक्षा की चर्चा की है, तथा पाँचवें दोहे में "वाकौ जुरु बलि बैद जौ तो रस जाइ जु जाइ' कहकर तीव्र ज्वर में रस देने का संकेत किया है। इस तरह बिहारी ने विभिन्न स्थलों पर अपने आयुर्वेद सम्बन्धी ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है।

बिहारी को राजनीति-शास्त्र का भी पर्याप्त ज्ञान था। बिहारी के दोहों में राजनीति से सम्बन्धित कितनी ही गूढ़ बातें दृष्टिगोचर होती हैं। जैसे, एक दोहे में

---

[1] सनि कज्जल चख-झख-लगन उपज्यौ सुदिन सनेहु।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेसु सबु देहु॥

[2] तिय-तिथि तरुन-किसोर-वय, पुन्य-काल सम दोनु।
काहूँ पुन्यनु पाइयतु, बैसु-संधि-संक्रोनु॥

बिहारी ने युद्ध-विद्या का कौशल प्रदर्शित करते हुए 'हरावल' का उल्लेख किया है। हरावल सेना का वह भाग कहलाता है, जो मुख्य सेना की सुरक्षा के लिए आगे-आगे भेजा जाता है और जिसकी आड़ लेकर मुख्य सेना शत्रु पर प्रहार किया करती है। बिहारी ने 'हलुकी फौज हरौल ज्यों परे गोल पर भीर' कहकर इसी सेना के अग्र भाग या 'हरौल' का वर्णन किया है। ऐसे ही 'राजधर्म-प्रकरण' में प्रायः राजा के सात अंग बताये गये हैं जो स्वामी, मन्त्री, कोष, मित्र, राष्ट्र, दुर्ग और बल कहलाते हैं। बिहारी ने नायिका के विभिन्न अंगों की चर्चा करते हुए राजा के उक्त अंगों की ओर भी संकेत किया है, क्योंकि 'अपने अँग के जानि कै जोबन नृपति प्रवीन' कह कर विहारी ने लिखा है कि जिस प्रकार राजा अपने सातों अंगों की वृद्धि में लगा रहता है उसी तरह यौवन ने भी नायिका के अंगों में वृद्धि करना आरम्भ कर दिया है। ऐसे ही बिहारी ने 'दुसह दुराज प्रजान कौं क्यों न बढ़ै दुःख दुन्द' कहकर एक ही राज्य में दो राजाओं के शासन से उत्पन्न होने वाले प्रजा के दुःखों एवं संघर्षों की ओर संकेत किया है।

बिहारी को यत्किंचित् गणित-शास्त्र का भी ज्ञान था। प्रायः यह कहा जाता है कि गणित में 'शून्य' या 'बिन्दी' का बड़ा महत्त्व है, किन्तु वह अपना दस गुना प्रभाव ही रखती है। बिहारी ने इसी शून्य या बिन्दी को आधार बनाकर लिखा है कि सभी लोग यह कहते हैं कि बिन्दी देने से अंक का मूल्य दस गुना हो जाता है, परन्तु नारी के ललाट पर बिन्दी देने से उसकी कान्ति अगणित गुना बढ़ जाती है[1], ऐसे ही विहारी ने गणित सम्बन्धी ज्ञान का परिचय देते हुए दूसरे दोहे में अंक के सामने बकारी खींच देने से खाली अंक के रुपया हो जाने का वर्णन करते हुए लिखा है कि नायिका के गोरे मुख पर कुटिल अलक के छूट पड़ने के कारण उसके सौन्दर्य में इस तरह वृद्धि हो गई है जिस तरह किसी अंक के सामने टेढ़ी बकारी खींच देने से उसका दाम रुपया हो जाता है। भाव यह है कि यदि अंक ८ के सामने बकारी लगा दी जाय तो वह ८) आठ रुपया हो जाता है, इसी बात को लेकर बिहारी ने अपनी अनोखी उक्ति दी है।

बिहारी ने अपने दोहों में यत्र-तत्र पुराण एवं इतिहास के ज्ञान का भी परिचय दिया है। इसी कारण कभी बिहारी 'सिय लौं सोधति तिय तनहिं' कहकर सीता की अग्नि-परीक्षा सम्बन्धी घटना की ओर संकेत करते हैं, कभी 'बलि वामन को ब्योंत सुनि' कहकर वामन द्वारा राजा बलि के छलने की ओर संकेत करते हैं, कभी 'ससि-सेखर की अकस किय सेखर सतचन्द' कहकर शिव द्वारा काम-दहन सम्बन्धी घटना का वर्णन करते हैं, कभी 'आली बाढ़त विरह ज्यों पांचाली कौ चीर' कहकर द्रौपदी के चीर-अपहरण का वर्णन करते हैं। कभी 'कुछ जानत जलथंम-विधि दुरजोधन लौं

---

[1] कहत सबैं बेंदी दियें, आँकु दस गुनौ होतु।
तिय लिलार बेंदी दियें, अगिनितु बढ़तु उदोतु॥

त' कहकर दुर्योधन की जल-स्तम्भन घटना का उल्लेख करते हैं, कभी 'सुरपति र्व हर्‌यौ हरषि गिरिधर गिरि धर हाथ' कहकर इन्द्र का कोप हरने के लिए कृष्ण' ने जो गोवर्द्धन पर्वत अंगुली पर धारण किया था, उस घटना का चित्रण करते और कभी 'उदर अघासुर के परे ज्यों हरि गाय-गुवाल' कहकर श्रीकृष्ण द्वारा ासुर के वध की घटना का वर्णन करते हैं। इस प्रकार विभिन्न पौराणिक एवं तिहासिक प्रसंगों का उल्लेख मिलने के कारण यही ज्ञात होता है कि बिहारी को राण एवं इतिहास का अच्छा ज्ञान था।

इसी प्रकार बिहारी ने 'बसै बुराई जासु तन ताही कौ सनमानु' कहकर तथा नक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय' बताकर अपने नीतिशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान परिचय दिया है, 'हौं समुझ्यौ निरधार यह जग काँचों काँच सौं' कहकर संसार के थ्यात्व का प्रतिपादन करते हुए 'एकै रूप अपार प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ' में श्वर की सर्वव्यापकता और 'चाहत पिय अद्वैतता काननु सेवत नैन' कहकर अद्वैत-द के सिद्धान्त का निरूपण करते हुए दर्शनशास्त्र के ज्ञान का परिचय दिया है तथा ोटि जतन कोऊ करो परै न प्रकृतिहिं बीच' अथवा 'बढ़त-बढ़त सम्पत्ति सलिल मन-ोज बढ़ि जाय' आदि कहकर मनोविज्ञान सम्बन्धी ज्ञान के बारे में भी अच्छा संकेत या है। इतना ही नहीं, श्रृङ्गार सम्बन्धी वर्णनों में विविध रति-क्रीड़ाओं, दन्तक्षत, क्षत आदि का वर्णन करके कामशास्त्र के ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है। इसी रण यह कहा जा सकता है कि बिहारी केवल काव्य-शास्त्र के ही मर्मज्ञ न थे, न्तु वे कामशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, राजनीति, गणित, मनोविज्ञान आदि विविध स्त्रों के भी ज्ञाता थे और इसी कारण उनकी सतसई श्रृङ्गार रस के साथ-साथ नेक स्वादों से भरी हुई है।

हारी की भाषा

बिहारी के समय में ब्रजभाषा काव्य के क्षेत्र में पर्याप्त मात्रा में छाई हुई थी। समय भारत के मध्यदेश के कवि प्रायः हिन्दी कविता के लिए ब्रजभाषा का ही हार किया करते थे। इसके अतिरिक्त बिहारी की ससुराल मथुरा में थी और वस्था तक मथुरा में ही उनका जीवन व्यतीत हुआ था। इसीलिए बिहारी ने ता के लिए ब्रजभाषा को ही चुना था। बिहारी की ब्रजभाषा शुद्ध साहित्यिक भाषा है, किन्तु उसमें यत्र-तत्र अन्य प्रचलित भाषाओं के शब्द भी मिल जाते हैं। धा की दृष्टि से बिहारी के शब्द-समूह को निम्नलिखित भागों में विभक्त कर ते हैं :

१—ब्रजभाषा के शब्द,
२—संस्कृत के शब्द,
३—प्राकृत एवं अपभ्रंश के शब्द,
४—बुन्देलखण्डी, अवधी, खड़ीबोली आदि तत्कालीन विभाषाओं के शब्द,

५—अरबी-फारसी के शब्द,
६—विचित्र एवं अप्रचलित शब्द,
७—विकृत शब्द।

(१) **ब्रजभाषा के शब्द**—विहारी की कविता में मुख्यतया ब्रजभाषा के शब्दों का ही व्यवहार हुआ है। इन शब्दों को भी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—साहित्यिक शब्द और बोलचाल के गँवार शब्द। जैसे—चुनरी, दिठौना, जोबन, आँखि, रह्यौ, पर्‌यो, लह्यौ, भौन, छवि-छाक, महँदी, पलनु, जमुहाइ, बिजुरी, सलौनी, लजौंही, हियौ, चितवनि, लसति, मुसुकाइ, बतियाँ, लुवैं आदि साहित्यिक ब्रजभाषा के शब्द हैं, जबकि हूठ्यौ, मरक, पजरै, आजुकाल्हि, पून्यौ, बुरै, ऐतन, गदराने, गोरटी, गुड़ी, बरौठें, ड्यौढ़ी, जुरु, औटे आदि ग्रामीण एवं बोलचाल के शब्द हैं, जिनका प्रयोग बिहारी के दोहों में पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

(२) **संस्कृत के शब्द**—बिहारी ने संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया है। जैसे—विषम, चित्त, अनुरागी, सम्पत्ति, बिरह-जाल, भृकुटि, धनुष, मृग, रवि, मण्डल, सुरसरि, सलिल, प्रतिविम्ब, व्रज, द्विजराज-कुल, मकराकृति, कुण्डल, सचिक्कण, किंकिणी, तन्त्रीनाद, सरस राग, सफरी, रति, सुधा-दीधिति, पावक, पत्रा, तिथि, आनन-ओप, अंग-अंग, अनंग, सुवास, महिमा, दृग सरोज, त्रिविध, जलजात, कामना, मोहन, गुरु, मंगल, कुच-गिरि, चिबुक, पति, प्रभात, प्रभा, राधिके, श्रुति, विषय तृषा, वारि, अद्वैतता, महामुनि, सुरतरु, राका, गोपीनाथ, औषधि, उच्च, प्रेम-पयोधि आदि शुद्ध तत्सम शब्द हैं। परस, उरवसी, जुगलकिशोर, वैसे, सरद, ससी, स्यामघन, छितिपाल, सीतकर, गुन, छिनदा, जद्यपि, सीतलताऽरु, जतन, रद-छद, तरुन, दीप-सिखा, सिरमौर, नवमल्ली कुसुम, ग्रीषम आदि तद्भव शब्द हैं।

(३) **प्राकृत एवं अपभ्रंश के शब्द**—यद्यपि बिहारी ने ब्रजभाषा का ही प्रयोग अधिक किया है, तथापि राजस्थान में रहने के कारण वे राजस्थान की उस डिंगल भाषा से भी परिचित थे, जिसमें प्राकृत एवं अपभ्रंश के शब्दों की बहुलता रहती है। इसीलिए कहीं-कहीं बिहारी ने कुछ प्राकृत एवं अपभ्रंश शब्दों का भी प्रयोग किया है। जैसे—लोयन, समर आदि प्राकृत के, तथा कटाच्छ, अच्छ, बिज्जु, स्वच्छ, कज्जल, विचच्छनी, द्यौस, द्याई, मुत्तिय आदि द्वित्वत्रर्ण-प्रधान शब्दों का प्रयोग मिलता है जिनकी प्रकृति अपभ्रंश के समान है।

(४) **तत्कालीन विभाषाओं के शब्द**—बिहारी के दोहों में ब्रजभाषा के अतिरिक्त उन तत्कालीन विभाषाओं के शब्द भी मिलते हैं, जो ब्रजभाषा के साथ-साथ हिन्दी-प्रदेश में विकसित हो रही थीं; इनमें से अवधी, बुन्देलखण्डी, खड़ीबोली आदि प्रमुख हैं। यहाँ पर अवधी के लीन, कीन, दीन, लजियात, पतियात, आहि आदि कई शब्द मिलते हैं। ऐसे ही बुन्देलखण्डी के स्यों (साथ), घैरु (बदनामी की बातें), कोद (ओर), चाला (द्विरागमन), गीधे (ललचाए), बीधे (उलझे), देखिबी, लखिबी आदि

कितने ही शब्दों का प्रयोग मिलता है और खड़ीवोली के चली, बैठी, उड़ी, उठी आदि कुछ रूप भी मिल जाते है, जो ब्रजभाषा में प्रायः सभी कवियों ने प्रयुक्त किये हैं।

(५) **अरबी-फ़ारसी के शब्द**—बिहारी की कविता में जनसाधारण में प्रचलित अनेक अरबी-फारसी के शब्द मिल जाते हैं। जैसे—सवी, गरूर, ताफता, इजाफा, कबूल, कविलनवी, रोज, निवाजिवौ, वदराह, चौगान, आमिर (हाकिम), जोर (अत्याचार), रकम, मलिग, बाज, जरी, गुलाब, खुस्याल (खुशहाल), खूनी, कालवूत (कालबुद), गरजनु (गरज से), पायंदाज, अकस (अक्स); बहस, आव, हौंस (हवस), फानूस (फानूस) आदि कितने ही अरबी-फारसी के शब्दों को बिहारी ने अपनाया है।

(६) **विचित्र एवं प्रचलित शब्द**—बिहारी ने कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है, जो न तो तत्कालीन ब्रजभाषा-काव्य में प्रयुक्त हुए हैं और जो न ब्रजभाषा की प्रवृत्ति से मिलते हैं। जैसे, ब्रजभाषा में प्रायः 'चितौना' क्रिया का भूतकालिक रूप 'चितयौ' वनेगा, किन्तु बिहारी ने 'इत चितई मो ओर' करकर 'चितयौ' के स्थान पर 'चितई' का प्रयोग किया है, ऐसे ही ब्रज की 'लखना' क्रिया का रूप भूतकाल में 'लख्यौ' वनेगा, किन्तु बिहारी ने 'लखी लजौंहीं नीठि' कहकर 'लख्यौ' के स्थान पर 'लखी' का प्रयोग किया है। बिहारी ने इन शब्दों का प्रयोग लिंग-भेद के कारण किया है, क्योंकि स्त्रीलिंग कर्त्ता के लिए क्रिया भी स्त्रीलिंग की वना दी है, जैसे—'राधा हँसी, सीता चली' आदि। परन्तु ब्रजभाषा की यह प्रवृत्ति नहीं है, बिहारी ने ही इसका प्रचार किया है। इतना ही नहीं, इसी आधार पर बिहारी ने 'विचारना' क्रिया का भूतकालिक रूप 'जियति बिचारी बाम' कहकर 'बिचरी' भी बना डाला है। इन प्रयोगों पर खड़ीवोली का प्रभाव जान पड़ता है।

(७) **विकृत शब्द**—बिहारी की रचना में कुछ ऐसे शब्द भी मिलते हैं, जो मनमाने ढंग से तोड़े-मरोड़े गये हैं और जिनका मूलरूप जानना भी अत्यन्त दुष्कर है। उदाहरण के लिए "नै" शब्द ले सकते हैं, जो 'वय' के सन्धिभाव द्वारा बने हुए 'वँ' शब्द के आधार पर 'नदी' शब्द को विगाड़ कर बनाया गया है। ऐसे ही 'ज्यों-ज्यों' के स्थान पर 'जज्यों' 'त्यों-त्यों' के स्थान पर 'तत्यों', 'कै कै' स्थान पर 'ककै' आदि शब्द मिलते हैं, जो शब्द के आग्रह से विकृत हो गये हैं। फिर भी बिहारी की भाषा में भूषण और देव के समान विकृत शब्द नहीं मिलते।

भाषा में ध्वन्यात्मकता—बिहारी की भाषा में ध्वन्यात्मकता पर्याप्त मात्रा में मिलती है, क्योंकि बिहारी ने ऐसे-ऐसे वर्णों का समान रूप से प्रयोग किया है, जिसमें अद्भुत वर्ण-मैत्री के कारण उस वस्तु की गति एवं ध्वनि का भी आभास मिल जाता है जिसका कि वर्णन किया जा रहा है। जैसे, बिहारी ने 'रनित भृंग घण्टावली' के साथ 'मन्द-मन्द आवतु चल्यौ कुञ्जर कुञ्ज-समीरु' कहकर वायु के मन्द-मन्द गति के साथ आने का जो वर्णन किया है, उसमें वायु की गति के साथ-साथ ध्वनि को भी ध्वनित कर दिया है। ऐसे ही बिहारी ने 'छकि रसाल-सौरभ सने मधुर माधवी गन्ध'

के साथ-साथ 'ठौर-ठौर झौंरत झँपत झौंर-जौंर मधु अन्ध' का जो वर्णन किया है, उसमें भ्रमरों के मँडराने के चित्र के साथ-साथ उनके 'गुनगुनाने' की ध्वनि का भी चित्र विद्यमान है। ऐसे दोहों में बिहारी ने वर्ण-मैत्री के साथ-साथ ध्वनि-मैत्री का भी सुन्दर प्रयोग किया है।

भाषा में माधुर्य—बिहारी की भाषा में ओज और प्रसाद-गुण तो अधिक नहीं मिलते, किन्तु माधुर्य-गुण का प्राधान्य है, जिसके परिणामस्वरूप बिहारी का प्रत्येक दोहा मधुरिमा की साकार मूर्ति बना हुआ है और बिहारी की भाषा में अनुपम रमणीयता आ गई है। वैसे भी श्रृंगार रस और माधुर्य-गुण का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। माधुर्य गुण लाने के लिए प्रायः ङ, ञ, न, म से युक्त ह्रस्व 'र' और 'न' का प्रयोग किया जाता है तथा समास का सर्वथा अभाव रहता। यदि समास का प्रयोग भी होता है तो अल्प समास वाले कोमल एवं मसृण पद ही रखे जाते हैं। बिहारी ने माधुर्य लाने के लिए अपनी भाषा में ऐसे ही शब्दों का प्रयोग किया है, जिनमें 'र' या 'न' की बहुलता है और जिनमें 'अनुस्वार' का अधिक प्रयोग हुआ है। जैसे—

रस-सिंगार मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ बिना, खंजनु, गंजनु मैन॥

भाषा में आनुप्रासिकता—बिहारी की भाषा अनुप्रास-बहुला है। उसमें बिहारी ने प्रायः एक ध्वनि एवं एक से स्वर एवं व्यंजन वाले शब्द-युग्मों का अत्यधिक प्रयोग किया है जिससे भाषा में अद्भुत गति, अनुपम धारावाहिकता एवं अनोखा प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण बिहारी के दोहे में कहीं 'झीनैं पट मैं झुलमुली झलकति ओप अपार' कहकर 'झ' और 'ल' का अनुप्रास है, कहीं मनी धनी के नेह कौं बनी छनीं पटलाज' में 'न' और 'ई' की आवृत्ति हैं, कहीं 'नभ-लाली चाली निशा चटकाली धुनि कीन, रति पाली आली अनत आए बनमाली न' में 'आ', 'ल' और 'ई' की समता दिखाई देती है और कहीं 'चमक तमक हाँसी ससक मसक झपट लपटानि' में 'म', 'प' और 'क' की आवृत्ति हुई है।

मुहावरे और लोकोक्तियाँ—बिहारी ने अपनी भाषा को लाक्षणिकता एवं गम्भीर भाव-व्यंजना से सुसज्जित करने के लिए स्थान-स्थान पर सजीव मुहावरों एवं मार्मिक लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है। प्रायः जो बात बड़े-बड़े वाक्यों से भी अच्छी तरह नहीं कही जाती, वह मुहावरे या लोकोक्ति के द्वारा संक्षेप में बड़ी मार्मिकता एवं प्रभोवोत्पादकता के साथ कह दी जाती है। इसी कारण बड़े-बड़े कवि मुहावरों की शक्ति का ज्ञान प्राप्त करके उनका सफल प्रयोग किया करते हैं। बिहारी ने भी अपनी भाषा को मार्मिक एवं सजीव बनाने के लिए मुहावरों एवं लोकोक्तियों से सुसज्जित किया है। इसीलिए कहीं 'आँगु न आँग समात' का प्रयोग मिलता है, तो कहीं 'छवै छिगुनी पहुँच्यौ गिलत' का प्रयोग किया गया है। ऐसे ही बिहारी के दोहों में 'बाढ़त विरह ज्यों पांचाली कौ चीर', 'सूधे पाय न भुन्नि परत'; 'बूड़े बहे हजार;

'गई मुठी सी मारि', 'फिरतु जु भटकत', 'कहति कनौड़ी दीठि', 'चित्त सकुचत कत ताल', 'मूढ़ चढ़ाएँऊ रहै', 'रहैं गरैं परि', 'आँखिनु आँखि लगी रहे', 'आँखि लागति नाहिं' आदि कितने ही सुन्दर एवं सजीव मुहावरों तथा सुष्ठु लोकोक्तियों का प्रयोग मिलता है।

बिहारी की भाषा में विचित्र प्रयोग—यद्यपि विहारी की भाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा है और उसमें बोलचाल के शब्दों ने भी अद्भुत रमणीयता एवं स्वाभाविकता की सृष्टि की है, तथापि विहारी के कुछ ऐसे भी प्रयोग मिलते हैं, जो अनोखे एवं विचित्र जान पड़ते हैं। जैसे, ब्रजभाषा में 'हौं' शब्द का प्रयोग कर्त्ताकारक में 'मैं' के स्थान पर होता है, किन्तु विहारी ने 'हौं इन वेची बीच ही' कर्मकारक के रूप में भी इसका प्रयोग कर डाला है। ऐसे ही 'उसास' शब्द का प्रयोग प्रायः ब्रज में पुल्लिग के अन्तर्गत ही होता है, क्योंकि यह शब्द संस्कृत के 'उछ्वास' से वना है और 'उछ्वास' 'पुल्लिग' है, किन्तु विहारी ने 'आवति रूँधि उसास' अथवा 'थकि सी रही उसासु' कहकर इसका प्रयोग स्त्रीलिंग में कर डाला है। ऐसे ही 'वायु' शब्द संस्कृत में तो पुल्लिग के अन्तर्गत आता है, परन्तु हिन्दी में सर्वत्र स्त्रीलिंग में ही प्रयुक्त होता है और विहारी ने भी एक स्थान पर 'आवति नारि नवोढ़ लौं सुखद वायु गति मन्द कहकर इसका प्रयोग स्त्रीलिंग में ही किया है, परन्तु दूसरे दोहे में 'आवतु दच्छिन देस तैं थक्यौ वटोही बाइ' कहकर उसी 'वायु' का प्रयोग पुल्लिग में भी कर डाला है। ऐसे ही 'मिठास' शब्द हिन्दी में प्रायः स्त्रीलिंग में ही प्रयोग किया जाता है, किन्तु विहारी ने 'कितौ मिठास दयौ दई' कहकर इसका पुल्लिग में भी प्रयोग कर डाला है। इसी प्रकार विहारी की भाषा में कुछ विचित्र एवं अनोखे प्रयोग भी मिल जाते हैं।

इतना होने पर भी विहारी की भाषा में अद्भुत अभिव्यंजना-शक्ति भरी हुई है। उसकी सामासिकता तो हिन्दी-क्षेत्र में विख्यात है, क्योंकि 'गागर में सागर' भरने का सर्वोत्कृष्ट गुण विहारी की भाषा में ही मिलता है। विहारी ने अपनी भाषा को मधुर वर्णों से ऐसा सुसज्जित किया है कि उसमें सरसता, सजीवता एवं धारावाहिकता के साथ-साथ अद्भुत आकर्षण-शक्ति आ गई है, जिससे विहारी के दोहे को सुनते ही कोई भी व्यक्ति सहसा उसे याद कर लेता है। उसमें लाक्षणिकता के साथ-साथ व्यंग्य भी कूट-कूटकर भरा हुआ है और मुहावरों ने उसमें प्रौढ़ता एवं प्रांजलता को भर दिया है। विहारी की भाषा के बारे में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "विहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य-रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों के शब्दों को तोड़-मरोड़ कर विकृत करने की आदत बहुतों में पाई जाती है। भूषण और देव ने शब्दों का बहुत अंग-भंग किया है और कहीं-कहीं गढंत शब्दों का व्यवहार किया है। विहारी की भाषा

इस दोष से बहुत कुछ मुक्त है ।"[1] डॉ० रामसागर त्रिपाठी का मत भी समीचीन है कि 'बिहारी की काव्य-भाषा परिमार्जित, शुद्ध तथा रमणीय है, इसमें व्यंजना की क्षमता है और प्रसाद गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है ।"[2]; अतएव यह निर्विवाद सत्य है कि बिहारी का भाषा पर पूर्ण अधिकार था, उन्होंने थोड़े में वहुत कहकर भाषा को ऐसे सजीव साँचे में ढाला है कि उसमें भावों के वहन करने की अपूर्व शक्ति आ गई है । इसी कारण बिहारी की भाषा में सांकेतिकता, लाक्षणिकता, प्रौढ़ता एवं प्रांजलता के साथ साथ अनुपम सौष्ठव एवं अद्भुत सामर्थ्य विद्यमान है ।

बिहारी की लोकप्रियता

बिहारी ने केवल एक ही मुक्तक काव्य लिखा है, जो 'विहारी सतसई' के नाम से प्रसिद्ध है और जिसमें ७०० से कुछ अधिक दोहे हैं । परन्तु यह मुक्तक-काव्य हिन्दी में अन्य सभी मुक्तकों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय है, जनसाधारण में यही काव्य अधिक रुचि के साथ पढ़ा जाता है और इस काव्य का प्रभाव भी अन्य सभी काव्यों की अपेक्षा अधिक दिखाई देता है । इसका मूल कारण यह है कि विहारी का मुक्तक-काव्य विविध प्रकार की विशेषताओं से ओत-प्रोत है । अतएव बिहारी की लोकप्रियता का अध्ययन करने के लिए उसकी विशेषताओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(क) अनुभूतिगत विशेषताएँ और (ख) अभिव्यक्तिगत विशेषताएँ ।

(क) अनुभूतिगत विशेषताएँ—बिहारी अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। उनकी उद्भावना एवं कल्पना-शक्ति अत्यधिक बढ़ी-चढ़ी थी और वे भावों के अन्तस्थल में प्रवेश करके दोहे जैसे से छन्द में भावों की बंदिश किया करते थे। इसीलिए उनका प्रत्येक दोहा अद्भुत माधुर्य, अनुपम सौन्दर्य एवं अद्वितीय चमत्कार से परिपूर्ण दिखाई देता है । इन दोहों में कवि की अलौकिक प्रतिभा के साथ-साथ गहन अनुभूति भी भरी हुई है । इसी कारण बिहारी के दोहों में निम्नलिखित अनुभूतिगत विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं :—

(१) इनमें भावों की सुकुमारता के साथ श्रृंगार के संयोग एवं वियोग पक्षों का सजीव निरूपण हुआ है, जिनमें से वियोग में विरह की अतिशयता का चित्रण कहीं-कहीं हास्यास्पद हो गया है, किन्तु संयोग-वर्णन अत्यधिक सुष्ठु एवं सुन्दर है।

(२) इनमें तत्कालीन विलास-प्रिय समाज की मनोरम झाँकी अंकित है, जिसमें राजपूती शान के साथ-साथ मुगलों के वैभव-सम्पन्न विलासी जीवन तथा तत्कालीन दरबारों की शान-शौकत के मनोरंजक दृश्य भी विद्यमान हैं ।

(३) इनमें तत्कालीन सामाजिक स्थिति के साथ-साथ राजनीतिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का सफल चित्रण हुआ है ।

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २५० ।

[2] बिहारी-मीमांसा, पृ० ३०८ ।

(४) इनमें आरम्भ से लेकर अन्त तक सम्पूर्ण रचना-विधान रीतिबद्ध है। इसी कारण इसके अन्तर्गत श्रृंगार रस के 'रति' स्थायीभाव से लेकर सम्पूर्ण आलम्बन एवं उद्दीपन विभाव, रोमांच; स्वेद, कम्प, प्रेमालाप आदि विविध कायिक, वाचिक एवं मानसिक अनुभाव, उग्रता, मरण और जुगुप्सा को छोड़कर सभी संचारीभाव, विभिन्न काम-दशायें आदि वर्णित हैं।

(५) इनमें लक्षण-ग्रन्थ रचने की परम्परा को छोड़कर स्वतन्त्र मुक्तकों द्वारा काव्य-शास्त्र का बोध कराने का सुन्दर श्रीगणेश मिलता है।

(६) इनमें श्रृङ्गार के साथ-साथ भक्ति एवं नीति-सम्बन्धी बड़ी ही मार्मिक एवं स्वाभाविक उक्तियाँ भरी हुई हैं।

(७) इनमें तत्कालीन विलासिता, कामुकता, नखशिख, नायिका-भेद, षड्ऋतु आदि विविध वर्ण्य-विषयों को स्वतन्त्र रूप में अपनाया गया है।

(८) इनमें रसात्मकता, भावात्मकता एवं अनुभावों की गूढ़ मार्मिकता कूट-कूटकर भरी हुई है। इसलिए बिहारी का प्रत्येक दोहा नावक के तीरों की भाँति छोटा होकर भी गम्भीर घाव करने में समर्थ माना जाता है।

(९) इनमें प्रकृति के उद्दीपक चित्रों के अतिरिक्त प्रकृति के स्वतन्त्र एवं उन्मुक्त चित्र भी अंकित हैं, जिनमें कवि ने सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है।

(१०) इनमें बिहारी ने अपने पूर्ववर्ती हाल, अमरुक, गोवर्द्धनाचार्य आदि कवियों के भावों को लेकर भी कुछ ऐसी विलक्षणता एवं अलौकिकता की सृष्टि की है कि इन दोहों में सर्वत्र मौलिकता के दर्शन होते हैं।

(११) इनमें से रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं कि जिनसे पाठकों की हृदय-कलिका अनायास खिल उठती है और सहृदयजन रस-विभोर हो जाते हैं।

(१२) इनमें कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ-साथ भावों की रमणीयता एवं मधुरता विद्यमान है।

(१३) इनमें ध्वनि का प्राधान्य होने के कारण वस्तु-व्यंजना एवं अलंकार-व्यंजना के साथ-साथ मनोरम रस-व्यंजना या भाव-व्यंजना के भी दर्शन होते हैं।

(१४) इनमें कहीं-कहीं व्यंग्यार्थ को पुष्ट करने के लिए क्लिष्ट कल्पनाएँ भी की गई हैं, किन्तु उन क्लिष्ट कल्पनाओं में भी चमत्कार के साथ-साथ सरसता एवं गहन अनुभूति विद्यमान है।

(१५) इनमें सरस भावमयी उद्भावनाओं के साथ-साथ उपदेशात्मक एवं शिक्षाप्रद सूक्तियाँ भी मिलती हैं, जिनमें वर्णन-वैचित्र्य के साथ-साथ लोक-व्यवहार एवं नीति सम्बन्धी अनेक बातों का समावेश हुआ है।

(ख) **अभिव्यक्तिगत विशेषताएँ**—बिहारी की अनुभूति जितनी गहन एवं गम्भीर तथा उत्कृष्ट एवं उदात्त थी, उतनी ही गम्भीर एवं उत्कृष्ट उनकी अभिव्यक्ति

भी दिखाई देती है। इस गम्भीर अभिव्यक्ति के सहारे विहारी ने छोटे से दोहा छ में इतने विशद भाव भर दिये हैं कि जिन्हें देखकर वड़े-वड़े विद्वान् दंग रह जाते हैं और दोहों की कसावट, चुस्ती एवं समास-शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। सामान्य रूप से बिहारी की लोकप्रियता का मुख्य कारण ब्रिहारी की सफल अभिव्यक्ति ही है, जिसमें निम्नलिखित विशेषताएँ विद्यमान हैं :—

(१) बिहारी की भाषा में माधुर्य एवं लालित्य के साथ-साथ प्रौढ़ता एवं प्रांजलता विद्यमान है और सरसता एवं स्वाभाविकता के साथ-साथ अद्भुत अभिव्यंजना शक्ति भरी हुई है।

(२) बिहारी की भाषा में भाव-प्रेषणीयता का उत्कृष्ट गुण विद्यमान है, इसी कारण बिहारी का प्रत्येक दोहा हृदय पर सीधा प्रहार-सा करता हुआ मर्म को भेद देता है।

(३) बिहारी की भाषा में अनुपम समास-शक्ति के दर्शन होते हैं, जिसके फलस्वरूप बिहारी ने 'गागर में सागर' भरते हुए छोटे-छोटे दोहों को रस का अद्भुत भण्डार बना दिया है।

(४) बिहारी की वाक्य-रचना व्यवस्थित है, शब्दों का प्रयोग एक निश्चित प्रणाली पर हुआ है और शब्दों को मनमाने ढंग से कम तोड़ा-मरोड़ा गया है।

(५) बिहारी की व्रजभाषा में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, अवधी, बुन्देलखण्डी, अरबी-फारसी आदि भाषाओं के शब्दों का समावेश होते हुए भी भाषा का ऐसा चलता रूप विद्यमान है, जिसमें उसमें अद्भुत धारा-प्रवाह एवं अनुपम गति आ गई है।

(६) विहारी की भाषा में अनुपम उक्ति-वैचित्र्य एवं वाग्वैदग्ध्य के दर्शन होते हैं, क्योंकि यहाँ कवि ने वक्रोक्ति के साथ-साथ सुन्दर मुहावरों एवं लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है।

(७) बिहारी के दोहों में वर्ण-मैत्री (स्वर-मैत्री एवं व्यंजन मैत्री), शब्द-मैत्री एवं ध्वन्यात्मकता के साथ-साथ अनुपम नाद-सौंदर्य एवं अनुरणन-शक्ति विद्यमान है, जिसमें उन्हें सुनते ही उनके अर्थ से समज-सम्पर्क स्थापित हो जाता है।

(८) बिहारी के दोहों में चित्रोपमता का गुण भरा हुआ है, जिससे प्रत्येक दोहे में एक-एक स्वाभाविक शब्द चित्र दिखाई देता है।

(९) बिहारी की भाषा अनुप्रासमयी एवं अनुनासिक वर्णों से संयुक्त होने के कारण शृंगार-रस के सर्वथा अनुकूल है तथा वह परिमार्जित, प्रौढ़ एवं प्रसाद-गुण से भरी हुई है।

(१०) बिहारी की अलंकार-योजना बड़ी सरस एवं स्वाभाविक है, उसमें बिहारी की निपुणता एवं विदग्धता विद्यमान है तथा सर्वत्र भावानुकूल अलंकारों का

प्रयोग होने के कारण बिहारी की सभी उक्तियाँ अत्यन्त मार्मिक एवं आकर्षक हो गई हैं।

(११) बिहारी ने असंगति, विरोधाभास आदि अलंकारों में भी रसाभिव्यंजना की सृष्टि अवश्य की है, किन्तु बिहारी के चमत्कारमूलक अलंकारों में भी रसाभिव्यंजना भरी हुई हैं। इसी कारण बिहारी को रसाभिव्यंजनामूलक अलंकारों के प्रयोग में अत्यन्त निपुण माना जाता है।

(१२) बिहारी की उक्तियों में अद्भुत उक्ति-वैचित्र्य के साथ-साथ प्रौढ़ चमत्कार के भी दर्शन होते हैं, जिसके फलस्वरूप कहीं शब्द-चमत्कार, कहीं अर्थ-चमत्कार, कहीं रसगत चमत्कार, कहीं अलंकारगत चमत्कार, कहीं शब्दार्थगत और कहीं सूक्तिव्यापी चमत्कार के दर्शन होते हैं। इतना ही नहीं, कहीं उनमें अविचारित रमणीय चमत्कार विद्यमान है, जिससे पाठक बिहारी के चमत्कार को अनायास ही समझ जाता है और उसे विचार नहीं करना पड़ता तथा कहीं विचार्यमाण रमणीय चमत्कार भी विद्यमान है, जिसमें चमत्कार सहसा ज्ञात नहीं होता और उसके लिए रस आदि चमत्कार के हेतुओं पर विचार करने पर ही चमत्कार का पता चलता है।

(१३) बिहारी के दोहों में माधुर्य एवं प्रसाद गुण अधिक मात्रा में विद्यमान हैं, इसलिए बिहारी की रचना सरस, स्निग्ध एवं सुकुमार मानी जाती है।

(१४) बिहारी के दोहों में कहीं-कही समास-बहुला गौड़ी वृत्ति के भी दर्शन होते हैं, किन्तु अन्यत्र सभी जगह माधुर्य-व्यंजक वर्णों से युक्त वैदर्भी रीति को ही अपनाया गया है, जिससे बिहारी में उपनागरिका वृत्ति का प्राधान्य है और सानुस्वार वर्णों का अधिक प्रयोग हुआ है।

(१५) बिहारी ने दोहे जैसे ४८ मात्राओं के छोटे से मात्रिक छंद में भाव एवं रस का अथाह सागर भर दिया है, जिसमें कम से कम २४ और अधिक से अधिक ४६ तक अक्षर आते हैं, जिसका क्षेत्र सवैया, कवित्त, घनाक्षरी पद आदि की अपेक्षा अत्यन्त लघु होता है। ऐसे लघु क्षेत्र वाले छोटे से छन्द में बिहारी ने अपनी निपुणता एवं समास-पद्धति द्वारा इतनी सफलता एवं सफाई के साथ भावों के सजीव चित्र अंकित किये हैं कि अच्छे-अच्छे कवि दाँत तले उँगली दबा जाते हैं।

(१६) बिहारी ने दोहा नामक छन्द में द्विकल, त्रिकल एवं यति का समुचित ध्यान रखा है, जिससे कहीं भी यति-भंग, न्यूनपदत्व आदि कोई दोष नहीं दिखाई देता और प्रत्येक दोहा एक नई गति, नई स्फूर्ति, मस्ती एवं नई शक्ति के साथ भावों को व्यक्त करता हुआ मुक्तक काव्य का उत्कृष्ट एवं उदात्त रूप प्रस्तुत करता है तथा श्रवण-मात्र से ही नावक के छोटे-छोटे तीरों की भाँति सहसा हृदय पर गम्भीर घाव करके सहृदय जनों को रस-मग्न कर देता है।

सारांश यह है कि बिहारी ने अपनी उत्कृष्ट अनुभूति एवं उन्नत अभिव्यक्ति द्वारा काव्य का ऐसा उदात्त रूप प्रस्तुत किया है, जिसमें तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक राजनीतिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का साकार चित्र अंकित है, तत्कालीन मानव-मनोवृत्तियों की साकार प्रतिमाएँ चित्रित हैं, जिसमें मार्मिक उक्तियों की सरस ऊर्मियों के साथ भाव-सागर लहरा रहा है; जिसमें साम्य एवं वैषम्यमूलक अलंकारों के द्वारा विविध श्रृंगारिक चेष्टाओं एवं व्यापारों को सजीवता प्रदान की गई है, जिसमें मनोरम कल्पना एवं उत्कृष्ट उद्भावना-शक्ति द्वारा नागरिक भावनाओं, कामनाओं एवं लालसाओं को सफलतापूर्वक चित्रित किया गया है, जिसमें शब्दों की एकरूपता, प्रांजलता एवं प्रौढ़ता के साथ-साथ ब्रजभाषा की रमणीयता, मधुरता एवं सुकुमारता विद्यमान है तथा जो अपनी कलात्मकता, लाक्षणिकता एवं रसात्मकता के कारण सर्वाधिक लोकप्रिय है और इसी कारण जिसकी सर्वाधिक टीकाएँ हुई हैं। निस्सन्देह हिन्दी जगत् में तुलसी के उपरान्त बिहारी ने ही सहृदय जनों को सर्वाधिक आकृष्ट किया है। इसी से बिहारी श्रृंगार के युग-प्रवर्त्तक कवि हैं और हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में उनकी लोकप्रियता अक्षुण्ण है।

नौ

भूषण

- हिन्दी-वीर-काव्य-धारा में भूषण का स्थान
- भूषण की वीर-भावना
- भूषण—एक जातीय कवि या राष्ट्रीय कवि
- भूषण की राष्ट्रीय भावना
- भूषण का काव्य-सौष्ठव
- भूषण की काव्यानुभूति
- वस्तु-वर्णन
- रस-निरूपण
- भूषण की काव्याभिव्यक्ति
- भूषण की भाषा
- भूषण की भाषा के गुण
- भूषण की भाषा के दोष

१

भूषण

न्दी-वीर-काव्य-धारा में भूषण का स्थान

महाकवि भूषण रीतिकाल के कवि हैं। हिन्दी-काव्य के इस रीतिकाल तक न्दी-वीर-काव्य की एक सुदीर्घ परम्परा मिलती है। हिन्दी का आदिकाल तो अपनी र-गाथाओं की बहुलता के कारण 'वीर-गाथा-काल' ही कहलाता है। इस काल में लब्ध वीर-काव्यों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) चारण या भाट वीर-काव्य और (२) जैन कवियों द्वारा निर्मित वीर-काव्य। चारण या भाटों रा निर्मित वीर-काव्यों में से दलपति विजय कृत 'खुमान रासो', नरपति नाल्ह कृत सलदेव रासो', चन्दवरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो', भट्ट केदार कृत 'जयचन्द-प्रकाश', कर कृत 'जयमयंक-जसचन्द्रिका' और जगनिक कृत 'आल्हखंड' प्रसिद्ध हैं। इनमें 'खुमान रासो' कालभोज (बाप्पा) से लेकर तीसरे खुमान तक के युद्धों का वर्णन । यह रचना वीररसपूर्ण है, किन्तु साधारण है। 'बीसलदेव रासो' में शृंगार रस प्राधान्य है, जो वीर-गीत के रूप में लिखा गया है और वीर रस का कहीं-कहीं भास मिलता है। यह रचना भी साधारण है। 'पृथ्वीराज रासो' अवश्य इस काल सर्वश्रेष्ठ वीर-काव्य है, जिसमें राजा पृथ्वीराज के शौर्य एवं पराक्रम का अत्यन्त पूर्ण वर्णन मिलता है, किन्तु उसमें भी जहाँ-तहाँ शृंगार रस का आधिपत्य है। चन्द-प्रकाश' में महाराजा जयचन्द के प्रताप और पराक्रम का वर्णन किया गया है र 'जयमयंक-जस-चन्द्रिका' भी कन्नौज के राजा जयचन्द के शौर्यपूर्ण वर्णन से परि- है। इनके अतिरिक्त 'आल्हखंड' सर्वाधिक वीररसात्मक रचना है, जिसमें बावन ों का मार्मिक वर्णन मिलता है। इनमें से नरवरगढ़, महोबागढ़, नैना आदि के प्रमुख हैं। इनमें से अंतिम युद्ध पृथ्वीराज के साथ होता है, जिसमें आल्हा के तिरिक्त अन्य सभी योद्धा मारे जाते हैं, यह आल्हखंड बुन्देलखंडी, कन्नौजी, अवधी,

भोजपुरी, ब्रज आदि कई बोलियों में प्रचलित है, परन्तु सर्वत्र छंद एक ही है और ओज एवं उत्साह की दृष्टि से यह सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है।

हिन्दी-काव्य के आदिकाल में चारणों एवं भाटों के अतिरिक्त जैन कवियों ने भी पर्याप्त मात्रा में हिन्दी-वीर-काव्य का निर्माण किया है। इनमें से शालिभद्र सूरि कृत 'भरत बाहुबलि रास, एक वीर रसात्मक काव्य है, जिसमें आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के महान् पराक्रमी व यशस्वी पुत्र भरत तथा बाहुबलि के युद्ध का अत्यन्त ओजस्वी वर्णन मिलता है। ऐसे ही पूर्णिमा गच्छ के संत दूसरे शालिभद्र सूरि कृत 'पंच पांडव-चरित रास' में कौरव-पांडवों के वीररसपूर्ण युद्ध का विशद वर्णन मिलता है, जिसमें हाथी, घोड़ों और असंख्य पैदल सेना के युद्धों का बड़े उत्साहपूर्वक निरूपण किया गया है। तीसरे कवि सधारू रचित 'प्रद्युम्नचरित' भी एक वीररसात्मक काव्य है, जिसमें जैन परम्परा के अनुसार श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के महान् पराक्रमी एवं शौर्यशाली पुत्र प्रद्युम्न के विविध युद्धों का वर्णन मिलता है। इसमें श्रीकृष्ण-शिशुपाल-युद्ध, प्रद्युम्न-सिंहस्थ-युद्ध, प्रद्युम्न-कालसंवर-युद्ध, प्रद्युम्न-श्रीकृष्ण-युद्ध, प्रद्युम्न-रूपचन्द-युद्ध आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। ये सभी जैन-काव्य वीर रस से परिपूर्ण हैं, किन्तु इनकी भाषा राजस्थानी तथा मिश्रित है और इन काव्यों का केवल अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। वैसे ये सभी साधारण रचनायें हैं।

हिन्दी-काव्य के भक्तिकाल में वैसे तो भक्ति-पूर्ण काव्यों की ही प्रधानता रही है, किन्तु इन भक्ति-काव्यों में भी अनेक ऐसे स्थान मिल जाते हैं, जहाँ वीर रस का पूर्ण परिपाक हुआ है और जो वर्णन शौर्य एवं पराक्रम से परिपूर्ण युद्धों के विवरण से भरे हुए हें। ऐसे काव्यों में से सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी कृत 'पदमावत' का 'गोरा-बादल-युद्ध-वर्णन' सर्वथा उल्लेखनीय है, जिसमें गोरा के अलौकिक पराक्रम एवं अद्भुत शौर्य से परिपूर्ण युद्ध का मार्मिक वर्णन मिलता है। वीररसात्मक वर्णनों की शृंखला में यह वर्णन अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। महात्मा सूरदास ने भी यत्र-तत्र श्रीकृष्ण के शौर्य एवं पराक्रम का वर्णन करके वीररसात्मक काव्य का निर्माण किया है। इस काल के उल्लेखनीय कवि गोस्वामी तुलसीदास हैं, जिन्होंने राम एवं हनुमान के शौर्य एवं पराक्रम का वर्णन करके वीररसपूर्ण काव्य का अत्यन्त सजीवता के साथ निर्माण किया है। इनके 'रामचरितमानस', 'कवितावली' एवं 'गीतावली' के वीररसात्मक स्थल सर्वथा उल्लेखनीय हैं। इनमें से राम-रावण के युद्ध का वर्णन तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। परन्तु इन सभी काव्यों का अंगी-रस शान्त है और वीर रस तो अंग रूप में आया है।

हिन्दी काव्य के रीतिकाल में वैसे तो रीति-ग्रन्थों की प्रधानता रही है, जिनमें शृंगार रस का आधिक्य रहा है। परन्तु इस काल में वीर-काव्यों का निर्माण भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। इसका कारण यह है कि इस समय भारत में पुनः अशान्ति छा गई थी और युद्ध होते रहते थे। अतः वीरों में उत्साह भरने के लिये तथा जनता

ें जोश एवं उत्साह जाग्रत करने के लिए वीररसात्मक काव्यों की आवश्यकता हुई और कवियों ने उसी की पूर्ति-हेतु विपुल वीर-काव्यों का निर्माण किया। सुविधा की दृष्टि से इन सम्पूर्ण वीर-काव्यों को पाँच भागों में विभाजित किया जाता है—(१) शुद्ध वीर-काव्य, (२) रासो-पद्धति पर निर्मित शृङ्गार मिश्रित वीर-काव्य, (३) भक्ति-भावित वीर-काव्य, (४) अनूदित वीर-काव्य और (५) दरबारी कवियों का प्रकीर्ण वीर-काव्य। इनमें से शुद्ध वीर-काव्य के अन्तर्गत भूषण, श्रीधर, लाल, सूदन और पद्माकर के काव्य आते हैं, किन्तु इनमें भूषण सर्वोपरि हैं। दूसरे, रासो-पद्धति पर निर्मित शृंगार-मिश्रित वीर-काव्य के अन्तर्गत वे काव्य आते हैं, जिनमें किसी वीर के शौर्य एवं पराक्रम के साथ-साथ उसके शृंगारमय जीवन का भी विशद निरूपण मिलता है। इस वर्ग के काव्यों में से जोधराज कृत 'हम्मीर रासो', चन्द्रशेखर कृत 'हम्मीर हठ', सूर्य्यमल कृत 'वंश-भास्कर' आदि प्रसिद्ध हैं। तीसरे, भक्ति-भावित वीर काव्य के अन्तर्गत वे वीररसात्मक काव्य आते हैं, जिनमें राम, हनुमान, दुर्गा, नृसिंह, आदि देवी-देवताओं को माध्यम बनाकर वीर भावों का ओजस्वी विवरण मिलता है। इनमें से मनियारसिंह कृत 'हनुमान छबीसी', गणेश कृत 'हनुमान पच्चीसी', खुमान कृत 'हनुमान-नखशिख' और 'नृसिंह-चरित्र', गुरु गोविंदसिंह कृत 'गोविंद रामायण' तथा 'हनुमान चरित्र' आदि प्रसिद्ध हैं। चौथे, अनूदित वीर-काव्य के अन्तर्गत वे वीररसात्मक रचनाएँ आती हैं, जो 'महाभारत' को आधार बनाकर उसके अनुवाद के रूप में लिखी गई हैं। इनमें बहुत से कवियों ने महाभारत के प्रसंगों को लेकर स्वतन्त्र फुटकल छन्द भी जोड़ दिये हैं। इनमें से कुलपति कृत 'द्रोण-पर्व', गणेश पुरी कृत 'कर्ण पर्व', सबलसिंह चौहान कृत 'महाभारत', छत्र कृत 'विजय-मुक्तावली' आदि प्रसिद्ध हैं। पाँचवें, दरबारी कवियों द्वारा रचित प्रकीर्ण वीर-काव्य के अन्तर्गत वे काव्य आते हैं, जिनमें इन कवियों ने अपने-अपने आश्रयदाताओं को काव्य का विषय बनाकर उनके शौर्य एवं पराक्रम का अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। इसमें से बहुत से ऐसे राजा एवं शूर-सामन्त भी हैं, जो ऐसे पराक्रमी तो नहीं हैं कि उनका स्थान जनता के हृदय में हो, परन्तु फिर भी उनकी प्रशंसा खूब बढ़ा-चढ़ाकर की गई है। ऐसे काव्यों में से केशव कृत 'वीरसिंह-देव-चरित' और 'रतन-बावनी', मान कृत 'राज विलास', श्रीधर कृत 'जंग-नामा', सदानन्द कृत 'राजा भगवंतसिंह', सूदन कृत 'सुजान चरित', पद्माकर कृत 'हिम्मत-बहादुर-विरुदावली', 'जगद्विनोद' और 'प्रताप सिंह-विरुदावली', हरिनाथ कृत 'कसरा सिंह समर', जोगीदास कृत 'दलपतराव रायसा', हरिकेश द्विज कृत 'जगतराज दिग्विजय' सदानन्द कृत 'रासा भगतसिंह', विभुनेश भट्ट कृत 'शम्भुजीत रायसा', शिवनाथ कृत 'रासा भैयाबहादुर सिंह का' आदि प्रसिद्ध हैं। इनकी संख्या अधिक है और इन सभी काव्यों में वीर रस का ही प्राधान्य है।

हिन्दी-काव्य के रीतिकाल तक की वीर-काव्य-धारा का अनुशीलन करने पर

ज्ञान होता है कि हिन्दी में विशुद्ध वीर-काव्य का निर्माण करने वाले एकमात्र कवि भूषण हैं। इनका काव्य इतिहास-प्रसिद्ध वीर शिवाजी तथा महाराजा छत्रसाल के शौर्य एवं पराक्रम की गाथा से परिपूर्ण है। अन्य सभी हिन्दी-कवियों के काव्य में वीर रस के साथ-साथ श्रृंगार, शान्त आदि रस भी विद्यमान हैं और कहीं-कहीं तो अंगी-रस ही श्रृंगार या शान्त है, जबकि वीर रस अंग रूप में आया है। परन्तु भूषण के वीर-काव्य में श्रृंगार रस का तनिक भी वर्णन नहीं मिलता। उनके नायक राष्ट्रीय भावों से ओतप्रोत हैं और वे सदैव अन्याय एवं अत्याचार के दमन में तत्पर दिखाई देते हैं। उन्हें किसी से प्रेम करने या किसी सुन्दरी का अपहरण करने की आवश्यकता नहीं है, वे तो राष्ट्र-प्रेम में निमग्न हैं और सदैव राष्ट्र-विरोधी शक्तियों का विनाश करने में तल्लीन रहते हैं। भूषण ने छत्रपति शिवाजी एवं महाराजा छत्रसाल के वीर-दर्पपूर्ण युद्धों, दमनकारी कार्यों एवं धर्म-संरक्षण-सम्बन्धी पराक्रमों का जो वर्णन किया है, वह वीररसात्मक काव्य का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है; क्योंकि ये वे चरित्रनायक हैं जिनका जनता के हृदय में भी स्थान है और जो जनता की भक्ति एवं श्रद्धा के पात्र रहे हैं। इन आश्रयदाताओं की यथार्थ प्रशंसा एवं सत्य-कीर्ति का वर्णन करने के कारण ही भूषण का वीर-काव्य हिन्दी के सम्पूर्ण वीर-काव्यों में सर्वोत्कृष्ट है। इस शौर्य-वर्णन में जनता का हृदय बोल रहा है, इस पराक्रम-निरूपण में जनता का हृदय साक्षी दे रहा है और इस वीरता की प्रशंसा में जनता साथ दे रही है। यह झूठी प्रशंसा नहीं है और न इसमें प्रशंसा की प्रथा का निर्वाह किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "शिवाजी और छत्रसाल की वीरता के वर्णनों को कोई कवियों की झूठी खुशामद नहीं कह सकता। वे आश्रयदाताओं की प्रशंसा की प्रथा के अनुसरण मात्र नहीं हैं। इन दो वीरों का जिस उत्साह के साथ सारी हिन्दू जनता स्मरण करती है उसी की व्यंजना भूषण ने की है। वे हिन्दू-जाति के प्रतिनिधि हैं।"[1] अतः यह निर्विवाद सत्य है कि भूषण हिन्दी-वीर-काव्य-धारा के केवल प्रतिनिधि कवि ही नहीं, अपितु सर्वोत्कृष्ट कवि हैं।

भूषण की वीर-भावना

महाकवि भूषण ने तीन वीर-काव्यों का निर्माण किया है—'शिवराज भूषण', 'शिवा-बावनी' और 'छत्रसाल-दशक'। ये तीनों काव्य भूषण की उदात्त वीर-भावना से ओतप्रोत हैं, क्योंकि इनमें तत्कालीन जननायक महाराज शिवाजी तथा छत्रसाल के शौर्य एवं पराक्रम का अत्यन्त सजीव एवं मार्मिक वर्णन हुआ है। शिवाजी ने जहाँ दक्षिण भारत में राष्ट्र-विरोधी शक्तियों का दमन करके एक सुख शान्तिदायक 'स्वराज्य' की स्थापना की थी, वहाँ महाराज छत्रसाल ने मध्यभारत में तत्कालीन राष्ट्र-विरोधी सत्ता का मुकाबला करके जनता को सुख एवं समृद्धि पूर्ण जीवन व्यतीत करने की सुविधाएँ प्रदान की थीं। अतः इन दोनों राष्ट्रनायकों के सुयश एवं कीर्ति-गौरव के

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २५५।

वर्णन में कवि भूषण की उदात्त वीर-भावना व्यक्त हुई है, उसे सुविधा की दृष्टि से आठ भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) स्तुतिपरक वीर-भावना, (२) पौराणिक वीर-भावना, (३) ऐतिहासिक वीर-भावना, (४) राजनीतिक वीर-भावना, (५) धार्मिक वीर-भावना, (६) युद्ध-सम्बन्धी वीर-भावना, (७) दान-सम्बन्धी वीर-भावना और (८) सामाजिक व्यवहार-सम्बन्धी वीर-भावना।

(१) **स्तुतिपरक वीर-भावना**—भूषण ने अपने सभी काव्यों में एकमात्र वीर-भाव के औदार्य एवं उत्कर्ष का ही निरूपण किया है। अतः 'शिवराज-भूषण' का निर्माण करते समय भूषण ने उस दुर्गा देवी का स्तवन किया है, जो आदि शक्ति है, काली है, कपर्दिनी है; मधु-कैटभ को मारने वाली है, महिषासुर का वध करने वाली है, चंड-मुंड का दमन करने वाली है, भंडासुर का नाश करने वाली है, रक्तबीज का विध्वंस करने वाली हैं और शुम्भ-निशुम्भ का समूल नाश करने वाली है। उसी काली एवं दुर्गा से शिवाजी ने विजय की कामना की है।[1] भूषण की इस कामना में, इस प्रार्थना में एवं इस स्तवन में उनकी पवित्र वीर-भावना हिलोरे ले रही है। अतः उनकी यह रचना स्तुतिपरक वीर-भावना के अन्तर्गत आती है।

(२) **पौराणिक वीर-भावना**—प्रायः कवियों ने अपने-अपने वीर नायकों के शौर्य एवं पराक्रम का विश्वव्यापी प्रभाव दिखाने के लिए तथा उनके अद्भुत यश एवं अलौकिक कीर्ति का प्रदर्शन करने के लिए उन्हें अगोचर चेतन सत्ता या ब्रह्म या ईश्वर का अवतार घोषित किया है। इसे पौराणिक पद्धति कहते हैं, क्योंकि पुराणों में ही ब्रह्म या शक्ति के विविध अवतारों की कल्पना मिलती है। भूषण ने इसी पौराणिक पद्धति का प्रयोग करते हुए अपने राष्ट्रनायक शिवाजी के अद्वितीय शौर्य, अनुपम पराक्रम एवं असाधारण तेज का निरूपण करने के लिए कहीं उन्हें राम और कृष्ण का अवतार घोषित किया है,[2] कहीं उन्हें शिव और विष्णु का अवतार बतलाया है[3] और कहीं शिवाजी महाराज को मत्स्य, कूर्म, कोल, नृसिंह, परशुराम, राम,

---

[1] जै जयंति जै आदि सकति जै कालि कर्पादिनि।
जै मधुकैटभ-छलनि देवि जै महिष-विमर्दिनि॥
जै चमुंड जै चंड-मुंड भंडासुर खंडिनि।
जै सुरक्त जै रक्त-बीज बिड्डाल बिहंडिनि॥
जै जै निसुंभ सुंभद्दलनि, भनि भूषन जै जै भवनि।
सरजा समत्थ शिवराज कहँ, देहि बिजै जै जगजननि॥

[2] दसरथजू के राम भे, वसुदेव के गोपाल।
सोई प्रगटे साहि के, श्री सिवराज भुवाल॥

[3] दीनदयाल दुनी प्रतिपालक जे करता निरम्लेच्छ मही के।
भूषन भूधर उद्धरिबो सुने और जिते गुन ते सिवजी के॥
या कलि में अवतार लियो तऊ तेई सुभाव सिवाजी बली के।
आय धर्‌यो हरि तें नर-रूप पै काज करै सिगरे हरि ही के॥

बलराम, बौद्ध और कल्कि का अवतार घोषित किया है।[१] इस प्रकार शिवाजी को एक अवतार मानकर भूषण ने अपनी पौराणिक वीर-भावना का परिचय दिया है।

(३) **ऐतिहासिक वीर-भावना**—इतिहास इस बात का साक्षी है कि औरंगजेब ने अपनी कुटिल एवं दुर्दम राजनीति का प्रयोग करते हुए भारतवर्ष के अधिकांश राजाओं को अपने अधीनस्थ कर लिया था। उसके भय के मारे सभी छोटे-छोटे राजा दिल्लीशाह को चौथ एवं कर देते थे और उसकी दासता मानकर उसी की दया के पात्र बन गये थे। इसलिए महाकवि भूषण ने ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर ही यह घोषित किया कि श्रीनगर, नेपाल, मेवाड़, जयपुर, मारवाड़, बुन्देलखण्ड, रीवाँ आदि सभी उत्तर, पूर्व एवं पच्छिम के भारतीय नरेश दिल्लीपति औरंगजेब की आज्ञा पाते ही तुरन्त अपनी सेनायें भेजते थे; चमर, किला, कुही, (घोड़े), वाज़ आदि को बादशाह की नजर स्वरूप कर में देते थे और दिल्लीपति की सेवा करने या उसकी अधीनता मान लेने में ही अपनी सुरक्षा समझते थे, जबकि शेर शिवराज ही ऐसा दक्षिण का राजा था, जिनकी नीति सर्वथा भिन्न थी और दिल्लीपति की अधीनता मानने के लिए कभी तैयार नहीं हुआ था।[२] इस ऐतिहासिक तथ्य का निरूपण करके कविवर भूषण ने अपनी उदात्त वीर भावना का परिचय दिया है।

(४) **राजनीतिक वीर-भावना**—शिवाजी अत्यन्त निपुण राजनीतिज्ञ थे। औरंगजेब ने अपनी कूटनीति के छल-बल से शिवाजी को परास्त करने अथवा मरवा डालने की अनेक योजनायें बनाता था, किन्तु शिवाजी उसकी सभी योजनायें विफल बना देते थे। ऐसे ही बीजापुर की सरकार ने भी कूटनीति का प्रयोग करके शिवाजी का बध करने के लिए अफजलखाँ को भेजा था, जो बिना किसी शस्त्र के शिवाजी से मिलने का वायदा करके आया था, परन्तु जैसे ही शिवाजी उससे गले मिलने लगे, वैसे ही अफजलखाँ ने शिवाजी पर आघात करने के लिए अपनी छिपी हुई तलवार

---

[१] मच्छहु कच्छ में कोल नृसिंह मैं बावन मैं भनि भूषन जो है।
जो द्विज राम मैं जो रघुराज मैं, जोऽब कह्यो बलरामहु को है॥
बौद्ध मैं जो अरु जो कलकी महँ विक्रम ह्वैबे को आगे सुनो है।
साहस-भूमि-आर सोई अब श्री सरजा सिवराज मैं सो है॥

[२] श्रीनगर नयपाल जुमिला के छितिपाल,
भेजत, रिसाल, चौंर, गढ़, कुही बाज की।
मेवार ढुंढार मारवाड़ औ बुंदेलखंड,
झारखंड बाँधौ-धनी चाकरी इलाज की॥
भूषन जे पूरब पछाँह नरनाह ते वै,
ताकत पनाह दिलीपति सिरताज की।
जगत को जैतवार जीत्यो अवरंगजेब,
न्यारी रीति भूतल निहारी सिवराज की॥

खींच ली। यह देखकर शिवाजी ने भी अपना छिपा हुआ बघनखा निकालकर अफजलखाँ के कलेजे में भोंक दिया और उस कूटनीतिज्ञ को सदैव के लिए ठंडा कर दिया। भूषण ने इस राजनीतिक कौशल से परिपूर्ण विवरण का सजीव वर्णन किया है, जिसमें कवि की वीर-भावना हिलोरें ले रही है।[1] इसी प्रकार भूषण ने शिवाजी की उस राजनीतिक चाल का भी अत्यन्त वीरता पूर्वक वर्णन किया है, जिसमें उसने औरंगजेब के राज-दरबार को देखने का अपना मंतव्य पूरा किया था और जब औरंगजेब ने शिवाजी तथा उनके पुत्र शम्भाजी को नजरबन्द कर दिया, तब शिवाजी ने छुटकारे को कोई सूरत न देखकर पहले तो अपनी बीमारी का बहाना किया, फिर प्रतिदिन मिठाई बाँटने की तरकीब निकाली, जिसके फलस्वरूप रोज बड़े-बड़े टोकरों में भरकर मिठाई उनके डेरों में आती थी और फिर वह भिखारियों में बाँट दी जाती थी। एक दिन अवसर पाकर उन्हीं मिठाई के टोकरों में बैठकर पिता-पुत्र दोनों बेधड़क औरंगजेब की कैद से निकल भागे और उसके सभी पहरेदार देखते ही रह गये। भूषण ने इसी राजनीतिक कौशलपूर्ण वीरभाव-भरी घटना का वर्णन बड़ी निपुणता के साथ किया है। उसमें औरंगजेब को दुर्योधन बताया है और शिवाजी के धर्म को युधिष्ठिर, बल को भीम, प्रतिज्ञा को अर्जुन, बुद्धि को नकुल और तेज को सहदेव बताया है तथा कहा है कि पांडव तो दुर्योधन के लाक्षागृह से रात में निकल कर भागे थे, परन्तु शिवाजी की यह विशेषता थी कि वह दिन-दहाड़े लाखों के बीच में से अपनी कुशलता से दिल्लीपति की कैद में से निकल आये थे।[2] भूषण की इस वर्णन-पद्धति में कितना ओज, कितना तेज एवं कितना वीर-भाव भरा हुआ है।

(५) **धार्मिक वीर-भावना**—भूषण ने शिवाजी के उन धर्म पर आरूढ़ रहने वाले प्रबल भावों की भी व्यंजना की है, जिनमें शिवाजी को धर्म-रक्षक वीर के रूप में चित्रित किया गया है और बताया गया कि औरंगजेब जब सम्पूर्ण भारत में

---

[1] दानव आयो दगा करि जावली दीह भयारो महामद भार्‌यो।
भूषन बाहुबली सरजा तेहि भेंटिबे को निस्संक पधार्‌यो॥
बीछू के घाय गिरे अफजल्लहि ऊपर ही सिवराज निहार्‌यो।
दाबि यों बैठो नरिंद अरिंदहि मानो मयंद गयंद पछार्‌यो॥

[2] दारुन दुगुन दुरजोधन तें अवरंग,
भूषन भनत जग राख्यो छल मढ़िकैं।
धरम धरम, बल भीम, पैज अरजुन,
नकुल अकिल, सहदेव तेज, चढ़िकै॥
साहि के सिवाजी गाजी कर्‌यो दिल्ली माँहि,
चंड पाँडवनहू तें पुरुषारथ सु बढ़िकैं।
सूने लाखभौन तें कढ़े वै पाँच राति मैं,
जु द्यौस लाल चौकी तें अकेलो आयो कढ़िकैं॥

देवस्थानों को नष्ट कर रहा था, वेद-पुराणों को जला रहा था, हिन्दुओं की चोटी कटवा रहा था, ब्राह्मणों के जनेऊ उतरवा रहा था और उनकी मालाओं को तुड़वा रहा था, तब शिवाजी महाराज ने ही मुगलों को मरोड़ कर और शत्रुओं को नष्ट कर सुप्रसिद्ध वेद-पुराणों की रक्षा की थी, लोगों को राम-नाम लेने की स्वतन्त्रता प्रदान की थी, हिन्दुओं की चोटी, जनेऊ एवं माला की रक्षा की थी, देवस्थानों पर देवताओं की रक्षा की थी और घर-घर में स्वधर्म की रक्षा की थी।[1] भूषण के इस धर्म-रक्षा सम्बन्धी विवरण में उनकी धार्मिक वीर-भावना का पुनीत एवं प्रांजल रूप विद्यमान है।

(६) **युद्ध-सम्बन्धी वीर-भावना**—भूषण ने अपने दोनों वीर योद्धाओं के युद्ध-पराक्रम एवं रण-कौशल का अत्यन्त ओजस्वी वर्णन किया है। शिवाजी के साहस का वर्णन करते हुए भूषण ने लिखा है कि जिस समय रण-क्षेत्र में चारों ओर से बाण छूट रहे थे, गोलियाँ चल रही थीं और शत्रु-सेना सब ओर से घेरे हुए थी, उसी समय वीर शिवाजी ने अपनी सेना को दुर्ग पर आक्रमण करने की आज्ञा दी और स्वयं भी शत्रु के किले पर चढ़कर मारकाट मचाते हुए किले में कूद पड़े। उस समय उनकी हिम्मत का वर्णन कौन कर सकता है ?[2] ऐसा ही रण-पराक्रम महाराज छत्रसाल का भी दिखाया गया है, क्योंकि भूषण ने लिखा है कि महाराज छत्रसाल की तलवार इतनी तीव्रता के साथ रण-क्षेत्र में चलती थी कि वह सर्पिणी के समान शत्रुओं के दल के दल खा जाती थी, हाथियों की लोहे की झूलों एवं जिरहबख्तरों में मछली की तरह

---

[1] वेद राखे विदित पुरान परसिद्ध राखे,
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर मैं।
हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे मैं जनेऊ राख्यो माला राखी गर मैं।।
मीड़ि राखे मुगल मरोड़ि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे बरदान राख्यो कर मैं।
राजन की हद्द राखी तेग-बल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर मैं।।

[2] छूटत कमान और तीर गोली बानन के,
मुसकिल होत मुरचानहू की ओट मैं।
ताही समै सिवराज हुकुम कै हल्ला कियो,
दावा बाँधि द्वेषिन पै बीरभट जोट मैं।।
भूषन भनत तेरी हिम्मत कहाँ लौं कहौं,
किम्मत इहाँ लगि है जाकी भट-झोट मैं।।
ताव दै दै मूँछन कँगूरन पै पाँव दै दै,
अरिमुख धाव दै दै कूदि परे कोट मैं।।

पार हो जाती थी और उसने शत्रुओं को पंख-कटे पक्षियों की भाँति काट-काट कर रणक्षेत्र में उनकी लाशों के ढेर लगा देती थी।[1] भूषण के इन वर्णनों में युद्ध-कौशल से परिपूर्ण वीर-भावना की अत्यन्त सजीव अभिव्यंजना हुई है, जिसमें इन वीरों को विख्यात युद्ध-वीर के पद पर प्रतिष्ठित किया गया है।

(७) **दान-सम्बन्धी वीर-भावना**—भूषण ने अपने दोनों नायकों के दान-सम्बन्धी उदार भावों का भी अत्यन्त रोचक वर्णन किया है। भूषण कहते हैं कि महाराज शिवाजी इतने दान-शील थे कि उनके द्वार पर नित्यप्रति दान की दुंदभी बजती रहती थी, भिक्षुओं की भीड़ लगी रहती थी और वे मनोवांछित पदार्थ प्राप्त किया करते थे, क्योंकि इन भिक्षुओं को यहाँ राजा भोज के यहाँ से भी अधिक सुख प्राप्त होता था। शिवाजी की दानशीलता के कारण राजाओं में तो क्या, बड़े-बड़े सम्राटों में भी ऐसी शोभा दिखाई नहीं देती थी। इसलिए भूषण का तो यह विचार था कि शिवाजी के समान और कोई दान-वीर इस संसार में नहीं था।[2] इसी तरह महाराज छत्रसाल भी बड़े ही दानी थे। वे भी दीन ब्राह्मणों को सभी प्रकार की साज-सज्जा से सुसज्जित करके हाथी, घोड़े तथा पैदल सैनिकों की पंक्तियाँ दान किया करते थे। इसलिए भूषण ने दानवीरता की दृष्टि से भी या तो शिवाजी की प्रशंसा की है या छत्रसाल महाराज की, इनके अतिरिक्त उन्हें अन्य कोई दानवीर इस संसार में दिखाई नहीं दिया है।[3] भूषण के इन कथनों में दानवीरों की महिमा के साथ-साथ उनकी दान-सम्बन्धी वीर भावना भी अभिव्यक्त हुई है।

---

[1] भुज भुजगेस की बैसंगिनी भुजंगिनी सी,
खोदि खोदि खाती दीह दारुन दलन के।
बखतर पाखरनि बीच धँसि जाति मीन,
पैरि पार जात परबाहु ज्यों जलन के॥
रैयाराव चंपति को छत्रसाल महाराज,
भूषन सकत को बखानि यों बलन के।
पच्छी परछीने ऐसे परे परछीने वीर,
तेरी बरछीने बर छीने है खलन के॥

[2] साहि तनै सरजा तव द्वार प्रतिच्छन दान की दुंदुभि बाजै।
भूषन भिच्छुक-भीरन को अति भोजहु तें बढ़ि मौजनि साजै॥
राजन कौ गन, राजन! को गनै? साहिब मैं न इसी छबि छाजै।
आजु गरीबनेबाज मही पर तो सो तुहो सिवराज बिराजै॥

[3] साज सजि गज तुरी पैदर कतार दीन्हे,
भूषन भनत ऐसी दीन प्रतिपाल को।
आन राव राजा एक मन मैं न लाऊँ अब,
साहु कौं सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को।

(८) **सामाजिक व्यवहार सम्बन्धी वीर-भावना**—भूषण ने एक ओर तो महाराज शिवाजी की कीर्ति, उदारता और शीलता का अत्यन्त ओजपूर्ण वर्णन किया है और बताया है कि शिवाजो में जो कीर्तियुक्त प्रताप है वही सूर्य में तेज युक्त प्रकाश है और शिवाजी में जो उदारता एवं शीलता शोभायमान हो रही हैं, वे ही सोने में कोमलता एवं सुगन्ध है[1] तथा दूसरी ओर शिवाजी के उस आतंक का भी उल्लेख किया है, जिसके कारण गढ़नेर (नगरगढ़), चाँदागढ़, भागनेर (गोलकुण्डा का भागनगर), बीजापुर कर्नाटक, हबसियों का देश, विदेशी राज्य, बलख (तुर्किस्तान का एक नगर), रूम तक के शत्रुओं की स्त्रियाँ छाती पीटती थीं, शिवाजी की धाक सुनकर दिशायें उबलने लगती थीं और यदि कहीं यह सुनाई पड़ जाता था कि शिवाजी की सेना आ रही है तो सेना की चर्चामात्र से बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राटों की चतुरंगिणी सेनायें भी विचलित हो जाती थीं।[2] इस प्रकार भूषण ने अपने वीरनायक की उदारता, शीलता एवं कीर्ति का वर्णन करते हुए उसकी धाक एवं उसके आतंक का भी अत्यन्त वीर-दर्प-पूर्ण वर्णन किया है, जो इस बात का प्रतीक है कि शिवाजी शत्रुओं के लिए वज्र से भी अधिक कठोर थे और मित्र राष्ट्रों एवं सज्जनों के लिए कुसुम से भी अधिक कोमल थे । भूषण ने अपने प्रिय राष्ट्रनायक और शिवाजी की सुन्दरता, गुरुता, प्रभुता, सज्जनता, दयालुता, दीनों पर कोमलता, दानशीलता, कृपा एवं विवेकशीलता का अत्यन्त रोचक वर्णन किया है ।[3]

सारांश यह है कि भूषण की वीर-भावना में वीरता के उदात्त रूप की अभि-

---

[1] कीरति सहित जो प्रताप सरजा मैं बर,
मारतंड मध्य तेज चाँदनी सो जानी मैं ।
सोहत उदारता औ सीलता खुमान मैं सो,
कंचन मैं मृदुता सुगंधता बखानी मैं ।

[2] गढ़नेर, गढ़-चाँदा, भागनेर, बीजापुर,
नृपन की नारी रोय हाथन मलति हैं ।
करनाट, हबस, फिरंगहू, बिलायत,
बलख, रूम अरि-तिय छतियाँ दलति हैं ।
भूषन भनत साहि तन सिवराज, एते मान,
तव धाक आगे चहुँ दिशा बबलति हैं ।
तेरो चमू चलिवे की चरचा चले तें,
चक्रवर्तिन की चतुरङ्ग चमू विचलित है ।।

[3] सुन्दरता गुरुता प्रभुता भनि भूषन होत हैं आदर जामैं ।
सज्जनता औ दयालुता दीनता कोमलता झलकै परजा में ।।
दान कृपानहु को करिबो करिबो अभै दीनन को बर जामैं ।
साहन सों रन टेक विवेक इते गुन एक सिवा सरजा मैं ।।

व्यंजना हुई है। भूषण ने तत्कालीन समाज के सम्मुख शारीरिक शौर्य, युद्ध-पराक्रम, चारित्रिक उच्चता तथा व्यवहारकुशलता का आदर्श प्रस्तुत किया है। भूषण के दोनों वीर नायक असाधारण तेज, अलौकिक, ओज, अद्वितीय साहस एवं अद्भुत पराक्रम के उज्ज्वल आदर्श हैं। भूषण ने इन वीरों के शौर्य एवं पराक्रम का वर्णन करके तत्कालीन समाज की प्रसुप्त वीर-भावना को जाग्रत किया है, पद-दलित राष्ट्र को उन्नति की ओर अग्रसर किया है और भयभीत एवं संत्रस्त जाति को निर्भय एवं निडर बनाने का प्रयास किया है। भूषण की इस वीर-भावना में आदर्श नायक के गुण विद्यमान हैं, आदर्श वीर के भाव विद्यमान हैं और आदर्श राष्ट्र-पुरुष के कर्त्तव्य विद्यमान हैं, जिनका अनुसरण करके कोई भी राष्ट्र उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है, कोई देश अपनी खोई हुई आजादी को पुनः प्राप्त कर सकता है और कोई भी समाज अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित कर सकता है। यही कारण है कि भूषण का वीरकाव्य इतिहास और कल्पना से संयुक्त होते हुए भी यथार्थ की ठोस नींव पर स्थित और भारत की संस्कृति, भारत की वीरता तथा भारत की राष्ट्रीयता का दिग्दर्शन है।

भूषण—एक जातीय कवि या राष्ट्रीय कवि

भूषण की कविता में शिवाजी एवं छत्रसाल की प्रशंसा तथा औरंगजेब, आदिलशाह आदि की निंदा पढ़कर कुछ विद्वान् भूषण को हठात् जानीय कवि कहना अधिक समीचीन समझते हैं। उनका तर्क यह है कि भूषण ने मुसलमानों का विरोध करके हिन्दुओं को उठाने का प्रयास किया था, मुसलमान-शासकों के विरुद्ध हिन्दू-राजाओं को भड़काया था और मुसलमानों ने प्रतिशोध लेने के लिए उन्हें प्रेरित किया था। इस तरह मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दू-जाति को भड़काने तथा बगावत करने की प्रेरणा देने वाला कहकर भूषण को कुछ विद्वान् एक जातीय कवि ठहराते हैं। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि उस समय देश की परिस्थिति क्या थी, समाज की क्या दुरवस्था थी और राष्ट्र किस तरह पतन के गर्त्त में गिरता चला जा रहा था? उस समय राज्य-सत्ता के पक्षपातपूर्ण व्यवहार से किस तरह राज्यों में विघटन हो रहा था, समाज में अस्थिरता आ रही थी, घर-घर में आपत्तियाँ छा रही थीं, धर्म के क्षेत्र में अराजकता फैल रही थी और राजनीति में किस तरह अविश्वास एवं अनाचार घुसते चले जा रहे थे? इन सम्पूर्ण परिस्थितियों का ज्ञान न होने के कारण कुछ विद्वान् भूषण को बिना सोचे-समझे जातीय कवि की संज्ञा दे डालते हैं।

यदि भूषणकालीन परिस्थितियों का ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करें, तो ज्ञात होगा कि उस समय केन्द्रीय राज्य-सत्ता औरंगजेब के हाथ में थी और औरंगजेब अपने पिता को कैद करके तथा भाइयों को मरवाकर राजगद्दी पर बैठा था। उसने सम्पूर्ण राजाओं एवं सामंतों को अपनी कट्टरता एवं क्रूरता के कारण अपने वश में कर लिया था और वे भी मुगल सम्राट् को किले, सेना, चमर, बाज आदि नजराने के रूप में देकर चैन की वंशी बजाते थे तथा पूर्ण विलासिता का जीवन व्यतीत करते थे।

ऐसी स्थिति में सर्वत्र राजनीतिक विश्रृंखलता एवं अनिश्चितता व्याप्त हो गई थी, सभी अपने को अरक्षित अनुभव करते थे, क्योंकि आर्थिक भेंट देकर राजा एवं सामंत तो मुग़ल सम्राट् को प्रसन्न रखते थे और विलासमय जीवन व्यतीत करते थे। परन्तु उस शाही भेंट एवं अपनी विलासिता में जो कुछ अपव्यय होता था, उसे अपनी-प्रजा से कड़ाई के साथ वसूल करते थे। इस परह प्रजा सम्राट् एवं राजाओं के दुहरे चाकी के पाटों के बीच बुरी तरह पिस रही थी। सर्वत्र प्रजा को लूटा जा रहा था और भोग-विलास का बोलवाला था। इसके साथ ही मुगल सम्राट् केवल हिन्दुओं को नष्ट करने के लिए ही उनके देव-मन्दिरों, तीर्थों एवं वेद-पुराणों का विनाश नहीं कर रहा था, अपितु वह कट्टर सुन्नी मुसलमान होने के कारण अपने शिया मुसलमान भाइयों के साथ भी अत्याचार करता था, उन्हें किसी विश्वस्त स्थान पर नौकरी नहीं देता था और उन्हें रात-दिन परेशान किया करता था। ऐसी स्थिति में हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही तत्कालीन केन्द्रीय तथा राज्यीय शासन से तंग आ रहे थे और बड़े दुःखी थे। उस समय कश्मीर, नेपाल, जयपुर, जोधपुर, बंगाल, बीजापुर, गोलकुण्डा आदि सभी राज्यों के राजा एवं बादशाह 'आम खास' में बैठकर मनोरंजन या महलों में बेगमों के साथ आमोद-प्रमोद करने में ही अपनी शान समझते थे। वे कभी यह ध्यान नहीं देते थे कि देश में क्या हो रहा है, प्रजा किस तरह बेचैन हो रही हैं और विदेशी शक्तियाँ किस तरह भारत पर आक्रमण करने की तैयारियाँ कर रही हैं ? इसी कारण यहाँ विदेशी कोठियाँ भी धीरे-धीरे समुद्र के किनारे-किनारे दक्षिणी भारत में स्थापित होती चली जा रही थीं और फिरंगी लोग भारत को हड़पने का मौका देख रहे थे।

ऐसी भयंकर बेला में जबकि देशभक्ति सर्वथा लुप्त हो गई थी, राष्ट्रीय भावना समाप्त हो रही थी और अपना ही शासक अपनी ही प्रजा के साथ अनाचार एवं अत्याचार कर रहा था, तब भूषण के हृदय में राष्ट्रीय भावना का उन्मेष हुआ, देशभक्ति की लहर उठी और उसने तुरन्त ऐसे किसी नराधिप की खोज प्रारम्भ कर दी, जो तत्कालीन पतनोन्मुख राष्ट्र की रक्षा कर सके, धर्म को बचा सके, मृतप्राय समाज को जीवनदान दे सके और राजनीति में मोड़ लाकर भारत को विदेशी शक्तियों के चंगुल से बचा सके। अतएव भूषण उत्तर से दक्षिण गये और उन्होंने वीर शिवाजी में वे सभी गुण देखे, जो एक राष्ट्रनायक में हो सकते थे, क्योंकि शिवाजी देशभक्त थे, राष्ट्रप्रेमी थे और दूरदर्शी भी थे। इसीलिए उन्होंने मुसलमान शासकों की विलासिता का लाभ उठाकर धीरे-धीरे सम्पूर्ण दक्षिण के राज्यों पर विजय प्राप्त की और विदेशियों एवं फिरंगियों की उन कोठियों को भी लूटा; जिनमें भारत की भावी परतन्त्रता की सामग्री भरी हुई थी। इनता ही नहीं, शिवाजी ने एक सुदृढ़ जहाजी बेड़ा भी तैयार किया, जिसने विदेशी शक्तियों को भारत में आने से रोका। इसलिए सीरी, अंग्रेज, पुर्तगाली भी शिवाजी की शक्ति को देखकर थरथर काँपते थे। इन्द्र विद्यावाचस्पति ने ठीक ही लिखा है कि "शिवाजी नें थोड़े ही वर्षों में जहाजी बेड़ा बनाकर उसे इतना मजबूत बना दिया कि वह मुगल, सीरी, अंग्रेज और पुर्तगाल

जातियों से टक्कर ले सके। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस दूरदर्शी महापुरुष की कल्पना ने देख लिया था कि हिन्दुस्तान का भविष्य-निर्णय मैदान पर नहीं, समुद्र पर होगा।"[१] इतना ही नहीं, शिवाजी की संगठन-शक्ति एवं नीति-निपुणता को देखकर ही सर देसाई ने ठीक ही लिखा है कि "मराठों को कम से कम इस बात का श्रेय देना ही पड़ेगा कि उन्होंने पश्चिमी भारत पर अंग्रेजों का आक्रमण लगभग पचास वर्षों के लिए टाल दिया।"[२]

इस प्रकार भूषण ने केवल मुसलमानों के विरुद्ध किसी हिन्दू राजा को उभाड़ने या बगावत करने का प्रयास नहीं किया, अपितु तत्कालीन राष्ट्र को उन्नति की ओर ले जाने वाले ऐसे दो वीरों का यशोगान गाया, जिन्होंने भारत के राष्ट्र की रक्षा की थी, समाज को अधःपतन से बचाया था, धार्मिक ह्रास को रोका था और जन-जन के जीवन में देशप्रेम, राष्ट्रभक्ति एवं समाज-प्रेम जाग्रत किया था। भूषण ने कभी मुस्लिम धर्म का विरोध नहीं किया, किसी श्रेष्ठ मुस्लिम शासक के प्रति कोई कटु वचन नहीं कहे, क्योंकि उसने केवल औरंगजेब को खरी-खोटी सुनाई हैं, उसकी ही नीतियों की निन्दा की है, उसी के आचरणों की भर्त्सना की है, उसके ही व्यवहार को दोषपूर्ण बतलाया है, उसी को जनता एवं राष्ट्र का विरोधी कहा है और उसी की पाशविक शक्ति एवं पक्षपातपूर्ण राजनीति की कटु आलोचना की है[३] जबकि भूषण ने उसके पूर्वज बाबर, हुमायूँ तथा अकबर की तो प्रशंसा की है और बतलाया है कि बाबर, हुमायूँ और अकबर ने तो भारत में हिन्दू और मुसलमान तथा वेद एवं कुरान की सीमाएँ निश्चित की थीं और किसी के धर्म पर कभी कोई आघात नहीं किया था।[४] इन सभी शासकों का शासन यहाँ अत्यधिक स्नेहपूर्ण था। परन्तु जैसे ही औरंगजेब दिल्ली का सम्राट हुआ और आलमगीर की उपाधि ग्रहण की, वैसे ही उसके हृदय में क्रूरता, कट्टरता, दुष्टता एवं कटुता ने घर कर लिया और वह अपने पूर्वज बाबर, हुमायूँ, अकबर आदि बादशाओं के यश को भूल गया,[५] मनमाने अत्याचार एवं अनाचार करने लगा, देव-मन्दिरों को गिराकर सर्वत्र इस्लाम धर्म का प्रचार कठोरता के साथ करने लगा और ऐसे समय पर सभी भारत के राजा, राव और राना छिप गये तथा तनिक भी उसके विरुद्ध आवाज नहीं उठा सकते थे।[६]

---

१. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण, पृ० १३५।

२. मराठों का इतिहास, पृ० ३०।

३. बब्बर अकब्बर हिमायूँ हद्द बाँधि गये,
 हिन्दू और तुरुक की कुरान-बेद-ढबकी।

४. बब्बर अकब्बर हिमायूँ साह सासन सों,
 नेह तें सुधारी हेम-हीरन तें सगरी।

५. दौलत दिलीकी पाय कहाए आलमगीर,
 बब्बर अकब्बर से बिरद बिसारे तैं।

६. देवल गिरावते फिरावते निसान अली,
 ऐसे समै राव-राने सबै गए दाबकी।

अतः भूषण ने किसी जाति-विशेष को प्रेरित करने के लिये काव्य नहीं लिखा है और न किसी धर्म-विशेष के विरुद्ध आवाज उठाई है अपितु उसके काव्य में सम्पूर्ण राष्ट्र के उत्थान की प्रेरणा भरी हुई है, सभी धर्मों की रक्षा का भाव भरा हुआ है और उसमें अत्याचार एवं अनाचार के विरुद्ध आवाज उठाई गई है। यदि भूषण ने इस तरह अपनी आवाज बुलन्द न की होती, तो भारत राष्ट्र बहुत पहले ही विदेशी शासन चक्र में पिस गया होता और फिर विदेशी शक्तियाँ उसे इतना दुर्बल एवं जर्जर बना देतीं कि सौ वर्ष तो क्या, पाँच सौ वर्ष में भी भारत फिर स्वतन्त्रता के सूर्य का दर्शन नहीं कर सकता था। अतएव भूषण के काव्य में अत्याचार का दमन करने वाले वीरों का स्तवन हुआ है, जर्जर राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने वाले साहसी राजाओं का स्तुति-गान गाया गया है, विश्रृंखलित समाज को सुसंगठित बनाने वाले जननायकों के शौर्य-पराक्रम का चित्रण हुआ है, विदेशी शक्तियों की सहायता लेकर भारत को परतन्त्र बनाने वाले, शासकों का दमन करने युद्ध-वीरों के गुणगान गाये गये हैं, भारत के पुरातन धर्म, संस्कृति एवं सभ्यता के विरोधी क्रूर शासकों का विनाश करने वाले बहादुरों की कीर्ति का निरूपण हुआ है और राजनीतिक, सामाजिक साहित्यिक तथा मानसिक सभी प्रकार से भारत-राष्ट्र को जर्जर बनाने वाले दुष्ट शासकों को परास्त करने वाले राष्ट्रवीरों की वीरता की अभ्यर्थना की गई है। अतः भूषण के काव्य में औरंगजेब के प्रति जो क्षोभ प्रकट किया गया है, वह उसके दुष्टतापूर्ण कार्यों के कारण है, किसी जातीय भाव के कारण नहीं है। भूषण के काव्य में जो मुसलमानों के प्रति विरोध-भाव व्यक्त हुए हैं, वे किसी जातीय पक्षपात के कारण नहीं, अपितु उनके अत्याचार एवं अन्याय का विरोध करने के लिए व्यक्त हुए हैं तथा भूषण ने मुसलमान सूबेदारों के प्रति जो रोष प्रकट किया है वह उनके क्रूर आचरण के कारण है। इसी कारण पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी ठीक ही लिखा है कि "भूषण को कुछ लोग केवल जातीय कवि मानते हैं क्योंकि उन्होंने हिन्दू-पति शिवाजी की प्रशंसा और मुसलमानों की निन्दा की है। पर हमारे विचार से भूषण को 'राष्ट्रीय कवि' मानना उचित होगा। भूषण के उद्‌गार मुस्लिम-धर्म के विरोध में नहीं निकले थे, उनकी आवाज़ उस अत्याचार और अन्याय के विरोध में उठी थी, जो औरंगजेब या उसके सूबेदार जनता पर कर रहे थे। यदि भूषण की दृष्टि जातीय रही होती, तो वे औरंगजेब ही क्यों, उसके पूर्व पुरुषों और वंशजों को भी उसी ललकार के साथ खोटी-खरी सुनाते, जैसी उन्होंने औरंगजेब को सुनाई है। पर उनकी दृष्टि औरंगजेब के व्यक्तित्व की ओर न होकर उसकी पाशविक और अराजोचित करतूतों पर थी।"[1]

सारांश यह है कि भूषण की कविता में जनता के हृदय का स्वर विद्यमान है, उसमें पूरा भारत-राष्ट्र गूँज रहा है, उसकी भावना में सम्पूर्ण जन जीवन समाहित है

---

[1] भूषण ग्रन्थावली (भूमिका), पृ० ५७-५८।

और उसकी वीर-भावना में भारत राष्ट्र की ओजमयी परम्परा की ध्वनि निकल रही है। इसी कारण भूषण को किसी जाति-विशेष का कवि नहीं कह सकते, वह समूचे राष्ट्र के प्रतिनिधि कवि हैं, क्योंकि भूषण ने जिन दो वीर राष्ट्र नायकों को अपने काव्य का मूलाधार बनाया है, वे दोनों—शिवाजी एवं छत्रसाल भारत के त्रस्त एवं भयभीत राष्ट्र का पुर्ननिर्माण कर रहे थे, दोनों राष्ट्र की जर्जर शक्ति को पुनः संगठित करके एक प्रवल राष्ट्र का निर्माण कर रहे थे और दोनों सम्पूर्ण भारतीय जनता की श्रद्धा एवं भक्ति के आधार थे। दोनों के यहाँ हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के सैनिक पर्याप्त मात्रा में रहते थे और दोनों उस समय सम्पूर्ण भारत की सुरक्षा में ही प्रयत्नशील रहते थे। अतः भूषण का काव्य सम्पूर्ण भारत-राष्ट्र को उन्नति की ओर ले जाने वाले वीर-भावों से भरा हुआ है, सम्पूर्ण समाज की दुर्बलता को दूर करने वाले साहस एवं पराक्रम से भरा हुआ है, सम्पूर्ण जन-जीवन को शक्ति एवं सामर्थ्य प्रदान करने वाली यशोगाथाओं से भरा हुआ है और समूचे राष्ट्र का पथ-प्रदर्शन करने वाले आदर्श वीरों के साहसी कार्यों से भरा हुआ है। इसी कारण भूषण एक जातीय कवि नहीं, अपितु राष्ट्रीय कवि हैं।

भूषण की राष्ट्रीय भावना

राष्ट्रीय भावना का सम्बन्ध राष्ट्र से होता है और राष्ट्र उस जन-समूह को कहते हैं जो किसी एक निश्चित भू-खण्ड पर रहता है, जिसकी एक राजनीतिक परम्परा होती है, जिसकी संस्कृति, धर्म, साहित्य, भाषा, कला आदि की भी एक ऐतिहासिक परम्परा होती है, जिसकी सामाजिक एवं शासकीय व्यवस्था भी एक परम्परागत विचाराधारा पर संचालित होती है तथा जिसके सम्पूर्ण जन-जीवन में भावात्मक एकता रहती है।[१] इस प्रकार राष्ट्र को सर्वोपरि मानकर जो कवि स्वदेश के प्रति अनुराग व्यक्त करता है, देश-भक्ति के गीत गाता है, अपने समाज को उन्नत बनाने का प्रयास करता है, अपनी संस्कृति के समुज्ज्वल तत्त्वों का प्रचार करता है, अपने निर्वल राष्ट्र को सबल बनाने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देता है, अपनी जननी जन्मभूमि को स्वर्ग से भी अधिक गौरवमयी मानकर उसके प्रति त्याग एवं बलिदान के भाव जाग्रत करता है; अपने नदी, वन, पर्वत, पेड़, पशु, पक्षी आदि के प्रति अत्यन्त रागात्मक सम्बन्ध प्रकट करता है, अपनी जनता में बन्धुत्व के भाव जगाता है, अपने विशृङ्खलित एवं विभाजित जनों को एक समूह, संगठन या दल में संगठित करने के लिये प्रेरित करता है और अपने राष्ट्र का विरोध करने वाली पाशविक शक्तियों का दमन करने की प्रेरणा देता है; उसे राष्ट्रीय भावना से सम्पन्न एक राष्ट्रीय कवि की उपाधि से विभूषित किया जाता है। इस दृष्टि से एक राष्ट्रीय कवि में मुख्यतया स्वदेश के प्रति तीव्रानुराग की भावना रहती है, वह अपनी संस्कृति का प्रेमी होता है

---

[१] राष्ट्र की उत्पत्ति और भारतीय राष्ट्रीयता—त्रिपथगा, जनवरी १९६२, पृ० २५।

राष्ट्र के उत्थान में तल्लीन रहता है। उसे अपने समाज के उत्थान का रात-दिन ध्यान रहता है और उसी के लिए प्रयत्नशील रहता है। उसके विचारों में सदैव अपने धर्म की उन्नति हिलोरें लेती रहती है और वह धर्म का ह्रास देखकर विकल एवं बेचैन होकर धार्मिक उन्नति के लिए प्रयास करता है। उसे अपनी राजनीतिक मान्यतायें सभी प्रकार से मान्य होती हैं और उगका अधःपतन देखकर वह अपने राष्ट्र की राजनीतिक स्थिति को सुधारने में संलग्न दिखाई देता है। उसे अपने साहित्य एवं अपनी भाषा में तीव्र अनुराग होता है और उसका विनाश देखकर अथवा उसका ह्रास देखकर वह व्यग्र एवं व्यथित हो उठता है तथा उनकी सुरक्षा के प्रयत्न करता है। साथ ही उसे अपने राष्ट्र के उन कर्णधारों का यशोगान गाने में अत्यधिक आनंद आता है, जो जन-नायक होते हैं और अन्याय का दमन करने में तत्पर दिखाई देते हैं। इस प्रकार ध्यानपूर्वक देखा जाय तो किसी भी राष्ट्रीय कवि की भावना के अन्तर्गत आठ तत्त्व समाहित रहते हैं—(१) स्वदेशानुराग, (२) सांस्कृतिक प्रेम, (३) धार्मिक भाव, (४) राजनीतिक मान्यता, (५) साहित्य-प्रेम, (६) समाज-प्रेम, (७) भापा-प्रेम, (८) जननायकों के प्रति अटूट श्रद्धा। इन्हीं आधारों पर हम महाकवि भूषण की राष्ट्रीय भावना का विवेचन करने का प्रयास करेंगे और यह देखेंगे कि भूषण में कहाँ तक राष्ट्रीय कवि के तत्त्व विद्यमान हैं?

(१) स्वदेशानुराग—भूषण के हृदय में स्वदेशानुराग कूट-कूटकर भरा हुआ था। इसीलिए वे सम्पूर्ण भारत का भ्रमण करने के लिए गये और उन्होंने यहाँ की स्थिति का पूर्णतया अवलोकन किया। जब वे अपने तीर्थ-स्थानों पर जाकर यह देखते थे कि मन्दिरों को तोड़कर मस्जिदें बनाई जा रही हैं, मथुरा के उन्नत-उन्नत भवनों में आग लगाकर इस्लाम की दुहाई फेरी जा रही है, काशा में विश्वनाथ के भव्य मन्दिर को नष्ट करके उसके स्थान पर मस्जिद बना दी गई है और सारे भारत में इस्लाम के प्रचार का भयंकर षड्यन्त्र चल रहा है, तब उस स्वदेशाभिमानी का हृदय रो पड़ता था। उसने इसके प्रतिकार का दृढ़ निश्चय किया। यह प्रतिशोध का भाव मुस्लिम धर्म के विरुद्ध नहीं था, यह प्रतिशोध भाव मुसलमान जाति के विरुद्ध नहीं था, क्योंकि भूषण ने बाबर, अकबर तथा हुमायूँ की तो प्रशंसा की है—

बब्बर अकब्बर हिमायूँ हद बाँधि गए,
हिन्दू औ तुरुक की कुरान वेद ढबकी।

परन्तु उसकी यह विरोधी भावना उस अन्यायी एवं अत्याचारी शासक के प्रति थी, जो देश के अन्दर मन्दिरों को नष्ट कर रहा था, इस्लाम का झंडा सर्वत्र फहराने का प्रयास कर रहा था, गौर-गणपति के देवस्थानों को उजाड़ रहा था, सम्पूर्ण भारत के अन्दर सिद्ध एवं महात्माओं का विनाश करके सर्वत्र पीर पैगम्बरों की वृद्धि कर रहा था, जो काशी के सौन्दर्य को नष्ट करने पर तुला हुआ था तथा जिसने मथुरा को विनष्ट कर डाला था। इसी कारण स्वदेशानुराग से ओतप्रोत होकर भूषण ने लिखा है—

देवल गिरावते फिरावते निसान अली,
ऐसे समै राव-राने सबै गये लबकी।
गौरा गनपति आय, औरंग की देखि ताप,
अपने मुकाम सब मारि गये दबकी।।
पीरा पयगंबर दिगंबरा दिखाई देत,
सिद्ध की सिधाई गई रही बात रबकी।
कासीहू की कला गई मथुरा मसीद भई,
सिवाजी न होतो तो सुनति होती सबकी।।

(२) **सांस्कृतिक प्रेम**—भूषण भारतीय संस्कृति के अनन्य भक्त थे। वे नहीं चाहते थे कि भारत की प्राचीन संस्कृति नष्ट होकर यहाँ मुस्लिम संस्कृति का प्रचार हो, क्योंकि भारतीय संस्कृति तो अध्यात्म-प्रधान थी, जबकि मुस्लिम संस्कृति में भौतिकता की प्रधानता थी; भारतीय संस्कृति में त्याग का महत्त्व था, जबकि मुस्लिम संस्कृति भोग-प्रधान थी; भारतीय संस्कृति में अहिंसा को परमधर्म माना गया था, जबकि मुस्लिम संस्कृति हिंसा को सर्वाधिक महत्त्व देती थी; भारतीय संस्कृति में सहृदयता एवं संतोष का प्राधान्य था, जबकि मुस्लिम संस्कृति कठोरता, कट्टरता एवं असंतोष पर प्रतिष्ठित थी, भारतीय संस्कृति में धार्मिक सहिष्णुता थी, जबकि मुस्लिम संस्कृति में असहिष्णुता कूट-कूटकर भरी हुई थी और वह किसी भी अन्य धर्म के आचरण को सहन नहीं कर सकती थी। इसीलिए औरंगजेब ने भारतीय संस्कृति को नष्ट करने का बीड़ा उठाया था और वह भारत के सम्पूर्ण सांस्कृतिक उपकरणों, रीति-रिवाजों एवं मान्यताओं को तहस-नहस करने में जुटा हुआ था। इसे देखकर भूषण का हृदय कराह उठा और वह इस घोर अन्याय के विरुद्ध आवाज बुलन्द करने के लिए वाध्य हुआ। अपनी सांस्कृतिक परम्परा का स्मरण करता हुआ भूषण का कवि इसीलिए महाराज शिवाजी की प्रशंसा कर रहा है—

मच्छहु कच्छ मैं कोल नृसिंह मैं बावन मैं भनि भूषन जो है।
जो द्विज राम मैं जो रघुनाथ मैं जोऽब कह्यौ बलरामहु को है।।
बौद्ध मैं जो अरु जो कलकी महँ विक्रम हूने को आगे सुनो है।
साहस भूमि-आधार सोई अब श्री सरजा सिवराज मैं सो है।।

(३) **धार्मिक भाव**—प्रत्येक राष्ट्रीय कवि अपने राष्ट्र के धर्म पर आरूढ़ रहता है और जब वह यह देखता है कि उसके धर्म पर आघात हो रहा है, उसे नष्ट करने का प्रयास हो रहा है अथवा उसे परिवर्तित करने की चालें चल रही हैं, तब वह तिलमिला उठता है और उन धर्म-विरोधियों के विरुद्ध ललकारता हुआ धर्म-संरक्षण हेतु उपाय करता है। महाकवि भूषण ने भी जब यह देखा कि औरंगजेब भारत के सनातन वैदिक धर्म का विनाश करके ही चैन लेगा, सर्वत्र इस्लाम धर्म को फैलाकर ही मानेगा तथा हिन्दुओं का नामोनिशान भी नहीं रहने देगा, तब भूषण का मन व्यग्र हो उठा और उसका कवि उन्मत्त होकर धर्म-विरोधी शासकों के विरुद्ध अपनी लेखनी

चलाने के लिए बाध्य हो गया। इसीलिए भूषण ने उन तुर्कों एवं मुसलमानों की निन्दा की है, जो हिन्दू-धर्म के विनाश पर तुले हुए थे, उनके वेद पुराण आदि धार्मिक ग्रन्थों को नष्ट कर रहे थे, हिन्दुओं की चोटियाँ कटवा रहे थे, उनके जनेऊ उतरवा कर उनमें आग लगा रहे थे तथा उनकी मालायें तोड़ रहे थे। इसके साथ ही भूषण ने शिवाजी की प्रशंसा की है, जो धर्म-ग्रन्थों, देवी-देवताओं, देव-मन्दिरों आदि की सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील थे तथा जो उन आततायियों का दमन कर रहे थे, जो हिन्दू-धर्म के विनाश में संलग्न थे। भूषण की यही धार्मिक भाव सम्बन्धी राष्ट्रीय भावना इस प्रकार व्यक्त हुई है—

वेद राखे विदित पुरान परसिद्ध राखे,
राम-नाम राख्यो अति रसना सुघर मैं।
हिंदुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गर मैं।
राजन की हद्द राखी तेग-बल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यौ घर मैं॥

(४) **राजनीतिक मान्यता**—प्रत्येक राष्ट्रीय कवि अपने राष्ट्र की राजनीति में ही विश्वास रखता है और उसी रीति-नीति के द्वारा अपने देश एवं राष्ट्र की व्यवस्था देखना चाहता है। भूषण भारतवर्ष में उत्पन्न हुए थे और उनके संस्कारों में मनु महाराज से लेकर राम, कृष्ण, चन्द्रगुप्त, अशोक, हर्ष आदि सम्राटों की राजनीति के प्रति अनन्य श्रद्धा थी। इसी कारण वे इस्लाम-धर्म के अनुयायी औरंगजेब की उस राजनीति के प्रति विरोध प्रकट करते थे, जिसने स्वयं सुन्नी होने के कारण शिया मुसलमानों को भी राज्य-कार्य से बहिष्कृत कर दिया था, जिसने अपने पिता को कैद करके तथा भाईयों को मारकर राजगद्दी प्राप्त की थी, जो अपनी अनुदार नीति के कारण हिन्दू तथा मुसलमान दोनों को असतुष्ट बना रहा था, जिसमें कट्टरता एवं धर्मान्धता अत्यधिक मात्रा में थी, जो अपनी कूटनीति के कारण सबके अविश्वास का पात्र बना हुआ था और किसी का भी विश्वास नहीं करता था तथा जिसने सारे भारत-राष्ट्र में राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न कर दी थी। इसी कारण भूषण कवि ऐसे राजा के दरबार में गये, जो भारतीय राजनीति का अनुयायी था, जिसने सम्पूर्ण भारत में हिन्दू-पद-पादशाही की स्थापना का संकल्प किया था, जो समूचे भारत को विदेशी राजनीति से सर्वथा मुक्त करना चाहता था तथा जिसमें दृढ़ता, साहस, धैर्य, विश्वास, सहिष्णुता, उदारता, दानशीलता आदि सद्गुण विद्यमान थे। अपनी इसी मान्यता के कारण भूषण ने औरंगजेब की शासन-नीति की घोर निन्दा की है और महाराज शिवाजी तथा छत्रसाल की राजनीति की भरभूर सराहना की है। शिवाजी की प्रशंसा करते हुए तो भूषण ने यहाँ तक कहा है—

जा दिन जनम लीन्हौ भू पर भुसिल भूप,
ताही दिन जीत्यो अरि उर के उछाह को।

छठी छत्रपतिन को जीत्यो भाग अनायास,
जीत्यो नामकरन मैं करन-प्रवाह को।
भूषन-भनत बाल-लीला गढ़ कोट जीत्यो,
साहि के सिवाजी करि चहूँ चमू चाह को।
बीजापुर गोलकुण्डा जीत्यो लरिकाई ही मैं,
ज्वानी आए जीत्यो दिलीपति पातसाह को॥

इतना ही नहीं, शिवाजी ने अपनी उदार राजनीति एवं पराक्रमशाली पौरुष के कारण देश-विदेश में किस तरह धाक जमा ली थी—इसका वर्णन भी भूषण ने अत्यन्त कुशलता के साथ किया है, जिसमें भूषण की राजनीति सम्बन्धी राष्ट्रीय भावना इस तरह मुखरित हुई है—

जोर रुसियान को है, तेग खुरासानहू की,
नीति इङ्गलैंड, चीन हुन्नर महादरी।
हिम्मत अमान मरदान, हिन्दुवानहू की,
रूम अभिमान, हबसान-हद कादरी॥
नेकी अरबान, सान-अदब ईरान त्यों ही,
क्रोध है तुरान, ज्यौं फरांस फंद आदरी।
भूषन भनत इमि देखिए महीतल पैं,
वीर-सिवराज सिवराज की बहादुरी॥

(५) साहित्य-प्रेम—प्रत्येक राष्ट्रीय कवि अपने राष्ट्र के परम्परागत साहित्य से प्रेम करता है और उसी परम्परा को अग्रसर करने में गौरव का अनुभव करता है। भूषण के साहित्य का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि भूषण ने अपने वेद-शास्त्रों का भली प्रकार अनुशीलन किया था और उसी परम्परा में अपने 'शिवराज-भूषण', 'शिवा-बावनी', 'छत्रसाल दशक' आदि ग्रन्थों का निर्माण किया। इनमें से 'शिवराज भूषण' में भारतीय काव्य-शास्त्रों में मान्य अलंकारों का वर्णन किया गया है और शिवाजी के यश का भी भरपूर वर्णन किया गया है। इसी तरह 'शिवा-बावनी' में तत्कालीन घटनाओं का उल्लेख करते हुए शिवाजी के सुयश का निरूपण किया गया है और 'छत्रसाल-दशक' में बुन्देला महाराज छत्रसाल की प्रशंसा की गई है। इन सभी ग्रन्थों पर पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य का पूर्ण प्रभाव है और इन ग्रन्थों में शिवाजी या छत्रसाल के यश का वर्णन करते हुए घटनाओं को विस्तार न देकर अथवा उन्हें वर्णनात्मक पद्धति में न लिखकर केवल उन पर कवि ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। यह प्रतिक्रिया जन-भावना के सर्वथा अनुकूल है और इसी कारण भूषण के साहित्य में पुरातन साहित्य के प्रति अगाध प्रेम के दर्शन होते हैं और उनकी कविता राष्ट्रीय भावना की द्योतक हो गई है।[1]

---

[1] भूषण और उनका साहित्य—डा० राजमल बोरा, पृ० ६७।

(६) **समाज-प्रेम**—भूषण की राष्ट्रीय भावना उनके समाज-प्रेम से भी व्यक्त हुई है, क्योंकि जिस तरह प्रत्येक राष्ट्रीय कवि अपने समाज पर होने वाले अत्याचारों अनाचारों एवं व्यभिचारों से तिलमिला उठता है, उसी तरह भूषण कवि औरंगजेब तथा अन्य मुसलमानों के द्वारा होने वाले सामाजिक अत्याचारों एवं व्यभिचारों से तिलमिला उठे थे और ऐसे अत्याचारी, अनाचारी एवं व्यभिचारों शासकों का समूल विनाश करना चाहते थे, जो समाज की मर्यादाओं को भंग कर रहे थे, रीति-नीति को मिटा रहे थे. नैतिकता को समाप्त कर रहे थे तथा सामाजिक आदर्शों को बदल कर सामाजिकों में विलासिता, अकर्मण्यता, भौतिक लालसा, मिथ्या अहंकार, वासनाएं आदि जाग्रत कर रहे थे। इसीलिए तत्कालीन सामाजिक दुर्दशा से क्षुब्ध होकर भूषण ने निम्नलिखित कवित्त लिखा, जिसमें शिवाजी के यश के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक दुश्शीलता का चित्रण भी हुआ है और जो भूषण की राष्ट्रीय भावना का द्योतक है—

बैठती दुकानें लँके रानी रजवारन की,
तहाँ आइ बादशाह राह देखै सबकी।
बेटिन को यार और यार है लुगाइन को,
राइन के मार दाबादार गए दबकी॥
ऐसी कीन्ही बात तोऊ कोऊ वै न कीन्हीं घात,
भई है नदानी बंस छत्तीस मैं कब की।
दच्छिन के हाथ ऐसी देखि धरे मूछों हाथ,
सिवाजी न होतो तो सुनति होती सबकी॥

(७) **भाषा-प्रेम**—प्रत्येक राष्ट्रीय कवि अपनी मातृभाषा एवं राष्ट्रभाषा से अगाध प्रेम रखता है और उसी में अपनी समस्त रचनाएँ प्रस्तुत करता है। भूषण कवि की भी यही विशेषता देखी जाती है कि वे वैसे तो महाराज शिवाजी के दरबारी कवि थे और शिवाजी महाराष्ट्र के रहने वाले थे। अतः उनके यहाँ मराठी भाषा का अत्यधिक प्रचार था, किन्तु भूषण ने मराठी भाषा के प्रदेश में रहते हुए भी हिन्दी में ही अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं और महाराज शिवाजी से पर्याप्त पुरस्कार प्राप्त किये। ऐसे ही बुन्देला सरदार छत्रसाल के दरबार में बुन्देली भाषा का जोर था, परन्तु भूषण कवि ने अपनी उसी प्रचलित हिन्दी भाषा में कविताएँ कीं तथा बुन्देला सरदार से पर्याप्त सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त की। इससे सिद्ध है कि भूषण का अपनी देश-भाषा एवं राष्ट्रभाषा के प्रति रागात्मक सम्बन्ध था, उसी के माध्यम से वे उत्तर और दक्षिण के सभी निवासियों को रागात्मक एकता के सूत्र में बाँधना चाहता है। और उसी के द्वारा राजनीतिक काम-काज कराने के लिए सम्पूर्ण भारत में भाषागत चेतना जाग्रत कराने का प्रयास कर रहे थे। इसी कारण भूषण का भाषा-प्रेम उनकी राष्ट्रीय भावना का द्योतक हैं।

(८) **जननायकों के प्रति अटूट श्रद्धा**—किसी भी राष्ट्रकवि की कविता में प्रायः उन्हीं राजाओं, महात्माओं, सिद्ध पुरुषों, श्रेष्ठ व्यक्तियों एवं वीरों का यशोगान गाया

जाता है और उन्हीं के प्रति अगाध विश्वास एवं अटूट श्रद्धा व्यक्त की जाती है, जो जनता के संरक्षक होते हैं, जन-जीवन को कल्याण की ओर अग्रसर करने वाले होते हैं, सम्पूर्ण जनता पर होने वाले अत्याचारों का दमन करते हैं तथा जो जननी-जन्मभूमि को स्वर्ग से भी अधिक गरिमामयी जानकर उसके लिए अपने प्राणों की आहुति चढ़ा देते हैं। इस दृष्टि से देखा जाय तो भूषण ने जिन दो जननायकों—शिवाजी एवं छत्रसाल का यशोगान किया है, वे दोनों ही सदैव अन्याय के दमन में तत्पर रहे हैं, धर्म की रक्षा के लिए तलवार लेकर युद्ध-क्षेत्र में आए हैं, जनता की कल्याण-कामना में तल्लीन रहे हैं और तत्कालीन राष्ट्र के प्रतिनिधि वीर माने गये हैं। अतः ऐसे जननायकों की प्रसंसा किसी आश्रयदाता की कोरी प्रशंसा नहीं है, अपितु वह सज्जनों के परित्राण-कारी वीरों की प्रशंसा है, धर्म-संस्थापक श्रेष्ठ पुरुषों की प्रशंसा है, दानशील महान् राजाओं की प्रशंसा है और हिन्दू-राष्ट्र के प्रतिनिधियों की प्रशंसा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी ठीक ही लिखा है कि "शिवाजी और छत्रसाल की वीरता के वर्णनों को कोई कवियों की झूठी खुशामद नहीं कह सकता। वे आश्रयदाताओं की प्रशंसा की प्रथा के अनुसरण मात्र नहीं हैं। इन दो वीरों का जिस उत्साह के साथ सारी हिन्दू-जनता स्मरण करती है, उसी की व्यञ्जना भूषण ने की है।"[१] अतः यह स्पष्ट है कि भूषण ने जिन जननायकों का यशोगान किया है, वे राष्ट्र के कर्णधार थे और उसके प्रति वर्णित भावों में कवि की राष्ट्रीय भावना ही सर्वत्र उमड़ रही है।

सारांश यह है कि भूषण की राष्ट्रीय भावना में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक चेतना विद्यमान है। भूषण ने अपनी सम्पूर्ण कविता का निर्माण युग-चेतना से अनुप्राणित होकर किया है, उनकी कविता में तत्कालीन जन-जीवन चित्रित है, लोक-मंगल की भावना अंकित है और राष्ट्रीय नवोत्थान की श्रेयमयी चेतना वर्णित है। इसी कारण भूषण कोई जातीय कवि नहीं हैं, अपितु भारत-राष्ट्र की मंगल-चेतना एवं उदात्त-भावना से परिपूर्ण एक राष्ट्रीय कवि हैं।

भूषण का काव्य-सौष्ठव

हिन्दी-साहित्य के प्राचीन लेखकों ने भूषण के चार ग्रन्थों का उल्लेख किया है—(१) शिवराज-भूषण, (२) भूषण-हजारा, (३) भूषण-खल्लास और (४) दूषण-उल्लास।[२] परन्तु मिश्रबन्धुओं ने उक्त चार ग्रन्थों के अतिरिक्त भूषण की दो अन्य कृतियाँ और मानी हैं, जो 'शिवा-बावनी' और 'छत्रसाल-दशक' के नाम से प्रसिद्ध

---

[१] **हिन्दी-साहित्य का इतिहास**, पृ० २५५।

[२] **शिवसिंह-सरोज**—ठाकुर शिवसिंह सेंगर तथा **हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास**—डा० सर जार्ज ग्रियर्सन, पृ० १५७।

है।[1] इस तरह भूषण की छः रचनाओं के बारे में इतिहास-ग्रन्थों के अन्तर्गत उल्लेख मिलते हैं और इसी आधार पर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास में भूषण की उक्त छः रचनाओं का निर्देश किया है।[2] परन्तु अभी तक की खोजों के आधार पर भूषण की केवल तीन रचनाएँ ही प्राप्त हुई हैं—(१) शिवराज-भूषण, (२) शिवा-बावनी और (३) छत्रसाल-दशक। इनके अतिरिक्त 'भूषण हजार', 'भूषण-उल्लास', और 'दूषण-उल्लास' का अभी तक कहीं कोई पता नहीं चला है। इन प्राप्त ग्रन्थों में से 'शिवराज-भूषण' ही एक विशालकाय रचना है, जिसमें ३८५ पद्यों में एक ओर तो अलंकारों के लक्षणों का निरूपण हुआ है और दूसरी ओर उन अलंकारों के उदाहरणों के रूप में शिवाजी के शौर्य एवं पराक्रम का वर्णन किया गया है। 'शिवा-बावनी' में केवल बावन कवित्त हैं, जिनमें शिवाजी के सौभाग्य, शौर्य, पराक्रम आदि का ओजपूर्ण निरूपण हुआ है। इसके अतिरिक्त 'छत्रसाल-दशक' में केवल दस कवित्तों के अन्तर्गत बुन्देला महाराज छत्रसाल की शौर्य-गाथा गायी गई है। इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर कवि भूषण के काव्य-सौष्ठव का अध्ययन करने के लिए सुविधानुसार उनके काव्य को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(क) भूषण की काव्यानुभूति और (ख) भूषण की काव्याभिव्यक्ति।

(क) भूषण की काव्यानुभूति

वस्तु-वर्णन—भूषण के जो कुछ ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं, उनमें से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'शिवराज-भूषण' है। यद्यपि यह एक अलंकार-ग्रन्थ है, क्योंकि इसमें अलंकारों के लक्षण और उदाहरणों का ही संकलन है, तथापि इसमें सर्वत्र शिवाजी की प्रशंसा की गई है। शिवाजी के जन्म से लेकर 'हिन्दू-पद-पादशाही' की स्थापना तक जितनी भी ऐतिहासिक घटनाएँ शिवाजी के जीवन से सम्बन्ध रखती हैं, उन सभी का अत्यन्त ओजस्वी भाषा में निरूपण किया गया है। इन घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करते हुए कवि भूषण ने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक स्थिति का भी अत्यन्त विशद चित्रण किया है। कवि भूषण वीर रस के कवि हैं और सारे ग्रन्थ में वीर रस का ही प्राधान्य है। अतएव इस ग्रन्थ के मंगलाचरण में वीर रस के ही अनुकूल उस आदिशक्ति दुर्गा, चामुण्डा एवं काली की वन्दना की गई है, जिसने मधुकैटभ, महिषासुर, चण्ड-मुण्ड, भण्डासुर, रक्त-बीज, विडालाक्ष आदि का वध किया था। तदनन्तर शिवाजी के बल, शौर्य, पराक्रम एवं तेज का निरूपण करते हुए कवि ने उन्हें राम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि का अवतार घोषित किया है और कलियुग के कष्टों से पीड़ित जनता का उद्धार करने के लिए शिवाजी का अवतीर्ण होना सिद्ध किया है, क्योंकि भूषण ने एक पद में औरङ्गजेब के अत्याचारों को कलियुग की साकार मूर्ति माना है और माहान् जलधि से उन अत्याचारों की तुलना करते हुए

---

[1] भूषण ग्रन्थावली—मिश्रबन्धु, पृ० ३।

[2] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ०२५६।

अधर्म को तरङ्ग कहा है, लाखों म्लेच्छों एवं अत्याचारियों को कच्छप तथा मगर-मच्छ कहा है, आश्रित राजाओं को नद-नदी कहा है तथा शिवाजी के यश को उस कलियुग रूपी समुद्र को पार कराने वाला जहाज बतलाया है।[1] ऐसे ही दूसरे पद में कलियुग की साकार प्रतिमा का चित्रण करते हुए औरङ्गजेब को कलियुग का सिर कहा है, अब्बास खाँ को हृदय बताया है, आदिलशाह और कुतुबशाह को दोनों भुजाएँ कहा है, म्लेच्छ उमरावों को पैर तथा अन्य तुर्कों को उसके शरीर का अंग बतलाया है और इस कलियुग का विनाश करने के लिए शिवाजी का अवतार ग्रहण करना बताया है।[2] इन पदों से स्पष्ट ही भूषण की शिवाजी जैसे वीर-नायक के प्रति श्रद्धा, विश्वास, भक्ति आदि का पता चल जाता है।

भूषण ने अपने काव्य में तत्कालीन समाज की दुरवस्था के चित्र भी वड़ी तत्परता के काथ अंकित किये हैं। उस समय औरङ्गजेब के क्रूरतापूर्ण व्यवहार के कारण भारत भर में देव-स्थान गिराये जाते थे, मन्दिरों पर मस्जिदें बनाई जाती थीं। सिद्ध और महात्माओं को सताया जाता था, वर्ण-व्यवस्था को मिटाया जाता था और धर्म पर आघात होता था।[3] उस समय बलपूर्वक हिन्दुओं की चोटियाँ काटी जाती थीं, वेद-पुराणों को जलाया जाता था, जनेऊ तोड़े जाते थे और धर्म-भ्रष्ट करके बलपूर्वक मुसलमान बनाया जाता था।[4] परन्तु शिवाजी ने सामाजिक स्थिति को सुधारने का बीड़ा उठाया, उन्होंने वेद-पुराणों की रक्षा की, हिन्दू मुसलमान सैनिकों को अपने यहाँ नौकरी दी, मन्दिरों की रक्षा और स्वधर्म एवं स्वाभिमान की रक्षा की।[5]

---

[1] कलयुग जलधि अपारु उद्ध अधरम्म उर्म्मिमय।
लच्छनि लच्छ मलिच्छ कच्छ अरु मच्छ मगर चय॥
नृपती नद-नद वृन्द होत जा को मिलि नीरस।
भनि भूषन सब भुम्मि घेरि किन्निय सुअप्प बस॥
हिन्दुवाने पुन्य गाहक बनिक, तासु निवाहक साहि सुव।
वर बादवान किरवान धरिं, जस जहाज सिवराज तुव॥

[2] साहिन मन समरत्थ जासु नवरंग साहि सिरु।
हृदय जासु अब्बास साहि बलु-बल विलास थिरु॥
एदलिसाह कुतुब्ब जासु जुग भुज भूषन भनि।
पाय मलेच्छ उमराय काय तुरकान आनि गनि॥
यह रूप अवनि अवतार धरि, जेहि जालिम जग दंडियव।
सरजा सिव साहस खग्ग गहि, कलियुग सोइ खल खंडियव॥

[3] शिवा-बावनी, पद सं० १९, २०, २१।

[4] वही, पद सं० ३१, ३२।

[5] शिवा-बावनी, पद सं० ३३

भूषण ने तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का चित्रण करते हुए बताया है कि सभी राजा-महाराजा औरङ्गजेब के क्रूर शासन-चक्र में पिस रहे थे। इसी कारण श्रीगर, नेपाल आदि के राजा कर, दुर्ग, बाज आदि भेंट करके तथा मेवाड़, उदयपुर, जयपुर, बुन्देलखण्ड, उड़ीसा, रीवाँ आदि के राजा नौकरी करके औरंगजेब से सुरक्षित थे, अन्यथा इनको भी मुगल राज्य में मिला लिया जाता।[१] इन सभी राजाओं की स्थिति का चित्रण करते हुए भूषण ने लिखा है कि "कछवाहे राजपूत कमल-पुष्प के समान थे, जोधपुर नरेश कदम्ब-पुष्पवत् थे, गौड़ वंशी राजा गुलाब के फूल के समान थे, उदयपुर के राणा केतकी-पुष्पवत् थे, परमार राजा पांडरि पुष्पवत् थे, चन्दावत जुही पुष्पवत् थे, बुन्देलखण्ड के नरेश मौलश्री-पुष्प के समान थे, बघेले राजपूत वसन्त-कालीन अन्य पुष्पों के समान थे और इन सभी पुष्पों का रस औरंगजेब रूपी भौंरा नित्य पान करता रहता था, किन्तु शिवाजी महाराज ही चम्पा के पुष्प थे, जहाँ औरंगजेब रस-पान कहीं कर सकता था।"[२]

इसके अतिरिक्त भूषण ने शिवाजी के रायगढ़ किले का, विविध युद्धों का तथा प्रकृति का भी निरूपण किया है। इनमें से युद्ध वर्णनों में तो मार्मिकता एवं कुशलता के दर्शन होते हैं, जिनके उदाहरण रस-निरूपण में मिलेंगे, किन्तु प्रकृति-चित्रण में केवल फूलों के नामगिनाकर ही काम चलाया गया है और प्रकृति का कोई भी संश्लिष्ट चित्र अंकित नहीं किया गया है।

रस-निरूपण—भूषण ने मुख्य रूप से वीर-रस का निरूपण किया है। उनका सारा काव्य वीर-रस के स्थायीभाव 'उत्साह' से परिपूर्ण है। इस उत्साह का निरूपण करने के लिए भूषण ने वीर-रस के युद्धवीर, धर्मवीर, दानवीर एवं दयावीर चारों भेदों का बड़ी सफलता के साथ चित्रण किया है। युद्ध-वीर का वर्णन करते हुए भूषण ने छत्रपति शिवाजी के युद्धोत्साह का बड़ी सजीवता एवं तन्मयता के साथ निरूपण किया है, जिसमें वीरों की रण-सज्जा, सेना का उत्साहपूर्वक प्रस्थान, युद्ध-स्थल में वीर शिवाजी का रण-कौशल एवं शस्त्र-कौशल, युद्ध की भयंकर मोर्चाबन्दी, सेनाओं की मुठभेड़ का दारुण कोलाहल, शत्रुओं की ललकार एवं शत्रुओं की भयभीत स्थिति आदि

---

१. शिवराज-भू, पद सं० १११

२. कूरम कमल, कमधुज है कदम्ब फूल,
गौर है गुलाब, राना केतकी विराज है।
पांडरि पँवार, जुही सोहत है चदावत,
वकुल बुन्देला अरु हाडा हंसराज है॥
भूषन भनत मुचकुंद बड़ गूजर है,
बघेल बसंत सब कुसुम-समाज है।
सबही कौ रस लैकै बैठि न सकत आय,
अलि अवरंगजेब चम्पा सिवराज है॥

के वर्णन सम्मिलित हैं । शिवाजी के युद्धोत्साह का वर्णन करते हुए भूषण ने लिखा है कि "जैसे ही शिवाजी अपनी चतुरङ्गिणी सेना सजाकर और घोड़े पर चढ़कर युद्ध क्षेत्र के लिए चले, वैसे ही बड़े-बड़े नगाड़ों का भयंकर नाद होने लगा, मतवाले हाथियों का मद बहने लगा, सारे संसार में गली-गली के अन्दर खलबली मच गई, हाथियों की ठेल-पेल से पर्वत उखड़ने लगे और सेना के चलते ही इतनी धूल उठी कि सूर्य धूल से ढंककर एक तारे की भाँति चमकने लगा तथा समुद्र इस तरह हिलने लगा जिस तरह एक बड़े थाल में पारा डाल दिया जाय तो वह हिलता हुआ दिखाई देता है ।[1]

ऐसे ही शिवाजी के धर्मवीर सम्बन्धी धार्मिक उत्साह एवं धर्मनिष्ठा का निरूपण करते हुए भूषण ने बताया है कि शिवाजी ने सुप्रसिद्ध वेद पुराणों की रक्षा की थी, रामनाम की रक्षा की थी, हिन्दुओं की चोटी सुरक्षित रखी थी; उनके कन्धे पर जनेऊ और गले में माला सुरक्षित रखी थी तथा अपनी तलवार के बल पर ही देवता, देव-मन्दिर एवं स्वधर्म की रक्षा की थी ।[2] इसी प्रकार दानवीर के रूप में शिवाजी के दान-सम्बन्धी उत्साह का निरूपण करते हुए भूषण ने शिवाजी के द्वार पर प्रतिक्षण दान की दुन्दुभी बजना कहा है, भिक्षुकों की भीड़ को राजा भोज से भी अधिक सुख प्राप्त करते हुए बतलाया है[3] और कहा है कि शिवाजी का हृदय दान देते समय ब्राह्मणों को देखकर सुमेरु एवं कुबेर की सम्पत्ति को भी लुटा देने के लिए ललकता रहता था ।[4] ऐसे ही दया-वीर के रूप में शिवाजी के दया-दाक्षिण्य एवं उदारता का निरूपण करते हुए भूषण ने लिखा है कि जो कोई

---

[1] साजि चतुरंग वीररंग में तुरंग चढ़ि,
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है ।
भूषन भनत नाद विहद नगारन के,
नदी नद मद गब्बरन के रलत है ।।
ऐल फैल खैल भैल खलक में गैल-गैल,
गजन की ठेल-पेल सैल उसलत है ।
तारा सो तरनि धूरि-धारा में लगत जिमि,
थारा पर पारा पारावर यों हलत है ।।

[2] वेद राखे विदित पुरान परसिद्ध राखे,
राम-नाम राख्यौ अति रसना सुधर मैं ।
×   ×   ×
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यौ घर मैं ।।

[3] साहि तनै सरजा तव द्वार प्रतिच्छन दान की दुन्दुभि बाजै ।
भूषन भिच्छुक भीरन को अति भोजहु तें बढ़ि मौजनि साजै ।।

[4] दान समै द्विज देखि मेरुहु कुबेरहु की
सम्पत्ति लुटाइबे कों हियो ललकत है ।

व्यक्ति शिवाजी की शरण में जाता था उसे निडरतापूर्वक अपने यहाँ बसने के लिए वे उसके सिर पर पगड़ी सी बाँध देते थे मानो उसको निर्भय रहने के लिए किला ही बनवा दिया हो ।[1] इस प्रकार भूषण ने महत्कार्य का सम्पादन करने वाले शिवाजी के सभी प्रकार के उत्साहों का निरूपण करते हुए वीर रस की अत्यधिक मार्मिक अभिव्यंजना की है ।

भूषण के काव्य का अंगीरस तो वीर है, किन्तु अन्य रस भी अंग के रूप में जहाँ-तहाँ मिल जाते हैं, जो वीर रस को पुष्ट करने में ही सहायक सिद्ध हुए हैं । वीर रस के प्रमुख सहकारी रस रौद्र एवं भयानक माने गये हैं । भूषण ने 'रौद्र' के क्रोध स्थायीभाव का निरूपण करते हुए शिवाजी के उस उत्कट क्रोध का वर्णन किया है, जिसको देखकर ही न केवल बादशाह के होश उड़ गये थे, अपितु बादशाह का मुख स्याह काला पड़ गया था और सिपाहियों के मुख पीले पड़ गये थे, क्योंकि जिस समय शिवाजी दिल्ली दरवार में गये थे, उस समय वे सबसे ऊपर खड़े करने के योग्य थे, परन्तु उन्हें छः हजारी मनसबदारों के पास खड़ा किया गया था । इसी से शिवाजी को क्रोध आ गया, उन्होंने वादशाह को सलाम तक नहीं की और न शीतल शब्द ही वोले । उस क्षण शिवाजी का मुख क्रोध के मारे लाल हो गया, जिसे देखकर वादशाह औरंगजेब का मुख काला पड़ गया और सभी सिपाहियों के मुख पीले पड़ गये ।[2] ऐसे ही भूषण ने वीर रस के द्वितीय सहकारी रस 'भयानक' का भी अत्यन्त मनमोहक वर्णन किया है । भूषण ने लिखा है कि शिवाजी की तलवार से औरंगजेब की सेना का विध्वंस होने के कारण एसी-ऐसी अकथनीय कहानियाँ चारों ओर फैल गई थीं कि शिवाजी की धाक के मारे दिल्ली और विलायत की सभी स्त्रियाँ रात-दिन विलबिलाती रहती थीं । मुगलों की बेगमें तो आगरे के राजमहल की चहारदीवारी को भी नहीं लाँघती थीं, अपने बाल तक नहीं सँभालती थीं और उनके मुख कुम्हला गये थे । शिवाजी के भय के मारे बेगमें अत्यन्त दीन होकर अपनी-अपनी सुथनियाँ पकड़े हुए और रानियाँ

---

१. पायतर आय नित निडर बसाइबे कों,
कोटि बाँधियतु मानो पाग बाँधियतु है ।

२. सब्न के ऊपर ही ठाढ़ो रहिबे के जोग,
ताहि खरो कियो छः हजारिन के नियरे ।
जानि गैर मिसिल गुसीले गुसा धारि मनु,
कीन्हो ना सलाम न वचन बोले सियरे ।।
भूषन भनत महावीर बलकन लाग्यो,
सारी पातसाही के उड़ाय गये जियरे ।
तमक तें लाल मुख सिवाको निरखि भए,
स्याह मुख नौरंग सिपाह मुख पियरे ।।

अपनी-अपनी साड़ी की गाँठ पकड़े हुए भागी जाती थीं और कहती थीं कि अब हम क्या करेंगी ?[1]

भूषण ने वीर रस के उक्त सहकारी रसों के अतिरिक्त वीर रस के अन्य विरोधी रसों का निरूपण भी बड़ी तत्परता के साथ किया है, जिनमें से वीभत्स, करुण, अद्भुत और हास्य रस का पूर्ण परिपाक भूषण की कविता में हुआ है। वीभत्स रस के स्थायीभाव 'जुगुप्सा' का वर्णन करते हुए भूषण ने युद्ध-क्षेत्र में शिवाजी के द्वारा योद्धाओं, घोड़ों, हाथियों आदि को काट-काटकर जो ढेर लगा दिए थे, तब शिवजी के भूतगणों ने वहाँ से आँतें लेकर सारंगी बनाई, इन मरे हुए वीरों एवं पशुओं की खालें लेकर मृदंग बनाये और खोपड़ियों के मँजीरे बनाये और इनके द्वारा संगीत का सुन्दर आयोजन किया।[2] भूषण ने वीर रस का ही वर्णन करते हुए बड़ी सफाई के साथ उसमें करुण रस का भी समावेश कर दिया है, क्योंकि करुण रस के 'शोक' स्थायीभाव को हम उन शत्रु-नारियों की दशा के निरूपण में देख सकते हैं, जो शिवाजी के द्वारा अपने पतियों के मर जाने पर न तो सुहाग के चिह्न रूप चूड़ियाँ धारण कर सकती हैं, न वे अपनी माँग में सिन्दूर ही लगाती हैं और न वे मस्तक पर बिन्दा ही लगा पाती हैं।[3] ऐसे ही भूषण ने अद्भुत रस का निरूपण करते हुए

---

[1] कत्ता की कराकनि चकत्ता को कटक काटि,
कीन्हो सिवराज वीर अकह कहानियाँ।
भूषन भनत और मुलुक तिहारी धाक,
दिल्ली औ बिलायत सकल बिललानियाँ॥
आगरे अगारन की नाँघती पगारन,
सम्हारती न बारन बदन कुम्हलानियाँ।
कीबी कहै कहा औ गरीबी गहे भागी जाहिं,
बीबी गहे सुथनी सुनीबी गहे रानियाँ॥

[2] भूप सिवराज को पकरि रन-मंडल मैं,
खग्ग गहि कूद्यो चकत्ता के दरबारे में।
काटे भट विकट रु गजन के सुंड काटे,
पाटे डर भूमि काटे दुवन सितारे मैं॥
भूषण भनत चैन उपजे सिवा के चित्त,
चौंसठ नचाई जबै रेवा के किनारे मैं।
आँतन की ताँत बाजी खाल की मृदंग बाजी,
खोपरी की ताल पशुपाल के अखारे मैं॥

[3] सरजा समत्थ बीर तेरे बैर बीजापुर,
बैरि बैयरिन-कर चीन्ह न चुरीन के।
तेरे बैर देखियतु आगरे दिली के बीच,
सिंदुर न बिंदु मुख-इंदु जवनीन के॥

'आश्चर्य' नामक स्थायीभाव की भी बड़ी सतर्कता के साथ अभिव्यंजना की है, जिसमें भूषण ने दिखाया है कि प्रायः सुमन (फूल) में मकरंद रहता है, किन्तु यहाँ सुमन (सुन्दर मन वाले शिवाजी) मकरंद में (मालोजी के मन में) रहता है। प्रायः मानसरोवर में हंस निवास करते हैं, परन्तु यहाँ शिवाजी के यश रूपी हंस में मन रूपी मानसरोवर रहता है। उधर प्रायः पानी में जहाज रहते हैं, परन्तु यहाँ शिवाजी के चेहरे की चमक रूपी समुद्र लाज रूपी जहाज में रहता है। ये सभी विपरीत स्थिति में रहने के कारण अद्भुत रस के द्योतक हैं।[1] इसके अतिरिक्त हास्य रस के स्थायीभाव हास्य का निरूपण भी भूषण ने बड़ी तत्परता के साथ शत्रुओं की बेगमों के वार्त्तालाप के अवसर पर कर दिया है। भूषण ने लिखा है कि जब कोई मुगल-सरदार चित्त में बेचैन होकर, आँखों से आँसू बहाता हुआ तथा थर-थर काँपता हुआ अपने घर आता था, तब उसकी बीबी उस सरदार के सीने को धड़कता हुआ जानकर, शरीर को पसीने से लथ-पथ देखकर, मुख को फीका देखकर और उसे इधर उधर ताकता हुआ देखकर उससे पूछा करती थी कि आज तुम्हे होश क्यों नहीं है ? क्या तुम्हें बादशाह ने दक्षिण का सूबेदार बना दिया है जिसके मारे तुम आज सूखते चले जा रहे हो और बोलते तक नहीं ? कवि भूषण के इस कथन में मधुर हास की सुन्दर व्यंजना हुई है।[2]

(ख) भूषण की काव्याभिव्यक्ति

भाषा—कवि के हृदयस्थ भावों की अभिव्यक्ति का सबसे प्रमुख साधन भाषा है। भाषा के माध्यम से ही प्रत्येक कवि अपनी भावनाओं को वाणी प्रदान करता है,

---

[1] सुमन मैं मकरंद रहत है साहिनंद,
मकरद सुमन रहत ज्ञान बोध है।
मानस मैं हंस-बंस रहत हैं तेरे जस—
हंस मैं रहत करि मानस विरोध है॥
भूषन भनत भौंसिला भुवाल भूमि, तेरी
करतूति रही अद्भुत रस ओघ है।
पानी मैं जहाज रहे लाज के जहाज,
महाराज सिवराज तेरे पानिप पयोध है॥

[2] चित्त अनचैन आँसू उमगत नैन देखि,
बीबी कहैं बैन मियाँ कहियत काहिनै।
भूषन भनत बूझे आए दरबार तें,
कँपत बार-बार क्यों सँम्हार तन नाहिनैं॥
सीनो धकधकत पसीनो आयो देह सब,
हीनो भयो रूप न चितौत बाएँ दाहिनैं।
सिवाजी की संक मानि गए हौ सुखाय तुम्हें,
जानियत दक्खिन को सूवा करौ साहिनैं॥

भाषा के माध्यम से ही वह अपने उद्‌गार प्रकट करता है और भाषा के माध्यम से ही वह अपनी प्रतिभा, कल्पना, अनुभूति एवं आदर्श को अभिव्यक्त करता है। भूषण कवि ने भी अपने भावों एवं विचारों को अभिव्यक्ति देने के लिए एक भाषा को माध्यम बनाया है और वह है ब्रजभाषा, जो उस समय हिन्दी-काव्य की एक प्रमुख भाषा थी और जिसमें लगभग १५० वर्षों से सुन्दर एवं सजीव काव्य का निर्माण हो रहा था। इसे ब्रजभाषा के धनी महात्मा सूरदास ने सजाया था, नंददास ने इसमें लालित्य भरा था, गोस्वामी तुलसीदास ने इसे परिष्कृत किया था, रसखान ने इसमें चुस्ती और माधुर्य की सृष्टि की थी, बिहारी ने इसे समास-शक्ति-सम्पन्न बनाया था और मतिराम ने इसमें सरसता एवं सरलता का संचार किया था। उसी सुललित एवं सुमधुर ब्रजभाषा को भूषण ने अपनी वीर-भावना के अनुकूल ओजमयी एवं सशक्त बनाने का प्रयास किया, जिससे ब्रजभाषा का लालित्य समाप्त हो गया और परुष वर्ण-प्रधान, कठोर एवं द्वित्ववर्णमयी हो गई। वैसे भी वीर रस के अनुकूल वही भाषा होती है, जिसमें ओज-गुण-व्यंजक वर्णों की प्रधानता होती है, जिसमें संयुक्त वर्णों का बाहुल्य होता है और जो ट, ठ, ड, ढ से युक्त द्वित्व वर्णों वाली होती है।[1] भूषण ने इसीलिए कोमल एवं ललित ब्रजभाषा को वीर, रौद्र एवं भयानक रसों के अनुकूल ढालने के लिए कठोर वर्ण-प्रधान बनाया और यह प्रवृत्ति भूषण की कविता में चरम-सीमा पर पहुँच गई, क्योंकि भूषण ने जहाँ अमृत-ध्वनि छंदों में शिवाजी की सूरत-विजय का ओजपूर्ण वर्णन किया है, वहाँ भूषण की ब्रजभाषा परुष-वर्ण-प्रधान, द्वित्ववर्णमयी तथा ओजगुण-व्यंजक ट, ठ, ड, ढ के द्वित्व वर्णों वाली हो गई है। यथा :—

दिल्लिय दलन दबाय करि सिव सरजा निरसंक।
लूटि लियो सूरति सहर, बंकक्करि अति डंक ।।
बंकक्करि अति डंकक्करि अत तंकक्कुलि खल।
सोचच्चकित भरोचच्चलिय विमोचच्चख जल ।।
तट्ठट्ठइ मन कट्ठट्ठिक सोइ रट्ठट्ठिल्लिय।
सद्दद्दिसि दिसि भद्दद्दविभइ रद्दद्दिल्लिय ।।

भूषण की भाषा में कदली, कपोत, चक्रवाक, चातक, मकरन्द, माधवी, मृगराज, रसाल, सुमन, हंस, उपेन्द्र, कृपाल, द्विजराज, सृष्टि, सिंह आदि कितने ही तत्सम शब्द मिलते हैं, किन्तु तद्‌भव शब्दों की बहुलता है, क्योंकि भूषण ने कलियुग, जुत, सुरेस, ग्यान, अरथ, सुबरन आदि अनेक तद्‌भव शब्दों का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त भूषण की भाषा में अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों का अत्यधिक प्रयोग मिलता है। इन शब्दों की विशेषता यह है कि इन्हें ब्रजभाषा के अनुकूल ढाल लिया गया है और इस क्रिया में भूषण अत्यन्त दक्ष रहे हैं। इसीलिए आब, गुमान, प्यादे, पनाह, आसमान, दरबार, यार, स्याह, सहादत, उजीर, उकील, उजर, सुनति, बिलाइत,

---

[1] **काव्य-दर्पण**—रामदहिन मिश्र, पृ० ४४८।

पातसाह, बिहद, अमीरन, महलन, साहिबी, अरजौ, दहसति दिवाल, जरब, जमात आदि अनेक शब्द भूषण की टकसाल में ढलकर उनकी कविता में ब्रजभाषा के प्रवाह के साथ प्रयुक्त हुए हैं। इतना ही नहीं, भूषण की भाषा पर मराठी का भी प्रभाव है और भूषण ने महाराष्ट्र में रहने के कारण कितने ही ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जो मराठी-भाषा में प्रचलित हैं। जैसे—पैंज, माची, मसीत (मराठी मशीद), मौज, दंगली, बेदर, उसलत, हटक्यो (मराठी हटक्णें), जासती (मराठी जास्ती) आदि इस मराठी प्रवृत्ति के द्योतक हैं।

अलंकार—भूषण ने अलंकारों का प्रयोग मुख्यतया अपने भावों की भंगिमा के लिए किया है। भूषण ने 'शिवराज-भूषण' नामक अलंकार-प्रधान ग्रन्थ का निर्माण किया है, जिसमें उन्होंने १५० अलंकारों का प्रयोग किया है, जिनमें से १०० अर्थालंकार हैं और केवल ५ शब्दालंकार हैं। देखा जाय तो ये १०६ अलंकार भूषण की १०५ कथन-प्रणालियों के द्योतक हैं, क्योंकि इन प्रणालियों के माध्यम से ही भूषण ने अपने वीर-नायक के शौर्य एवं पराक्रम का स्वतन्त्रतापूर्वक वर्णन किया है। भूषण के अलंकारों का क्रम देखकर यह जान पड़ता है कि भूषण ने कतिपय प्रमुख अलंकारों को ही अपने ग्रन्थ में स्थान दिया हैं। इसका यह अभिप्राय जान पड़ता है कि भूषण ने जो कविता पहले बना ली थी, उसे विविध अलंकारों के उदाहरणों के रूप में रख दिया है। इसी कारण कई अलंकारों के लक्षण एवं उदाहरण दोषपूर्ण हैं। इस बात की पुष्टि इससे भी हो जाती है कि भूषण ने कई अलंकारों के कई भेद तो गिना दियें हैं, परन्तु उन सभी के उदाहरण अपने ग्रन्थ में नहीं दिये हैं, क्योंकि उनके उदाहरण के लिए भूषण के पास कविता तैयार नहीं होगी। अतः यह जान पड़ता है कि भूषण ने विविध छन्दों की रचना तो पहले ही कर ली थी और फिर उन्हें तत्कालीन रीति की परिपाटी पर लक्षण-उदाहरणों के रूप में संकलित कर दिया था। भूषण ने उपमा, लुप्तोपमा, उपमेयोपमा, मालोपमा तथा ललितोपमा के उदाहरण तो अत्यन्त सुन्दर एवं सजीव दिये हैं, ऐसे ही रूपक, अनन्वय, प्रतीप, उल्लेख, अपह्नुति, अतिशयोक्ति आदि के भी उदाहरण अत्यन्त मनोहर एवं उपयुक्त हैं, परन्तु परिणाम, भ्रम, समासोक्ति, द्वितीय पर्यायोक्ति, विकल्प, फलोत्प्रेक्षा, परिकर, विभावना (चतुर्थ), काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास, निरुक्ति आदि के उदाहरण दोषपूर्ण दिये हैं। भूषण ने 'सामान्य-विशेष' तथा 'भाविक-छवि' नामक दो नये अलंकार भी माने हैं, किन्तु सामान्य-विशेष अलंकार तो विशेष-निबंधना ही है और भाविक-छबि कोई पृथक् अलंकार होने की योग्यता नहीं रखता, वह तो भाविक का ही एक भेद है।[1] भूषण ने सर्वाधिक सुन्दर मालोपमा का उदाहरण दिया है—

> इन्द्र जिम जंभ पर, बाड़व सुअंभ पर,
> रावन संदभ पर रघुकुल-राज है।

---

[1] भूषण-ग्रन्थावली (भूमिका), पृ० ११०।

पौन वारिवाह संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहसबाहु पर राम-द्विजराज है।
दावा द्रुम-दंड पर, चीता मृग-झुंड पर,
भूषन वितुंड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंश पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों म्लेच्छ बंस पर सेर सिवराज है॥

भूषण ने 'उल्लेख' अलंकार का प्रयोग भी अत्यन्त कुशलता के साथ इस तरह किया है—

एक कहैं कलपद्रुम हैं इमि पूरत है सबको चित चाहै।
एक कहैं अवतार मनोज को यों तन मैं अति सुन्दरता है॥
भूषन एक कहैं महि इंदु यों राज विराजत बाढ्यो महा है।
एक कहैं नरसिंह है संगर एक कहै नर-सिंह सिवा है॥

इसी तरह भूषण ने 'दीपक' अलंकार का प्रयोग भी अत्यन्त प्रभावशाली ढंग इस प्रकार किया है—

कामिनी कंत सों, जामिनी चंद सों, दामिनी पावस-मेघ-घटा सों।
कीरति दान सों, सूरति ज्ञान सों, प्रीति बड़ी सनमान महा सों॥
'भूषन' भूषन सों तरुनी, नलिनी नव पूषन देव प्रभा सों।
जाहिर चारिहू ओर जहान लसै हिन्दुवान खुमान सिवा सों॥

ऐसे ही भूषण ने 'यमक' के अतुलित चमत्कार से भरा हुआ पद्य इस प्रकार लिखा है—

ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहनवारी,
ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहाती हैं।
कंद-मूल भोग करें कंद-मूल भोग करें,
तीन बेर खातीं सो तौ तीन बेर खातीं है॥
भूषन सिथिल अंग भूषन सिथिल अंग,
बिजन डुलातीं ते वे बिजन डुलाती है॥
'भूषन' भनत सिवराज वीर तेरे त्रास,
नगन जड़ाती ते वै नगन जड़ाती हैं॥

गुण—काव्य के तीन प्रमुख गुण माने गये हैं, जो माधुर्य, ओज और प्रसाद लाते हैं। इनमें से माधुर्य गुण श्रृंगार, करुण और शान्त रस के अनुकूल होता है, ज गुण वीर, वीभत्स और रौद्र रस के अनुकूल होता है और प्रसाद गुण में सभी ों की अनुकूलता रहती है। भूषण ने मुख्यतया वीर रस का निरूपण किया है। : उनकी कविता ओज-गुण-सम्पन्न है, जिसके रसास्वादन से चित्त दीप्त हो उठता और हृदय में आवेग उत्पन्न हो जाता है।[1] जैसे—

---

[1] काव्य-दर्पण— रामदहिन मिश्र, पृ० ४०६।

साजि चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढ़ि,
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है।
'भूषन' भनत नाद विहद नगारन के,
नदी नद मद गब्बरन के रलत हैं॥
ऐल फैल खैल भैल खलक में गैल गैल,
गजन की ठेल-पेल सैल उसलत है॥
तारा सो तरनि धूरि-धारा मैं लगत जिमि,
थारा पर पारा पारावर यों हलत है।

रीति एवं वृत्ति—प्राय: काव्य-रचना के लिए वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली नामक तीन रीतियाँ तथा उपनागरिका, परुषा और कोमला नामक तीन वृत्तियां प्रचलित हैं। इनमें से माधुर्य-व्यंजक वर्णों की जो ललित रचना होती है, उसे वैदर्भी रीति एवं उपनागरिका वृत्ति कहते हैं। यह माधुर्य रीति एवं उपनागरिका वृत्ति प्राय: श्रृंगार, करुण और शान्त रस के अनुकूल होती है। ओज-प्रकाशक वर्णों से आडम्बर-पूर्ण बंधवाली कठोर रचना को गौड़ी रीति एवं परुषा वृत्ति कहते हैं। यह रीति एवं वृत्ति वीर, वीभत्स एवं रौद्र रस के अनुकूल होती हैं। इन दोनों रीतियों एवं वृत्तियों के अतिरिक्त वर्णों से युक्त पंचम वर्ण वाली रचना को पांचाली रीति एवं कोमला वृत्ति कहते हैं। यह सभी रसों के अनुकूल होती है। भूषण ने मुख्यतया वीर एवं रौद्र रस का ही निरूपण किया है। अत: उनकी काव्य-रचना में गौड़ी रीति एवं परुषा वृत्ति की प्रधानता है और उसमें ओज-प्रकाशक परुष वर्णों की बहुलता है। जैसे—

क्रुद्ध फिरत अति जुद्ध जुरत नहिं रुद्ध मुरत भट।
रुग्ग बजत अरि बग्ग तजत सिर पग्ग सजत चट॥
ढुक्कि फिरत मद झुक्कि भिरत करि कुक्कि गिरत गनि।
रंग रकत हर संग छकत चतुरंग थकत भनि॥
इमि करि संगर अतिही विषम, भूषन सुजस कियो अचल।
सिवराज साहि सुव खग्ग बल, दलि अडोल-बहलोल-दल॥

शैली—भूषण ने अपनी काव्याभिव्यक्ति के लिए विविध काव्य-शैलियों का प्रयोग किया है। जहाँ भूषण ने विविध पदार्थों के विवरण देकर या प्राकृतिक पदार्थों के नाम गिनाकर काम निकाला है। वहाँ विवरणात्मक शैली दृष्टिगोचर होती है, जहाँ विविध तथ्यों, वस्तुओं एवं भावों का विवेचन किया है वहाँ भूषण की विवेचनात्मक शैली के दर्शन होते हैं और जहाँ भूषण ने किसी तथ्य या भाव का अत्यन्त संश्लेषणात्मक निरूपण किया है वहाँ भूषण की संश्लिष्ट शैली विद्यमान है। उदाहरण के लिए, भूषण की विवरणात्मक शैली को उनके प्रकृति-वर्णन में देखा जा सकता है, क्योंकि भूषण ने प्रकृति का कोई संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत नहीं किया है, अपितु केवल नाम गिनाकर ही काम चलाया है। जैसे—

कहुँ केतकी कदली करौंदा कुंद अरु करबीर हैं।
कहुँ दाख दाड़िम सेव कठहल तूत अरु जंभोर हैं॥
कितहूँ कदम्ब-कदम्ब कहुँ हिताल ताल तमाल हैं।
पीयूष ते मीठे फले कितहूँ रसाल-रसाल हैं॥

ऐसे ही भूषण की विवेचनात्मक शैली के दर्शन वहाँ होते हैं, जहाँ भूषण ने एक ही शिवाजी महाराज के अन्दर रूसियों का जोर, खुरासान की तेग-शक्ति, इंगलैण्ड की नीति, चीन की कलात्मकता, हिन्दुओं की अपरिमित हिम्मत एवं मरदानगी, रूसियों का अभिमान, हबशियों की सीमा-शक्ति, अरबों की नेकी, ईरानियों की शान और अदब-भावना, तुर्कों का क्रोध और फ्रांसीसियों की किसी को आदर देकर फँसाने की कला का उल्लेख किया है। इसमें एक ओर तो शिवाजी की प्रशंसा की गई है, परन्तु दूसरी ओर तत्कालीन देशों की प्रमुख विशेषता का भी विवेचन हो गया है। अतः भूषण की इस विवेचनात्मक शैली में उनकी कला-निपुणता एवं ज्ञान-गरिमा का स्पष्ट पता चल जाता है। जैसे—

जोर रूसियान को है, तेग खुरासानहू को,
नीति इङ्गलैंड, चीन हुन्नर महादरी।
हिम्मत अमान मरदान हिन्दवानहू की,
रूसं अभिमान, हबसान-हद कादरी॥
नेकी अरबान, सान-अदब ईरान त्यौं ही,
क्रोध है तुरान, ज्यों फराँस फंद आदरी।
भूषन भनत इमि देखिए महीतल पै,
वीर-सिरताज सिवराज की बहादरी॥

इसी तरह भूषण की संश्लिष्ट शैली को वहाँ देखा जा सकता है, जहाँ भूषण ने औरंगजेब के क्रूर शासन को कलियुग के तुल्य कहकर और शिवाजी को उस कलियुग रूपी क्रूर शासन का विनाशक आवतारी पुरुष कहकर एक नूतन कल्पना की है और सांगरूपक द्वारा औरंगजेब के उन सभी दरबारियों एवं सहयोगियों को कलियुग रूपी पुरुष के अंग-प्रत्यंग घोषित किया है। भुषण की इस संश्लिष्ट शैली को अनेक ऐसे ही स्थलों पर देख सकते हैं। जैसे—

साहिन मन समराथ जासु नवरंग साहि सिरु।
हृदय जासु अब्बास साहि बाहु-बल बिलास थिरु॥
एदिलसाहि कुतुब्ब जासु जुग भुज भूषन भनि।
पाय म्लेच्छ उमराय काय तुरकानि आनि गनि॥
यह रूप अवनि अवतार धरि, जेहि जालिम जग दंडियव।
सरजा सिव साहस खग्ग गहि, कलियुग सोइ खल खंडियव॥

छन्द—भूषण ने विविध छन्दों का प्रयोग करके अपने भावों को कलात्मक रूप दिया है। भूषण ने अपनी अधिकांश कविता का निर्माण तो मनहरण कवित्त में किया

है, परन्तु 'शिवराज-भूषण' में मनहरण कवित्त के अतिरिक्त दोहा, छप्पंय, हरिगीतिका, मालती, सवैया, दुर्मिल सवैया, अमृत ध्वनि छन्द तथा गीतिका छन्दों का प्रयोग किया है। 'शिवा-बावनी' में मनहरण कवित्त और छप्पय छन्द का प्रयोग हुआ है, जिनमें से वहाँ मनहरण कवित्त का ही प्राधान्य है। 'छत्रसाल-दशक' में भी मनहरण कवित्तों और एक छप्पय छन्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार भूषण ने केवल आठ छन्दों का प्रयोग होने से अपनाया है।

(१) **मनहरण कवित्त**—इसमें १६ और १५ वर्णों के विराम से ३१ वर्ण होते हैं, अन्त में गुरु होता है और इसमें गणों का नियम नहीं होता है। जैसे—

गरुड़ को दावा जैसे नाग के समूह पर (१६ वर्ण)
दावा नाग-जूह पर सिंह-सिरताज को (१६ वर्ण और अन्त में गुरु)

(२) **दोहा**—इसमें पहले और तीसरे चरण में १३-१३ मात्राएँ होती हैं और दूसरे तथा चौथे चरण में ११-११ मात्राएँ होती हैं। पहले और तीसरे चरण के आदि में कभी जगण नहीं आता और दूसरे तथा चौथे चरण के अन्त में लघु वर्ण अवश्य होता है। जैसे—

दसरथजू के राम भे, ([illegible] मात्राएँ)
वसुदेव के गोपाल। (११ मात्राएँ)
सोई प्रगटे साहि के, (१३ मात्राएँ)
श्री सिवराज भुवाल॥ (११ मात्राएँ)

(३) **छप्पय**—इसमें कुल छः चरण होते हैं, जिनमें से पहले चार चरण रोला के होते हैं; अर्थात् उनकी प्रत्येक पंक्ति में ११ और १३ के विराम से २४ मात्राएं होती हैं और शेष दो चरण उल्लाला के होते हैं; अर्थात् उनमें से प्रत्येक पंक्ति में ८, ७ और १३ के विराम से २८ मात्राएँ होती हैं। जैसे—

विज्ञपूर विदनूर/सूर धनुष न संधहिं। (११+१३ मात्राएँ)
मंगल विन्दु मल्लारि/नारि धम्मिल नहिं बंधहिं॥ (,,)
गिरत गर्भ कोटीन/गहत चिंजी चिंता डर। (,,)
चालकुंड दलकुंड/गोलकुंडा संका उर॥ (,,)
भूषन प्रताप/सिवराज तव/इमि दच्छिन दिसि संचरहि। (८+७+१३ मात्राएँ)
मधुरा-धरेस/धक धकधकत/द्रविड़ निविड़ अविरल डरहिं॥ (,,)

(४) **हरिगीतिका**—इसके प्रत्येक चरण में १६ और १२ के विराम से २८ मात्राएं होती हैं और अन्त में लघु-गुरु होता है। जैसे—

मनिमय महल सिवराज के इमि/रायगढ़ में राजहीं। (१६+१२ मात्राएँ)
लखि जज्ज किन्नर सुर असुर/गंधर्व हौंसनि साजहीं॥ (,,)

(५) **मालती सवैया**—इसके प्रत्येक चरण में ७ भगण और अन्त में दो गुरु होते हैं। इस प्रकार इसमें कुल २३ वर्ण होते हैं। जैसे—

जापर/साहि त/नै सिव/राज सु/रेस कि/ऐसी स/भा सुभ/सा जै।
यों कवि/भूषन/जंपत/है लखि/संपत/को अल/का पति/ला जै।।

(६) **दुर्मिल सवैया**—इसके प्रत्येक चरण में ८ सगणों के द्वारा २४ वर्ण होते हैं। जैसे—

भुवजो/भरता/दिन को/नरु भू/षन दा/नि बड़ो/सरजा/सिव है।
तुव जो/करता/इनको/अरु भू/षन दा/नि बड़ो/बरजा/निव है।।

(७) **अमृत ध्वनि छन्द**—इसमें छः चरण होते हैं, जिनमें से पहले दो चरण दोहे के होते हैं अर्थात् १३ और ११ के विराम से प्रत्येक में २४ मात्राएँ होती हैं और शेष चार चरण में प्रत्येक में ८-८ मात्राओं की यति से २४-२४ मात्राएँ होती हैं और अन्त में दो लघु आते हैं। इस छन्द में यह विशेषता होती है कि अन्तिम चार चरणों में से पहले चरण में दोहे की अन्तिम पंक्ति की पुनरावृत्ति होती है और शेष चरणों में द्वित्व वर्णों के अन्तर्गत अनुप्रास का प्रयोग करते हुए ध्वनि का अनुरणन होता है। जैसे—

दिल्लय दलन बाय [illegible], सिव सिरजा निरसंक। (दोहा)
लूटि लियो सूरति सहर, बंकक्करि अति डंड।। (,,)
बंकक्करि अति/डंकक्करि अस/संकक्कुलि खल। (८+८+८ मात्राएँ)
सोचच्चकित भ/रोच्चलिय/विमोच्चख जल।। (,,)
तट्ठट्ठइ मन/कट्ठट्ठिक सोइ/रट्ठट्ठिल्लिय। (,,)
सद्दद्दिसि दिसि / भद्दद्दबिभइ / रद्दद्दिल्लिय [illegible] (,,)

(८) **गीतिका**—इसके प्रत्येक चरण में १४ और १२ की यति से २६ मात्राएँ होती हैं और अन्त में गुरु-लघु होता है। जैसे—

उपमा अनन्वै कहि बहुरि/उषमा-प्रतीप-प्रतीप। (१४+१२ मात्राएँ)
उपमेय-उपमा है बहुरि/मालोपमा कवि-दीप।। (,,)

इस प्रकार भूषण ने बड़ी सफाई के साथ शास्त्रोक्त विधि से उन्हीं छन्दों का प्रयोग किया है, जिनमें वीर-भावों की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य है और जो भूषण के कलात्मक एव नादात्मक सौन्दर्य के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं।

सारांश यह है कि भूषण ने शिवाजी और छत्रसाल के शौर्य एवं पराक्रम के साथ-साथ तत्कालीन समाज की विषमावस्था का भी अत्यन्त भव्य चित्र अङ्कित किया है और औरंगजेब के अत्याचारों एवं अनाचारों की झाँकी अङ्कित करते हुए तत्कालीन धार्मिक एवं राजनीतिक स्थितियों का भी बड़ी सजीवता के साथ चित्रण किया है। भूषण के इन सभी वर्णनों में उनकी बहुमुखी प्रतिभा के दर्शन होते हैं, क्योंकि उन्होंने अलंकारों के लक्षण एवं उदाहरण देकर जहाँ रीतिकालीन पद्धति का निर्वाह किया है,

वहाँ अपने यशस्वी वीर नायकों के सुयश का वर्णन करके अपनी सच्ची देशभक्ति तथा अपने सुदृढ़ राष्ट्र-प्रेम एवं उत्कट स्वदेशानुराग को भी प्रकट किया है। भूषण ने जिस आदर्श को अपनाकर कवि-कर्म आरम्भ किया था, उसी के अनुरूप भाषा का भी प्रयोग किया है और उसे विविध अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति आदि से सुसज्जित करके वीर-भावाभिव्यक्ति के सर्वथा अनुकूल ढालने का प्रयास किया है। वीर रस की अभिव्यंजना के अनुकूल ढालने में भूषण को अनेक शब्दों को मनमाने ढंग से तोड़ना-मरोड़ना भी पड़ा है, परन्तु इससे भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति की वृद्धि ही हुई है और वह सहृदयों के हृदयों में वीर-भावों को जगाने में सर्वथा समर्थ एवं सशक्त बनी है। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि भूषण वीररस के रस सिद्ध कवि हैं, वे वीर-काव्य के यशस्वी प्रणेता है और वीर रस के कवियों के भूषण हैं।

भूषण की भाषा

भूषण के युग में हिन्दी-काव्य के लिए ब्रजभाषा का प्रयोग होता था। परन्तु उस समय तक ब्रजभाषा अत्यन्त कोमल, सचिक्कण एवं सुकुमार ही बनी हुई थी, क्योंकि उसमें शृङ्गार के संयोग एवं वियोग का ही वर्णन अधिक होता था और शृंगार के कोमल भावो की व्यंजना करते-करते वह अत्यन्त कोमल-कान्त बन गई थी। वैसे तो सूर, नन्ददास आदि भक्त-कवियों ने भी इसे परिष्कृत एवं परिमार्जित करने का अत्यधिक प्रयास किया था, किन्तु रीतिकालीन कवियों ने इसे पूर्णतया शृङ्गार के साँचे में ढालकर सहज सचिक्कण एव सुकोमल बना दिया था। ऐसी कोमल-कान्त पदावली वाली ब्रजभाषा में वीर-भावों के वर्णन करने की क्षमता न थी, क्योंकि वीर-भावों के निरूपण हेतु ओजस्वी वर्ण-प्रधान कठोर एवं परुष भाषा की आवश्यकता थी। परन्तु भूषण ने अपने युग में प्रचलित काव्य-भाषा को अपने भावानुकूल ढालने का प्रयास किया और धीरे-धीरे अपनी 'रचना-शैली के साँचे में ढालकर उसी सचिक्कण एवं सुकुमार ब्रजभाषा को इतना परुष, कठोर एवं ओजस्वी बना दिया कि वह अपनी सहज सुकुमारता का परित्याग करके भूषण की इच्छानुसार नृत्य करने लगी, भूषण के भावों के अनुसार गतिशील हो गई और भूषण की कल्पना एवं प्रतिभा के प्रखर एवं प्रांजल रूप के अनुसार अपने को साज-सँवार कर कवि की चिर-जीवन-संगिनी बन गई। इतना अवश्य है कि ब्रजभाषा को भूषण के भावों की अनुकूलता ग्रहण करने में अपने अंग-प्रत्यंगों को बहुत विकृत एवं विरूप बनाना पड़ा है और इससे उसमें अनेक दोष भी आ गये हैं, परन्तु उसने भावानुकूलता ग्रहण करके जो तेजस्विता एवं ओजस्विता प्राप्त की है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। इस प्रकार भूषण की भाषा का गहन अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि उसमें जहाँ अनेक गुण हैं, वहाँ अनेक दोष भी हैं।

भूषण की भाषा के गुण—भूषण की भाषा के गुणों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि भूषण की भाषा ने वीररसानुकूलता प्राप्त करने करने के लिए जैसे ही अपने को वीर-वेश-भूषा से सुसज्जित किया है, वैसे ही उसमें ओजस्विता के साथ-

अनेक गुण अनायास ही आ गये हैं। इन गुणों को सुविधा की दृष्टि से सात र्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) ओजस्विता, (२) नादात्मकता, (३) संयुक्ता-रता, (४) युगानुकूलता, (५) रसानुकूलता, (६) लाक्षणिकता और (७) संश्लिष्टता। गुणों के आधार पर भूषण की भाषा का रूप इस प्रकार मिलता है—

(१) ओजस्विता—भूषण की भाषा में ओज एवं उत्साह अपार मात्रा में ता हुआ है और उसके एक-एक शब्द से ओज छलकता-सा जान पड़ता है, क्योंकि ने वीर रस का निरूपण करते हुए जिस सौर्य एवं पराक्रम के गीत गाये हैं, ता का जो स्तवन किया है, युद्धोत्साह के साथ-साथ दान, दया, धर्म एवं समाजोद्धार न्धी जिस उत्साह का निरूपण किया है, उसके सर्वथा अनुकूल भाषा का भी गठन या है। इसीलिए उसमें ओजस्विता कूट-कूट कर भरी हुई है। यथा—

गरुड़ को दावा सदा नाग के समूह पर,
दावा नाग-जूह पर सिंह सिरताज को।
दावा पुरहूत को पहारन के कुल पर;
पच्छिन के गोल पर दावा सदा बाज को॥
'भूषन' अखण्ड नवखंड महि मंडल मैं,
तम पर दावा रवि-किरन समाज को।
पूरब पछाँह देस, दच्छिन से उत्तर लौं,
जहाँ पातसाही, तहाँ दावा सिवराज को॥

(२) नादात्मकता—भूषण ने वीर-भावमयी ऐसी भाषा का प्रयोग अधिक या है, जिसमें अनुरणन वाले शब्दों का आधिक्य है अर्थात् जिस भाषा में ऐसे शब्द क मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं जो एक-सी ध्वनि, एक-से स्वर एवं एक-से व्यंजनों से मित हुए हैं। इन शब्दों की स्वर-मैत्री एवं व्यंजन-मैत्री से जहाँ वीर रस की सरिता गति से प्रवाहित होती हुई जान पड़ती है, वहाँ भूषण की कविता भी अपना त्मक सौन्दर्य बिखराती हुई सहृदयों को सहसा अपनी ओर आकृष्ट कर लेती । जैसे—

बाने फहराने घहराने घंटा गजन के,
नाहीं ठहराने राव-राने देस-देस के।
नग भहराने, ग्राम-नगर पराने,
सुनि बाजत निसाने सिवराजजू नरेस के॥
हाथिन के हौदा उकसाने कुंभ कुंजर के,
भौन को भजाने अलि छूटे लट केस के।
दलके दरारे हू ते कमठ करारे फूटे,
केरा कैसे पात बिहराने फन सेस के॥

(३) संयुक्ताक्षरता—भूषण ने वीररसानुकूल भाषा का निर्माण करने के लिए द्वित्व वर्णों, संयुक्ताक्षरों, 'र' के संयोग वाले अक्षरों, समासाधिक्य वाले पदों, ट ठ

ड ढ की अधिकता वाले वर्णों आदि से संयुक्त किया है। इससे भूषण की भाषा में संयुक्ताक्षरों की प्रधानता हो गई है, जो वीर रस के लिए सर्वथा युक्तिसंगत मानी गई है तथा जिससे वीर-भाव की अभिव्यक्ति में सफलता भी प्राप्त होती है—

(क) हैं-वर हरट्ट साजि गै-वर गरट्ट सबै,
पैदर के ठट्ट फौज जुरी तुरकाने की।
(ख) खग्ग-खगराज महाराज सिवराज जू को,
अखिल भुजंग-मुगलद्दल निगलिगो।।
(ग) कलियुग जलधि अपार उद्ध उधरम्म उर्मिमय।
लच्छनि लच्छ मलिच्छ कच्छ अरु मच्छ मगरचय।।
नृपति नदी-नद बृंद होत जा को मिलि नीरस।
भनि भूषन सब भुम्मि घेरि किन्निय सुअप्प वस।।

(४) युगानुकूलता—भूषण ने ब्रजभाषा को अपने युग के अनुकूल सभी व्यक्तियों के समझने एवं जानने योग्य बनाने के लिए उसे तत्कालीन प्रचलित शब्दों से परिपूर्ण बनाया है। इसीलिए उसकी शुद्धि-अशुद्धि पर अधिक ध्यान न देकर तथा उसके परिमार्जित एवं परिनिष्ठित रूप की चिन्ता न करके उन सभी लोक-प्रचलित शब्दों को अपना लिया है, जो उस समय राज-दरबारों, सामाजिक कार्यों, राजनीतिक दाव-पेचों, धार्मिक व्यवहारों आदि में प्रयुक्त होते थे। इसीलिए भूषण की भाषा अपने युग का दर्पण है, उसमें हमें युग का यथार्थ रूप देखने को मिलता है। इसी कारण भूषण की भाषा में प्रचलित अरबी-फारसी के शब्द भी आ मिले हैं, मराठी के शब्द भी जुड़ गये हैं और संस्कृत तथा प्राकृत के शब्द भी घुल-मिल गये हैं। यथा—

'बद्दल' न होंहि दल 'दच्छिन' घमंड माँहि,
घटा हू न होंहि, दल सिवाजी 'हँकारी' के।
दामिनि दमक नाँहि, खुले 'खग्ग' बीरन के,
वीर सिर छाप लखु 'तीजा' असवारी के।।
देखि-देखि 'मुगलों' की 'हरमैं' भवन त्यागें,
उझकि उझकि उठें बहत बयारी के।
दिल्लीपति भूलि कहैं बात 'घन' घोर घोर,
बाजत नगारे जे सितारे-'गढ़धारी' के।।

उक्त उदाहरण में 'वद्दल', 'खग्ग' जैसे शब्द प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा की ओर संकेत कर रहे हैं; 'तीजा', 'मुगल', 'हरम' आदि शब्द अरबी-फारसी की ओर इंगित कर रहे हैं और 'बीरन', 'बयारी' आदि शब्द ब्रजभाषा की बोलचाल के रूप को प्रस्तुत कर रहे हैं। इस तरह भूषण की भाषा में तत्कालीन युग में प्रचलित भाषाओं के शब्दों का प्रयोग होने के कारण पूर्णतया युगानुकूलता है।

(५) रसानुकूलता—भूषण ने मुख्यतया वीर रस का निरूपण किया है। वीर रस का स्थायीभाव 'उत्साह' होता है और इस उत्साह के निरूपण के लिए प्रायः ऐसी

ा का प्रयोग किया जाता है, जो स्वयं उत्साह भरी होती है, उमंग से परिपूर्ण होती हुआ जिसके प्रत्येक शब्द से तेज एवं पौरुष छलकता हुआ दृष्टिगोचर होता है। की भाषा में प्रायः ऐसे ही शब्द की बहुलता है, जिनमें से सेव के छिलके की ति तेज झलक रहा है, जिनमें से शराव के भरे प्याले की भाँति पौरुष छलक है और जिनमें से उवलते हुए दूध के समान उत्साह उफन रहा है। यथा—

छूटत कमान और तीर गोली बानन के,
मुसकिल होत मुरचानहू की ओट मैं।
ताही समै सिवराज हुकुम कै हल्ला कियो,
दावा बाँधि द्वेषिन पै वीर भट जोट मैं॥
'भूषन' भनत तेरी हिम्मत, कहाँ लौं कहौं,
किम्मति इहाँ लगि है जाकी भट-झोट मैं।
ताव दै दै मूँछन कँगूरन पै पाँव दै दै,
अरि-मुख घाव दै दै कूदि परै कोट मैं॥

(६) **लाक्षणिकता**—भूषण ने व्यंग्य एवं लक्षणा का सहारा लेकर अपनी ा को लाक्षणिकता से भी सुसज्जित किया है। इसके लिए भूषण ने सर्वाधिक हावरे और लोकोक्तियों का सहारा लिया है। मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ प्रायः भाषा सौंदर्य-वृद्धि में बड़ा कार्य करती हैं, क्योंकि इनका रूप तो छोटा होता है, किन्तु में भाव-गांभीर्य इतना अधिक होता है कि सुनने वाला बिलबिलाता रह जाता है, फड़ाता रहता है तथा उससे कुछ कहते नहीं बनता। उनके अर्थ भी अभिधा शक्ति द्वारा नहीं जाने जाते, अपितु लक्षणा शक्ति से ही समझ में आते हैं, क्योंकि वे यार्थ ही होते हैं। भूषण ने ऐसे लक्ष्यार्थ-पूर्ण मुहावरे एवं लोकोक्तियों का प्रयोग रके अपनी भाषा में लाक्षणिकता की श्रीवृद्धि की है। यथा—

(क) सौ सौ चूहे खाय कै बिलारी बैठी तप कौं।
(ख) काल्हिके जोगी कलींदे के खप्पर।
(ग) गई कट नाक सिगरेई दिल्ली दल की।
(घ) स्याही जाय सब पातसाही मुख झलकी।
(ङ) स्याह मुख नौरंग सिपाह-मुख पियरे।
(च) एते पर करति भरोसो कारे नाग को।
(छ) एक अचम्भव होत बड़ो तिन ओंठ गहे अरि जात न जारे।
(ज) छाती दरकति है खरी अखिल खल की।

(७) **संश्लिष्टता**—भूषण ने ऐसी भाषा का भी प्रयोग किया है, जिसमें किसी टना या स्थिति का चित्रण करने के लिए संश्लिष्ट पदों का उपयोग किया जाता है। से, भूषण ने शिवाजी के आतंक एवं भय के मारे शत्रुओं की कैसी दुर्दशा हो गई , इसका सजीव चित्र अंकित करने के लिए यमक अलंकार पर आश्रित संश्लिष्ट

भाषा का ऐसा प्रयोग किया है, जिसे सुनकर, पढ़कर तथा समझकर श्रोता एवं पाठक फड़क उठते हैं—

ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहनवारी,
ऊँचे घोर मंदर के अन्दर रहाती है।
कंद मूल भोग करैं कंदमूल भोग करैं,
तीन बेर खातीं सो तौ तीन बेर खाती हैं॥
भूषन सिथिल अंग भूषन सिथिल अंग,
विजन डुलाती ते वै विजन डुलाती हैं।
'भूषन' भनत सिवराज वीर तेरे त्रास,
नगन जड़ाती ते वै नगन जड़ाती है॥

भूषण की भाषा के दोष—भूषण की भाषा में जहाँ इतने गुण हैं, वहाँ उसमें दोष भी हैं, क्योंकि भूषण ने मनमाने ढंग से भाषा के साथ अत्याचार किया है, खूब शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा है, अच्छी तरह से उसे विकृत किया है और स्वतन्त्रतापूर्वक शब्दों को गढ़ा है। अतः भूषण की भाषा के दोषों को भी सुविधा की दृष्टि से आठ भागों में विभक्त कर सकते हैं : (१) संज्ञा रूपों में असमानता, (२) सर्वनाम रूपों में असमानता, (३) विशेषणों में असमानता, (४) क्रिया-रूपों में असमानता, (५) विदेशी शब्दों की बहुलता, (६) शब्द-निर्माण में निरंकुशता, (७) अर्थ-क्लिष्टता और (८) सम्मिश्रणता।

(१) संज्ञा-रूपों में असमानता—भूषण ने अपनी कविता में संज्ञा-शब्दों का प्रयोग मनमाने ढंग से किया है। इसीलिए उनमें एकरूपता के दर्शन नहीं होते तथा उनमें पर्याप्त असमानता दिखाई देती है। जैसे, भूषण ने कहीं तो सुरतरु, हरकतु, गोतु, उदोतु, अवतारु आदि उकरान्त संज्ञा-शब्दों का प्रयोग किया है, कहीं झूठो, भरोसो, दमामेवारो आदि ओकारान्त प्रयोग किये हैं और बहुत से स्थलों पर खजाना, बहाना, दावा, हल्ला, तारा, केरा आदि आकारान्त संज्ञा-शब्दों का प्रयोग किया है। ऐसे ही बहुवचन वाले संज्ञा-शब्दों में भी एकरूपता नहीं दिखाई देती, क्योंकि भूषण ने कुछ तो अंगारे, दमामे, कँगूरे, ताले आदि एकारान्त संज्ञा-शब्द बहुवचन के लिए अपनाये हैं; कुछ करनालैं, रिसालैं, तलवारैं, अलकैं आदि ऐंकारान्त शब्द भी लिए हैं और कहीं-कहीं आलियाँ, रानियाँ, सुथनियाँ, बालियाँ, मुगलानियाँ आदि आँकारान्त संज्ञा-शब्द भी बहुवचन में प्रयोग किये हैं।

(२) सर्वनाम-रूप में असमानता—भूषण के संज्ञा-रूपों की भाँति सर्वनाम-रूपों में भी एकरूपता का सर्वथा अभाव दृष्टिगोचर होता है। जैसे भूषण ने 'मुझे' के लिए कहीं 'मो' (मो पति यौं) और कहीं 'मोहि' रूप का प्रयोग किया है। इसी प्रकार आत्मवाची सर्वनाम रूप 'आप' के सविभक्तिक रूपों में विविधता मिलती है, क्योंकि कही 'आपु', कहीं 'आपुनि', कहीं 'आपनो'; कहीं 'आपुहीं' और कहीं 'आपने' रूप का प्रयोग किया गया है। ऐसे ही अन्य सर्वनाम रूपों में भी असमानता दिखाई देती है।

जैसे, कहीं 'जो' और कहीं 'जौन' रूप मिलता है, कहीं 'जिसकी' और कहीं 'जाकी' रूप मिलता है, कहीं 'जिन' और कहीं 'जिन्हें' रूप मिलता है, कहीं 'ताहि' और कहीं 'जासों' रूप मिलता है, कहीं 'तेऊ' और कहीं 'तेई' या 'तेहि' रूप भी मिलते हैं, कहीं 'औरन' और कहीं 'औरों' रूप मिलता है तथा कहीं पर 'काहू' और कहीं पर 'कासों' रूप मिलता है।

(३) **विशेषणों में असमानता**—भूषण ने अपनी कविता में विशेषणों के रूप भी एक से नहीं अपनाये हैं। उनमें भी पर्याप्त असमानता एवं बहुरूपता के दर्शन होते हैं। जैसे 'एक' के लिए 'इक', 'यक' और 'एक' तीनों रूप अपनाये गये हैं तथा 'दो' के लिए 'द्वै', 'दु' 'दो', 'दुहुँन' एवं 'दोय' रूप प्रयुक्त हुए हैं। समूहबोधक रूप बनाने के लिए विविध प्रत्ययों का प्रयोग किया है। जैसे 'नौहूँ', 'तिहूँ', 'छहुँ', 'चारियौ', 'दोऊ', 'चारों', 'बारहौं', 'तीनों' आदि। अन्य विशेषण-रूपों में से 'केतिक', 'कितने', 'कितेक', 'कैयक', 'कैयो' आदि कई रूप 'कितने' के लिए अपनाये गये हैं; 'औरऊ', 'औरई', 'औरो', 'औरउ' आदि अनेक रूप 'और भी' के लिए आये हैं तथा भलौ, 'भला', 'छोटो', 'छोटा', 'बड़ौ', 'बड़ा', 'कारो'; 'गोरो', 'कारा', 'गोरा' आदि रूप भी भूषण की भाषा में मिल जाते हैं, जो भूषण की भाषागत असमानता के द्योतक हैं।

(४) **क्रिया-रूपों में असमानता**—भूषण की भाषा में क्रियाओं के रूपों में भी एकरूपता नहीं दिखाई देती, क्योंकि 'खात', 'लगत', 'उठत', 'घिरत' आदि रूप भी हैं; 'उड़ात', 'ठहरात', 'भननात', 'बननात' आदि रूप भी मिलते हैं; 'गाइयतु', 'गाइयतु', छाइयतु', 'काँध्रियतु', 'चलाइयतु', 'छोंइयतु' रूप भी प्रयुक्त हुए हैं और 'ठहरावत', 'गाबत', 'आवत' जैसे क्रिया-रूप भी अपनाये गये हैं। ऐसे ही भूतकाल के क्रिया रूपों में से 'भयो', 'कटायौ', 'राख्यौ', 'जीत्यौ' आदि औकारान्त रूप भी मिलते हैं; 'आयो', 'भयो', 'राख्यो', 'जीत्यो' आदि ओकारांत रूप भी हैं और कहीं-कहीं 'खरा किया', 'रिसाया', 'बचाया', 'आया' जैसे आकारान्त रूपों का भी प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार अन्य कालों के रूपों में सर्वत्र एकरूपता नहीं मिलती।

(५) **विदेशी शब्दों की बहुलता**—भूषण ने अपने युग में प्रचलित अरबी, फारसी आदि यवन देशों की भाषाओं के शब्दों को अत्यधिक मात्रा में अपनाया है, जिससे कहीं-कहीं तो भूषण की भाषा विदेशी भाषा के शब्दों से अत्यधिक बोझिल हो गई है और उसकी सरलता, स्वाभाविकता एवं नैसर्गिकता नष्ट हो गई है। ये विदेशी शब्द कुछ तो न्याय, शासन, दरबारी जीवन और सुरक्षा से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ ऐसे हैं जो उस समय युद्ध के लिए प्रयुक्त होते थे। अतः ऐसे शब्दों की बहुलता है। जैसे, अरबी शब्द—अमीर, अदब, करामात, दौलत, फौज, मस्जिद, मुहीम, सलाम, हिम्मत आदि। फारसी शब्द—अफसर, कमान, खसखाने, गरद, गुनाह, चुगलन, खबर, जंग, जोर, तखत, तहखाने, तुरक, तेग, दरगाह, दरबार, दरिया, दाग, नरमे, पातसाह, पीलखाने, फरियाद, वदन, बदनाम, बहादुर, महताब, मियाँ, यार, रुख,

सरम, समसेर, स्याह, हुन्नर, हुस्यार आदि। इस तरह भूषण ने लगभग ८ प्रतिशत अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग किया है।

(६) **शब्द-निर्माण की निरंकुशता**—भूषण के शब्द-निर्माण का कोई एक ढंग नहीं है, क्योंकि उन्होंने मनमाने ढंग से शब्दों को तोड़-मोड़कर अपने अनुकूल बना लिया है। इससे न केवल शब्द का मूल रूप ही विकृत हुआ है, वरन् शब्दों का समझना भी कठिन हो गया है। भूषण की टकसाल में कोई एक साँचा नहीं है, जिस पर एक-से शब्दों को ढाला जाय, अपितु यहाँ तो अनेक साँचे हैं, जो परिस्थिति, कथन एवं आवश्यकता के अनुसार स्वतन्त्र ढंग से शब्दों को ढाला करते हैं। इसीलिए कुछ शब्द तो ऐसे विचित्र बन गये हैं कि उनके स्वरूप का जानना भी सर्वथा असम्भव है। जैसे—'गजवर' को 'गैवर', हृष्ट को 'हिरट', गरिष्ट को 'गरट्ट', बलगार (फा० दुर्गम घाटी) को 'बगार', अस्त को 'अत्र', पक्षछिन्न को 'परछीने', चगताई का वंशज (औरंगजेब) को 'चकत्ता', तुल्य को 'तूल' (इसका प्रयोग ब्रज में रुई के लिए भी होता है), ध्रुव को 'धू', ऊर्ध्व को 'उद्ध', कृपाण को 'किरवान', आदिलशाह को 'एदिल', दावाग्नि को 'दौ', छिद्र को 'छेव' और छेवा', तैमूरलंग को 'तिमिर' गढ़पति को 'गढ़ोई', बाँधव को 'बाँधौ', उल्लंघन या नाँघना को नंका', धक्के को 'धंका', गर्व को 'गारो', नगर को 'नैर', परली पार को 'पैली', धूर्त्रा (सं० तलवार) को 'धोप', अनध्याय को 'अंझ' के रूप में ढालकर भूषण ने अनेक ऐसे शब्दों का निर्माण किया है, जो अप्रचलित एवं अनुपयुक्त हैं और जो कवि की निरंकुश प्रवृत्ति के परिचायक हैं।

(७) **अर्थ-क्लिष्टता**—भूषण ने मनमाने ढंग से जिन शब्दों का निर्माण किया है, वे तो क्लिष्ट हैं ही, परन्तु उनके अतिरिक्त भूषण की कविता में ऐसे भी अनेक शब्द मिलते हैं जो मनमाने ढंग से प्रयुक्त हुए हैं और भूषण ने उन्हें कविता में अपनाकर अपनी कविता को अत्यधिक क्लिष्ट एवं कठोर बना दिया है, क्योंकि सर्वसाधारण के लिए उनके अर्थों का जानना सर्वथा कठिन है। इनमें से कुछ तो अरबी-फारसी के अप्रचलित शब्द हैं और कुछ ऐसे बोलचाल के शब्द हैं, जिनका अब कम प्रचार है। जैसे, 'हमाल' अरबी भाषा का शब्द हैं (हम्माल), जिसका अर्थ होता है धारण करने वाला; 'पिसानी' (पेशानी) फारसी का शब्द है, जिसका अर्थ होता है 'मस्तक'। रिसाल (हरसाल) अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है खिराज या कर। 'दराज' फारसी का शब्द है, जिसका अर्थ 'भारी' होता है। अमाल (अमल) अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ 'शासन' होता है। 'मुहीम' अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है 'आक्रमण'। 'तुजुक' तुर्की भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है 'प्रबन्ध'। इन विदेशी शब्दों के अतिरिक्त भूषण ने ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग किया है जो कठिनाई से ही समझ में आते हैं और अपनी अर्थ क्लिष्टता के कारण भूषण के भावों को भी ठीक-ठीक हृदयंगम नहीं होने देते। जैसे, बहरात = उड़ जाता है, डाँकि = पार करके, लरजा = काँपा, खेदि खेदि = खदेड़-खदेड़कर, चाविकै = दूर करके, हरमूल = मूल (जड़) से हर लेता है, पय-बुन्द = क्षीरसागर, तम-अंस = अंधकार का समूह, भठी = शेर की माँद,

काशी विद्यापीठ वाराणसी -

ऐल=समूह, सेना, प्रवाह; अगोट=आड़, ओत=आराम, करौला=शोर मचाने वाला या जंगल में हल्ला करने वाला; धंका=धक्का, नंका=नाँघ गया, पार कर गया; अगड़=अकड़, दर्प; मति-पोस=बुद्धिमान, डावरा=बच्चा; बैहर (वधूवर)=स्त्री, वगारन (फा० वलगार)=दुर्गम घाटी, चाक चक=चारों ओर से चाकी हुई (सुरक्षित) आदि। भूषण के ये ऐसे शब्द हैं जिनमें अर्थ-क्लिष्टता भरी हुई है।

(८) **सम्मिश्रणता**—भूषण की भाषा में संस्कृत, प्राकृत, व्रजभाषा, अरवी, तुर्की, फारसी, मराठी आदि शब्दों की रेल-पेल होने के कारण अद्‌भुत शब्द-सम्मिश्रण के दर्शन होते हैं। भले ही भूषण ने विविध भाषाओं के शब्दों को अपनाकर युगानुकूलता का परिचय दिया हो; परन्तु इससे कविता में अव्यवस्था आ गई है और उसकी सुबोधता, स्वाभाविकता एवं सरलता नष्ट हो गई है। इस सम्मिश्रण के कारण कहीं-कहीं तो भूषण की भाषा 'चूँ चूँ का मुरब्बा' जैसी बन गई है, क्योंकि एक ही पद्य में संस्कृत, प्राकृत, अरवी, फारसी आदि के शब्दों की भरमार हो जाने से कविता की भाषागत एकरूपता सर्वथा नष्ट हो गई है और उसका अपना प्राकृत रूप भी भ्रष्ट हो गया है। भूषण के पद्यों में ऐसे नष्ट-भ्रष्ट एवं विकृत रूपों को स्थान-स्थान पर देखा जा सकता है और यह सब विविध भाषाओं के शब्दों के सम्मिश्रण के कारण हुआ है।

सारांश यह है कि भूषण ने जहाँ नूतन शब्द-निर्माण की कार्य-कुशलता एवं रचना-चातुरी का परिचय देकर व्रजभाषा के शब्द-भण्डार की वृद्धि की है, उसे वीर-रसानुकूल वनाया है, उसमें युगानुकूलता उत्पन्न की है, उसे अधिक वेगपूर्ण एवं प्रगतिशील वनाया है, उसे विविध भावों के निरूपण की शक्ति प्रदान की है, उसमें भाव-प्रेषणीयता के गुण का समावेश किया है और उसे अधिकाधिक भावाभिव्यंजक बनाया है, वहाँ भूषण ने व्याकरणिक रूपों की स्वतन्त्रता एवं विविधता दिखाकर व्रजभाषा की एकरूपता को नष्ट किया है, विविध भाषाओं के शब्दों को व्यर्थ ठूँस-ठूँसकर अर्थ-क्लिष्टता उत्पन्न की है, स्वच्छन्द शब्द-निर्माण करके भाषा की अर्थवत्ता नष्ट की है और मनमाने ढंग से शब्दों को तोड़-मरोड़ कर भाषा के परिनिष्ठित रूप को विकृत किया है। इसीलिए आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "भूषण की भाषा में ओज की मात्रा तो पूरी है, पर वह अधिकतर अव्यवस्थित है। व्याकरण का उल्लंघन प्रायः है और वाक्य-रचना भी कहीं-कहीं गड़बड़ है।"[1] पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी लिखा है कि "भूषण की भाषा एक प्रकार की मिश्रित भाषा है। इनकी भाषा में ऐसी खिचड़ी है कि प्रायः सभी प्रकार के शब्द मिल सकते हैं। शब्दों को तोड़ने में भी भूषण ने कहीं-कहीं ज्यादती की है।"[2] अतः यह निर्विवाद सत्य है कि भूषण की भाषा में वीर रस के अनुकूल परुषता, ओजस्विता, नादात्मकता आदि गुण तो पर्याप्त मात्रा में हैं, परन्तु वह अपरिमार्जित, अव्यवस्थित एवं अपरिनिष्ठित व्रजभाषा है।

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २५६।

[2] भूषण-ग्रन्थावली (भूमिका), पृ० ७७।

दस

कवि देव

- रीति-बद्ध काव्य-धारा में देव का स्थान
- देव के ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय
- देव का अनुभूति-पक्ष :
- शृंगारानुभूति
- सौंदर्यानुभूति
- वैराग्यानुभूति
- काव्यांगानुभूति
- देव का अभिव्यक्ति-पक्ष
- भाषा एवं शब्द-योजना
- उक्ति-वैचित्र्य
- बिम्ब-विधान
- अलंकार-विधान
- छन्द-योजना

१०

कवि देव

रीति-बद्ध काव्य-धारा में देव का स्थान

हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में रीति-बद्ध काव्य दो रूपों में मिलता है—एक तो रीति-निरूपण के रूप में और दूसरा श्रृंगार-वर्णन के रूप में। हिन्दी के रीति-निरूपक काव्य का निर्माण करने वाले आचार्य-कवियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे आचार्य-कवि आते हैं, जिन्होंने मम्मट, विश्वनाथ आदि की पद्धति पर काव्य के दशांग का विवेचन किया है। दूसरे वर्ग में आचार्य-कवि आते हैं, जिन्होंने श्रृंगारतिलक, रसमंजरी आदि ग्रन्थों की तरह केवल श्रृंगार-रस और उसकी प्रधान आलम्बन नायिका का निरूपण किया है। तीसरे वर्ग में वे आचार्य कवि आते हैं, जिन्होंने चन्द्रालोक, कुवलयानन्द आदि को आधार बना कर केवल अलंकारों का ही विशद विवेचन किया है। उक्त तीनों वर्गों में से महाकवि देव प्रथम वर्ग के आचार्य-कवियों की श्रेणी में आते हैं, क्योंकि महाकवि देव ने मम्मट, विश्वनाथ आदि की तरह काव्य के दशांगों का विवेचन बड़ी गहनता एव तत्परता के साथ किया है। इस वर्ग में आने वाले अन्य रीति निरूपक आचार्य-कवियों में से केशव, कुलपति मिश्र, श्रीपति, भिखारीदास और प्रतापसाहि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी के रीति-निरूपक काव्य-रचयिता आचार्य-कवियों में केशव का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। केशव संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे और उन्होंने संस्कृत के रीति-शास्त्र को आधार बनाकर हिन्दी में भी रस और अलंकारों का निरूपण किया है तथा हिन्दी में सर्वप्रथम रस और अलंकार-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा स्थापित की है। इस दृष्टि से केशव देव से कहीं अधिक ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं। कवि देव ने भी उनकी महत्ता स्वीकार की है और अनेक स्थलों पर केशव का अनुसरण भी किया है।

परन्तु देव ने केशव की अपेक्षा अधिक व्यापक क्षेत्र अपनाया है, क्योंकि देव ने शब्द-शक्ति, रीति, गुण, पिंगल आदि का भी निरूपण किया है, जबकि केशव रस और अलंकारों के निरूपण तक ही अधिक सीमित रहे हैं। उन्होंने अलंकारों पर 'कवि-प्रिया' और रस पर 'रसिक-प्रिया' का निर्माण किया है। इतना स्पष्ट है कि केशव और देव दोनों के रीति-विवेचन में अस्पष्टता पर्याप्त मात्रा में मिलती है, फिर भी केशव की अपेक्षा कवि देव में कहीं अधिक सूक्ष्म एवं गहन रस-चेतना विद्यमान है, जिसके फलस्वरूप देव का रीति-बद्ध काव्य केशव से कहीं अधिक सरस एवं सुन्दर है तथा उसमें माधुर्य गुण भी अपेक्षाकृत कहीं अधिक है। इसके अतिरिक्त देव संगीत-शास्त्र के भी अच्छे ज्ञाता थे और 'राग-रत्नाकर' जैसा ग्रन्थ रचकर उन्होंने अपने संगीत ज्ञान का यथेष्ट परिचय दिया है, जबकि केशव भी संगीतज्ञ थे, परन्तु उन्होंने संगीत-शास्त्र की रचना नहीं की। अतः केशव की अत्यधिक ख्याति होते हुए भी रीति-निरूपक काव्य-रचना के क्षेत्र में देव केशव से कहीं आगे दिखाई देते हैं।

रीति-निरूपक काव्य धारा में दूसरा स्थान कुलपति मिश्र का है। कुलपति मिश्र ने मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' को आधार बनाकर काव्य के सभी प्रमुख अंगों का प्रौढ़ विवेचन किया है। वे देव की तरह इधर-उधर भटके नहीं हैं और उनके विवेचन में देव की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ता है तथा इनके सिद्धान्तों की स्थिरता भी देव से कहीं अधिक उल्लेखनीय है। परन्तु कुलपति मिश्र भी काव्यांगों तक ही सीमित रहे हैं, उनमें भी देव का सा संगीत-ज्ञान नहीं दिखाई देता और इसीलिए उन्होंने पिंगल-शास्त्र की रचना नहीं की है।

रीति निरूपक काव्य-धारा में श्रीपति का स्थान भी उल्लेखनीय है। आपने 'श्रीपति सरोज' की रचना करके न केवल काव्यांगों का स्पष्ट रूप से विवेचन किया है, अपितु लक्षणों एवं उदाहरणों में भी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। आपके विषय-प्रतिपादन की स्पष्टता सर्वथा प्रशंसनीय है तथा आपने सिद्धांतों का व्यावहारिक प्रयोग करके अपना विलक्षण ज्ञान प्रकट किया है। स्वच्छता की दृष्टि से आपके लक्षण एवं उदाहरण सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। साथ ही आपकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आपने दोषों का विवेचन करते हुए उनके उदाहरण स्वरचित कविता द्वारा प्रस्तुत नहीं किए हैं, अपितु केशव के काव्य से दोषों के उदाहरण देकर संस्कृत की व्यावहारिक परिपाटी का पालन किया है और रीति-बद्ध कवियों के लिए नूतन परिपाटी का श्रीगणेश किया है।

रीति-निरूपक काव्य-धारा में भिखारी दास का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। आप ही हिन्दी के प्रथम आचार्य-कवि हैं, जिन्होंने हिन्दी-साहित्य पर दृष्टिपात करते हुए हिन्दी-पाठकों के लिए काव्यांगों का विवेचन अधिक स्पष्टता के साथ किया है। वैसे भी रीतिकालीन समस्त आचार्य कवियों में से किसी भी कवि को हिन्दी की प्रकृति का इतना अधिक विस्तृत ज्ञान नहीं दिखाई देता। इसी कारण देव से कहीं अधिक उन्होंने काव्यांगों का स्वच्छ विवेचन किया है, देव की अपेक्षा कहीं अधिक

न्दर उन्होंने सिद्धान्तों का व्यावहारिक उपयोग किया है और देव से कहीं अधिक षा का ज्ञान भी इनको दिखाई देता है। परन्तु इतने गुण होते हुए भी इनमें लिकता का सर्वथा अभाव है और इसी मौलिकता के विचार से दास की अपेक्षा व कहीं अधिक उन्नत दिखाई देते हैं।

रीति-निरूपक काव्य-धारा के अन्तर्गत प्रतापसाहि का नाम भी विशेष ल्लेखनीय है। प्रतापसाहि ने दो ग्रन्थ लिखे हैं—'काव्य-विलास' और 'व्यंग्यार्थ-कौमुदी'। आपका 'काव्य-विलास' ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इसीलिए आचार्य-कवि के रूप में आपकी ख्याति उतनी नहीं हुई है, जितनी कि व्यंग्य-विद् के रूप में। आपकी व्यंग्यार्थ कौमुदी' व्यंग्यों की अद्भुत निधि है। वैसे आपने मम्मट, विश्वनाथ, डितराज जगन्नाथ आदि का अनुसरण करते हुए अपने 'काव्य-विलास' नामक रीति-ग्रन्थ का निर्माण किया है और उसमे काव्य के सभी अंगों का विवेचन अधिक ौढ़ता एवं स्पष्टता के साथ किया है। आपके उदाहरणों को देखने से पता चलता है कि आप रीतिकाल के प्रथम कोटि के कवि हैं। सिद्धान्तों के विवेचन में आपका वित्व कहीं भी बाधक सिद्ध नहीं हुआ है और यही कारण है कि आपने काव्यांगों ा जैसा सुस्पष्ट एवं सुन्दर विवेचन किया है, वैसा देव नहीं कर सके हैं।

इसी प्रकार रीति-निरूपक आचार्य कवियों से देव की तुलना करने पर यही ात होता है कि देव की गणना तो आचार्य-कवियों में की जा सकती है, क्योंकि देव भी काव्यांगों का विवेचन किया है, परन्तु देव उक्त सभी आचार्य-कवियों की अपेक्षा हीं अधिक हलके प्रतीत होते हैं क्योंकि देव का काव्यांग-विवेचन उक्त कवियों की पेक्षा न तो अधिक स्पष्ट है और न अधिक स्वच्छ। अतएव रीति-निरूपण की ष्टि से देव का अधिक महत्त्व नहीं है।

दूसरे, रीति-बद्ध काव्य-धारा शृंगार-वर्णन के रूप में प्रवाहित हुई है। इस ारा के अन्तर्गत देव के समकक्ष केशव, बिहारी, मतिराम और पदमाकर आते हैं। नमें से केशव का पर्याप्त प्रभाव देव पर दिखाई देता है। कितने ही स्थलों पर देव केशव का अनुसरण भी किया है। साथ ही केशव में देव की अपेक्षा पांडित्य भी धिक था। परन्तु केशव को देव जैसा सरस हृदय नहीं मिला था। यद्यपि केशव भी रसिकता पर्याप्त मात्रा में दिखाई देती है, तथापि देव की कविता में केशव कहीं अधिक सरसता, आर्द्रता, तन्मयता एवं संवेदनशीलता विद्यमान है। इतना नहीं, देव का शिल्प-विधान भी केशव से कहीं अधिक उत्कृष्ट है और देव की षा में भी केशव से कहीं अधिक प्रांजलता, लाक्षणिकता, वक्रता, धारावाहिकता वं मार्मिकता दृष्टिगोचर होती है। इतना ही नहीं, देव के छन्द भी केशव से कहीं धिक नाद-सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं और उनमें गेयता एवं संगीतात्मकता भी केशव की पेक्षा कहीं अधिक समृद्ध दिखाई देती है।

इस धारा में दूसरे कवि बिहारी आते हैं। बिहारी निश्चित ही देव से कहीं धिक प्रसिद्ध हैं। आपकी सतसई भी देव के ग्रन्थों की अपेक्षा कहीं अधिक लोकप्रिय

हैं। बिहारी में चमत्कार भी देव से कहीं अधिक मात्रा में विद्यमान है तथा बिहारी का उक्ति-वैचित्र्य भी देव से कहीं अधिक समृद्ध एवं प्रौढ़ है। परन्तु बिहारी के दोहे चमत्कारपूर्ण होते हुए भी पाठकों को उतना रसार्द्र नहीं कर पाते, जितनी कि देव की कविता पाठकों को आनन्द-विभोर कर देती है। इतना ही नहीं, बिहारी ने ऊहात्मक वर्णन करके प्रेम का उतना गहन निरूपण नहीं किया है, जितना कि देव ने किया है। देव में बिहारी से कहीं अधिक प्रेम की गहन एवं तीव्र व्यंजना मिलती है। बिहारी का सम्पूर्ण शृंगार-वर्णन वस्तुपरक अधिक दिखाई देता है और इसी कारण बिहारी की सौन्दर्य-चेतना भी वस्तुपरक ही रही है, जबकि देव का शृंगार निरूपण भावपरक है और इसीलिए देव की सौन्दर्य-चेतना पूर्णतया भावपरक दिखाई देती है। इतना अवश्य है कि बिहारी ने सौन्दर्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व को ग्रहण करके अपनी समाहार-शक्ति द्वारा एक छोटे से दोहे में उसका निरूपण बड़ी दक्षता एवं निपुणता के साथ किया है और इस कला में बिहारी के समकक्ष हिन्दी का कोई भी कवि नहीं ठहरता; परन्तु उस सौन्दर्य-निरूपण मे रस-मग्न करने की जैसी क्षमता देव में दिखाई देती है, वैसी बिहारी में नहीं है। बिहारी तो चमत्कार पैदा करना ही जानते हैं, जबकि देव में रसार्द्र करने की भी अपूर्व शक्ति है। बिहारी का शिल्प भी देव से कहीं अधिक उत्कृष्ट एवं समृद्ध है, परन्तु देव के शिल्प में सहज मसृणता एवं कोमलता अधिक मात्रा में विद्यमान है। साथ ही बिहारी की भाषा भी देव से कहीं अधिक लाक्षणिक, उक्ति-वैचित्र्यपूर्ण एवं व्यंजनात्मक है, परन्तु देव की भाषा में जैसी संगीतात्मकता, नादात्मकता, वर्ण-मैत्री, स्वच्छता एवं धारावाहिकता विद्यमान है, वैसी बिहारी की भाषा में नहीं है।

इस धारा में तीसरे कवि मतिराम आते हैं। मतिराम की कविता में सर्वाधिक सरसता दृष्टिगोचर होती है। आपने भाव-व्यंजक व्यापारों की सीधी एवं सरल शृङ्खला निर्मित की है। इसी कारण आपकी रचना बिहारी की तरह चक्करदार नहीं है। आपको वचन-वक्रता भी अधिक रुचिकर प्रतीत नहीं हुई। इसीलिए आपकी कविता में सरलता, स्वाभाविकता एवं सरसता अत्यधिक मात्रा में विद्यमान है। निस्संदेह, मतिराम उर्मिल भावों की सरस व्यंजना करने में अत्यन्त निपुण हैं, किन्तु आपकी कविता में उतना भाव-गाम्भीर्य नहीं है, जितना कि देव की कविता में विद्यमान है। साथ ही मतिराम ने अत्यन्त रसस्निग्ध और प्रसादपूर्ण भाषा का प्रयोग किया है और आपका शिल्प-विधान भी अत्यन्त सरल एवं सुबोध है, परन्तु देव की भाषा में रसस्निग्धता के साथ-साथ कोमलता एवं सहज स्वच्छता मतिराम से कहीं अधिक है और देव का शिल्प-विधान भी मतिराम से कहीं अधिक व्यंजकता-प्रधान है।

इस धारा में चौथे कवि पदमाकर आते हैं। पदमाकर का सौन्दर्य-निरूपण भी अत्यन्त मार्मिक एवं मनोरंजक है। पदमाकर में भावों की प्रौढ़ता एवं गहनता भी अपेक्षाकृत अधिक है तथा आपकी रचना में रमणीयता एवं सरसता भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। पदमाकर में लोकप्रियता का गुण भी अपेक्षाकृत अधिक है, क्योंकि

आपने अपनी मधुर कल्पना के द्वारा ऐसा स्वाभाविक एवं हावभावपूर्ण मूर्तिविधान किया है कि पाठक कुछ क्षणों के लिए आत्म-विस्मृत होकर आनन्द-विभोर हो जाता है। इतना होते हुए भी पदमाकर में न तो देव की सी सच्ची भावानुभूति है और न उतनी प्रौढ़ सौन्दर्य-चेतना ही है। साथ ही पदमाकर की भाषा भी देव की अपेक्षा कहीं अधिक कृत्रिमता एवं आडम्बर से परिपूर्ण है और अनुप्रास के चक्कर में पड़ जाने से पदमाकर की सच्ची एवं सहज प्ररणा भी नष्ट हो गई है।

इस प्रकार रीति-बद्ध काव्य-धारा का अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट पता चलता है कि रीति-निरूपण के रूप में विकसित रीति-काव्य-धारा के आचार्य-कवियों में तो देव अपना कोई विशेष स्थान नहीं बना पाये हैं, जबकि शृंगार-वर्णन के रूप में विकसित रीति-काव्य-धारा के कवियों में देव की गणना उच्चकोटि के कवियों में की जाती है। क्योंकि देव में प्रेमानुभूति की गहनता है, उनकी सौन्दर्य-चेतना प्रौढ़ एवं प्रांजल है, उनकी भावमूलक रचनाओं में पाठकों को रसमग्न करने की पूर्ण क्षमता है, उनकी काव्यात्मा कहीं अधिक समृद्ध है, उनकी भाषा में उज्ज्वलता, संगीतात्मकता एवं नादात्मक सौन्दर्य कहीं अधिक मात्रा में विद्यमान है और उनकी सूक्ष्म कोमल एवं स्निग्ध अभिरुचि ने काव्य को अधिक सरस एवं मार्मिक बनाया है। यही कारण है कि रीति-बद्ध काव्य-धारा ने देव का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

देव के ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

देव के ग्रन्थों के बारे में कोई निश्चित जानकारी अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। कोई विद्वान् इनके ग्रन्थों की संख्या ५२ बतलाता है और कोई इन्हें ७२ ग्रन्थों का रचयिता स्वीकार करता है।[1] पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इनके ग्रन्थों की संख्या ७२ तथा ५२ ही स्वीकार की है।[2] वैसे अभी तक कुल मिलाकर इनके १९ ग्रन्थ ही प्राप्त हुए हैं।[3] इनमें से १४ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और ५ ग्रन्थ हस्तलिखित हैं। प्रकाशित ग्रन्थों के नाम हैं—(१) भावविलास, (२) अष्टयाम, (३) भवानी-विलास, (४) रस-विलास, (५) प्रेम-चन्द्रिका, (६) राग-रत्नाकर, (७) सुजान-विनोद, (८) जगद्दर्शन पचीसी, (९) आत्मदर्शन पचीसी, (१०) तत्त्वदर्शन पचीसी, (११) प्रेम-पचीसी, (१२) शब्द रसायन, (१३) सुख-सागर-तरंग और (१४) शिवाष्टक। शेष पाँच हस्तलिखित ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—(१५) प्रेम-तरंग, (१६) कुशल-विलास, (१७) जाति-विलास, (१८) देव-चरित्र और (१९) देव-माया-प्रपंच (नाटक)।

---

[1] शिवसिंह-सरोज।

[2] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २६५।

[3] रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० ३५।

‘भावविलास’ देव का सर्वप्रथम ग्रन्थ है, जिसकी रचना सं० १७४६ वि० में उस समय हुई थी, जबकि कवि देव केवल १६ वर्ष के थे। इसमें उल्लिखित ‘शुभ सत्रह सै छ्यालिस चढ़त सोलही वर्ष’ नामक पंक्ति इसका पुष्ट प्रमाण है। यह ग्रन्थ पाँच विलासों में विभक्त है। प्रथम विलास में राधाकृष्ण-वन्दना, ग्रन्थ-परिचय, स्थायी-भाव, विभाव और अनुभाव का विवेचन किया गया है। द्वितीय विलास में सात्विक भाव तथा संचारी भावों का विवेचन हुआ है तथा ‘छल’ नामक एक चौंतीसवें संचारी भाव का वर्णन मिलता है। यह ‘छल’ कोई नया संचारी भाव नहीं है। इसका वर्णन संस्कृत की ‘रसतरंगिणी’ में भी मिलता है।[1] तृतीय विलास में रस तथा हावों का विवेचन किया गया है। चतुर्थ विलास में नायक, नर्मसचिव, नायिका, सखी और दूती का निरूपण हुआ है। साथ ही पंचम विलास में ३६ अलंकारों का विवेचन किया गया है। देव का यह ग्रन्थ मुख्यतया भानुदत्त कृत ‘रसतरंगिणी’ के आधार पर ही निर्मित हुआ है। परन्तु इसके लक्षण और उदाहरणों में देव की स्वतन्त्र एवं मौलिक उद्भावनाओं के दर्शन होते हैं। कहीं-कही कवि देव केशव से भी प्रभावित दिखाई देते हैं। इस ग्रन्थ के लक्षण एवं उदाहरण अत्यन्त स्वच्छ एवं सुस्पष्ट हैं तथा कविता अत्यन्त सरस एवं सुन्दर है।

‘अष्टयाम’ कवि देव का दूसरा ग्रन्थ है, जिसमें नायक-नायिका के अष्टयाम अथवा चौंसठ घड़ी के विविध विलासों का क्रमबद्ध वर्णन किया गया है। जिस तरह वैष्णव कवियों ने राधाकृष्ण के दैनिक कार्यक्रम का वर्णन किया है, उसी तरह देव ने यहाँ नायक-नायिका के दाम्पत्य-जीवन सम्बन्धी विविध विलास-क्रीड़ाओं का निरूपण किया है। यहाँ ‘भाव-विलास’ के किसी भी छन्द की पुनरावृत्ति नहीं हुई है। इसकी रचना-शैली में न तो प्रौढ़ता है और न इसकी भाषा में ही गम्भीर झंकृति के दर्शन होते हैं। ‘भवानी-विलास’ में कवि देव ने नायिकाओं का जाति-भेद के आधार पर आठ विलासों में वर्णन किया है। इस ग्रन्थ की रचना राजा भवानीदत्त के लिए हुई थी। इसके प्रथम विलास में मंगलाचरण, ग्रन्थ-निर्देशिका-स्तुति और शृंगार रस की रसराजता का सांगोपांग वर्णन किया गया है। द्वितीय विलास में शृंगार रस की प्रधान आलम्बन नायिका का जाति तथा कर्मभेद से वर्णन किया गया है। तृतीय विलास में अंश-भेद के अनुसार नायिका का निरूपण हुआ है। चतुर्थ विलास में मुग्धा के प्रथम चार भेदों के साथ पूर्वराग-वियोग का वर्णन किया गया है। पंचम विलास में मुग्धा के अन्तिम भेद सलज्जरति और मध्या के प्रथम दो भेदों के साथ प्रथम समागम का निरूपण किया गया है। षष्ठ विलास में मध्या के अन्तर्गत नायिका की आठ अवस्थाओं और प्रौढ़ा के अन्तर्गत दस हावों का वर्णन हुआ है। सप्तम विलास में मध्या-प्रौढ़ा के मान के साथ-साथ धीरा, धीराधीरा, अधीरा, ज्येष्ठा, कनिष्ठा, अन्य-सम्भोग-दुःखिता, गर्विता आदि का विवरण दिया गया है और परकीया के भेदों के साथ-साथ नायक के भेद, सखा-सखी आदि का वर्णन हुआ है। अष्टम विलास में शृंगार के अतिरिक्त आठ

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास—शुक्लजी, पृ० २६६।

तों का विशद विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ में कवि ने अत्यन्त स्वच्छता एवं ष्टता के हाथ रीति-विवेचन प्रस्तुत किया है। यद्यपि यहाँ 'भावविलास' की सी कुमारता एवं कोमलता नहीं है, तथापि कविता में गम्भीरता एवं प्रौढ़ता के दर्शन ते हैं।

'शिवाष्टक' में कवि देव ने शिवजी की स्तुति में आठ कवित्त लिखे हैं। की रचना ज्येष्ठ वदी ५ सं० १७५५ वि० में हुई थी। यह अत्यन्त सीधी-सादी वं सरल रचना है। 'प्रेम-तरंग' में कवि ने तीन तरंगों के अन्तर्गत मुग्धा, मध्या र प्रौढ़ा का अंग-भेद के आधार पर वर्णन किया है। इसमें लक्षण तो 'भवानी-लास' से ही लिए गये हैं, किन्तु उदाहरण सर्वथा नूतन एवं मौलिक हैं। 'कुशल-लास' में कवि देव ने नौ विलासों के अन्तर्गत नायिका-भेद का ही निरूपण किया । सर्वप्रथम कवि ने शृंगार रस की उत्पत्ति और उसके विविध अंगों—विभाव, नुभाव, तनसंचारी, मनसंचारी और नायक-नायिका का वर्णन किया है, तदुपरान्त य आठ विलासों के अन्तर्गत स्वकीया, परकीया, सामान्य के साथ-साथ नायिका के ति-भेद एवं अंश-भेद के आधार पर निरूपण करते हुए कामदशाओं एवं हाव-भावों विशद विवेचन किया गया है। 'जाति-विलास' में कवि देव जाति अथवा वर्ण-वसाय, वास तथा देश के क्रम से नायिका-भेद का वर्णन किया है। इसमें अष्टांगवती यिका का भी विवरण दिया गया है। यह ग्रन्थ कवि की देशव्यापी यात्रा के विशद नुभव को प्रस्तुत करता है। 'रस-विलास' में कवि देव ने सात विलासों (अध्यायों) अन्तर्गत नागरी, पुरवासिनी, ग्रामीण, वनवासिनी, सैन्या, पथिक-वधू नामक नारी छः भेद करते हुए उसके अवान्तर भेदों—चूहरी, ऋषिपत्नी आदि का वर्णन किया । साथ ही नायिका के यौवन, रूप, शील आदि अष्टांगों का सूक्ष्म निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त जाति, कर्म, गुण, देश, काल, वय, प्रकृति और सत्व के नुसार उनके भेद-प्रभेदों का उल्लेख किया गया है। यहाँ कवि की प्रौढ़ एवं परिपक्व ी के दर्शन होते हैं।

'प्रेमचन्द्रिका' में कवि देव ने चार प्रकाशों (अध्यायों) के अन्तर्गत प्रेम-रस का गोपांग विवेचन किया है। इसमें प्रथम प्रकाश में प्रेम-रस, प्रेम-स्वरूप, प्रेम-त्म्य, प्रेम एवं विषय का अन्तर स्पष्ट किया है। द्वितीय प्रकाश में प्रेम के पाँच ों—सानुराग शृंगार, सौहार्द्र, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य का निरूपण हुआ है। ीय प्रकाश में मध्या और प्रौढ़ा के प्रेम का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है। र्थ प्रकाश में गोपियों के सौहार्द्र प्रेम, गोपियों के भक्ति-प्रेम, यशोदा के वात्सल्य-और राजा नृग के कार्पण्य-प्रेम का वर्णन किया गया है। यह अत्यन्त सरस एवं क ग्रन्थ है तथा इसकी रचना-शैली भी मधुर एवं आकर्षक है। 'सुजान-विनोद' नाम 'रसानन्द-लहरी' भी दिया गया है, इसमें कवि देव ने ऋतुओं के अनुसार यिका-भेद का वर्णन किया है और बताया है कि शिशिर-वसन्त में शृंगार रस की त्ति होती है तथा इसकी पात्र मुग्धा होती है। ऐसे ही ग्रीष्म-वर्षा विनोद की

ऋतुएँ हैं और इसकी पात्र मध्या होती है। शरद्-हेमन्त ऋतु में विलास एवं उत्सव का समय होता है और इसकी पात्र प्रौढ़ा होती है। इस ग्रन्थ में भी सात विलास हैं और अधिकांश छन्द 'भवानी-विलास', 'रस-विलास' और 'प्रेमचन्द्रिका' से लिये गये हैं। अतः यहाँ केवल ऋतु-वर्णन में ही मौलिकता है। वैसे यह ग्रन्थ कवि की प्रौढ़ एवं परिपक्व शैली के साथ-साथ अनुभूति एवं अभिव्यक्ति की गहनता का द्योतक है। 'राग-रत्नाकर' में कवि देव ने दो अध्यायों के अन्तर्गत रागों का सजीव निरूपण किया है। इसके प्रथम अध्याय में छः रागों का उनकी भार्याओं के साथ-साथ सांगोपांग निरूपण हुआ है। द्वितीय अध्याय में तेरह उपरागों का वर्णन हुआ है। यहाँ रागों एवं उनकी भार्याओं का वर्णन अत्यन्त रोचक एवं आकर्षक है तथा सम्पूर्ण विवेचन सर्वथा शुद्ध एवं शास्त्रसम्मत है। इसकी शैली भी प्रौढ़ एवं प्रांजल है।

'शब्द-रसायन' कवि देव का प्रौढ़ रीति-ग्रन्थ है, जिसमें एकादश प्रकाशों के अन्तर्गत काव्य का महत्त्व, काव्य का स्वरूप, पदार्थ-निर्णय, नव रस, दस रीति, गुण, चार-वृत्ति, अलंकार तथा पिंगल का सांगोपांग विवेचन हुआ है। इसी ग्रन्थ में कवि देव ने शब्द-शक्तियों का विस्तृत विवेचन किया है और ४० प्रमुख एवं ३० गौण अलंकारों के साथ-साथ छन्दों का गण, गणदेवता आदि के साथ विवरण प्रस्तुत किया है। देव का यही ग्रन्थ शुद्ध रीति-निरूपण के लिए निर्मित हुआ है। यद्यपि यहाँ शब्द-शक्ति, रीति और अलंकारों का निरूपण सर्वथा अस्पष्ट दिखाई देता है, तथापि रस का विवेचन कहीं अधिक सुस्पष्ट एवं सुव्यक्त है और सिद्धान्तों का निरूपण भी अधिक सशक्त एवं प्रौढ़ है। 'देव-चरित्र' एक प्रकार का खण्ड काव्य है, जिसमें कवि देव ने श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर ब्रज-लीलाओं का तथा संक्षेप में द्वारका-गमन, रुक्मिणी स्वयंवर, सत्यभामा-हरण, भौमासुर के बन्धन से सोलह हजार रानियों का उद्धार, रुक्मिणी के पुत्र का जन्म, महाभारत में पाण्डवों की सहायता आदि का वर्णन किया है। यह श्रीकृष्ण के चरित्र पर लिखा हुआ साधारण काव्य है, जिसकी शैली सरल एवं सुबोध है और जिसमें विविध रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है।

कवि देव ने 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक के आधार पर हिन्दी-पद्य में 'देव-माया प्रपंच' नामक एक दार्शनिक नाटक लिखा है, जिसमें छः अंक हैं तथा जिसकी रचना जीवन के सूक्ष्मतम तत्त्वों का विवेचन करने के लिए हुई है। यहाँ माया और प्रकृति को परंपुरुष की पत्नियाँ मानकर माया के प्रपंच का अत्यन्त प्रभावोत्पादक वर्णन किया है। यह माया परंपुरुष को भी बन्धन में बाँध लेती है, जिसके फलस्वरूप वह अनेक यातनायें सहता है। अन्त में सत्संगति करने और श्रद्धा, करुणा आदि सात्विक भावों के प्रभाव से परंपुरुष की आत्मा शुद्ध-बुद्ध-चेतन रूप को प्राप्त होती है। परंपुरुष माया के बन्धन से मुक्त हो जाता है और प्रकृति, मन तथा बुद्धि सबका परंपुरुष से संयोग हो जाता है। इस तरह यहाँ अत्यन्त रुचिरता एवं गम्भीरता के साथ सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन हुआ है। इसका कथा-विकास मनोरंजक है, दृश्य-विधान भी सुन्दर है तथा वर्णनों में भी पर्याप्त सजीवता एवं सरसता विद्यमान है। कवि

कृत 'देव-शतक' में चार पच्चीसियों का संकलन मिलता है, जो 'जगद्दर्शनपच्चीसी', दर्शनपच्चीसी', 'तत्त्वदर्शनपच्चीसी' और प्रेमपच्चीसी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। कवि की प्रौढ़ एवं उत्कृष्ट रचना है तथा इसकी रचना-शैली भी सरस एवं र है। कवि देव कृत 'सुखसागरतरंग' में बारह अध्यायों के अन्तर्गत शृंगार-रस र नायिका-भेद का निरूपण हुआ है। यह ग्रन्थ कवि देव ने पिहानी के अधिपति र अलीखाँ को समर्पित किया है। इसमें अधिकांश कवितायें अष्टयाम, भवानी-लास, कुशल-विलास, रस-विलास, सुजान-विनोद, भाव-विलास और प्रेमचन्द्रिका ही उद्धृत की गई हैं। अतः यह एक संकलन-ग्रन्थ ही है।

इस प्रकार कवि देव कृत केवल १६ ग्रन्थ ही उपलब्ध हुए हैं, जो पूर्णतया णिक माने जाते हैं। अन्य अनेक ग्रन्थों के नामों का तो उल्लेख मिलता है, किन्तु किसी भी रूप में प्राप्त नहीं हुए हैं। इन सभी ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है देव प्रतिभाशाली कवि थे, उन्हें विविध विषयों का यथेष्ट ज्ञान था, उन्होंने टन भी पर्याप्त मात्रा में किया था और उनका विशाल पांडित्य जीवन की व्यापक तियों से परिपूर्ण था। सोलह वर्ष की अवस्था में 'भाव-विलास' जैसे उत्कृष्ट की रचना करके देव ने अपनी असाधारण बौद्धिक विभूति एवं लोकोत्तर प्रतिभा परिचय दिया था। कवि देव ने केवल शृंगार-रस और नायिका-भेद पर ही अपनी नी नहीं चलाई थी, अपितु सम्पूर्ण काव्यांगों के विवेचन के साथ-साथ छन्द-शास्त्र, और वैराग्य पर भी अपने प्रौढ़ एवं समुन्नत विचार व्यक्त किये थे। रीति-रा का पालन करते हुए भी देव ने नायिका-भेद के निरूपण में पर्याप्त मौलिकता नवीनता प्रदर्शित की थी तथा शुद्ध, परिमार्जित एवं परिष्कृत ब्रजभाषा का प्रयोग ते हुए हिन्दी-काव्य की श्रीवृद्धि में उल्लेखनीय योगदान दिया था।'

का अनुभूति-पक्ष

(१) शृंगारानुभूति—कवि देव ने 'भूलि कहत नवरस सुकवि सकल-मूल ार' कहकर अपने ग्रन्थों में शृंगार का वर्णन अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से किया यह शृंगार-वर्णन नायक-नायिका के पारस्परिक प्रेम एवं अनुराग से परिपूर्ण है। इसके दोनों पक्षों अर्थात् संयोग-पक्ष एवं वियोग-पक्ष के साथ-साथ कवि देव ने क-नायिका के गम्भीर प्रेम की व्यंजना भी अत्यन्त मार्मिकता के साथ की है। कारण कवि देव की शृंगारानुभूति को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता संयोगानुभूति, वियोगानुभूति और प्रेमानुभूति।

(क) संयोगानुभूति—कवि देव ने संयोगानुभूति की अभिव्यंजना करते हुए क एवं नायिका के पारस्परिक मिलन का निरूपण अत्यन्त गम्भीरता एवं तीव्रता थ किया है। जैसे, नव-वधू का गौना होने वाला है, परिवार के व्यक्ति उसे णों एवं वस्त्रों से सुसज्जित करते हैं और उसकी सखियाँ ससुराल के अनेक ों की चर्चा करती हैं। साथ ही वे शील एवं चतुरता की शिक्षा देती हुई उसे जाती हैं कि सदैव हँसकर ऐसी कोमल वाणी बोलना जो मनभावन को अच्छी

लगे। नव-वधू उनकी सब बातें बड़ी गम्भीरता के साथ सुनती है, परन्तु जैसे ही अन्तिम वाक्य के शब्द उसके कानों में पड़ते हैं, वैसे ही उसके उरोजों पर अनुराग के अंकुर-से उग आते हैं। कवि ने मानसिक धरातल पर संयोग की इस अनुभूति का कैसा मार्मिक चित्रण किया है—

गौने के चार चली दुलही, गुरु लोगन भूषन भेष बनाए।
सील सयान सखीन सिखायो, बड़े सुख सासुरे हू के सुनाए॥
बोलियो बोल सदा हँसि कोमल, जे मनभावन के मन भाए।
यौं सुनि ओछे उरोजन पै अनुराग के अंकुर से उठि आए॥

ऐसे ही कवि ने बड़ी तन्मयता एवं तल्लीनता के साथ नायक एवं नायिका के मिलन का चित्रण किया है। कवि के इन मिलन-चित्रों में संश्लिष्ट बिम्ब प्रस्तुत करने की अपूर्व क्षमता है, क्योंकि नायक-नायिका के अंग, मन, वस्त्र, चेष्टा आदि पर ही नहीं रीझ रहा है, अपितु दोनों के हास-विलास एवं मादक-क्रीड़ा से परिपूर्ण सुरम्य वातावरण में कवि भी अत्यन्त तन्मय हो गया है। जैसे—

सहर सहर सौंधो सीतल समीर डोलै,
घहर घहर घन घेरि कै घहरिया।
झहर झहर झुकि झीनी झरि लायौ देव,
छहर छहर छोटी बूँदन छहरिया।
हहर हहर हँसि हँसि कै हिंडोरे चढ़ी,
थहर थहर तनु कोमल थहरिया।
फहर फहर होत पीतम को पीत पट,
लहर लहर होत प्यारी को लहरिया।

(ख) वियोगानुभूति—जिस तरह कवि देव ने अत्यन्त तन्मय होकर संयोगानुभूति का निरूपण किया है, उसी तरह कवि ने वियोगानुभूति का वर्णन करते हुए विरह की गम्भीर अवस्थाओं एवं मनोदशाओं के अत्यन्त सफलता के साथ बड़े रमणीय चित्र अङ्कित किए हैं। वियोग के तीव्र ताप से पीड़ित एवं विरह-वेदना से मछली की तरह तड़पती हुई वियोगिनी की व्याकुल दशा का सजीव चित्र देखिए—

बालम-विरह जिन जान्यो न जनम भरि,
बरि-बरि उठै ज्यों-ज्यों बरसै बरफ राति।
बीजन डुलावत सखी-जन त्यों सीतहू मैं,
सौंति के सराय, तन तापन तरफराति।
देव कहै साँसन ही अँसुआ सुखात, मुख,
निकसै न बात, ऐसी सिसकी सरफराति।
लौटि लौटि परति करौंट खाट-पाटी लै लै,
सूखे जल सफरी ज्यौं सेज पै फरफराति।

इतना ही नहीं, कवि ने विरहिणी को शैया पर फड़फड़ाते हुए ही नहीं चित्रित किया है, अपितु वियोग की असह्य पीड़ा के कारण उसे मरण की अवस्था तक भी पहुँचा दिया है। कवि के इस वर्णन में गम्भीरता एवं स्वाभाविकता के साथ-उक्त भावों का चित्रण अत्यन्त रमणीयता एवं कुशलता के साथ हुआ है—

साँसन ही सों समीर गयो अरु आंसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो, अरु भूमि गई तन की तनुता करि।।
जीव रह्यो मिलिबेई की आस, की आस हु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन ते मुख फेरि, हरे हँसि, हेरि हिया जु लियो हरि जू हरि।।

(ग) प्रेमानुभूति—कवि देव ने शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग एवं वियोग का अत्यन्त सजीव एवं मार्मिक निरूपण करते हुए यह सिद्ध किया है कि शृंगार रस का मूलाधार प्रेम है, कामुकता नहीं, यह माना कि काम संसार में सर्वोपरि है और मनुष्य ही नहीं, अपितु सुर-असुर, नाग-किन्नर, यक्ष-पिशाच, पशु-पक्षी आदि सभी काम के वशीभूत होकर सुख का अनुभव किया करते हैं। परन्तु इस काम-भावना एवं प्रेम-भावना में बड़ा अन्तर है, क्योंकि काम तो कामुकता एवं भोग-विलास की प्रेरणा देता है, जबकि प्रेम में सात्विकता होती है और वह विषय-भोगों से सर्वथा परे होता है। कवि देव ने लिखा भी है—

यह विचार प्रेमीन को, विषयी जन को नाँहि।
विषय बिकाने जनन की प्रेमी छियत न छाँहि।।

कवि देव का तो यहाँ तक विचार है कि शृंगार-रस का मूलाधार काम नहीं, अपितु प्रेम ही है। यह प्रेम भी जब दम्पति के हृदय में जाग्रत होता है, तभी शृंगार-रस की निष्पत्ति होती है। अतएव शृंगार-रस के लिए दाम्पत्य प्रेम ही अनिवार्य होता है—

तब ही लौं शृङ्गार रसु जब लग दम्पति प्रेम।

इतना ही नहीं, कवि देव का कथन है कि यदि दाम्पत्य प्रेम को आधार न बनाकर शृंगार-रस का निरूपण किया जायेगा, तो वहाँ एक तो शृंगार-रस का पूर्ण परिपाक न होगा और दूसरे विषय-वासना पर आधारित होने के कारण ऐसा शृंगार-निरूपण प्रेम-हीन कामुकता का द्योतक होने के कारण शृंगाराभास मात्र कहलायेगा तथा वह नारी, जिसके माध्यम से ऐसे कामुकतापूर्ण शृंगार का वर्णन किया जायेगा, वेश्या कहलायेगी—

प्रेमहीन त्रिय वेश्या है सिंगाराभास।

इस प्रकार कवि देव ने प्रेम को शृंगार का मूलाधार सिद्ध किया है और बताया है कि प्रेम के बिना शृंगार-रस सर्वथा नीरस है। साथ ही आपने स्वकीया के प्रेम को वास्तविक एवं सच्चा प्रेम स्वीकार किया है, क्योंकि स्वकीया के द्वारा ही दाम्पत्य प्रेम की अभिव्यंजना होती है। यह ठीक है कि परकीया-प्रेम में उत्कटता एवं तीव्रता अपेक्षाकृत अधिक होती है, क्योंकि वह उपपति के प्रेम में अपने व्यक्तित्व

को औटाकर खोवे के समान कर देती है, परन्तु परकीया का प्रेम खोवे की भाँति ही अवगुणकारी होता है, उसमें विषय-वासना का आधिक्य होता है और उससे धन और धर्म दोनों की ही हानि होती है; जबकि स्वकीया का प्रेम दूध की तरह सात्विकता एवं पवित्रता से परिपूर्ण होता है, जो सभी तरह से गुणकारी एवं लाभ-दायक होता है। इसीलिए कवि ने दाम्पत्य प्रेम में लीन राधा-कृष्ण को शुद्ध प्रेम एवं शृंगार-रस का आधार मानकर लिखा है—

सब सुखदायक नायिका-नायक जुगल अनूप।
राधा-हरि आधार जस दस-सिंगार स्वरूप ॥

देव ने प्रेम की अनन्त महिमा का वर्णन किया है, जिसे पाकर मृत जीव भी अमर हो जाते हैं, मूर्ख भी ज्ञानी हो जाते हैं और संसारी मनुष्य भी दिव्य रूप प्राप्त कर लेते हैं। इसी दाम्पत्य प्रेम की साकार प्रतिमा के रूप में राधा-कृष्ण ने ब्रज में अवतार लिया था। कवि देव ने प्रेम के पाँच भेद भी स्वीकार किये हैं—पार्थिव प्रेम, अपार्थिव प्रेम, सानुराग प्रेम, भक्तियुत प्रेम और सौहार्द्र-प्रेम। साथ ही प्रेम के बारे में कवि देव का दृष्टिकोण रीतिकालीन अन्य कवियों से सर्वथा पृथक् रहा है, क्योंकि अन्य रीतिकालीन कवियों ने तो विलास को महत्त्व देकर कामुकता को ही प्रेम का आधार स्वीकार किया है और अन्य अनेक परकीया नायिकाओं एवं उपपतियों से क्रमशः नायक एवं नायिका के वासनात्मक सम्बन्ध का वर्णन करके कामुकतापूर्ण प्रेम का ही निरूपण किया है, जबकि देव ने स्वकीया नायिका के प्रति नायक के एकनिष्ठ प्रेम को ही महत्त्व दिया है—

काम अंधकारी जगत लखै न रूप कुरूप।
हाथ लिये डोलत फिरै, कामिनि छरी अनूप ॥
तातें कामिनि एक ही कहन सुनन को भेद।
राचैं पागैं प्रेम-रस मेटैं मन को खेद ॥

अतएव देव ने स्वकीया नायिका के प्रति नायक के एकनिष्ठ प्रेम में ही अपनी गहन आस्था व्यक्त की है, ऐसे ही एकनिष्ठ प्रेम को शृंगार-रस का मूलाधार बताया है और उसे ही अमरत्व प्रदान करने वाला कहा है। यही कारण है कि कवि देव की प्रेमानुभूति में सात्विकता एवं पवित्रता का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है और यह प्रेमानुभूति भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल एवं पवित्र रूप को प्रस्तुत करती हुई सामाजिक जीवन के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है।

(२) **सौंदर्यानुभूति**—कवि देव की शृंगार-भावना जिस प्रकार सुसंस्कृत, परिष्कृत एवं सात्विक मनोभावों से परिपूर्ण थी, उसी प्रकार उनकी सौन्दर्यानुभूति भी अत्यन्त उत्कृष्ट एवं समुन्नत थी। कवि देव ने एक ओर तो रूप-सौन्दर्य का निरूपण अत्यन्त मनोयोग के साथ किया है, दूसरी ओर प्रकृति सुन्दरी की रमणीय छटा का वर्णन भी बड़ी तन्मयता के साथ किया है और मनोभावों के चित्रण में भी विलक्षण सौन्दर्य प्रदर्शित किया है। अतः कवि देव की सौन्दर्यानुभूति को सुगमता

की दृष्टि से तीन रूपों में विभाजित कर सकते हैं—रूप-सौन्दर्य, प्रकृति-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य के रूप में।

(क) रूप-सौंदर्य—कवि देव ने रूप-सौन्दर्य का चित्रण करने के लिए विविध प्रकार की नायिकाओं के सौन्दर्य का निरूपण बड़े मनोयोग के साथ किया है। देव ने भारत के विविध प्रान्तों का भ्रमण किया था और विविध प्रकार की रमणियों के दर्शन किये थे। अतः उनके रूप-सौन्दर्य में सूक्ष्म निरीक्षण के साथ-साथ वास्तविकता के भी दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए भारत के स्वर्ग—कश्मीर की किशोरी के रूप-लावण्य की झाँकी देखिए—

जोवन के रंग भरी, ईंगुर से अंगनि पै
ऐंड़िन लौं आँगी छाजै छविन की भीर की।
उचके उचौहें कुच, झपे झलकत झीनी,
झिलमिली ओढ़नी किनारीदार चीर की।
गुलगुले गोरे गोल कोमल कपोल,
सुधाबिन्दु बोल, इन्दुमुखी, नासिका ज्यों कीर की।
देव दुति लहराति, छूटे छहरात केस,
बोरी जैसे केसरि, किसोरी कसमीर की।।

ऐसे ही कवि ने नायिका के नख-शिख का वर्णन करते हुए रूप-सौंदर्य की विलक्षण झाँकी अंकित की है :—

अम्बर नील मिली कबरी, मुकुता लर दामिनी-सी दसहूँ दिसि।
ता मधि माथे में हीरा गुह्यो, सुगयो गड़ि केसन की कवि सौं लसि।
माँग को मूल उतै सिर-फूल दब्यो, झमकै कनकावलि सौं घिसि।
शृंग सुमेरु मिलैं रविचंद ज्यौं पावस मास अमावस की निसि।।

(ख) प्रकृति-सौंदर्य—कवि देव ने जितनी तन्मयता एवं तल्लीनता के साथ रूप-सौंदर्य का चित्रण किया है, उतना प्रकृति-सौंदर्य का निरूपण नहीं किया है। फिर भी उद्दीपन के रूप में अंकित प्रकृति के चित्रों में पर्याप्त सौंदर्य विद्यमान है। जैसे, वर्षा-ऋतु का चित्र अंकित करते हुए कवि कहता है :—

सुनि के धुनि चातक मोरनि की, चहुँ ओरनि कोकिल कूकनि सों।
अनुराग भरे हरि बागन में, सखि रागत राग अचूकनि सों।
कवि देव घटा उनई जु नई, वन-भूमि भई दल दूकनि सों।
रँगराती हरी हहराती लता, झुक जाती समीर की झूकनि सों।।

ऐसे ही कवि देव ने बसंत का एक शिशु के रूप में कैसा मनोहारी चित्र अंकित किया है :—

डार द्रुम पालना बिछौना नव पल्लव के,
सुमन झिंगोला सोहै तन छवि भारी दै।
पवन झुलावै केकी कीर बतरावैं 'देव',
कोकिल हलावै हुलसावैं करतारी दै।।

पूरित पराग सों उतारा करै राई नौन,
कुंद कली नायिका लताग सिर सारी दै ।
मदन महीप जू कौ बालक बसंत ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै ।।

(ग) **भाव-सौंदर्य**—कवि देव ने भाव-सौंदर्य के अगणित चित्र बड़ी गम्भीरता एवं प्रगल्भता के साथ अंकित किये हैं। वैसे भी कवि भाव-निरूपण में अत्यन्त सिद्धहस्त रहे हैं और उनके भाव-चित्रों में संश्लिष्टता के साथ-साथ मार्मिकता की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण के लिए शृंगार-रस के स्थायीभाव 'रति' का वर्णन देखिए :—

सोंधे के सुबास आसपास भरि भवन रह्यौ,
भरन उसाँस बास बासन बसात है ।
कंकन झमित अगनित रव किंकिनी के,
नूपुर रनित मिले भनित सुहात है ।।
कुंडल हिलत मुख-मंडल झलमलात,
हिलत दुकूल भुजमूल भहरात है ।
करत विहार 'कवि देव' बार बार बार,
छूटि छूटि जात हार टूटि टूटि जात है ।।

ऐसे ही कवि देव ने एक विरहिणी के 'उद्वेग' का चित्र अंकित करते हुए भाव-सौंदर्य का निरूपण कितनी रमणीयता के साथ किया है :—

रैनि सोई दिन इन्दु दिनेस, जोन्हाई है घाम घनो विष खाई ।
फूलनि सेज सुगंध दुकूलनि सूल उठै तनु तेल ज्यों ताई ।।
बाहर भीतर भ्वैहरे भून रह्यौ परै 'देव' सो पूछन आई ।
हौं ही भुलानी की भूले सनै, कहै ग्रीषम को सरदागम माई ।।

इतना ही नहीं, कवि देव ने सात्विक भावों एवं संचारी भावों का चित्रण करते हुए भाव-सौंदर्य के अद्भुत चित्र अंकित किये हैं। उदाहरण के लिए 'रोमांच' नामक सात्विक भाव का चित्र देखिए :—

कूल चली जल केलिके कामिनि भावते के सँग भाति भली सी ।
भींजि दुकूल में देह लसै, कवि देव जू चम्पक चारु दली सी ।।
बारि के बूँद चुवैं चिलकैं, अलकैं छवि की छलकैं उछली सी ।
अंचल झीन झकैं झलकैं, पुलकैं कुच कंद कदंब कली सी ।।

इस प्रकार कवि देव ने विविध प्रकार के सौंदर्य चित्र अंकित करते हुए अपनी प्रगाढ़ सौंदर्यानुभूति की अभिव्यक्ति बड़ी सतर्कता एवं सजीवता के साथ की है। कवि के रूप-सौंदर्य-निरूपण में जितनी गम्भीरता एवं मार्मिकता है, उतनी ही भाव-सौंदर्य में सजीवता एवं सरसता विद्यमान है, किन्तु प्रकृति के सौंदर्य-निरूपण में कवि अधिक रमा हुआ दिखाई नहीं देता। इसलिए न तो उसके प्रभात-बेला के सौंदर्य में कोई

सरसता है और न ऋतु-वर्णनों में ही सजीवता दिखाई देती है। इतना अवश्य है कि कवि परम्परा में लीन रहने के कारण प्रकृति-सुन्दरी के स्वतन्त्र सौन्दर्य का चित्रण नहीं कर सका है। अन्य सौन्दर्य-चित्रों में उसकी बुद्धि अधिक रमी है। इसलिए कवि ने नायिका के अद्‌भुत रूप, नख-शिख, शोभा-कान्ति, हास-विलास, हाव-भाव आदि का अत्यन्त मार्मिक एवं मनोरंजक वर्णन करके अपनी गहन सौन्दर्यानुभूति का परिचय बड़ी तत्परता के साथ दिया है। कवि के रूप-सौन्दर्य-चित्रण में जहाँ चेतन सौन्दर्य क्रीड़ा करता हुआ सा प्रतीत होता है, वहाँ भाव-सौन्दर्य-निरूपण में सौन्दर्य का सागर-सा उमड़ता हुआ जान पड़ता है। यही कारण है कि कवि देव की सौन्दर्यानुभूति में तरलता है, सजीवता है, मार्मिकता है, रमणीयता है, सरसता है और सहृदयों को आह्लादित करने की अपूर्व क्षमता है।

(३) **वैराग्यानुभूति**—देव एक शृंगारी कवि थे। उनके हृदय में राग का ही प्राबल्य था। अतः उनकी वैराग्य-भावना का विश्लेषण करने पर यही ज्ञात होता है कि अतिशय राग की प्रतिक्रिया के रूप में ही उनके हृदय में वैराग्य-भावना उदित हुई थी। प्रायः यह देखा भी जाता है कि सांसारिक विषय-भोगों में लीन व्यक्ति अतिशय राग से थककर ही तत्वान्वेषण अथवा परमार्थ-चिन्तन की ओर उन्मुख होते हैं। साथ ही यह मनोवैज्ञानिक सत्य भी है कि राग ही अपनी तीव्रता से थककर वैराग्य के रूप में परिणत हो जाता है। अतएव कवि देव ने जहाँ शृंगार-रस को ही एकमात्र रस मानकर राग का अतिशय निरूपण किया है, वहाँ राग से क्लान्ति एवं खेद उत्पन्न होने पर वैराग्य का वर्णन करना स्वाभाविक है। वैराग्य के इस निरूपण को साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से शान्त रस के अन्तर्गत माना जाता है, जिसका स्थायी भाव शम या निर्वेद होता है। अतः कवि देव की वैराग्यानुभूति को तीन रूपों में देखा जा सकता है—निर्वेद-निरूपण के रूप में, तत्त्व-चिन्तन के रूप में और धार्मिक एवं नैतिक विचारों के निरूपण के रूप में।

(क) **निर्वेद-निरूपण**—कवि देव ने निर्वेद स्थायीभाव का निरूपण करते हुए विषयों से विरक्ति, आत्म-भर्त्सना, मानसिक क्लान्ति, तिरस्कार, मन की चंचलता, भगवत्प्रेम, ईश्वर के प्रति आस्था आदि का वर्णन इस प्रकार है :—

ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू विषै के संग,
एरे मन मेरे हाथ, पाँच तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नर-नाहन की नाहीं सुनि,
नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो॥
चलन न देतो देव चंचल अचल करि,
चाबुक चिताउनीनि मारि मुँह मोरतो।
भारो प्रेम पाथर नगारो दै गरे ते बाँधि,
राधा वर-विरद के बारिधि में बोरतो॥

ऐसे ही कवि ने अपने को धिक्कारते हुए तथा संसार से वैराग्य प्रकट करते हुए निर्वेद का चित्रण इस प्रकार है :—

मोह मढ़्यो चतुराई चढ़्यो, चित गर्व बढ़्यो करि मान सों नातौ ।
भूलि परौ तब तौ मद मन्दिर, सुन्दरता गुन जोबन मातौ ।।
सूझि परी कवि देव सबै अब, जानि परौ सिगरौ जग जातौ ।
नैसुक मो में जो होतो सयान तौ, हो तो कहा हरि सों हित हातौ ।।

(ख) तत्त्व-चिन्तन—कवि देव ने अपनी वैराग्यानुभूति को तत्त्व-ज्ञान का चिन्तन करते हुए भी व्यक्त किया है । 'देव-माया-प्रपंच-नाटक' में कवि देव ने माया के व्यापक प्रभाव का निरूपण करते हुए बतलाया है कि यह माया एक पुरुष पुरातन, दो अश्विनीकुमार, तीन दानव, चार युग, पंचभूत, छः ऋतु, सात सिन्धु, आठ वसु, नव ग्रह, दस दिशा, ग्यारह रुद्र, बारह सूर्य, तेरह चन्द्रमा, चौदह भुवन आदि सभी को अपने वश में किये हुए है । अतः माया की शक्ति असीम है, अनन्त है और उसका वैभव भी अपरिमेय है :—

जाही की सकति एक पुरुष पुरान दोऊ,
अस्विनी कुंवर तीन्यौ दानव दुवन पर ।
चार्यौ जुग, पाँचौ भूत, छहौं ऋतु, सातौ सिंधु,
आठौ वसु, नवो ग्रह, निग्रह उवन पर ।।
दसहूँ दिगीश, ईस एकादस, दिनकर—
द्वादस, त्रयोदस समुद्र के सुवन पर ।
मानत प्रमान देव माया जू की आन-आन,
आन चरचा न चलै चौदहो भुवन पर ।।

ऐसे ही कवि ने जीवन और जगत् की वास्तविकता का अनुभव करके यह निष्कर्ष निकाला है कि सम्पूर्ण वैभव एवं अनंत ऐश्वर्य से मंडित यह जीवन क्षणभंगुर है और इसका सच्चा रूप यह है :—

बागो बन्यो जरपोस को तामहि ओस को तार तन्यो मकरी ने ।
पानी में पाहन पोत चले चढ़ि, कागद की छतरी सिर दीने ।।
काँच में बाँधिकै पाँख पतंग के, देव सुसंग पतंग को लीने ।
मोम को मन्दिर माखन को मुनि बैठ्यो हुतासन आसन दीने ।।

जीवन और जगत् की निस्सारता का बोध होते ही कवि को उस परमतत्त्व का साक्षात्कार होता है, जो सम्पूर्ण ब्रह्मांड को घेरे हुए बैठा है, आकाश जिसका मन्दिर है, पृथ्वी जिसकी पीठिका है, समीर जिस पर चँवर डुला रहा है और कवि उसी विराट् मूर्ति का मानसिक पूजन करने के लिए अग्रसर होता है :—

देव नभ-मन्दिर में बैठार्यो पुहुमि-पीठ,
सिगरे सलिल अन्हवाय उमहत हौं ।
सकल महीतल के मूल-फल-फूल-दल,
सहित सुगंधन चढ़ावन चहत हौं ।।
अगिनि अनंत, धूप-दीपक, अनंत ज्योति,
जल-थल-अन्न दै प्रसन्नता लहत हौं ।।

ढारत समीर चौंर, कामना न मेरे और,
आठौ जाम राम तुम्हें पूजत रहत हौं ।।

(ग) **धार्मिक एवं नैतिक विचार**—कवि देव ने अपने धार्मिक एवं नैतिक विचारों की अभिव्यक्ति करते हुए भी अपनी वैराग्यानुभूति का निरूपण किया है। कवि देव वैसे तो राधा-कृष्ण के उपासक थे, किन्तु उनकी कविता में राम-सीता, शिव-पार्वती, सरस्वती, दुर्गा आदि के प्रति भी गहन श्रद्धा एवं अटूट आस्था की अभिव्यंजना हुई है। इस दृष्टि से वे सभी देवी-देवताओं का आदर करते थे और सभी रूपों को एक ही विराट् ब्रह्म के रूप मानकर अद्वैतवाद के अनुयायी थे। जैसा कि आपने लिखा भी है :—

वेदन हू गने गुनगनै अनगने भेद,
भेद बिनु जाको गुन निरगुन हू यहै ।
केतिक बिरंच्यो, महासुखन को संच्यो जहाँ,
बंच्यो ब्रजभूप सोई, परब्रह्म भूप है ।।

इतना होने पर भी कवि देव ने भगवान् के सगुण रूप को ही अधिक महत्त्व दिया है और सूर आदि सगुण भक्त कवियों के स्वर से स्वर मिलाकर कहा है :—

कंस-रिपु अंस अवतारी जदुबंस कोई,
कान्ह सों परमहंस कहै तो कहा सरो ।
हम तो निहारे ते निहारे ब्रजवासिन मैं,
देव मुनि जाको पचिहारे निसि-वासरो ।।

साथ ही कवि देव ने ईश्वर के भागवत रूप की अभिव्यंजना करते हुए यह स्पष्ट घोषित किया है कि ईश्वर को जो जिस रूप में देखना चाहता है उसे वह उसी रूप में दिखाई देता है :—

जोगिन जोगी, जतीन जती, मुनिहून कछू मुनि सो मन मान्यो ।
छत्रिन छत्र धर्‌यो परख्यो, मृगया बन ब्याधन ब्याध बखान्यो ।।
मित्रन मित्र, अमित्रन सत्रु-सो, दूलह-सो दुलही पहिचान्यो ।
जैसो को तैसो जहाँ को तहाँ जिहि जैसो लख्यो तिहि तैसोई जान्यो ।।

कवि देव नैतिक दृष्टि से निरभिमानता, सुशीलता, विनम्रता, मधुरवक्तृता आदि को अधिक महत्त्व देते थे और दया, क्षमा, सेवा, परोपकार आदि को जीवन के लिए उपयोगी मानते थे—

है अभिमान तजैं सनमान वृथा अभिमान को मान बहैये ।
देव दया करै सेवक जानि, सुशील सुभाय सुलोनी लहैये ।।
को सुनिकै बिन मोल बिकाय न बोलन को कोई मोल न हैये ।
पैये असीस लचैये जो सीस लचौ रहिये तब ऊँचो कहैये ।।

इतना ही नहीं, कवि देव बाह्य आचार एवं बाह्य साधना में तनिक भी विश्वास नहीं रखते थे, अपितु आन्तरिक साधना एवं अन्तःकरण के विश्वास को ही जीवन के लिए सार्थक मानते थे। इसी कारण आपने लिखा भी है :—

कथा मैं न, कंथा मैं न, तीरथ के पंथा मैं न,
पोथी मैं न, पाथ मैं न साथ की बसीति मैं ।
जय मैं न, मुंडन मैं न, तिलक-त्रिपुंडन मैं न,
नदी-कूप-कुंडन अन्हान दान रीति मैं ।।
पीठ-मरु-मंडल मैं न, कुंडल-कमंडल मैं न,
माला-दंड मैं न, देव देहरे की भीति मैं ।
आपु ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यो,
पाइये प्रगट परमेसुर प्रतीति मैं ।।

इस प्रकार कवि देव की वैराग्यानुभूति का अध्ययन करने पर पता चलता है कि वे शृंगार-रस के प्रेमी होने के कारण कृष्णोपासक थे और रसात्मिका प्रीति या मधुरा-भक्ति को ही श्रेयस्कर मानते थे। परन्तु उनके हृदय में सभी देवी-देवताओं के प्रति अटूट श्रद्धा-भक्ति थी और वे सभी देवताओं को उसी विराट् ब्रह्म का ही रूप मानते थे। वैसे कहीं-कहीं देव का झुकाव निर्गुण एवं निराकार भक्ति की ओर भी रहा, परन्तु मूलतः वे सगुण ब्रह्म के अनुयायी थे और सगुणोपासना को ही महत्त्व देते थे। इसके साथ ही उन्होंने शंकर के अद्वैतवाद के साथ-साथ बल्लभ, निम्बार्क, चैतन्य आदि वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्तों को भी यत्र-तत्र सम्मिश्रित रूप में प्रस्तुत करके अपनी दार्शनिक मान्यता सम्बन्धी उदारता का ही परिचय दिया। साथ ही उन्होंने घोर अनैतिकता का चारों ओर प्रभाव देखकर सदैव संयम एवं नियम पर आधारित नैतिकता के प्रति अपनी गहन आस्था प्रकट की और श्रद्धा, दया, क्षमा, विनम्रता, निरभिमानता, सुशीलता आदि को महत्त्व देते हुए उपासना के बाह्याडम्बरों का परित्याग करके हृदय के गहन विश्वास को ही ईश्वर-प्राप्ति का साधन सिद्ध किया।

(४) **काव्यांगानुभूति**—कवि देव ने अपने 'भाव-विलास' एवं 'शब्द-रसायन' नामक दोनों ग्रन्थों में काव्य के सभी अंगों का विवेचन किया है। वैसे कवि देव ने 'शब्द-रसायन' और 'भवानी-विलास' में सभी रसों का वर्णन किया है, परन्तु शृंगार-रस को ही सभी रसों का मूलाधार मानकर केवल शृंगार का ही वर्णन अधिक तन्मयता के साथ किया है। रस-विवेचन के अतिरिक्त कवि ने नायिका-भेद, शब्द-शक्ति, अलंकार, गुण, रीति और पिंगल का भी निरूपण किया है। कवि ने काव्य की आत्मा, काव्य-शरीर, काव्य-प्रयोजन, काव्य-महिमा आदि के बारे में भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। इतना सब कुछ होते हुए भी कवि की रुचि मुख्यतया शृंगार-रस और नायिका-भेद के विवेचन की ओर हीं रही है। कवि देव ने शृंगार के दोनों भेदों—संयोग एवं वियोग का निरूपण अवश्य किया है, किन्तु उसमें कोई विशेषता नहीं दिखाई देती। केवल विशेषता यही है कि देव ने अन्य सभी रसों को हठात् शृंगार में ठूँसने का असफल प्रयास किया है और विरोधी रसों के साथ भी उनका समन्वय स्थापित करने का व्यर्थ प्रयत्न किया है। देव ने यह प्रयत्न किया है कि शृंगार और वीभत्स, वीर और भयानक, हास्य और करुण का विरोध भी कुशलतापूर्वक मिटाया जा

कता है। परन्तु इस कार्य में देव को सफलता नहीं मिली है। ऐसे ही कवि देव ने वियोग की आठ काम-दशाओं के भी व्यर्थ ही उपभेद कर डाले हैं। जैसे, चिन्ता के ार भेद—साधारण चिन्ता, गुप्त चिन्ता, संकल्प चिन्ता और विकल्प चिन्ता। ऐसे स्मरण के आठ भेद किये हैं—स्वेद-स्मरण, स्तम्भ-स्मरण, रोमांच-स्मरण, कंप-मरण, स्वरभंग-स्मरण, वैवर्ण्य-स्मरण और प्रलय-स्मरण। यहाँ कवि देव ने आठ ात्विक भावों को व्यर्थ ही स्मरण के भेदों में ठूँस दिया है। ऐसे ही गुणकथन, द्वेग, प्रलाप, उन्माद और व्याधि के भी भेद कर डाले हैं। केवल 'मरण' काम-दशा कोई भेद नहीं किया है।

कवि देव के अन्य विवेचनों में भी कोई नवीनता नहीं है। यदि कहीं ौलिकता एवं नवीनता दृष्टिगोचर होती है, तो वह नायिका-भेद के निरूपण में है। न्य रीति-कालीन कवियों ने जहाँ नायिका-भेद का वर्णन अधिक से अधिक कर्म, ाल, गुण, वयः क्रम, दशा और जाति को आधार बनाकर किया है, वहाँ देव ने नके अतिरिक्त देश, प्रकृति, सत्व और अंश के अनुसार भी नायिकाओं के भेद िश्चित किये हैं। जैसे, देश के आधार पर कवि देव ने मध्यप्रदेश बधू, मगध-बधू, ोशल बधू, पाटल वधू, उत्कल वधू, कलिंग बधू, कामरु बधू, बंग बधू, विंध्यवन-धू, मालव वधू, केरल बधू, कर्नाटक बधू, गुजरात बधू, मारवाड़ बधू, कश्मीर धू आदि कितने ही भेद किये हैं। ऐसे ही प्रकृति के आधार पर देव ने वात, पित्त, फ वाली तीन प्रकार की नायिकायें मानी हैं और सत्व के आधार पर देव ने नौ ार की नायिकायें बतलायी हैं—सुर, किन्नर, यक्ष, नर, पिशाच, नाग, खर, कपि ौर काक। इनके अतिरिक्त अंश के आधार पर कवि देव ने नायिका में पेंतीस वर्ष ी आयु तक ही नायिकात्व माना है, जिसे पाँच भागों में विभक्त किया है—सात तक देवी, सात से चौदह वर्ष तक देव-गन्धर्वी, चौदह से इक्कीस वर्ष तक गंधर्वी, क्कीस से अट्ठाईस वर्ष तक गंधर्व-मानुषी और अट्ठाईस से पेंतीस वर्ष तक शुद्ध ानुषी। इनमें से देवी पूज्या होती है, गंधर्वी भोग के योग्य होती है और मानुषी ानोत्पत्ति के लिए होती है। इतना ही नहीं, कवि देव ने वर्ण-व्यवसाय के आधार भी नायिका के विविध भेद-उपभेद किये हैं। जैसे, पहली नागरी के तीन भेद ये हैं—देवल, रावल और राजनगर। देवल नायिका के तीन उपभेद किये हैं—ी, पूजनहारी और द्वारपालिका। रावल नायिका के पाँच उपभेद किये हैं—जकुमारी, धाय, सखी, दूती और दासी। राजनगर वाली नायिका के तेरह उपभेद ये हैं—जौहरिन, छीपिन, पटवाइन, सुनारिन, गंधिन, तेलिन, तमोलिन, हलवाइन, ोदिन, कुम्हारिन, दरजिन, चूहरी और गणिका। दूसरी, पुरवासिन नायिका नौ ार की मानी है—ब्राह्मणी, राजपूतनी, खत्रानी, वैश्यानी, कायस्थिनी, शूद्रिनी, इन, मालिन और धोबिन। तीसरी, ग्रामीण नायिका पाँच प्रकार की बताई है—हीरिन, काछिन, कलारिन, कहारी और नुनेरी। चौथी, बनवासिनी नायिका तीन ार की कही है—मुनितिय, ब्याध्रिनी और भीलनी। पाँचवी, सैन्या नायिका के

तीन भेद किये हैं—वृषली, वेश्या और मुकेरिनी। छठी, पथिक-तय नायिका के चार भेद किये हैं—बनजारिन, जोगिन, नटनी और कुघेरनी।

इस प्रकार कवि देव की काव्यांगानुभूति का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि कवि देव ने प्रायः भानुदत्त की 'रस-तरंगिणी' को आधार बनाकर अधिकांश रस-वर्णन किया है। नायिका-भेद के लिए भी कवि ने केशव, विश्वनाथ और भानुदत्त का ही अधिकतर अनुसरण किया है। केवल भेद-उपभेद में कुछ नवीनता दृष्टिगोचर होती है, किन्तु उसके लिए भी संस्कृत-ग्रन्थों में संकेत मिल जाते हैं। अलंकार, शब्द-शक्ति और रीति-गुण-विवेचन में कोई नवीनता दिखाई नहीं देती। अतः कवि देव का काव्यांग-निरूपण कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है और न वे आचार्य कहलाने के योग्य ही हैं, क्योंकि उनके पद्यमय लक्षण प्रायः अस्पष्ट हैं और उदाहरणों में भी पर्याप्त त्रुटियाँ विद्यमान हैं। परन्तु इतना स्पष्ट है कि कवि देव में विश्लेषण-शक्ति पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी, जिसके फलस्वरूप उन्होंने भेद-प्रभेद करके प्रत्येक काव्यांग का निरूपण अधिक विशदता के साथ किया है। साथ ही कवि देव ने रस-सिद्धान्त का निरूपण भी अधिक सशक्तता एवं स्वच्छता के साथ किया है और उनके अन्तर्गत रस-संवेदन की मात्रा भी अत्यधिक दिखाई देती है। यही गुण उन्हें रीति-काल के कवियों में सबसे अधिक गौरवपूर्ण स्थान का अधिकारी बना देता है और इसी गुण के कारण कवि देव की कविता सहृदय-संवेद्य बन गई है।

देव का अभिव्यक्ति-पक्ष

(१) **भाषा एवं शब्द-योजना**—कवि देव ने साहित्यिक व्रजभाषा में कविता-रचना की है। देव ने जिस सुसमृद्ध व्रजभाषा का प्रयोग किया है, उसकी सम्पूर्ण शक्तियों को विकसित करने का श्रेय महात्मा सूरदास को है। नन्ददास ने उसे सुसंस्कृत एवं परिष्कृत बनाया है, बिहारी ने उसे समास-शक्ति प्रदान की है और मतिराम ने उसमें सरसता का संचार किया है। कवि देव का शब्द-भंडार अत्यन्त विशद एवं व्यापक है। उन्होंने संस्कृत के तत्सम एव तद्भव शब्दों के साथ-साथ प्राकृत, अपभ्रंश, फ़ारसी और उत्तर-भारत की अन्य बोलियों के शब्दों का प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ किया है। संस्कृत के तत्सम शब्दों को कवि ने अत्यधिक मात्रा में अपनाया है। इसी कारण कवि देव की कविता में पारावार, पारद, विधु, ब्रह्माण्ड, सुधा-सिंधु, गिरिवर, जोति-मंडल, अखण्ड, सुधा, इन्दु-मंडल, खंजन, मीन, दृगंचल, चंचलता, निमिषा, मयंक, अंक, विस्फूर्ति, दीप्ति, विशिख, भगवंत, महारक्ष, भारायमान, क्षितिभार, संभारहृत, कमलनयन, केशव, कंसारि, वंशावतंश, स्फुरद्रूप, गोपाल, भूपालभूत, करुणानिलय, कोटि कंदर्प, दर्पापहारी, श्याम मूर्ति, छवि-व्रीडनं, राजेन्द्र, देवेन्द्र, दुःखापहो, वृन्दावन, क्रीड, संक्रीडनं, चामीकर, वृंदारक, रथाङ्ग, पुलोमजा, सरीसृप, आसीविष, क्षीरज, कैतव, दुरोदर, शंबरारि, दृग, नर, किन्नर, सिद्ध, सुरासुर, विरञ्चि, त्रिलोक, मुनीश, भृकुटी, मनोज, कलाधर, साधिका, रूप-कला, कलानिधान, अद्भुत, चन्द्रमुखी, चम्पकपात, कन्दुक, वन्दन, वंशीधर, वंशीवट,

रचन्द्रिका, पल्लवलता, मंजुल मंजरी, मृगमद, शरद-शशि-मंडल, विशद ज्योति, हासन, सिंहवाहिनी, घनसार, वृजराज, सूक्ष्म, प्रतिबिम्ब, मकरन्द, मल्लिका, द्रिका, मृगलोचनि, मधुर, पीयूष, विरहानल, विषम, विष, अरविन्द, भूभुज, जविहारी, नीरज, वारिधि, पंचाग्नि, षटपद, महामोहक, निरञ्जन, करुणानिधान, ोज आदि तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है।

इसी प्रकार कवि देव की भाषा में प्राकृत एवं अपभ्रंश शब्दों के साथ-साथ भव शब्दों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में हुआ है। जैसे, लोयन (लोचन), विज्जु द्युत), मयन (मदन), मय (मद), जूह (यूथ), नाह (नाथ), गौना (द्विरागमन), (स्नेह), चैत (चैत्र), धुनि (ध्वनि), उनई (उन्नमित), बछानु (वत्स), खन ण), सपना (स्वप्न), जोवन (यौवन), कान्ह (कृष्ण), तिरीछे (तीक्ष्ण), वैद द्य), छेम (क्षेम), छिति (क्षिति), उओ (उदित), अनतै (अन्यत्र), बैन (वचन), राई (यदुराज), अनीठि (अनिष्ट), दीठि (दृष्टि), पीठि (पृष्ठ), अनूनो (अन्यून), (दिवस), सिंगार (शृंगार), कारज (कार्य), उसांस (श्वास), चितु (चित्त), (क्षण), गमारि (ग्रामीणि), सांझ (संध्या), चितौनि (चि ;वन), ढीठ (धृष्ठ), ग (सौभाग्य), करोरिक (कोटिकं), चहूँदिसि (चतुर्दिशि), पयान (प्रस्थान); वार (गृहद्वार), हुलास (उल्लास), परजंक (पर्यङ्क), सोंधे (सुगंधित), सेंदुर न्दुर), सौति (सपत्नी), रूठी (रुष्ट), हिये (हृदय), भौंह (भृकुटि), पौन (पवन), (गमन), भौन (भवन), दूति (द्युति), अकास (आकाश), सुखमा (सुषमा), जीभ ह्वा), हाथ (हस्त), जुन्हाई (ज्योत्स्ना), जेठ (ज्येष्ठ), औगुन (अवगुण), किवार पाट), ईठ (इष्ट), धूरि (धूल), मैन (मदन), सेज (शैया), चूमन (चुम्बन), ाह (उत्साहा), मानिक (माणिक्य), बैनी (वेणी), उराहनो (उपालम्भ), विथा था), औसर (अवसर), सुभाव (स्वभाव), जामिनी (यामिनी), धौरि (धवल), ो (वृश्चिक), सिवार (शैव्राल), चन्द (चन्द्र), निहच्यो (निश्चय), छपाकर ाकर), काजरं (कज्जल), निहचै (निश्चय), आठहूजाम (अष्टयाम), आसिख शिष), अभिलाख (अभिलाषा), आदि अनेक तद्भव शब्दों से कवि देव ने अपनी ना को सुसज्जित किया है।

कवि देव ने अनेक बोलचाल के शब्दों का भी प्रयोग किया है, जिनसे कविता रसता एवं रमणीयता अत्याधिक आ गई है। जैसे, नगीच, पिछौरी, सिगरी, नैकु, ई, भटू, लला, लली, ठौर, अझूनौ, अँसुवा, औचक, सिगरौ, चवाइन, काल्हि, रा, छोहरी, हरवा, ग्वारि, निगोड़ो, गैल, छैल, छबीली, माई, अलबेली, बिछिया, उतै, बीर (सखी), हियरा, हिलकी, बलाइ, अंझा, बीकना, लपना, सोरंई, रिख्यो विविध बोलियों के शब्दों का प्रयोग किया गया है। ऐसे ही कवि देव ने अरबी- सी के शब्दों को भी यत्र-तत्र अपनाया है। जैसे, गुलाब, गुमान, कमान, महल, , मखमल, कैंची, कलेजा, जहाज, बकसीस, नजीक (नज़दीक), खवासिन,

जवाहिर, हज़ार, तमासौ (तमाशा), चोज, रुख, वर्फ, किर्च, सही, जोर, शरवत, गरीब, मखतूल, फर्शबन्द, खवासी, कज्जाक, फरागत, शरीक, साहव, दिल, दरिया-दराज, इतराज (ऐतराज़), गनीम, सैद (सैय्यद), सिरताज, शोर आदि अनेक अरवी-फारसी के शब्द तत्कालीन बोलचाल में प्रयुक्त होने के कारण अनायास ही आ गये हैं। इतना ही नहीं, कवि देव ने कुछ नये-नये शब्द भी गढ़ लिये हैं, जिनके फलस्वरूप इनकी कविता क्लिष्ट एवं दुरूह हो गई है। जैसे, 'वंसीवारौ' के आधार पर धनसीवारौ, तनसीवारौ आदि; सहचर के आधार पर रहचर, महचर, चहचर आदि। ऐसे ही कुछ विचित्र शब्दों का प्रयोग भी देव की कविता में मिलता है। जैसे, जीभ, धील, वावस, हुद्र, सीजी, वसीकने, दुहुव, तरावक, हूप आदि। इतना ही नहीं, कवि देव ने कतिपय शब्दों को तोड़-मरोड़कर विचित्र रूप दे दिया है। जैसे, 'नितई', समीधी, हितई, व्योह (व्यामोह), लपना (जल्पना), हैडंत (हेमंत), कंद (कंदुक), ईछी (इच्छा), अभिख्या (अभिलाषिणी), हिरन (हिरण्य), तुलही (तुला), विद्वोत (विदित), दंदरा (द्वन्द्व) आदि।

इतना अवश्य है कि कवि देव की भाषा में अनुरणन की प्रवृत्ति अधिक है। इसी कारण एक सी ध्वनि वाले शब्दों का प्रयोग प्राय: अधिक हुआ है। जैसे, 'हरो हियरा हरि के हिय हारनि, रंगराती हरी हहराती लता, अंचल झीन झकैं झलकैं पुलकैं कुच, चारि घरीलौं मरीसी धरी रही, त्यों सकुचोंही उचोंही रुचोंही ससोंही हँसोही रिसोहीं रसोहीं; अरसोहें रिसोहैं सुसोहैं, भौंहैं भ्रमाह कछू इतराकू कछूक रिसाह कछू मुसकाइकै, हेरि हियो जू लियो हरि जू हरि, बातें बनाइ मनाइ हँसाइ, आँसू भरे सिसके रिसके मिसके कर झारि, उतराती सी नैन तराती भई इतराती वधूति इतराती जगी, वैन सखीन सों सैन सुमैन के चैन सो नैन नचावै, भयो चित चीतौं चितौति चहूँ दिसि चाय सों नाची आदि। कहीं-कहीं कवि ने द्वित्व शब्दों का प्रयोग करके भाषा को अधिक सरस एव प्रवाहमयी बनाया है। जैसे, 'रहँसि रहसि, हँसि हँसि उठै', 'थकि-थकि बकि-बकि उठति वई-बई', 'कनक-बनक तन तनक तनक तन', 'सिसकि सिसकि निसि', 'हाय हाय करै', 'गोरी मुख भोरो भोरो', 'ऊँचे धाम धाम चढ़ि', 'लाख लाख भाँति लेखियत', 'हाथन के हाथन ते गोदन के गोद ते', 'पूछि पूछि पीछे परै', 'सरकि सरकि सारी दरकि दरकि आँगी', 'तनक तनक तामें झनक चुरीन की', 'चन्द वलिहारी वलिहारी वलवीर की' आदि।

व्याकरण की दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि अन्य रीतिकालीन कवियों की तरह कवि देव की भाषा भी विविध प्रकार के व्याकरण-दोषों से भरी हुई है। वचन और लिंग के दोषों ने भाषा में पर्याप्त गड़बड़ी उत्पन्न की है। जैसे, 'लोग अथायनि बैठ्यो' पद में 'लोग' बहुवचन है और 'बैठ्यो' एकवचन की क्रिया का प्रयोग हुआ है। ऐसे ही 'उचकौ कुच कन्द-सौ' पद में 'कुच' शब्द बहुवचन में ही प्रयुक्त होता है। अत: 'उचकौ' क्रिया एकवचन में आकर गड़बड़ी मचा रही है। ऐसे ही 'नितम्ब भयौ कछ भारो' पद में नितम्ब शब्द सदैव बहुवचन में आता है और

उसके साथ 'भयो कछु भारो' क्रिया का एकवचन में प्रयोग गड़बड़ी कर रहा है। ऐसे ही 'पेलि के पठाई वधू सारद के सोम-सो' पद में वधू स्त्रीलिंग है और 'सोम-सो' उपमान का प्रयोग पुल्लिग में हुआ है। अतः यहाँ लिंग-दोष है। इसी प्रकार 'लहर-हर होत प्यारी की लहरिया' पद में 'लहरिया' शब्द पुल्लिग है, और उसके साथ होत' क्रिया भी पुल्लिग की प्रयुक्त हुई है, किन्तु 'की' विभक्ति यहाँ स्त्रीलिंग की गई है, जिससे पद में गड़बड़ी हो गई है। ऐसे ही 'लंक' शब्द का प्रयोग देव ने कहीं पुल्लिग में और कहीं स्त्रीलिंग में किया है। जैसे, 'भयो छवि दूबरो लंक विचारो' पद में 'लंक' पुल्लिग के रूप में प्रयुक्त है और 'लंक गहि लीनी' में इसका प्रयोग स्त्री-लिंग के रूप में हुआ है। ऐसे ही कारकों, क्रियारूपों आदि में भी गड़बड़ी मिलती है। जैसे, भविष्यत् काल के क्रियारूपों में 'ग' और 'ह' के अतिरिक्त 'वी' का प्रयोग करना (भरिबी, जरिबी, ढरिबी आदि), दो-दो सहायक क्रियाओं का प्रयोग करना (वितैहौगी) आदि। ऐसे ही वाक्य-रचना में भी पर्याप्त दोष मिलते हैं। कहीं 'के कहैं लूटत सुने हो दधि-दान मैं' के अन्तर्गत अक्रमत्व एवं अन्वय-दोष विद्यमान है तो कहीं 'खैंचि खरी दई दौरि सखी के उरोजन बीच सरोज फिराय कैं' पंक्ति में नपदत्व दोष है, क्योंकि यहाँ 'माला' शब्द रह गया है। ऐसे ही देव की कविता में धिक एवं निरर्थक पदों का भी प्रयोग अत्यधिक मात्रा में मिलता हूँ। यही कारण है कि देव की भाषा में लालित्य एवं माधुर्य के होते हुए भी व्याकरण की दृष्टि से नेक दोष विद्यमान हैं।

(२) **उक्ति-वैचित्र्य**—कवि देव ने एक ओर तो अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना क्तियों में से लक्षणा एवं व्यंजना का सर्वाधिक उपयोग करते हुए अपनी कविता को क्ति के सौन्दर्य से ओत-प्रोत बनाया है, तो दूसरी ओर मुहावरों एवं लोकोक्तियों के थ-साथ वक्रोक्तियों के द्वारा उक्ति-वैचित्र्य का चमत्कार प्रस्तुत किया है। उदाहरण लिए लाक्षणिक पदों में विद्यमान उक्ति का सौन्दर्य देखिए :—

(क) यों सुनि ओछे उरोजन पै 'अनुराग के अंकुर से उठि आये'।
(ख) बिछियान की 'ज़ोभें न लागती हैं'।
(ग) सुनि-सुनि श्रवणन 'भूख-सी भजति है'।
(घ) 'रहै क्यों ऊजरी' गोकुल में व्रज गूजरी गोकुल की गरबीली।
(ङ) मदन मरोरे 'कोरे अंग कुम्हिलाने जात'।
(च) भाग भरे सुख पै 'सोहाग बरसत है'।

इसी तरह कवि ने व्यंजना को आधार बनाकर व्यंग्यार्थ द्वारा उक्ति-वैचित्र्य सौन्दर्य भी प्रकट किया है। जैसे, एक खंडिता नायिका कहना तो यह चाहती है उसका पति अत्यन्त निष्ठुर एवं निर्दयी है, क्योंकि वह रात भर किसी दूसरी यिका के साथ रमण करके सबेरे लाल-लाल आँखें किए हुए उसके पास आया है, न्तु इस बात को छिपाती हुई व्यंग्य से वह अपने पति से यह कहती है कि तुमने त में शशि का रूप धारण करके उस कुमुदिनी (दूसरी नायिका) को अपने स्नेह से

शीतल किया है और अब सवेरा होने पर बाल रवि का रूप धारण करके मेरे लोचन-कमलों को खिलाने आये हो—

साँझ शशि ह्वै कै हँसि विहँसि कुमुदिनी सों,
रहे चलि नीचे नलिनी के उर-शूल ते ।
शिशिर मयंक सो सशंक पंकजिनी जानि,
रजनी गमाई भले मानी गई भूल ते ।।
कीनी निहचिंत हौं तुरंत चितचिन्ता मेटी,
देव सेवकनि के सद ही अनुकूल ते ।
लाल लाल अम्बर उदित बाल भानु-हेरि,
भोर बिनु लोइन कमल कैसे फूल ते ।।

इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर धीरा नायिका अपने मान को दैन्य के द्वारा प्रकट करती है । अत: यहाँ भंग्यन्तर से व्यंजना से परिपूर्ण उक्ति का चमत्कार इस प्रकार व्यक्त हुआ है—

हित कै [illegible] तू री नहि तू री समुझावै अनि,
सुख दुख मुख सुखदानि को निहारनो ।
लपने कहाँ लौं बालपने की बिकल बातैं,
अपने जनहि सपनेहु न बिसारनो ।।
'देवजू' दरस बिनु तरसि मर्‌यो हो पग,
परसि जियैगो मन-बैरी अनमारनो ।
पतिव्रत व्रती ये उपासी प्यासी अँखियन,
प्रात उठि पीतम पियायो रूप पारनो ।।

कवि देव ने मुहावरों एवं लोकोक्तियों के द्वारा अपनी उक्तियों का चमत्कार इस प्रकार प्रकट किया है—

(क) साँचें हँकारि पुकारि पिकी कहै 'नाचे बनेगो' बसन्त की पाँचे ।
(ख) खेलि बोऊ हँसि बोऊ कहा सुख सों बसिबो 'बिसे बीस' बिसारो ।
(ग) ओस की आस बुझै नहीं प्यास ।
(घ) नखसिख राई में सुमेरु दिखराई देत ।
(ङ) जौहरी की जोइ जग जौहर करत है ।
(च) पलक हूजे ठाढ़ी हौं पलक करौं पाँवड़े ।
(छ) कौड़ी करी हीरा ते, कनौड़ी करी कुल ते ।
(ज) मनु मनिका दै हरि हीरा गाँठि बाँध्यो हम,
तिन्हें तुम बनिज बतावत हौ कौड़ी को ।
(झ) चम्पा बरनी के गरे पर्‌यो चम्पकली ह्वै ।

इतना ही नहीं, कवि देव ने अन्य विलक्षण उक्तियों के द्वारा भी अपने कथन का चमत्कार व्यक्त किया है । जैसे—

(क) साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यो ।
(ख) लाल के रंग में भीजि रही सु गुलाल के रंग मैं चाहत भीज्यों ।
(ग) नैसिक नाह के नेह बिना चकचूर ह्वै जैहै सबै चिकनाई ।
(घ) बालम-विरह जिन जान्यो न जनम भरि,
बरि बरि उठै ज्यौं-ज्यौं बरसै बरफ राति ।
(ङ) ए रे मन मेरे तैं घनेरे दुख दीन्हे अब,
ए केबार दैके तोहि मूँदि मारौं एक बार ।
(च) चौगुनो रंग चढ़ो चित मैं चुनरी के चुचात लला के निचोरत ।
(छ) बोलि उठे बिछिया जिय चालये, शोर चुरी चहुँ ओर करै री ।
रंग में भंग करै कटि किंकिणि, अंग के संग लगे सब बैरी ।।

इस प्रकार कवि ने विविध प्रकार के उक्ति-चमत्कार द्वारा अपने कथन ो अधिक प्रभावोत्पादक, मनोरंजक एवं मार्मिक बनाने का प्रयास किया है और वि के इस चमत्कारपूर्ण कथन में उक्ति-वैचित्र्य का [illegible]दर्य बड़ी रमणीयता, जीवता एवं सरसता के साथ व्यक्त हुआ हैं ।

(३) बिम्ब-विधान—कवि देव ने अपनी कविता में ऐसे-ऐसे सुन्दर बिम्ब ंकित किये हैं, जिनमें संश्लिष्टता के साथ-साथ सजीवता एवं गतिशीलता के भी ंन होते हैं । उदाहरण के लिए, श्रावण मास में राधा-कृष्ण के भूलने का एक िलष्ट बिम्ब अंकित करते हुए कवि ने शीतल समीर के चलने, बादलों के घुमड़ने, ंदों के बरसने; राधा के हँस-हँसकर हिंडोले पर चढ़ने, उसके शरीर के थर-थर ंपने, कृष्ण के पीताम्बर के फहरने, राधा की चुंनरी के लहराने आदि का बिम्ब ठकों के सम्मुख सजीव हो उठता है, जिसमें शब्दों की अनुरणनात्मक ध्वनि के साथ थ संश्लिष्ट बिम्ब का सौन्दर्य इस तरह व्यक्त हुआ है :—

सहर-सहर सोंधो सीतल समीर डोलै,
घहर-घहर घन घेरि कै घहरिया ।
झहर-झहर झुकि झीनी झरि लायो 'देव'
छहर-छहर छोटी बूँदन छहरिया ।।
हहर-हहर हँसि-हँसि के हिंडोरें चढ़ी,
थहर-थहर तनु कोमल थहरिया ।
फहर-फहर होत पीतम को पीत पट,
लहर-लहर होत प्यारी की लहरिया ।।

इसी प्रकार कवि देव ने वृन्दावन में रास-क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्ण की सलीला का निरूपण करते हुए एक अत्यन्त सजीव रूपात्मक बिम्ब इस तरह तुत किया है :—

हौंही ब्रज बृंदावन मोही मैं बसत सदा,
यमुना तरंग श्याम रंग अवलीन की ।

शीतल किया है और अब सवेरा होने पर बाल रवि का रूप धारण करके मेरे लोचन-कमलों को खिलाने आये हो—

साँझ शशि ह्वै कै हँसि विहँसि कुमुदिनी सों,
रहे चलि नीचे नलिनी के उर-शूल ते ।
शिशिर मयंक सो सशंक पंकजिनी जानि,
रजनी गमाई भले मानी गई भूल ते ।।
कीनी निहिचिंत हौं दुरंत चितचिन्ता मेटी,
देव सेवकनि के सद ही अनुकूल ते ।
लाल लाल अम्बर उदित बाल भानु-हेरि,
भोर बिनु लोइन कमल कैसे फूल ते ।।

इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर धीरा नायिका अपने मान को दैन्य के द्वारा प्रकट करती है। अत: यहाँ भंग्यन्तर से व्यंजना से परिपूर्ण उक्ति का चमत्कार इस प्रकार व्यक्त हुआ है—

हित कै [illegible] तू री नहिं तू री समुझावै अनि,
सुख दुख मुख सुखदानि को निहारनो ।
लपने कहाँ लौं बालपने की बिकल बातें,
अपने जनहि सपनेहु न बिसारनो ।।
'देवजू' दरस बिनु तरसि मर्‌यो हो पग,
परसि जियैगो मन-बैरी अनमारनो ।
पतिव्रत व्रती ये उपासी प्यासी अँखियन,
प्रात उठि पीतम पियायो रूप पारनो ।।

कवि देव ने मुहावरों एवं लोकोक्तियों के द्वारा अपनी उक्तियों का चमत्कार इस प्रकार प्रकट किया है—

(क) साँचें हँकारि पुकारि पिकी कहै 'नाचे बनेगो' बसन्त की पाँचे ।
(ख) खेलि बोऊ हँसि बोऊ कहा सुख सों बसिबो 'बिसे बीस' बिसारो ।
(ग) ओस की आस बुझै नहीं प्यास ।
(घ) नखसिख राई में सुमेरु दिखराई देत ।
(ङ) जौहरी की जोइ जग जौहर करत है ।
(च) पलक हूजे ठाढ़ी हौं पलक करौं पाँवड़े ।
(छ) कौड़ी करी हीरा ते, कनौड़ी करी कुल ते ।
(ज) मनु मनिका दै हरि हीरा गाँठि बाँध्यो हम,
तिन्हें तुम बनिज बतावत हौ कौड़ी को ।
(झ) चम्पा बरनी के गरे पर्‌यो चम्पकली ह्वै ।

इतना ही नहीं, कवि देव ने अन्य विलक्षण उक्तियों के द्वारा भी अपने कथन का चमत्कार व्यक्त किया है। जैसे—

(क) साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यो ।
(ख) लाल के रंग में भीजि रही सु गुलाल के रंग मैं चाहत भीज्यो ।
(ग) नैसिक नाह के नेह बिना चकचूर ह्वै जैहै सबै चिकनाई ।
(घ) बालम-विरह जिन जान्यो न जनम भरि,
बरि बरि उठै ज्यौं-ज्यौं बरसै बरफ राति ।
(ङ) ए रे मन मेरे तैं घनेरे दुख दीन्हे अब,
ए केबार दैके तोहि मूँदि मारौं एक बार ।
(च) चौगुनो रंग चढ़ो चित मैं चुनरी के चुचात लला के निचोरत ।
(छ) बोलि उठे बिछिया जिय चालये, शोर चुरी चहुँ ओर करै री ।
रंग में भंग करै कटि किंकिणि, अंग के संग लगे सब बैरी ।।

इस प्रकार कवि ने विविध प्रकार के उक्ति-चमत्कार द्वारा अपने कथन को अधिक प्रभावोत्पादक, मनोरंजक एवं मार्मिक बनाने का प्रयास किया है और कवि के इस चमत्कारपूर्ण कथन में उक्ति-वैचित्र्य का [illegible]दर्य बड़ी रमणीयता, सजीवता एवं सरसता के साथ व्यक्त हुआ है।

(३) बिम्ब-विधान—कवि देव ने अपनी कविता में ऐसे-ऐसे सुन्दर बिम्ब अंकित किये हैं, जिनमें संश्लिष्टता के साथ-साथ सजीवता एवं गतिशीलता के भी र्शन होते हैं। उदाहरण के लिए, श्रावण मास में राधा-कृष्ण के भूलने का एक संश्लिष्ट बिम्ब अंकित करते हुए कवि ने 'शीतल समीर के चलने, बादलों के घुमड़ने, बूंदों के बरसने; राधा के हँस-हँसकर हिंडोले पर चढ़ने, उसके शरीर के थर-थर काँपने, कृष्ण के पीताम्बर के फहरने, राधा की चुंनरी के लहराने आदि का बिम्ब पाठकों के सम्मुख सजीव हो उठता है, जिसमें शब्दों की अनुरणनात्मक ध्वनि के साथ साथ संश्लिष्ट बिम्ब का सौन्दर्य इस तरह व्यक्त हुआ है :—

सहर-सहर सोंधो सीतल समीर डोलै,
घहर-घहर घन घेरि कै घहरिया ।
झहर-झहर झुकि झीनी झरि लायो 'देव'
छहर-छहर छोटी बूँदन छहरिया ।।
हहर-हहर हँसि-हँसि के हिंडोरें चढ़ी,
थहर-थहर तनु कोमल थहरिया ।
फहर-फहर होत पीतम को पीत पट,
लहर-लहर होत प्यारी की लहरिया ।।

इसी प्रकार कवि देव ने वृन्दावन में रास-क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्ण की रासलीला का निरूपण करते हुए एक अत्यन्त सजीव रूपात्मक बिम्ब इस तरह स्तुत किया है :—

हौंही ब्रज बृंदावन मोही मैं बसत सदा,
यमुना तरंग श्याम रंग अवलीन की ।

'देव' दई सुन्दर सघन वन देखियत,
कुंजन में सुनियत गुंजनि अलीन की ॥
बंसीवट तट नट नागर नटत मोमें,
रास के विलास की मधुर धुनि बीन की ।
भरि रही भनक बनक ताल तानन की,
तनक तनक तामें झनक चुरीन की ॥

इसी प्रकार कवि देव ने एक प्रकृति सम्बन्धी बिम्ब प्रस्तुत किया है, जिसमें प्रभात काल का वर्णन करते हुए चकवी के प्रसन्न होने, चन्द्रमा के क्षीण होने, रात्रि के बीतने पर चाँदनी के फीके पड़ने, पक्षियों के बोलने आदि के साथ-साथ प्राची दिशा के लाल-लाल होने की विलक्षण कल्पना की है :—

वा चकई कौं भयो चित चीतो चितौति चहूँ दिसि चाय सों नाची ।
ह्वै गई छीन-छपाकर की छवि जामिनि जोन्ह मनो जम जाँची ॥
बोजत बैरी विहंगम देव, सो सौतिनि के घर सम्पति माची ।
लोहु पियो जो वियोगिनि को, अहै सामुहें लाल पिसाचिनि प्राची ॥

कवि देव ने भावों के भी अत्यन्त सजीव बिम्ब प्रस्तुत किए हैं। जैसे किलकिंचित भाव का एक मनोहर बिम्ब देखिए, जिसमें एक साथ ही भय, हास, अभिलाष, मान, गर्व आदि का उत्पन्न होना इस तरह दिखाया गया है :—

पाइँ परै पलिका पै परी, जिय संकति सोतिन होति न सौंहीं ।
ऐंचि कसी फुंफुदो की फुंदी, भुज दाबी दुहूँ छतियाँ हुलसौंहीं ॥
काँपि कपोलनि चाँपि हथेरिन, झाँपि रही मुख डीठि लसौंहीं ।
त्यों सकुचोंही, उचोंही, रुचौंही, ससोहीं, हँसोहीं, रिसोहीं, रसोहीं ॥

कवि देव ने कतिपय आध्यात्मिक बिम्ब भी अत्यन्त सुन्दरता के साथ अंकित किए हैं। जैसे, मन में विश्रमान रस-भोग की प्रबल तृष्णा का बिम्ब प्रस्तुत करता हुआ कवि कहता है—

हाय कहा कहौं चंचल या मन की गति में मति मेरी भुलानी ।
हौं समुझाय कियो रस-भोग न देव तऊ तिसना बिनसानी ॥
दाड़िम दाख रसाल-सिता मधु ऊख पिये औ पियूष से पानी ।
पै न तऊ तरुनी-तिय के अधारन के पीबे की प्यास बुझानी ॥

ऐसे ही कवि ने सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म का बिम्ब कितनी सजीवता के साथ इस तरह अंकित किया है—

अन्तर जाके निरंतर ते उपजे बिनसे तिन माँहि समाईं ।
बाहर भीतर सो अध ऊरध पूरि रह्यो सु अकास की नाईं ॥

इसी तरह कवि ने मानव के अन्तःकरण में विद्यमान आत्मा रूपी परमात्मा का बिम्ब प्रस्तुत करते हुए संकेत किया है कि हृदय के कपाट खोलकर तू उससे क्यों नहीं भेंट करता—

तो मैं जो उठत बोलि ताहि क्यों न मिलैं डोलि,
खोलिए हिए में दिए कपट-कपट हैं।

इस प्रकार कवि देव ने विविध प्रकार के बिम्बों द्वारा अपने मनोभावों का त्रण करते हुए अपनी अभिव्यंजना के कौशल को व्यक्त किया है। कवि के इस म्ब-विधान में सजीवता, सरसता एवं मार्मिकता पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं।

(४) **अलंकार-विधान**—कवि देव ने अपनी अभिव्यक्ति को अत्यन्त सबल एवं न्दर्यमयी बनाने के लिए अलंकारों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है। प्राय: ादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग अधिक किया गया है और इन अलंकारों के द्वारा प-साम्य, धर्म-साम्य एवं प्रभाव-साम्य प्रस्तुत करते हुए अपनी अभिव्यक्ति को मार्मिक वं मनोरंजक बनाया गया है। इन अलंकारों के द्वारा एक ओर तो चित्रमयता को श्रय मिला है तथा दूसरी ओर ये अलंकार रसोत्कर्ष की वृद्धि में भी सहायक सिद्ध ए हैं। यद्यपि कवि देव की कविता में सादृश्यमूलक अलंकारों का ही बाहुल्य दिखाई ता है, तथापि विरोधमूलक अलंकार भी यत्र-तत्र बड़ी रमणीयता के साथ प्रयुक्त ए हैं। इस प्रकार कवि के अप्रस्तुत विधान ने न केवल कथन को चारुता एवं ार्मिकता प्रदान की है, अपितु सौन्दर्य-निरूपण में भी कलात्मकता के साथ-साथ त्रमयता प्रदान की है। कवि देव की कविता में प्रयुक्त अलंकारों के उदाहरण इस ार मिलते हैं :—

उपमा—

(क) जगर-मगर आपु आवति दिवारी-सी।
(ख) गोरो-गोरो मुख आजु ओरो-सो बिलानो जात।
(ग) गोरी को गात प्रभात ज्यों पूनो।

पूर्णोपमा—

(क) मानत नाहिं तिरीछेहि तानति बान-सी आँखें कमान-सी भौंहे।
(ख) आनन सुगन्ध ज्यों सुगन्ध जैसे फूलन तें,
फूल से दुकूलन तें रूप निकस्यौ परैं।
(ग) उठी मदनागि पिघलान्यो मन मोम-सो।

उत्प्रेक्षा—

(क) भाल गुही मुक्तालर माल सुधाधर मैं मनौ भार सुधाको।
(ख) मंद हँसी अरविन्द ज्यों बिन्द, उँचै गये दीठि में दीठि खुभै कै।
कंज की मंजिय खंजन मानौ, उड़ै चुनि चंचुनि चंचु चुभै कै।।

अनन्वय—

केस से केस लसै मुख सौ मुख नैन से नैन रहे रँग सों छकि।

रूपक—

(क) मन्दहास-चन्द्रिका कौ मन्दिर बदन-चन्द।
(ख) दीप सिखा वृज-मन्दिर सुन्दरि जागत जोति चहूँ जुग जानी।
(ग) दोऊ जवाहिर जौहरी मैन सुनैन-पलानि तुला धरि तौलै।

अतिशयोक्ति तथा संदेह—

यह कैधों कलाधर ही की कला, अबला किधौं की कैधों सची ।
किधौं कौन के भौन की दीप-सिखा, सखीऔन दे भाग ह्वै भाल खची ॥
तिहूँ लोक की सुन्दरताई की एक, अनूपम रूप की रासि मची ।
नर, किन्नर, सिद्ध, सुरासुर हून की वंचि वधूनि विरंचि रची ॥

समासोक्ति—

मालती सों मिलिये निसद्योस हू, या सुखदानि ह्वै ज्यौं समुझैयै ।
प्रीति पुरानी पुरैंनि के रैनि, रहौ नियरे न बिपत्ति बहैयै ॥
ऊपर ही गुनरूप अनुप, निरन्तर अन्तर में पतियैयै ।
ये अलि दूलह भूलेंहू देवजू चम्पक फूलं के मूल न जैये ॥

व्यतिरेक—

याहीतें प्यारी निहारी मुखद्युति चन्द-समान बखानत हैं कवि ।
आनन ओप मलीन न होति, पै छीनि कै जाति छपाकर की छवि ॥

विभावना—

ये अखियाँ बिनु काजर कारी, अयाँरी चितै चित में चपटीसी ।
अँगहूराग बिना अँग-अँग झकोरें सुगन्धन की झपटी सी ॥

दीपक—

मोहि लई हिरनी लखिकैं, हरि नीरज सी बड़री अँखियान सों ।
सारिका, सारसिका, रसिका, सुकपोत, कपोती, पिकी मृदुबानि सों ॥

व्याजस्तुति—

को हमकों तुमसे तपसी बिनु, ज़ोग सिखावन आइ है ऊधौ ।
पै यह पूछियै जू उनकों सुधि, पाछिली आवति है कबहूँ धौ ॥
एक भली भई भूप भये अरु, भूलि गये दधि माखन दूधौ ।
कूबरी सी अति सूधी वधू को, मिल्यो वर देव जू स्याम सौ सूधौ ॥

विरोधाभास—

दोऊ पच्छ उज्ज्वल विराजें राजहंसी देव,
स्याम रंग-रँगी जगमगी उमगी रहे ।

मानवीकरण—

(क) धार में धाइ धँसी निरधार ह्वै जाल फँसी उकसी न अवेरी ।
री अँगराइ गिरीं गहिरी गहि, फेरे फिरीं औ घिरीं नहिं घेरी ॥
देव कछू अपनो बसु ना, रस लालच लाल चितै भई चेरी ।
बेग ही बूड़ि गई पँखियाँ अँखियाँ मधुकी मखियाँ भई मेरी ॥
(ख) ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू विषय के संग,
ऐरे मन मेरे हाथ-पाँव तेरे तोरतो ।
(ग) रँगराती हरी हहराती लता झुकि जाती समीर की झूकनि सों ।

वृत्यनुप्रास—

वा चकई कौ भयौ चित चीतौ चितौति चहूँदिसि चाय सों नाची ।

छेकानुप्रास—

फलि-फलि, फूलि-फूलि, फैलि-फैलि, झुकि-झुकि,
झपकि-झपकि आई कुंजें चहुँ कोद तें ।

वीप्सा—

राधे हौं सदन बैठी कहती हौ कान्ह कान्ह,
हा-हा कहि कान्ह वे कहाँ हैं कौने से ।

श्लेष—

(क) मुसकाइ के गाइ के गाइ दुही ।
(ख) देखी सो नारि सुनारि सलौनी ।

यमक—

देव गुन अगरी उसासैं भरै अगरी दबाये दंतु अँगुरी अञ्चल अंग अंगरी ।
लंक लग बगरी, कलंक लग बगरी सखीन संग बगरी सखी न संग बगरी ।।

इस प्रकार देव ने अर्थालंकारों एवं शब्दालंकारों का प्रयोग करके अपने कथन को चमत्कारपूर्ण बनाने का अत्यधिक प्रयास किया है । वैसे कवि देव की अलंकार-योजना में चमत्कार का बाहुल्य भले ही हो, किन्तु वह भावोत्कर्ष में सर्वथा सहायक सिद्ध हुई है और रसानुकूल होने के कारण भाव-दीप्ति से परिपूर्ण है ।

(५) **छन्द-योजना—(i) सवैया—**कवि देव ने अपनी रचनायें सवैया, कवित्त (घनाक्षरी) और दोहा, छन्दों में ही लिखी हैं । सवैया छन्द के बारे में यह प्रसिद्ध है कि यह गण के नियम से शासित वर्णवृत्त होता है और अन्त में प्रयुक्त लघु-गुरु के विचार से इस छन्द के अनेक भेद होते हैं । श्रीभानुजी ने 'छन्द-प्रभाकर' में सवैया के दस भेदों की चर्चा की है । ऐसे ही कवि देव ने 'शब्द-रसायन' में सवैया के बारह भेदों का विवेचन किया है । इस सवैया छन्द में बाईस से लेकर छब्बीस वर्ण तक होते हैं । इस छन्द की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें आदि से अन्त तक एक ही गण का प्रयोग किया जाता है । किसी सवैया छन्द में भगण का प्रयोग होता है, तो किसी में जगण का और किसी में सगण का । जैसे, मदिरा, किरीट, मालती, चित्रपदा और अलसा नामक सवैया छन्दों में केवल भगण का प्रयोग आरम्भ से अन्त तक किया जाता है । ऐसे ही दुर्मिल, कमला, ललित और सुधा नामक सवैया छन्द में आदि से अन्त तक सर्वत्र सगण का प्रयोग किया जाता है । इसी तरह मल्लिका, माधवी और मंजरी में सर्वत्र जगण जाता है । 'सवैया छन्द के ये सभी भेद वर्णों की संख्या और अन्त में गुरु-लघु के क्रम से किये जाते हैं । यह छन्द लय और गति में अत्यन्त श्रुतिमधुर एवं नाद-सौन्दर्य से परिपूर्ण होता है । इसकी लय के द्वारा ध्वनि की शृंखला-सी बन जाती है और उसका एक मनोमुग्धकारी प्रभाव श्रोता के हृदय

पर पड़ता है। निस्संदेह, यह छन्द मधुर राग से परिपूर्ण होकर श्रोता के हृदय में मधुर झंकार भरता हुआ उन्हें रसाप्लावित करने में पूर्ण सहायक होता है।

कवि देव ने भगण, सगण और जगण को आधार बनाकर तीनों प्रकार की लय एवं गति से परिपूर्ण सवैया छन्द का प्रयोग किया है। इनमें से भगण को आधार बनाकर कवि देव ने किरीट सवैया छन्द अधिक अपनाया है, सगण को आधार बनाकर दुर्म्मिल सवैया छन्द का प्रयोग अधिक किया है और जगण को आधार बनाकर मंजरी अथवा मुक्ताहरा सवैया छन्द पर्याप्त मात्रा में अपनाया है। तीनों के उदाहरण इस प्रकार मिलते हैं—

(क) **किरीट सवया**—इसमें आठ भगण और चौबीस वर्ण होते हैं। भगण में पहला वर्ण गुरु और शेष दो वर्ण लघु होते हैं। कवि ने आठ भगण पर आधारित किरीट सवैया छन्द इस प्रकार लिखा है :—

सौतिहु की अँखिया सुख पावति तो मुख देखि सखी सुखदाइन।

गणात्मक रूप—

S । । । । S । । S । । S । । S । । S । । S । ।
सौतिहु, की अँखि, या सुख, पावति, तोमुख, देखिस, खीसुख, दाइन।

(ख) **दुर्म्मिल सवैया**—इसमें आठ सगण और चौबीस वर्ण होते हैं। सगण में पहला और दूसरा वर्ण लघु तथा तीसरा वर्ण गुरु होता है। कवि देव ने आठ सगण पर आधारित दुर्म्मिल सवैया का प्रयोग भी बड़ी तत्परता के साथ किया है। इसका उदाहरण इस प्रकार मिलता है :—

सँग सोवत ही पिय के मुख सों मुख सौ नहिं योग वियोग सहै।

गणात्मक रूप—

। । S । S । । S । । S । । S । । S । । S । । S
सँगसो, वत ही, पियके, मुखसों, मुख सौ, नहिं यो, गवियो, गसहै।

(ग) **मंजरी सवैया**—इसमें आठ जगण और चौबीस वर्ण होते हैं। जगण में पहला वर्ण लघु (।), दूसरा वर्ण गुरु (S) और तीसरा वर्ण लघु (।) होता है। कवि देव ने जगण पर आधारित मंजरी या मुक्ताहरा सवैया का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में किया है। जैसे—

बधू सिर लोटि लियो भरि नैन करोटन टेन दियो ततकाल।

गणात्मक रूप—

। S । । S । । S । । S S । । । । S । । S । । S ।
बधूसि, रलोटि, लियोभ, रिनैन, करोट, नटेन, दियोत, तकाल॥

(घ) कवि देव ने उक्त तीन गतियों में ही बहुत कुछ वर्णों का परिवर्तन करके कई भेद-उपभेदों के साथ ग्यारह प्रकार के सवैया छन्द का प्रयोग किया है। जैसे, किरीट के अन्तिम भगण के तीन वर्णों को हटाकर उसके स्थान पर जगण का प्रयोग करके चित्रपदा सवैया बना ली है। जैसे—

औधि को अधिक द्यौस रह्यौ अरु आये न री प्रिय प्रान अधार।

ऐसे ही चित्रपदा सवैया में से अन्तिम वर्ण हटा देने से मदिरा सवैया नाई तथा मदिरा के अन्त में एक गुरु और जोड़ देने से मत्तगयंद सवैया बना ली । जैसे—

नैनन नेह चवै कहि देव बुझावति नैन वियोग अँगोठी ।

इसी प्रकार दुर्मिल सवैया में कहीं एक गुरु, कहीं एक लघु और कहीं दो लघु ोड़ देने से सगण वाले सवैया के कई भेद हो जाते हैं और ऐसे ही मंजरी सवैया में हीं एक और कहीं दो लघु या गुरु वर्णों का योग कर देने से जगण वाले सवैया के विभिन्न भेदों का प्रयोग कवि देव ने किया है ।

(ङ) **मत्तगयंद सवैया**—इसमें सात भगण और अन्त में दो गुरु होने से कुल मलकर तेईस वर्ण होते हैं । कवि देव ने अन्य हिन्दी के कवियों की भाँति इसी त्तगयंद सवैया का प्रयोग सर्वाधिक मात्रा में किया है । जैसे—

वा चकई कौ भयौ चित चीतौ चितौति चहूँ दिसि चाय सों नाची ।

णात्मक रूप—

SII SII S II S II SI I SII SII SS

वाचक, ई कभ, यौ चित्त, ची तचि, तौत च, हूँदिसि, चायसु, नाची ।

(ii) **कवित्त (घनाक्षरी)**—जिस तरह कवि देव ने सवैया छन्द के विविध द-उपभेद करके उसका प्रयोग अपनी कविता को लय एवं ताल से परिपूर्ण गीतात्मक सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए किया है, उसी तरह कवित्त (घनाक्षरी) न्द का प्रयोग अपनी रचना को सुललित एवं सुमधुर नादात्मक सौन्दर्य की सृष्टि के लए किया है । कवित्त एक विचित्र छन्द है, इसके एक पद में कहीं इकत्तीस और हीं बत्तीस वर्ण होते हैं । प्रायः प्रत्येक 'छन्द' में आठ, आठ, आठ, सात अथवा आठ, ाठ, आठ, आठ वर्णों पर यति होती है । जैसे—

(क) **पीत रंग सारी गोरे, अंग मिलि गई 'देव'**
८ ८
श्रीफल उरोज आभा; आभासै अधिक सी । (३१ वर्ण)
८ ७

(ख) **लौनो मुख मण्डल पै, पंडल प्रकाश 'देव'**
८ ८
जैसे चन्द्रमण्डल पै, चन्दन चढ़ाइयतु ।। (३२ वर्ण)
८ ८

यद्यपि कवि देव ने अधिकांश स्थलों पर ८, ८, ८, ८ की यति के आधार र ही कवित्त छन्द का निर्माण किया है, तथापि कहीं-कहीं यति-भंग भी पर्याप्त ात्रा में किया है, जिससे कहीं १५ वर्णों पर कहीं १४ वर्णों पर भी यति की गई ई है । जैसे—

(क) सखिन के सोच गुरु, सोच मृगलोचनि, =१५ वर्ण पर यति
८ ७
रिसानी पिय सौं जु उन नैक हँसि छुओ गात ।
(ख) दूजे हाथ साथ लै, सुनावति वचन, =१४ वर्ण पर यति
७ ७
राज-हंसन चुनावति मुकुत मालि तोरि-तोरि ।।

(iii) दोहा—यह एक सुप्रसिद्ध २४ मात्राओं का छन्द होता है, जिसके प्रथम तथा तृतीय चरण में १३-१३ मात्रायें होती हैं तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में क्रमशः ११-११ मात्रायें होती हैं और अन्त में एक गुरु (ऽ) और एक लघु (।) वर्ण आता है। कवि देव ने इस छन्द का प्रयोग प्रायः लक्षणों के लिए किया है। जैसे, 'विभाव' का लक्षण कवि दोहा छन्द में इस प्रकार देता है :—

जे विशेष करि रसनि को, उपजावत हैं भाव ।
१३ मात्रायें ११ मात्रायें =२४ मात्रायें
भरतादिक सतकवि सबै, तिनकों कहत विभाव ।।
१३ मात्रायें ११ मात्रायें =२४ मात्रायें
ते विभाव द्वै भाँति के, कोविद कहत बखानि ।
आलम्बन कहि देव अरु, उद्दीपन उर आनि ।।

इस प्रकार कवि देव के छन्द-विधान का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि कवि ने कवित्त और दोहा की अपेक्षा सवैया छन्द का प्रयोग अधिक स्पष्टता, सरसता, मंजुलता एवं मार्मिकता के साथ किया है। कवि का यह छन्द पहाड़ी झरने की भाँति कल-कल निनाद करता हुआ अपनी चपलता एवं कटुलता के साथ भावरूपी जल से परिपूर्ण होकर आगे बढ़ता चला जाता है और अन्तिम पंक्ति के आते-आते इतना प्रभावोत्पादक वन जाता है कि श्रोता एवं पाठक उसकी भाव-भंगिमा में सुध-बुध गवाँ बैठता है, उसकी झंकृति में तल्लीन हो जाता है, उसके मृदु लोच से द्रवित हो उठता है, उसकी नादपूर्णलय के निनाद में खो जाता है, उसके ऊर्जस्वित प्रवाह में बह जाता है, उसकी सूक्ष्म-तरल ध्वनि की गुंजार में निमग्न हो जाता है और उसके मधुर भाव-भीने संगीत की मादक तान से आनन्द-विभोर हो जाता है।

ग्यारह

घनानन्द

हिन्दी-काव्य की स्वच्छन्द प्रेम धारा में घनानन्द का स्थान ●

Imp. 84 घनानन्द की प्रेमानुभूति ●

घनानन्द की विरहानुभूति ●

घनानन्द की भगवद्भक्ति ●

घनानन्द का काव्य-सौष्ठव ●

घनानन्द का अनुभूति-पक्ष ●

वस्तु-वर्णन ●

प्रकृति-चित्रण ●

भाव-निरूपण ●

रस-निरूपण ●

सौन्दर्य-चित्रण ●

घनानन्द का अभिव्यक्ति-पक्ष ●

भाषा ●

शब्द-शक्ति ●

अलंकार ●

गुण ●

रीति एवं वृत्ति ●

छन्द ●

घनानन्द का भाषा-सौष्ठव ●

११

घनानन्द

हिन्दी-काव्य की स्वच्छन्द प्रेम-धारा में घनानन्द का स्थान

'स्वच्छन्द काव्य-धारा' से तात्पर्य कविता की उस पद्धति से है, जो काव्य-शास्त्र द्वारा निर्णीत विधि-विधानों से सर्वथा निरपेक्ष होती है, अपने युग की रचना-पद्धति से पूर्णतया पृथक् होती है, परम्परागत रूढ़ियों से सर्वथा उन्मुक्त होती है, लीक से हटकर चलती है और शास्त्रीय बन्धनों से पूर्णरूपेण स्वतन्त्र एवं स्वच्छन्द होती है। इसके अतिरिक्त, काव्य की स्वच्छन्द 'प्रेम-धारा' से अभिप्राय ऐसी काव्य-प्रणाली से होता है, जो नैसर्गिक एवं प्रकृत प्रेम से परिपूर्ण होती है, जिसमें प्रेम की कृत्रिमता एवं आडम्बरप्रियता नहीं होती, जो प्रेम की सहज उमंग से ओत-प्रोत होती है, जिसमें प्रेम के सहज भावों का उद्रेक होता है, जो प्रेम की शास्त्र-प्रतिपादित पद्धति का अनुसरण नहीं करती, जिसमें प्रेम की बौद्धिक व्यंजना के स्थान पर प्रेम की भावाभिव्यंजना होती है, जिसमें प्रेम के बाह्य सौन्दर्य के स्थान पर उसके आन्तरिक सौन्दर्य का प्राधान्य होता है, जिसमें बाह्य स्पर्श करने वाले प्रेम-भावों के स्थान पर अन्तर-स्पर्श करने वाले प्रेम के तीव्र भावोद्गारों का माधुर्य होता है; जिसमें प्रम की नवनवोन्मेषशालिनी एवं नवलस्फूर्तिदायिनी भाव-व्यंजना होती है, जो प्रेम के अभिनव सौन्दर्य-विधायक नूतन उपादानों से परिपूर्ण होती है, जो प्रम के कल्पनारंजित तीव्र भावावेगों से ओत-प्रोत होती है, जिसमें प्रम की तरल तरंगों में निमग्न हृदय-वीणा की झंकार होती है और जो प्रेम के गूढ़ भावों से भरी होती है। इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि **'काव्य की स्वच्छन्द प्रेम-धारा'** उसे कहते हैं, जिसमें प्रेम के रूढ़िगत एवं शास्त्र-प्रतिपादित वर्णनों के स्थान पर उसकी सर्वथा नूतन, स्वतन्त्र, स्वच्छन्द एवं स्वाभाविक अभिव्यंजना होती है।

हिन्दी-काव्य की स्वच्छन्द प्रम-धारा का ऐतिहासिक दृष्टि से अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम **'ढोला मारूरा'** नामक ग्रन्थ में स्वच्छन्द प्रेम का निरूपण

हुआ है। इसके लेखक एवं रचनाकाल का तो ठीक-ठीक पता नहीं चला है। यह ग्रन्थ बीकानेर राज्य से प्राप्त एक संग्रह में संकलित है और इसमें ढोला और मारू (मारव) की प्रम-कहानी है, जिसमें प्रेम का अत्यन्त सुन्दर ढंग से निरूपण हुआ है, किन्तु इसका न तो प्रेम-निरूपण मार्मिक है और न रचना-कौशल ही चित्ताकर्षक है।[1]

इसके उपरान्त अब्दुर्रहमान कृत **'संदेश रासक'** नामक काव्य उपलब्ध हुआ है, जो २२३ छन्दों में लिखित छोटा-सा विरह-प्रधान काव्य है। इसमें कवि ने प्रेम में उन्मत्त स्त्री-पुरुषों के जीवन की झाँकियाँ प्रस्तुत करते हुए पुरुषों को अपनी-अपनी प्रेमिकाओं के लिए शरीर तक का परित्याग कर देने वाला तथा प्रेम में पाप की भी परवाह न करने वाला बताया है। कवि अब्दुर्रहमान का कहना है कि प्रेम में कुछ भी अनुचित नहीं होता।[2] उनकी यह उक्ति अंग्रेजी की इसी उक्ति के समान है कि प्रेम तथा युद्ध में सब कुछ उचित होता है।[3] इसीलिए यहाँ एक विरहिणी अपने प्रेमी को नाथ, कन्त जैसे मधुर सम्बोधनों के साथ-साथ कायर, दुष्ट, पामर, धृष्ट, तस्कर, मूर्ख, खल, पापी आदि कटु सम्बोधनों से पुकारती है और कहती है कि मैं सघन दुःख से उद्विग्न हूँ। इसलिए मैंने अपने प्रिय के लिए जो कुछ कहा है, उसमें से कठोरता का परित्याग करके उनसे विनयपूर्वक वही कहना जो कुछ उचित हो और जिससे मेरा प्रिय कुपित न हो। यह भी आरम्भिक रचना है और इसका शिल्प-विधान साधारण है।

तत्पश्चात् रसखान कवि कृत **'प्रेम वाटिका'** एवं **'सुजान रसखानि'** नामक ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें कवित्त, सवैया छन्द के अन्तर्गत सच्चे प्रेम का निरूपण किया गया है। वैसे रसखान ने भक्ति-सम्बन्धी काव्य की भी रचना की है, परन्तु ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इनकी भक्ति-भावना के अन्तर्गत भी इनकी लौकिक प्रेमानुभूति का ही प्राधान्य है और ये भक्त की अपेक्षा प्रेमी कवि अधिक दिखाई देते हैं, क्योंकि प्रेम उन्मत्तता एवं इश्क के दर्द की विह्वलता इनके एक-एक छन्द से छलकती हुई जान पड़ती है। प्रेम-निरूपण में रसखान ने प्रेम के लौकिक एवं अलौकिक पक्ष का अपनी बुद्धि के अनुसार चित्रण किया है, जिस पर किसी शास्त्रीय पद्धति का प्रभाव नहीं है, अपितु इनकी स्वानुभूति का ही साम्राज्य है। रसखान ने प्रमी को अकथनीय एवं अनिर्वचनीय कहा है और सागर के समान गम्भीर एवं विस्तृत बताया है। इतना होने पर भी इनकी अभिव्यक्ति में उक्ति-वैचित्र्य एवं उक्ति-सौष्ठव नहीं है। रचना-विधान साधारण है।

तदनन्तर आलम कवि द्वारा लिखित **'माधवानल कामकंदला'** और **'स्याम-सनेही'** नामक दो ऐसे ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें स्वच्छन्द प्रेम का अधिक मनोहारी वर्णन मिलता है। इन दोनों ग्रन्थों पर न तो सूफियों की प्रेम-पद्धति का प्रभाव है और न

---

[1] तणु दिज्झइ रसियह रसह लोहि।

[2] णहु णड गणिज्जइ पिम्म मोहि।

[3] Every thing is fair in love and war.

क्ति-सम्प्रदाय की प्रेम-पद्धति का, अपितु इनमें प्रेम के लौकिक एवं अलौकिक रूप ी स्वतन्त्र एवं उन्मुक्त अभिव्यंजना हुई है। इनकी फुटकल कविताओं का एक ंकलन 'आलम-केलि' के नाम से भी मिलता है। ये बड़े ही प्रेमोन्मत्त कवि थे और नकी सभी कविताओं में प्रेम की तन्मयता भरी हुई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने खा है कि 'ये प्रेमोन्मत्त कवि थे और अपनी तरंग के अनुसार रचना करते थे। ही से इनकी रचनाओं में हृदय-तत्त्व की प्रधानता है। 'प्रेम की पीर' व 'इश्क का र्द' इनके एक-एक वाक्य में भरा पाया जाता है।"[1] इतना होने पर भी इनकी चनाओं में उक्ति-वैचित्र्य एवं उन्नत शब्द-वैचित्र्य के दर्शन नहीं होते।

तत्पश्चात् इस स्वच्छन्द प्रेम-धारा के घनानन्द कृत **'सुजान-हित'**, **'वियोग-बेलि'**, **श्कलता'**, **'प्रीति-पावस'**, **'प्रेम-पत्रिका'**, **'प्रेम-सरोवर'**, **'प्रेम-पद्धति'**, **'प्रेम-पहेली'** आदि न्थ मिलते हैं, जिनमें घनानन्द की प्रेम-सरिता के स्वच्छन्द प्रवाह के दर्शन होते हैं। नानन्द के इस स्वच्छन्द प्रेम-काव्य में सहज प्रेम-संवेदना एवं तीव्र विरहानुभूति के थ-साथ उक्ति-वैचित्र्य एवं साहित्यिक सौन्दर्य का भी उत्कृष्ट रूप विद्यमान है।

तदनन्तर इस धारा के अन्तर्गत ही ठाकुर कृत **'ठाकुर-ठसक'** एवं **'ठाकुर-शतक'** मक ग्रन्थ मिलते हैं; जिनमें स्वाभाविक तन्मयता के साथ प्रेम-भाव का निरूपण हुआ । ठाकुर की विशेषता यह है कि इन्होंने प्रेम-भाव के अतिरिक्त फाग, वसंत, होली, ड़ोला आदि उत्सवों का भी अत्यन्त विशद चित्रण किया है। इनकी कविता में भी स्ती है, तन्मयता है, तल्लीनता है और सच्ची उमंग है। इसमें कृत्रिमता का लेश ी नहीं है और कहीं भी अर्थ के शब्दाडम्बर एवं कल्पना की झूठी उड़ान का प्रयोग हीं हुआ है। आचार्य [illegible] ने ठीक ही लिखा है "ठाकुर सच्चे, उदार, भावुक र हृदय के पारखी कवि थे।"[2]

इनके उपरान्त इसी स्वच्छन्द प्रेम-धारा में सुकवि **बोधा** कृत **'इश्क नामा'** र **'विरह बारीश'** नामक काव्य-ग्रन्थ मिलते हैं। ये भी प्रेम-पुजारी रस-सिद्ध कवि । इन्होंने भी कवित्त और सवैयों के अन्तर्गत 'प्रेम की पीर' एवं विरह-वेदना का ना मर्मस्पर्शी वर्णन किया है कि जिसे सुनते ही श्रोताओं के हृदय में प्रम का गर उमड़ने लगता है और पढ़ते ही पाठक आनन्द-सागर में डुबकियाँ लगाने लगता । प्रेम-मार्ग के निरूपण में बोधा ने भी स्वानुभूत मनोभावों का उल्लेख किया है। सी कारण इनके वर्णन में कहीं भी आडम्बर एवं कृत्रिमता के दर्शन नहीं होते और नकी कला या अभिव्यक्ति भी वैचित्र्यपूर्ण है।

इसके अनन्तर इसी काव्य-धारा में **द्विजदेव** कृत **'शृंगार-बत्तीसी'** और ंगार-लतिका' काव्य आते हैं। द्विजदेव ने भी अपने इन काव्यों में प्रेम-शृंगार ा अत्यन्त सरस एवं मार्मिक वर्णन किया है। 'द्विजदेव' का वास्तविक नाम

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ३३०।

[2] वही, पृ० ३८३।

महाराज मानसिंह था और आप अयोध्या के राजा थे। इस स्वच्छन्द काव्य की परम्परा में आप अन्तिम कवि हैं, क्योंकि इसके उपरान्त आधुनिक युग की उन कविताओं का शुभारम्भ हो जाता है, जो भारतेन्दु, द्विवेदी एवं प्रसाद-युग में लिखी गई हैं तथा जिनकी प्रवृत्ति एवं मनोवृत्ति सर्वथा भिन्न हैं। कुछ विद्वान् प्रसाद कृत 'आँसू' तथा महादेवी की कविताओं को भी इसी स्वच्छन्द प्रेम-धारा में सम्मिलित करते हैं, परन्तु इन दोनों के काव्य 'छायावाद' की उस स्वच्छन्दतावादी धारा से सम्बन्ध रखते हैं, जिनकी अनुभूति, प्रवृत्ति, भावना एवं संवेदना उक्त स्वच्छन्द प्रेम-धारा से सर्वथा पृथक् है।

इस प्रकार हिन्दी की सम्पूर्ण स्वच्छन्द प्रेम-काव्य-धारा का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि इस धारा के प्रमुख कवियों में से रसखान, आलम, घनानन्द, ठाकुर और बोधा के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी कवि प्रेम-काव्य के प्रमुख प्रणेता हैं और इन्होंने स्वच्छन्दता के साथ प्रमानुभूति का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है, परन्तु इनमें से घनानन्द सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, क्योंकि घनानन्द के काव्य में रसखान की सी प्रेम की अनिर्वचनीयता भी है, आलम की सी उन्मत्तता भी है, ठाकुर की सी तन्मयता भी है और बोधा की सी रस-सिद्धता भी है, परन्तु इन सबसे बढ़कर घनानन्द में कुछ ऐसे असाधारण काव्य-सौष्ठव के दर्शन होते हैं, जो न रसखान में है, न आलम है, न ठाकुर में है और न बोधा में ही हैं। घनानन्द ने 'सुजान' को आलम्बन बनाकर अपनी इस लौकिक प्रेयसी के रूप-सौन्दर्य का इतना मार्मिक एवं मनोरंजक वर्णन किया है कि देखते ही बनता है। सुजान की तिरछी चितवन, घूमते कटाक्ष, रसीली हँसी, मृदु-मुस्कान, अरुण होठ, कान्तिमंडित दंतावलि, सचिक्कण केश-राशि, वक्रिम भौंहें, विशाल नेत्र, गर्वीली मुद्रा, उन्मत्त यौवन आदि पर मुग्ध घनानन्द ने उसकी रूप-निकाई' के अनेक संश्लिष्ट चित्र अंकित करते हुए जहाँ अपनी प्रेम-विभोरता का परिचय दिया है, वहाँ मुहम्मदशाह रंगीले के दरबार की इस नर्तकी के प्रति अपना ऐसा प्रणय-निवेदन किया है, जो हिन्दी-काव्य की स्थायी सम्पत्ति बन गया है। घनानन्द की श्रेष्ठता का सबसे बड़ा कारण यह है कि घनानन्द के हृदय में सुजान के प्रति उत्कृष्ट प्रेम एवं असीम व्यामोह भरा हुआ था, उनके मन में सुजान की अक्षय रूप-राशि समाई हुई थी और उनके प्राणों में सुजान के लिए अनन्त प्यास भरी हुई थी। इसीलिए घनानन्द का काव्य प्रेम की गूढ़ता से भरा हुआ है, अतृप्ति की अनन्तता से भरा हुआ है, वियोग की असीमता से भरा हुआ है, अशान्ति की गहनता से भरा हुआ है, अन्तर्द्वन्द्व की अलौकिकता से भरा हुआ है, वेदना की अक्षयता से भरा हुआ है और तीव्रानुभूति की अखंडता से भरा हुआ है। इतना ही नहीं, घनानन्द की जितनी तीव्र एवं गहन अनुभूति है, उतनी ही उनकी उत्कृष्ट एवं समृद्ध अभिव्यक्ति भी है, क्योंकि घनानन्द का सा उक्ति-वैचित्र्य अन्यत्र देखने को नहीं मिलता, उनका सा शब्द-वैचित्र्य किसी भी अन्य प्रेमी-कवि में नहीं है, उनकी सी लाक्षणिकता अन्यत्र नहीं दिखाई देती, उनकी सी वक्रोक्तियाँ अन्य काव्यों में नहीं मिलतीं, उनका सा विरोध-मूलक वैचित्र्य और कोई कवि

दिखा नहीं सका है, उनकी सी लाक्षणिक मूर्तिमत्ता किसी की भी रचना में दृष्टिगोचर नहीं होती और उनका सा प्रयोग-वैचित्र्य कहीं ढूँढने पर भी नहीं मिलता। निस्सन्देह वे जितने प्रेम के धनी थे, उतने ही भाषा के के भी धनी थे और उतने ही अभिव्यंजना के भी धनी थे। इसी कारण हिन्दी-काव्य की स्वच्छन्द प्रेम-धारा में घनानन्द का शीर्षस्थ स्थान है।

घनानन्द की प्रेमानुभूति

घनानन्द हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट स्वच्छन्द प्रेमी कवि हैं। इनकी कविता प्रमोद्गारों की अक्षय निधि है और हिन्दी-काव्य की चिर स्थायी सम्पत्ति है। इनकी प्रेम-व्यंजना में इतनी आकुलता, इतनी व्यथा एवं इतनी पीड़ा है कि कठोर से कठोर श्रोता एवं पाठक भी द्रवित हो जाते हैं और उसमें संयोग-सुख की इतनी मादकता एवं उल्लास-भावना भी भरी हुई है कि सहृदयों को आनन्द-विभोर कर देती है। इतना ही नहीं, घनानन्द प्रेम का तात्त्विक विवेचन करते हुए उनकी महत्ता का भी प्रतिपादन किया है और प्रेम-मार्ग कें कष्टों, बाधाओं, संकटों आदि की ओर भी संकेत किया है। इनकी प्रेमानुभूति में [illegible] का सर्वाधिक योग है। इसी कारण उसमें अधिक नवीनता, आकर्षण एवं अलौकिकता के दर्शन होते हैं। सुविधा की दृष्टि से घनानन्द की प्रेमानुभूति को सात शीर्षकों में विभक्त कर सकते हैं—(१) प्रेम की लौकिक महत्ता, (२) प्रेम-मार्ग की निश्छलता, (३) प्रेम की नैसर्गिकता, (४) प्रेम की कष्ट-सहिष्णुता, (५) सौन्दर्य-प्रियता, (६) संभोगशीलता और (७) विरहातुरता।

(१) लौकिक महत्ता—घनानन्द के प्रेम का मूलाधार सुजान वेश्या थी, जिसके प्रति घनानन्द का [illegible]वानुराग था। उनका यही लौकिक प्रेम उस वेश्या के कपट, छल एवं निष्ठुर व्यवहार के कारण अलौकिकता में परिणत हो गया था, परन्तु घनानन्द के हृदय से उस लौकिक प्रेम की कसक, वासना की ललक एवं रूप की चटक मिटी नहीं थी। इतना अवश्य है कि वे लौकिक वेश्या के प्रेम को भगवान् कृष्ण के प्रेम में परिणत करने में पूर्ण सफल रहे और उनका यह लौकिक प्रेम अलौकिक प्रेम के रूप में ही अभिव्यक्त हुआ, परन्तु उस अलौकिकता का मूलाधार लौकिक प्रेम ही है, लौकिक वासना नहीं है, लौकिक ललक ही है, जिसने घनानन्द को 'महा नेही' बना दिया था, 'प्रेम के महोदधि' में निमग्न कर दिया था, 'चाह के रंग' में भिगो दिया था, 'जोग-वियोग की रीति में कोविद' बना दिया था और और 'बिछुरे मिले प्रीतम सांति न मानै' की भावना वाला कर दिया था।[1] इसीलिए घनानन्द के इस उपालम्भ में वही लौकिक प्रेम हिलोरें ले रहा है—

---

[1] नेही महा ब्रजभाषा-प्रवीन और सुन्दरतानि के भेद कौं जानें।
जोग-वियोग की रीति मैं कोविद भावना भेद स्वरूप कौं ठानें॥
चाह के रंग मैं भीज्यौ हियौ बिछुरे मिले प्रीतम सांति न मानैं।
भाषा-प्रवीन सुछन्द सदा रहैं सो घन जी के कवित्त बखानैं॥

क्यों हँसि हेरि हर्‌यौ हियरा अरु क्यों हित कै चित चाह बढ़ाई।
काहे को बोलि सुधा सने बैननि चैननि मैन-निसैन चढ़ाई॥
सो सुधि मो हिय मैं घनआनन्द सालति क्यों हू कढ़ै न कढ़ाई।
मीत सुजान अनीत की पाटी इतै पै न जानिये कौने पढ़ाई॥

(२) **निश्छलता**—घनानन्द सच्चे प्रेमी थे। भले ही उनके प्रिय ने उनके साथ विश्वासघात किया, उन्हें दगा दी और उनका साथ नहीं दिया, किन्तु वे एक निश्चल प्रेमी थे और प्रेम के पक्ष में निश्छलता एवं निष्कपटता को ही अत्यधिक महत्त्व देते थे। उनकी सफलता का एकमात्र कारण ही यह है कि वे अपने प्रेम-मार्ग पर दृढ़ता के साथ बढ़ते रहे, उनके हृदय में तनिक भी छल-कपट न था और वे प्रेम-मार्ग में सयानपना पसन्द नहीं करते थे। वे तो प्रम के मार्ग कों अत्यन्त सीधा मानते थे, जिस पर वे ही चल सकते हैं, जो सच्चे हैं, निश्छल हैं और तनिक भी कपट-व्यवहार नहीं जानते। अपनी इसी निश्छलता की ओर संकेत करते हुए आपने लिखा—

अति सूधो सनेह कौ मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलैं तजि आपुनपौ झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं॥
घनआनन्द प्यारे सुजान सुनौ इत एक तें दूसरौ आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हो लला मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

(३) **नैसर्गिकता**—घनानन्द के प्रेम में आडम्बर एवं कृत्रिमता के लिए तनिक भी स्थान नहीं था, क्योंकि घनानन्द स्वाभाविक प्रेम के पुजारी थे, स्वच्छन्दता के भक्त थे और अपनी तरंग में आकर प्रेम का निरूपण करते थे। ऐसे मनमौजी कवि को किसी बादशाह की इच्छा-तुष्टि की भला क्यों चिन्ता होने लगी? इसीलिए घनानन्द ने अपने युग की रूढ़ियों को तोड़कर कविता लिखी, आपने युग के स्वर में स्वर न मिलाकर प्रेम की सर्वथा स्वतन्त्र व्यंजना की और तत्कालीन प्रेम-व्यंजक परिपाटी से सर्वथा निरपेक्ष होकर स्वानुभूत प्रेम की अभिव्यक्ति की। वे जानते थे कि उनके प्रिय के अनेक प्रेमी हो सकते हैं, परन्तु घनानन्द के तो रोम-रोम में वही प्रिय बसा हुआ है।। भले ही उनका प्रिय उन्हें चाहे या न चाहे, परन्तु उनके हृदय में तो विषम प्रीति की रीति बसी हुई है। अपनी इसी नैसर्गिक प्रेम की व्यंजना करते हुए तथा चन्द्रमा और चकोर से नैसर्गिक प्रेम से अपनी तुलना देते हुए घनानन्द ने ठीक ही कहा है—

चाहौ अनचाहौ जान प्यारे पै अनन्दघन,
प्रीति-रीति विषम सु रोम-रोम रमी है।
मोहिं तुम एक, तुम्हें मो सम अनेक आहिं,
कहा कछू चंदहिं चकोरन की कमी है॥

(४) **कष्ट-सहिष्णुता**—घनानन्द सचमुच ही प्रेम के दीवाने थे। वे प्रेम-मार्ग में सभी प्रकार के कष्टों को सहन करने के लिए तैयार थे। यदि उनका प्रिय अपने प्रेमी की चिन्ता न करके निष्ठुरता, कठोरता एवं निर्दयता का ही व्यापार कर रहा

था, तो घनानन्द अपने निष्ठुर एवं निर्दय प्रिय के हृदय में दया उत्पन्न करने के लिए अपने को आशा की रस्सी से बाँधकर भरोसे की शिला छाती पर रखकर अपने प्रेम के प्रण रूपी सिन्धु में डूबने को तैयार थे, हृदय को दुःख के दावानल में जलाकर रोम-ोम को त्रास की लपटों में जला सकते थे, साहसपूर्वक अपने सिर को आरे से चिरवा कते थे, और भी जो लाखों प्रकार की यातनाएँ सहनी पड़ें। उन्हें भी सहने को तैयार थे। उनकी इस कष्ट-सहिष्णुता को धन्य है, जो प्रेम के प्रण को पूरा करने के लिए ब-कुछ सहने की शक्ति दे रही थी। इसीलिए तो घनानन्द ने लिखा—

आसा-गुन बाँधि कै भरोसे-सिल धरि छाती,
पूरे मन-सिंधु मैं न बूढ़त सकाय हौं।
दीह दुख-दव हिय जारि उर अंतर,
निरंतर यौं रोम-रोम त्रासनि तचाय हौं॥
प्रेम [illegible] लाख भाँतिन की, दुसह दसानि जानि,
को साहस सम्हारि सिर आरे लौं चलाय हौं।
ऐसे घनआनँद गही है टेक मन माँहि,
एरे निरदई तोहिं दया उपजाय हौं॥

(५) **सौन्दर्यप्रियता**—घनानन्द के प्रेम का मूल कारण उनकी प्रेयसी सुजान ा अनिंद्य सौन्दर्य था, जो कवि घनानन्द के रोम-रोम में बसा हुआ था, क्योंकि वे सकी सहज सुकुमारता स्वाभाविक मधुरता एवं प्राकृतिक सुन्दरता को देखकर ही सके सच्चे प्रेमी बने थे। इसीलिए घनानन्द के हृदय में प्रेयसी सुजान की 'तिरछी तौनि', चंचल बिसाल नैन', 'धूमरे कटाक्षि', 'रसीली हँसी', 'बड़ी-बड़ी अँखियाँ', ोकने चिहुर', 'जोबन-गरूर-गरुवाई', 'रस-रासि-निकाई', 'नवजोवन की सुथराई', ेह-ओपी-अरुनाई', 'रूप-निकाई' आदि समाई हुई थी और इस कारण उनके हृदय में य के सौन्दर्य का अथाह सागर हिलोरें लेता रहता था। उन्होंने अपनी प्राणप्रिय लबेली सुजान के इसी अनिंद्य सौन्दर्य का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। एक र तीव्र गौर वर्ण वाली सुजान ने नीले रंग की सांड़ी पहन ली थी। कवि घनानन्द इस रंग-वैषम्य द्वारा छलकते हुए सौन्दर्य-सुधा-सागर का कैसा अनुपम चित्र कित किया है—

स्याम घटा लिपटी थिर बीज कि सोहै अमावस अंक उज्यारी।
धूम के पुंज मैं ज्वाल की माल-सी पै दृग-सीतलता-सुखकारी॥
कै छकि छायौ सिंगार निहारि सुजान-पिया-तन-दीपति प्यारी।
कैसी फबी घनआनँद चोपनि सों पहिरी चुनि साँवरी सारी॥

घनानन्द की यह लौकिक सौन्दर्यमयी भावना नित्य नई-नई भंगिमाओं को ग्रहण ती चली गई है, क्योंकि उन्होंने अपनी अनिंद्य सुन्दरी के रूप-सौन्दर्य में क्षण-क्षण बदलते हुए सौन्दर्य के भी तो दर्शन किये थे। इसी कारण घनानन्द ने लिखा—

रावरे रूप की रीति अनूप नयो नयो लागत ज्यौं ज्यौं निहारियै ।
त्यौं इन आँखिन बानि अनोखी अघानि कहूँ नहिं आन तिहारियै ॥
एक ही जीव हुतौ सु तौ वार्‌यो सुजान संकोच औ सोच सहारियै ।
रोकी रहै न, दहै घनआनँद बावरी रीझ के हाथनि हारियै ॥

(६) संभोगशीलता—घनानन्द की प्रेमानुभूति में शृंगार के संयोग या संभोग का हर्ष, उल्लास एवं सुख भी भरा हुआ है। यद्यपि घनानन्द ने थोड़े से छन्दों में ही प्रेम-शृंगार के संयोग पक्ष का निरूपण किया है, जिसमें संभोग सुख की उमंग, मिलन का उल्लास, आनन्द-क्रीड़ा की आतुरता, रति-सुख का उत्साह, सामीप्य लाभ का हर्ष तथा संसर्ग की लालसा का उद्दाम वेग भरा हुआ है। घनानन्द ने इसीलिए संयोग-सुख के आनन्द से प्रफुल्लित रोम-रोम का तथा अंग-अंग से फूटते हुए हर्षोल्लास का कैसा सजीव चित्रण किया है—

ललित उमंग बेली आलबाल अंतर तैं,
आनँद के घन सींची रोम रोम ह्वै चढ़ी ।
आगम-उमाह-चाह छायौ सु उछाह रंग,
अंग अंग फूलनि दुकूलनि पर्‌‌ै कढ़ी ॥
बोलत बधाई दौरि दौरि कै छबीले दृग,
दसा सुभ सगुनौती नीकें इन है पढ़ी ।
कंचुकी तरकि मिलै, सरकि उरोज, भुज
फरकि सुजान चोप-चुहल महा बढ़ी ॥

(७) विरहाकुलता—घनानन्द के प्रेम में जहाँ संयोग का हर्ष-उल्लास यत्किंचित् दृष्टिगोचर होता है, वहाँ विरह का अथाह सागर हिलोरें लेता हुआ दिखाई देता है। देखा जाय तो घनानन्द विरह के ही कवि हैं, क्योंकि उन्होंने प्रेम के मिलन-पक्ष की अपेक्षा विरह एवं वियोग-पक्ष का ही अधिक आतुरता, तत्परता, तल्लीनता एवं तीव्रता के साथ निरूपण किया है। सुजान का यह विरह घनानन्द के लिए वरदान सिद्ध हुआ है और घनानन्द ने भी अपनी विरहाकुलता का निरूपण करके सुजान एवं सुजान के प्रेम को अमर बना दिया है। घनानन्द की यह विरहाकुलता ही उनके सच्चे प्रेम की कसौटी है, क्योंकि इसी ने घनानन्द के प्रेम को अमरता प्रदान की है। इसी कारण घनानन्द ने चिरन्तन विरह-वेदना, अखंड तृषातुरता एवं अक्षय विरहाकुलता का निरूपण किया है। यथा—

रैन दिना घुटिबौ करैं प्रान झरैं अँखियाँ दुखियाँ झरंना सी ।
प्रीतम की सुधि अंतर मैं कसकै सखि ज्यौं पँसरीस मैं गाँसी ॥
चौचँदचार चवाइन के चहुँ ओर मचैं बिरचैं करि हाँसी ।
यौं मरियै भरियै कहि क्यों सु परी जनि कोऊ सनेह की फाँसी ॥

सारांश यह है कि घनानन्द के काव्य की मूल संवेदना ही प्रेम है और उसी से सारा काव्य स्पंदित हो रहा है। उनके इस प्रेम में स्वानुभूति की तीव्रता भरी हुई

है और वह उनके व्यक्तित्व के संस्पर्श से और भी अधिक दिव्य एवं अलौकिक न गयी है। घनानन्द के इस प्रेम में नवीनता है, तीव्रता है, सरसता है, मार्मिकता है और सबसे अधिक सहृदय-संवेद्यता है। घनानन्द का यह प्रेम आत्मानुभूति का ज्वलंत प्रतीक है और इसी कारण इसमें नैसर्गिकता है, उदात्तता है, व्यापकता है, अनन्यता है, दिव्यता है और गहनता है। यह कवि की अनुभूतियों का भंडार है और इसी कारण इस प्रेम में सर्वाधिक एकनिष्ठा, आत्मसमर्पण, सर्वस्व त्याग एवं शाश्वत मिलन-विरह की स्थिति के दर्शन होते हैं। निस्संदेह, घनानन्द की प्रेमानुभूति अन्तर स्पर्श करने वाली है और इसमें जीवनगत तथ्य एवं भावगत सत्य अन्तर्निहित है। यद्यपि यह लौकिक प्रेम की अभिव्यंजना से ओतप्रोत है, तथापि यह लौकिक प्रेम ही अलौकिक प्रेम के परमधाम तक भी पहुँच गया है, क्योंकि कवि की यह 'इश्क मजाजी' धीरे-धीरे 'इश्क हकीकी' तक पहुँची हुई दृष्टिगोचर होती है। इसी कारण घनानन्द को लौकिक एवं अलौकिक प्रेम का सच्चा कवि कहना सर्वथा समीचीन ज्ञात होता है। आचार्य शांडिल्य ने प्रेम की परिभाषा करते हुए लिखा है कि संयोग में भी वियोग-सा बने रहने की प्रवृत्ति को प्रेम कहते हैं।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि घनानन्द की प्रेमानुभूति उक्त परिभाषा को पूर्णतया चरितार्थ करती है, क्योंकि घनानन्द के संयोग में भी वियोग भरा हुआ है। इनका प्रेम स्थूल नहीं, अपितु सूक्ष्म है। उसमें अश्लीलता एवं काम-वासना नहीं है, अपितु दिव्यता एवं पवित्रता है, क्योंकि घनानन्द ने सर्वत्र शारीरिक भागों की अपेक्षा भावना द्वारा प्रिय की सान्निध्य-प्राप्ति की आकांक्षा प्रकट की है। इसी कारण घनानन्द की प्रेमानुभूति अनिर्वचनीय है, वह प्रेमी की मूक पुकार है और पूर्णतया अनुभव-गम्य है।

घनानन्द की विरहानुभूति

विरह प्रेम का कसौटी है। जो विरही इस कसौटी पर खरा उतरता है, वही सच्चा प्रेमी माना जाता है, क्योंकि प्रेम का सात्विक रूप विरह है, जबकि संयोग प्रेम का राजस रूप है। संयोग में प्रेमी वासना का शिकार बना रहता है, जबकि वियोग में वह वासना से ऊपर उठकर आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त कर लेता है। वैसे भी संयोग में प्रेम के वास्तविक रूप का पता नहीं चलता, क्योंकि प्रेमियों के हृदय में एक दूसरे के प्रति कितनी दृढ़ता है, कितनी निष्ठा है, कितनी आतुरता है, कितनी तीव्रता है और कितनी चाह है, इसका ज्ञान विरह में ही होता है। विरह प्रेमी की दृढ़ता का पारिचायक होती है; विरह ही उसकी निष्ठा एवं उत्कंठा का द्योतक होता है और विरह ही एक प्रेमी की प्रिय के प्रति उत्कट चाह, तीव्र आकांक्षा, सुदृढ़ लालसा एवं उद्दाम आकुलता का ज्ञापक होता है। इसीलिए विरह-काव्य सर्वाधिक हृदय-द्रावक, चित्ताकर्षक एवं संवेदनात्मक होता है। घनानन्द भी ऐसे ही विरही कवि हैं, जिनके हृदय में अपनी प्रेयसी 'सुजान' की उत्कट विरह-भावना भरी हुई है।

---

[1] योगेवियोगे वृत्तिः प्रेम।—शांडिल्य

घनानन्द के विरह में हृदय की उद्दाम लालसा एवं उत्कंठा का प्राधान्य है, उसमें अनुभूति की तीव्रता है, अन्तःकरण की सात्विक वेदना का आधिक्य है और वाह्य आडम्बर लेशमात्र भी नहीं है। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "घनानन्द ने न तो बिहारी की तरह ताप को बाहरी पैमाने से मापा है, न बाहरी उछल-कूद दिखाई है। जो कुछ हलचल है वह भीतर की है, बाहर से वह वियोग प्रशांत और गंभीर है, न उसमें करवटें बदलना हैं, न सेज का आग की तरह तपना है, न उछल-उछल कर भागना है। उनकी 'मौन मधि पुकार' है।"[1] पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने घनानन्द की प्रेम-साधना का नित्य लक्षण ही विरह घोषित किया है और लिखा है कि घनानन्द के 'इस प्रेम मार्ग का नित्य लक्षण है—परम संताप की साधना। इस प्रेम का नाम लेने पर ही जीभ में छाले पड़ जाते हैं। इसलिए कि विरह की वेदना का, परम ज्वालामयी वेदना का, जीभ ने अनुभव किया कि वह संतप्त हुई। जहाँ प्रेम की चर्चा में ही यह स्थिति है वहाँ की साधना करना, उसके मार्ग पर चलना कितना कठिन है, केवल कल्पना से ही ज़ाना जा सकता है। इसी से इस प्रेम-साधना का नित्य लक्षण है—विरह।"[2] इस तरह घनानन्द की विरह-वेदना मौन है, स्वानुभूत है, अकृत्रिम है और उसमें हृदय-पक्ष की प्रधानता है। सुविधा की दृष्टि से घनानन्द के विरह-निरूपण की विशेषताओं को १० शीर्षकों में विभक्त कर सकते हैं—(१) रूपासक्ति की प्रधानता, (२) हृदय की मौन पुकार की अधिकता, (३) प्रिय-जन्य निष्ठुरता, (४) प्रेमगत विषमता, (५) अन्तर्वृत्तियों की बहुलता, (६) उपालम्भ की तीव्रता, (७) अंग-प्रत्यंग की तीव्र आकुलता, (८) प्रकृति-जन्य उद्दीप्तता, (९) संदेश-प्रेषणीयता और (१०) सात्विकता एवं आध्यात्मिकता।

✓(१) **रूपासक्ति की प्रधानता**—घनानन्द के उत्कट विरह का मूल कारण यह है कि उनकी 'अलबेली सुजान' अनिद्य सुन्दरी थी, उसमें उन्हें अलौकिक सौन्दर्य के दर्शन हुए थे और वे उस सौन्दर्य को नित्य देखते रहना चाहते थे। कारण यह या कि वह रूप उन्हें नित्य नया-नया प्रतीत होता था और उस रूप पर उन्होंने अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया था। परन्तु दुर्भाग्य! वह रूप उनकी आँखों से ओझल हो गया, उन्हें फिर देखने को नहीं मिला और वे अपनी उस पागल रीझ के हाथों बिककर रात-दिन वियोग की आग में जलते रहे—

> रावरे रूप की रीति अनूप नयो-नयो लागत ज्यौं-ज्यौं निहारियै।
> त्यौं इन आँखिन बानि अनोखी अघानि कहूँ नहिं आन तिहारियै॥
> एक ही जीव हुतौ सु तौ वार्‌यौ सुजान सँकोच औ सोच सहारियै।
> रोकी रहै न, वहै घनआनँद बावरी रीझ के हाथनि हारियै॥

(२) **हृदय की मौन पुकार की अधिकता**—घनानन्द का विरह बौद्धिक नहीं है, वह उनके हृदय की सच्ची अनुभूति है और जहाँ विरह बौद्धिक होता है, वहाँ

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ३३९।

[2] घनानन्द और स्वच्छन्द काव्य-धारा—परिचय, पृ० १९।

प्रदर्शन एवं आडम्बर का आधिक्य देखा जाता है, किन्तु जहाँ विरह हृदय की अनुभूति होता है वहाँ प्रदर्शन एवं आडम्बर कहाँ ! वहाँ तो हृदय की टीस, प्राणों की तड़पन और मन की आकुलता का आधिक्य होता है और वह टीस, तड़पन एवं आकुलता बाहर नहीं सुनाई पड़ती, क्योंकि हृदय बोल नहीं पाता, वह मौन रहकर ही धड़कता रहता है, प्राण कुछ कह नहीं पाते, चुपचाप तड़पते रहते हैं और मन चीत्कार नहीं कर पाता, वह अन्दर ही अन्दर घुटता रहता है तथा आकुल बना रहता है। यही कारण है कि घनानन्द का विरह बाह्य चीत्कार, बाह्य कोलाहल एवं बाह्य शोरगुल से सर्वथा दूर हृदय की मौन पुकार है तथा अन्तःकरण की आन्तरिक जलन है, जिसमें विरही के प्राण तचते रहते हैं, अंग उसीजते रहते हैं और वह जी मसोस-मसोस कर तड़पता रहता है—

अंतर-आँच उसास तचै अति, अंत उसीजै उदेग की आवस ।
ज्यौ कहलाय मसोसनि ऊमस क्यों हूँ कहूँ सुधरें नहीं थ्यावस ।।

(३) **प्रिय-जन्य निष्ठुरता**—घनानन्द के विरह की तीव्रता एवं उत्कटता का मूल कारण यह है कि उनका प्रिय बड़ा कठोर है, निर्दय है, निष्ठुर है तथा विश्वासघाती है। उसकी इनकी तनिक भी परवाह नहीं है, वह इनकी दुर्दशा देखकर तनिक भी नहीं पसीजता और अब उसने जान-पहचान भी मिटा डाली है। वह अब इन्हें बिल्कुल भूल गया है, जबकि पहले बड़ी मीठी-मीठी बातें करके बहका लिया था। उसी ने इनके हृदय को ठग लिया था और अब निष्ठुरता एवं कठोरता का व्यवहार करके रात-दिन जलाता रहता है, कलपाता रहता है तथा बेचैन बनाये रखता है—

भए अति निठुर मिटाय पहिचानि डारी,
याही दुख हमैं जक लगी हाय हाय है ।
तुम तौ निपट निरदई गई भूलि सुधि,
हमैं सूल-सेलनि सो क्यों हूँ न भुलाय है ।।
मीठे-मीठे बोल बोलि, ठगी पहिले तौ तब,
अब जिय जारत कहौ धौं कौन न्याय है ।
सुनी है कै नाही यह प्रगट कहावति जू,
काहू कलपाय है सु कैसें कल पाय है ।।

(४) **प्रेमगत विषमता**—घनानन्द के विरह में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह एकांगी है, सम नहीं है, अपितु विषम है, क्योंकि जो तड़पन है, चीत्कार है, जलन है, धड़कन है वह एक ओर ही है—केवल प्रेमी का ही हृदय अपने प्रिय (प्रेयसी सुजान) के विरह में रातदिन तड़पता रहता है, जबकि उनके प्रिय के हृदय में विरह की तनिक भी आग नहीं है, तनिक भी आकुलता-व्याकुलता नहीं है तथा तनिक भी बेचैनी नहीं है। यह प्रेमी प्रिय को जितना चाहता है, उसके लिए जितना कलपता रहता है, प्रिय उसको न तो उतना चाहता है और न ही उतना कलपता एवं तड़पता

दिखाई देता है। परन्तु प्रेमी घनानन्द को इसकी चिन्ता नहीं है कि उनका प्रिय उनके प्रति कैसे भाव रखता है, वे तो अपने प्रिय के अनन्य प्रेमी हैं और उनके तो रोम-रोम में प्रीति बसी हुई है—

चाहौ अनचाहौ जान प्यारे पै आनन्दघन,
प्रीति रीति विषम सु रोम रोम रमी है।

(५) **अन्तर्वृत्तियों की बहुलता**—घनानन्द के विरह में हृदय-पक्ष की प्रधानता है, अन्तःकरण के मनोवेगों की अधिकता है, मन की विविध गति-विधियों की प्रचंडता है और चित्तवृत्तियों के उद्दाम वेग की बहुलता है। इसीलिए घनानन्द के विरह में अन्तर्वृत्तियों के विविध रूपों के दर्शन होते हैं, नाना प्रकार की अन्तर्दशाओं के दर्शन होते हैं, विविध कामदशाओं को देखा जा सकता है और अनेक प्रकार की चित्तवृत्तियों के मार्मिक चित्र देखे जा सकते हैं। साहित्य-शास्त्र में इन अन्तर्वृत्तियों या कामदशाओं की संख्या दस मानी गई है—**अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण**। परन्तु घनानन्द ने इन शास्त्रीय अन्तर्वृत्तियों का चित्रण न करके कहीं तो हृदय की तीव्र लालसा का निरूपण इस तरह किया है—

निसदिन लालसा लपेटे ही रहत लोभी,
मुरझि अनोखी उरझनि मैं गसत है।

और कहीं अन्तःकरण की अनेक तीव्र आकांक्षाओं एवं आशाओं से लिपटी हुई अन्तर्वृत्तियों को एक ही स्थान पर प्रकट करके अपने विरह की प्रचंडता को इस तरह व्यक्त किया है—

अन्तर हौ किधौं अन्त रहौ, दृग फारि फिरौं कि अभागनि भीरौं।
आगि जरौं अकि पानी परौं अब कैसी करौं हिय का विधि धीरौं॥
जौ घनआनन्द ऐसी रुची, तौ कहा बस है अहो प्राननि पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हैं, धरती मैं धँसौं कै अकासहिं चीरौं॥

(६) **उपालम्भ की तीव्रता**—घनानन्द के विरह में उपालम्भ अत्यन्त गूढ़ता एवं गम्भीरता के साथ दृष्टिगोचर होता है। इस उपालम्भ में विरह के प्रेम की एकनिष्ठा भरी हुई है, उत्कटता भरी हुई है और प्रिय के प्रेम की उदासीनता भी भरी हुई है। इसीलिए इन उपालम्भों में विरही ने स्वयं को अत्यन्त दीन, हीन, दुःखी, विनम्र एवं अनन्य प्रेमी कहा है तथा अपने प्रिय को कपटी, विश्वासघाती, छली, निर्मोही, सभी प्रकार के सुख-सम्पन्न एवं प्रेम-रहित कहा है। अपने प्रेम की इसी अनन्यता एवं एकनिष्ठा तथा प्रिय की उदासीनता एवं कपट व्यवहारपूर्ण कठोरता पर उपालम्भ देते हुए कवि ने कितनी मधुर उक्ति दी है—

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेक सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलैं तजि आपुनपौ झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं॥
घनआनन्द प्यारे सुजान सुनौ इत एक ते दूसरौ आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ लला मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

इतना ही नहीं, प्रिय के सम्पूर्ण व्यवहारों की कटु आलोचना करते हुए कवि ने प्रिय की अनीति एवं निष्ठुरता पर कैसा करारा उपालम्भ दिया है—

क्यों हँसि हेरि हर्‌यौ हियरा अरु क्यों हित कै चित चाह चढ़ाई।
काहे को बोलि सुधा सने बैननि चैननि मैन-निसैन बढ़ाई॥
सो सुधि मो हिय मैं घनआनन्द सालति क्यों हूँ कढ़ै न कढ़ाई।
मीत सुजान अनीति की पाटी इतै पै न जानियै कौनें पढ़ाई॥

(७) अंग-प्रत्यंग की आकुलता—घनानन्द के विरह में आँख, कान, हृदय, प्राण आदि अंग-प्रत्यंगों की अत्यधिक आकुलता, बेचैनी एवं दयनीय स्थिति का चित्रण हुआ है। इसका कारण यह है कि विरही घनानन्द के सारे शरीर में विरह का विष फैला हुआ है, अंग-प्रत्यंग में विरह की आग लगी हुई है, जिससे उनके प्राण नित्य दहकते रहते हैं, नेत्र मदमाते होकर आँसू बहाते रहते हैं और श्रवणेन्द्रियाँ प्रिय वाणी सुनने के लिए आकुल-व्याकुल रही आती हैं। इतना ही नहीं, विरह की पीड़ा को न सह सकने के कारण उनके प्राण-पखेरू शरीर छोड़कर बाहर उड़ जाना चाहते हैं, परन्तु आशा-पाश में बद्ध होने के कारण वहीं अटके रहते हैं। वे कभी देखने की लालसा से आँखों में आ बैठते हैं, कभी कानों में आ बसते हैं और इसी तरह रात-दिन बेचैन एवं व्यग्र बने रहते हैं। आँखों की तो बड़ी ही भयंकर दशा हो रही है, जो देखे नहीं बनती। कवि के ही शब्दों में सुनिए—

जिनकों नित नीकें निहारति ही तिनकों अँखियाँ अब रोवति हैं।
पल-पाँवड़े पायनि चायनि सौं अंसुवानि की धारनि धोवति हैं॥
घनआनन्द जान सजीवनि कों सपने बिन पाँएई खोवति हैं।
न खुली मुँदी जानि परैं कछु ये दुखदाई जगे पर सोवति हैं।

(८) प्रकृति-जन्य उद्दीप्तता—घनानन्द की विरह-वेदना को तीव्र से तीव्रतम बनाने में प्रकृति का भी अत्यधिक हाथ रहा है। कारण यह है कि प्रकृति के ये उपादान विरही के ऊपर कहर ढाने का काम करते हैं। कभी पुरवैया हवा चलकर उसे जलाने लगती है, कभी बादल घिर कर उसके हृदय को बहकाने लगते हैं, कभी बिजली चमक कर उसे दग्ध करने लगती है, कभी पुष्प अपनी सुगन्ध से उसे झुलसाने लगते हैं, कभी कोकिल कूक कर कलेजा निकालने लगती है; कभी पापी मोर और चातक कान फोड़ने लगते हैं और ये सभी दल-बल के साथ बिचारे वियोगी को सताने के लिए रात-दिन घिरे रहते हैं—

कारी क़ूर कोकिला! कहाँ कौ बैर काढ़ति री,
कूकि कूकि अबही करेजौ किन कोरि लै।
पैंड़े परे पापी ये कलापी निस द्यौस ज्यौं ही,
चातक! घातक त्यौं ही तुहूँ कान फोरि लै॥

इतना ही नहीं,

लहकि लहकि आवै ज्यौं ज्यौं पुरवाई पौन,
दहकि दहकि त्यौं त्यौं तन ताँवरे तचै।

बहकि बहिक जात बदरा बिलोकें हियौ,
गहकि गहकि गहवरनि गरें मचै ।।
चहकि चहकि डारै चपला चखनि चाहें,
कैसे घनआनन्द सुजान बिन ज्यौं बचै ।।
महँकि महँकि मारै पावस-प्रसून-वास,
त्रासिन उसास दैया कौ लौं रहिये अँचै ।।

(९) **सन्देश-प्रेषणीयता**—घनानन्द के विरह में एक सबसे बड़ी विशेषता यह भी है कि इसमें विरही अपने विरह के सन्देश को बड़े अनूठे ढंग से अपने प्रिय के पास भेजता है। उसने इस दूत-कार्य के लिए ऐसे धीर-गम्भीर विरही को चुना है, जो उसी की तरह विरह की आग को अपने हृदय में छिपाये हुए हैं, जो उसी की तरह प्रिय के वियोग में मदमत्त होकर घूमता रहता है, जो दूसरों के लिए ही अपना शरीर धारण किये हुए है और जो दूसरों के लिए ही उत्पन्न होने के कारण परजन्य (बादल) कहलाता है। ऐसे धीर-गम्भीर सज्जन से दूत-कार्य कराना सर्वथा उचित ही है, क्योंकि वह समुद्र के खारी पानी को भी अमृत तुल्य बना देता है और सबको जीवन-दान देता है। इसीलिए ऐसे उपयुक्त दूत के हाथ विरही घनानन्द अपना सन्देश अपने विश्वासघाती प्रिय के पास इस प्रकार भेजते हैं—

पर कारजहिं देह कों धारे फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ ।
निधि-नीर सुधा के समान करौ सबही विधि सज्जनता सरसौ ।।
घनआनन्द जीवन दायक हौ कछु मेरीयौ पीर हियै परसौ ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवानि हूँ लै बरसौ ।।

(१०) **सात्विकता एवं आध्यात्मिकता**—घनानन्द के विरह में अन्तिम और सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें तनिक भी वासना की गन्ध नहीं है, कहीं भी अश्लीलता नहीं है, किसी भी स्थल पर कामुकता नहीं है और कोई भी उक्ति काम-परक नहीं है। यहाँ प्रत्येक शब्द में सात्विकता है, प्रत्येक पद में प्रेम की पवित्रता है, प्रत्येक छन्द में प्रेम की दिव्यता है और प्रत्येक उक्ति में काम-जन्य वासना से सर्वथा परे आध्यात्मिक वेदना की शुद्धता है। इसीलिए घनानन्द के विरह में परम सत्ता की पुनीत इच्छा का प्रसार देखा जा सकता है, परमात्मा की व्यापक सत्ता का आभास देखा जा सकता है और परमात्मा से बिछुड़ी हुई आत्मा की पवित्र पुकार को सुना जा सकता है। यही कारण है कि विरही घनानन्द नित्य-प्रति वियोग में संयोग का और संयोग में वियोग का अनुभव करते हुए कभी अपने प्रिय से मिलते हैं, फिर मिलकर बिछुड़ जाते हैं, फिर बिछुड़े मिल जाते हैं, परन्तु घनानन्द का हृदय इतने पर भी सदैव उसी तरह प्यासा बना रहता है, जिस तरह बादलों के छाये रहने पर भी चातक प्यासा बना रहता है। यह है विरही के अध्यात्मिक एवं सात्विक विरह की पराकाष्ठा, जिसका प्रथम दर्शन घनानन्द के काव्य में ही होता है—

लहाछेह कहाधौं मचाय रहे ब्रजमोहन हौ उत नींद भरे हौ ।
मिलि होति न भेंट दुरे उघरौ ठहरे ठहरानि के लाल परे हौ ।।
बिछुरैं मिलिजात मिलैं बिछुरैं यह कौन मिलाप के ढार ढरे हौ ।
घनआनँद छाय रहौ नित ही हित प्यासनि चातक जात परे हौ ।।

सारांश यह है कि घनानन्द की विरहानुभूति में शुद्ध एवं सात्विक विरह की व्यंजना हुई है, इसमें हृदय की गहराई अधिक है, मनोव्यथा की मूक तड़पन अधिक है, अन्तर्वृत्तियों की मूक पुकार अधिक है और स्वानुभूत वेदना की यथार्थ टीस, कराह या कसक अधिक है। यही कारण है कि घनानन्द के विरह में सम्प्रेषणीयता की मात्रा सर्वाधिक है, क्योंकि इनके विरहोद्‌गारों को पढ़ते ही पाठक का हृदय विरहोदधि में निमग्न हो जाता है और इन उक्तियों को सुनते ही श्रोताओं का मन-पक्षी विरह के अनन्त आकाश में उड़ने लगता है। (निस्सदेह, घनानन्द के विरह में सम्मोहन है, आकर्षण है, अभिव्यंजना-कौशल है और चित्त को द्रवित करने की अपूर्व क्षमता है।) घनानन्द के इस विरह में कहीं भी बौद्धिकता के दर्शन नहीं होते, कहीं भी क्लिष्ट कल्पना दिखाई नहीं देती और कहीं भी दूरारूढ़ भावना दृष्टिगोचर नहीं होती, अपितु सर्वत्र हृदय-पक्ष की प्रबलता दिखाई देती है, सहज कल्पना दिखाई देती है, स्वाभाविक उत्कंठा दिखाई देती है, प्राकृतिक अभिलाषा दिखाई देती है और नैसर्गिक लालसा दिखाई देती है। अपनी यथार्थता, सात्विकता, पवित्रता एवं आध्यात्मिकता के कारण ही घनानन्द की विरहानुभूति सर्वोत्कृष्ट और अपनी इसी सात्विक विरह-भावना के कारण घनानन्द हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट विरही कवि हैं।

घनानन्द की भगवद्भक्ति

प्रेम की दिव्यानुभूति का नाम ही भक्ति है। जब किसी व्यक्ति का हृदय प्रेम की लौकिक सीमा का उल्लंघन करके अलौकिक सीमा में प्रवेश कर जाता है, जगत् के सांसारिक बन्धनों को छिन्न-भिन्न करके आध्यात्मिक भाव में लीन हो जाता है, पार्थिव प्रतिमाओं के अनुराग का परित्याग करके अपार्थिव प्रेम में आनन्द-विभोर हो उठता है, भौतिक प्रम की दीवारों को तोड़कर आध्यात्मिक भावनाओं के अनन्त आकाश में विचरण करने लगता है तथा वैयक्तिक प्रेम की शृंखलाओं में आबद्ध न रहकर अगोचर एवं अरूप सत्ता के पवित्र प्रेम में तन्मय हो जाता है, तब उसे भक्त कहते हैं। ऐसे भक्त-हृदय में तन्मयता का आधिक्य होता है, तादात्म्य का बाहुल्य होता है और तल्लीनता का प्राचुर्य होता है, क्योंकि उसमें भगवान् के साथ तदाकार होने की गहन निष्ठा विद्यमान रहती है, अपने इष्टदेव के प्रति अक्षय आस्था होती है और अपनी भक्ति के आलम्बन के प्रति असीम श्रद्धा होती है। इसीलिए भक्ति में दिव्य प्रेम की अधिकता होती है, दिव्य राग की बहुलता होती है और दिव्य श्रद्धा की अधिकता होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसीलिए प्रेम और श्रद्धा के योग को भक्ति कहा है,[1]

---

[1] चिन्तामणि (भाग १)।

मुनिवर शांडिल्य ने ईश्वरीय अनुराग की प्रगाढ़ता को भक्ति बतलाया है[1] और देवर्षि नारद ने परमेश्वर के प्रति परम प्रेम का होना ही भक्ति कहा है ।[2] अतः भगवद्भक्ति के प्रमुख लक्षण हैं—पार्थिव जगत् से वैराग्य, परमेश्वर से प्रगाढ़ प्रेम और परमेश्वर के लिए सर्वस्व अर्पण करने की उत्कट भावना ।

घनानन्द के काव्य का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि वैसे तो घनानन्द का हृदय लौकिक प्रेम में ही अनुरक्त था, किन्तु प्रिय की निष्ठुरता, निर्दयता, कपट-व्यवहार एवं विश्वासघात ने उस लौकिक प्रेम को अलौकिकता की ओर, भौतिक अनुराग को आध्यात्मिक अनुराग की ओर, पार्थिव वासना को अपार्थिव एवं दिव्य वासना की ओर तथा वैयक्तिक आस्था एवं निष्ठा को परमात्मा के प्रति गहन आस्था एवं निष्ठा की ओर उन्मुख कर दिया था । जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास अपनी प्राणप्रिया रत्नावली के प्रत्यक्ष उद्बोधन से भौतिक प्रेम की शृंखलाओं को तोड़कर आध्यात्मिक प्रेम के शिखर पर चढ़ गये थे, उसी प्रकार घनानन्द भी अपनी प्रेयसी सुजान के परोक्ष उद्बोधन से—विश्वासघात से पार्थिव प्रेम की सीमाओं का उल्लंघन करके अपार्थिव एवं दिव्य प्रेम के अनन्त आकाश में विचरण करने लगे थे । घनानन्द के इस अलौकिक प्रेम में—इस दिव्य अनुराग में यद्यपि लौकिक प्रेम विद्यमान है, तथापि वह अपनी सीमाओं में आवद्ध न रहने के कारण तथा वासना की पंक के प्रक्षालित हो जाने के कारण अत्यन्त दिव्य, पुनीत एवं उज्ज्वल हो गया है, उसमें सात्विकता का प्राधान्य हो गया है और वह आध्यात्मिक जगत् का पुनीत अनुराग बन गया है । इसी कारण घनानन्द की व्यक्ति-निष्ठा एवं वैयक्तिक आस्था असीम एवं अनन्त होकर भगवद्भक्ति एवं ईश्वरानुराग का रूप धारण कर गई है । [illegible] दृष्टि से विचार करने पर घनानन्द की भक्ति में आठ प्रमुख विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं—(१) वैराग्य की प्रधानता, (२) युगल सरकार के प्रति गहन आस्था, (३) मुरली की महत्ता, (४) ब्रज की श्रेष्ठता, (५) दिव्य भावों की प्रचुरता, (६) परमेश्वर के प्रति अनन्यता, (७) मधुराभक्ति की अधिकता और (८) भक्त एवं भगवान् की अभिन्नता ।

(१) वैराग्य की प्रधानता—घनानन्द ने दिल्ली के परम वैभव एवं अपनी 'अलबेली सुजान' के अनिंद्य पार्थिव सौन्दर्य का परित्याग करते ही वृन्दावन आकर पूर्ण वैराग्य ले लिया था । उनके हृदय में 'सुजान' का नाम तो अवश्य विद्यमान रहा, किन्तु अब वह पार्थिव सुजान नाम अपार्थिव एवं अलौकिक सुजान अथवा श्रीकृष्ण के रूप में भक्ति का पवित्र आलम्बन बन गया था और वे संसार के सभी भोगों, ऐश्वर्यों एवं नेह-सम्बन्धों का परित्याग करके 'नन्द के नवेले अलबेले छैल' के 'महानेही' बन गये थे, पार्थिव सुजान के विश्वासघात की चोट खाकर तथा जगत् के सभी प्राणियों से अपना सम्बन्ध

---

१. सा परानुरक्तिरीश्वरे । शांडिल्य भक्ति-सूत्र २

२. सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा । नारद भक्ति-सूत्र २

तोड़कर एकमात्र कृष्ण रूपी चन्द्र के ही चकोर बन गये थे और लौकिक नायिका की प्रीति-रीति को छोड़कर अलौकिक एवं दिव्य आत्मा के प्रेम की डोर में बँध गये थे। इसीलिए उन्होंने देह, भौतिक स्नेह, भौतिक ऐश्वर्य, धन-धाम आदि की घोर निन्दा करते हुए और उन्हें क्षणभंगुर बताते हुए अपनी प्रबल वैराग्य-भावना का परिचय इस तरह दिया है—

देह सौं सनेह सो ह्वै है खेह खिन ही मैं,
नाते सब हाते परि पहैगो नहीं रे नाम।
पूरौ भ्रम भूलै कित झूलै मोह फंदनि तू,
तन कौ सम्हारै किनि प्रानन के संगी स्याम ॥
जागत औ सोवै खोवै समै सो रतन बौरे,
पाय घनआनन्द तचै अचैत काम धाम।
आएँ औधि-औसर उसासहू उसरि जै है,
धरेई रहैंगे धनधाम बँधे धूमधाम ॥

(२) युगल सरकार के प्रति गहन आस्था—वृन्दावन में आकर घनानन्द निम्बार्क-सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये थे। निम्बार्क-सम्प्रदाय में युगल सरकार की भक्ति का प्राधान्य है अर्थात् वहाँ कृष्ण और राधा दोनों के सम्मिलित स्वरूप के प्रति तीव्र अनुराग एवं उत्कट भक्ति-भावना प्रदर्शित की जाती है। घनानन्द ने भी इसी कारण श्रीकृष्ण और राधा दोनों के प्रति अपनी गहन आस्था, उत्कट श्रद्धा एवं अटूट विश्वास प्रकट किया है। कृष्ण के प्रति अपने असीम अनुराग एवं अनन्त प्रेम टि [illegible] करते हुए घनानन्द कह रहे हैं—

नन्द को नवेलो अलबेलो छैल रंग भर्‌यौ,
काल्हि मेरे द्वार ह्वै कै गावत इतै गयौ।
बड़े बाँके नैन महासोभा के सु ऐन आली,
मृदु मुसक्याय मुरि मो तन चितै गयौ ॥
तब ते न मेरे चित्त चैन कहुँ रंचकौ है,
धीरज न धरै सो, जानौं धौं कितै गयौ।
नेंकु ही मैं मेरो कछु मो पै न रहन पायौ,
औचक ही आइ भटू लूट सी बितै गयौ ॥

ऐसी ही अतुलित श्रद्धा एवं गहन आस्था राधा के प्रति प्रकट की गयी है, जिसमें घनानन्द की भक्ति-भावना को सहज ही देखा जा सकता है। जैसे—

चाँपत चरन तनक झुकि जाऊँ। छुवं सीस राधा के पाऊँ ॥
राधा धर्‌यौ बहु गुनी नाऊँ। टरि लगि रहौं बुलाए जाऊँ ॥
राधा की जूठनि ही जियौं। राधा की प्यासनि ही पियौं ॥
राधा कौ सुख सदा मनाऊँ। सुख दै दै हौं सुख ही पाऊँ ॥

(३) **मुरली की महत्ता**—कृष्ण की परम आराधिका (मुरली) का गुणगान सभी भक्त कवियों ने किया है, क्योंकि मुरली आत्मा को परमात्मा से मिलने वाली, योगमाया है और इसी की ध्वनि सुनकर चर और अचर सभी पदार्थ अपने चराचर स्वामी श्रीकृष्ण के मिलन का आनन्द लेते हैं। इसी कारण घनानन्द ने भी मुरली के महत्त्व का निरूपण करते हुए उसे चराचर जगत् को द्रवीभूत वनाने वली स्थावर-जंगम सभी को आकृष्ट करने वाली, हृदयों में विषम प्रेम की पीर जगाने वाली, कृष्ण को अपने वश में करने वाली, अपनी ध्वनि से सभी को विह्वल कर देने वाली, विविध गुणों वाली आदि कहा है—

मुरलिया में त्यौनार भरे हैं।
धुनि सुनि हिय बेहाल होत है इन ये हाल करे हैं।
कान्ह कुँवर ब्रजमोहन मोहे याही ढार ढरे हैं।
कल न देति काहू थिर चर कौ सबसे मरम छरे हैं।
आनँदघन रसबस करि राखे नाद-सवाद ररे हैं।
याहि सबै कछु फबै सखी री पूरन पुन्य फरे हैं।

(४) **ब्रज की श्रेष्ठता**—घनानन्द श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे और श्रीकृष्ण को ब्रजधाम अत्यन्त प्रिय था। इसीलिए घनानन्द ने भी अपने 'ब्रजप्रसाद', 'ब्रजस्वरूप', 'ब्रजविलास', 'धाम-चमत्कार', 'ब्रज-व्यवहार' आदि ग्रन्थों में ब्रज की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए ब्रजमण्डल के रमणीय वृन्दावन, गोकुल, यमुना, गोवर्द्धन, वरसाना आदि स्थानों की महत्ता का निरूपण किया है और ब्रज के [illegible]न, बाग, नदी, पर्वत, पशु-पक्षी, लता, द्रुम, पुष्प, गली, घाट आदि का बड़ी तन्मयता एवं तत्पर[illegible] के [illegible]ण चित्रण किया है। यथा—

(क) आँखिन को सुख ब्रज दरसन है। आनन्द घन दरसन सरसन है॥
(ख) ब्रज वृन्दावन को बलि जैये। ब्रज वृन्दावन लीला गैयै॥
(ग) श्री यमुना में नित ही न्हाऊँ। या यमुना तजि कहूँ न जाऊँ॥
(घ) ब्रज-बीथिन ब्रज-बागनि फिरौं। छकौं थकौं ब्रज हेरौं हिरौं॥
(ङ) गैल घाट ब्रज के रसमसे। ब्रजमोहन की लीला लसे॥

(५) **दिव्य भावों की प्रचुरता**—भक्ति-भावना को प्रकट करने वाले प्रायः पाँच दिव्य भाव माने गये हैं—वात्सल्य, सख्य, दास्य, दाम्पत्य एवं शान्त। जहाँ परमेश्वर को पुत्र मानकर उनके प्रति पुत्र-प्रेम-विषयक दिव्य प्रेम प्रकट होता है उसे वात्सल्य भाव की भक्ति कहते हैं, जहाँ परमेश्वर को सखा मानकर अपना दिव्य प्रेम प्रकट किया जाता है वहाँ सख्य भाव की भक्ति होती है, जहाँ परमेश्वर को पिता, माता या स्वामी मानकर अपना दिव्य प्रेम-भाव प्रकट किया जाता है वहाँ दास्य भाव की भक्ति होती है, जहाँ परमात्मा को पति मानकर अपना दिव्य प्रेम व्यक्त किया जाता है वहाँ दाम्पत्य भाव की भक्ति होती है और जहाँ परमेश्वर को सर्वव्यापक, सर्वनियंता एवं सच्चिदा-

नंद मानकर अपना दिव्य प्रेम प्रकट किया जाता है वहाँ शान्त भाव की भक्ति होती है। घनानन्द की भक्ति में प्रचुरता तो दाम्पत्य भाव की ही है, क्योंकि इन्होंने माधुर्य भाव-व्यंजक पदों का निर्माण अधिक किया है, परन्तु अन्य दिव्य भावों का रूप भी थोड़ा-बहुत देखने को मिल जाता है। जैसे, श्रीकृष्ण के शैशव की चेष्टाओं एवं व्यापारों का वर्णन करते हुए घनानन्द ने 'वात्सल्य भाव' की अभिव्यक्ति इस प्रकार की है—

नव सुकुमार बैस मनमोहन ब्रज जन-जीवन प्रान।
ऐसे सुत के मुखहिं सपूती देति पयोधर-प्रान॥
मुसकत पियत जियत अरु ज्यावत जननी जिय-आधार।
प्रबल मोह की उमँग-तरंगनि द्रवित दूध की धार॥
झाँपि लेति आँचर सौं स्यामैं निधरक सकति न चाहि।
अतुल अगम क्यों बरनि बताऊँ हित-गति अकथ अथाहि॥

घनानन्द ने ग्वाल-बालों के साथ ढाक के पत्तों में रखकर छाक खाते हुए श्रीकृष्ण की बाल-सुलभ चेष्टाओं का भी वर्णन किया है और उनके एक सखा मधुमंगल की भूख के मारे क्या दशा हो रही है—इसका भी सुन्दर निरूपण किया है, जिसमें उनके 'सखा-भाव' की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई—

ब्रजरानी दई सँवारि बहुल विधि अपने लड़ैते लाल कौं छाक।
भूख भर्यौ, बढ़ि रुख चौंप सौं लगि रह्यौ मधुमंगल ताक॥
लै आई छाकहारी चाइनि बदन देखि टरी दृगनि थाक।
आनँदघन ब्रजजीवन जेंवत हिलमिलि ग्वार तोरि पतनि ढाक॥

'दास्य-भाव' में दैन्य की प्रधानता रही है। घनानन्द ने अपने दैन्य को प्रकट करके इस दिव्य दास्य भाव की भक्ति की व्यंजना इस प्रकार की है—

चरन तुम्हारे सुफलदायक।
रमन भूमि ब्रजमंडल सुनहु साँवरे गोकुलनायक॥
रस-विलास सम्पदा स्वामी सुखनिधान सुमिरिबै सुलायक।
आनँदघन अमोघ रस मूरति सरनागत-भय-हरन सहायक॥

'दाम्पत्य भाव' में मधुरा-भक्ति की प्रबलता रहती है। घनानन्द ने इस दिव्य माधुर्य भाव का अत्यन्त विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। इस 'दाम्पत्य भाव' में तल्लीन अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के वियोग में तड़पती हुई भक्तवर घनानन्द की आत्मा का दिव्य रूप देखिए—

रैन दिना घुटिबौ करैं प्रान झरैं अँखियाँ दुखियाँ झरना सी।
प्रीतम की सुधि अन्तर मैं कसकै सखि ज्यौं पँसरीन मैं गाँसी॥
चौचँदवार चबाइन के चहुँ ओर मचैं बिरचैं करि हाँसी।
यौं मरियै भरियै कहि क्यों सु परौ जनि कोऊ सनेह की फाँसी॥

'शान्त भाव' में भक्ति और ज्ञान की प्रधानता रहती है और भक्त अपने भगवान् को पाने के लिए अत्यन्त व्यग्र एवं बेचैन रहता है। वह भगवान् को सर्वत्र

ढूँढ़ता फिरता है और अत्यन्त लालायित होकर उन्हें प्राप्त करने का प्रयास करता है। घनानन्द की ऐसी ही व्यग्रता एवं बेचैनी से भरी शान्त-भावमयी भक्ति इस प्रकार व्यक्त हुई है—

अंतर हौ किधौं अंत रहौं दृग फारि फिरौं कि अभागिनि भीरौं ।
आगि जरौं अकि पानि परौं अब कैसी करौं हिय का विधि धीरौं ।।
जौ घनआनँद ऐसी रुची, तौ कहा बस है अहो प्राननि पीरौं ।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हें, धरती में धसौं कै अकासहिं चीरौं ।।

(६) **परमेश्वर के प्रति अनन्यता**—घनानन्द की भक्ति में अनन्य प्रेम एव एकनिष्ठा का भाव भी अत्यधिक मात्रा में भरा हुआ है। इसका कारण यह है कि घनानन्द जैसे दीन भक्तों के लिए तो भगवान् कृष्ण ही गति हैं, वे ही मति हैं, वे ही दोनों के रक्षक हैं और वे ही सर्वस्व हैं। वे तो गुण-हीनों को ही अपनाया करते हैं और घनानन्द से अधिक गुण-हीन और कौन मिलेगा? इसीलिए वे चातक और मीन की भाँति अनन्य प्रेम को धारण करके भगवान् कृष्ण से निवेदन कर रहे हैं—

तुमही गति हौ तुमही मति हौ तुमही पति हौ अति दीनन की ।
नित प्रीति करौं गुन-हीनन सौं यह रीति सुजान प्रवीनन की ।।
बरसौ घनआनँद जीवन कौं सरसौ सुधि चातक छीनन की ।
मृदु तौ चित के पन पै हृत के निधि हौ हित के, रुचि मीनन की ।।

(७) **मधुरा-भक्ति की अधिकता**—वैसे तो घनानन्द ने भक्ति के सभी भेदों का निरूपण किया है, परन्तु उनकी सर्वाधिक रुचि माधुर्य भाव की भक्ति की ओर रही है। इसका मूल कारण उनके हृदय में स्थित प्रणयानुभूति का आधिक्य है क्योंकि उनकी लौकिक प्रेयसी का उत्कट प्रेम ही उनकी मधुरा-भक्ति में दिव्य भाव ग्रहण करके प्रकट हुआ है और वे उसी प्रणय-सिंधु में निमज्जित होकर अपनी अतृप्ति, तीव्र लालसा, दर्शन की पिपासा, अगाध स्नेह, प्रणय-केलि आदि का वर्णन करते हैं, जिनमें उनकी लौकिक प्रणय-वासना ही अलौकिक, अपार्थिव एवं आध्यात्मिक होकर मधुरा-भक्ति का रूप ग्रहण कर गई है। अपनी इसी मधुरा-भक्ति में लीन होकर घनानन्द अपने प्राण-प्यारे के चरणों की धूल पवन से मँगवाकर और उसे आँखों में लगाकर अपनी विरह-व्यथा को दूर करने की भावना व्यक्त कर रहे हैं—

एरे वीर पौन ! तेरौ सबै ओर गौन, वारी
तो सो और कौन, मन ढरकौही बानि दै ।
जगत के प्रान ओछे बड़े सों समान घन-
आनन्द-निधान, सुखदान दुखियानि दै ।।
जान उजियारे गुनभारे अन्त मोहि प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे, पीठि पहचानि दै ।
विरह-विथाकी मूरि आँखनि में राखौं पूरि,
धूरि तिनि पायनि की हा हा ! नेकु आनि दै ।।

वियोग-भाव के साथ-साथ घनानन्द ने मधुरा-भक्ति के संयोग-भाव का निरूपण ी अत्यन्त रमणीयता के साथ किया है, जिसमें मिलन का महासुख अङ्गों को वेसुध ना रहा है और रस-रङ्ग में पगे हुए सभी स्वाद जाग्रत हो गये हैं—

मीत सुजान मिले को महा सुख अंगनि भोय समोह रह्यौ है ।
स्वाद जगे रस रंग पगे अति जानत वेई न जात्त कह्यौ है ।।
द्वै उर एक भये घुरि कै घनआनन्द सुद्ध समीप लह्यौ है ।
रूप-अनूप-तरंगनि चाहि चऊ चित चाह-प्रबाह बह्यौ है ।।

(८) **भक्त एवं भगवान की अभिन्नता**—घनानन्द की भक्ति-भावना में सबसे ड़ी विशेषता यह है कि रात-दिन भगवान के प्रेम में निमग्न रहने के कारण उनका ौर भगवान् के बीच का अन्तर मिट जाता है, जिससे उन्हें अपनी आत्मा में ही गवान् का साक्षात्कार होने लगता है और माया के कारण जो अभी तक यत्किंचित् ार्थक्य दिखाई देता था, वह पार्थक्य भी सदैव के लिए तिरोहित हो जाता है। इसी-ाए भक्त पुकार उठता है—

अ[illegible] तब तुम जब तब तुमही तुम बिन कब हौं हौ तुमहौं ।
यह दुरि [illegible]रनि कहौ कहाँ तें सीखे तुम्हें तुम्हारी सौं ।।
आपु बी[illegible] परि नाँव और धरि करत अटपटी बातनि कौं ।
आनन्दघ[illegible] सुजान दृग-तारे लखै न परति अनोखी गौं ।।

सारांश यह है कि घनानन्द की भक्ति में भगवान् के प्रति उत्कट आसक्ति, न आस्था, तीव्र अनुरक्ति एवं असीम श्रद्धा भरी हुई है। घनानन्द जितने उच्च टि के प्रेमी थे, उतने ही परमोच्च भक्त भी थे। उनकी लौकिक प्रेमासक्ति ही दिव्य ासक्ति में परिणत हो गई थी। इसी कारण उनकी भक्ति में रागानुगा भक्ति की लता है, माधुर्य भाव की प्रधानता है और प्रियमयी वृत्ति की प्रचुरता है। घनानन्द ी भक्ति में अभिलाषाधिक्य के कारण सरसता आ गई है, विरहानुभूति की तीव्रता के रण भाव-प्रेषणीयता के गुण में वृद्धि हो गई है, अतृप्ति के कारण सजीवता आ गई स्नेहाधिक्य के कारण मार्मिकता आ गई है और आत्म-निवेदन का प्राधान्य होने कारण गहनता आ गई है। निस्संदेह घनानन्द की भक्ति परम प्रेम-रूपा है और ानुरक्ति से परिपूर्ण है।

नानन्द का काव्य-सौष्ठव

प्रत्येक कवि का काव्य उसकी गहन अनुभूतियों का भण्डार होता है। ये अनु-तियाँ विविध रूप ग्रहण करके व्यक्त हुआ करती हैं। कभी वे विविध वस्तु-वर्णनों के प में व्यक्त होती हैं, कभी विविध भावों के रूप में प्रकट होती हैं, कभी विविध रसों रूप में अभिव्यंजित होती हैं और कभी विविध सौन्दर्य के सजीव चित्रों के रूप में रिलक्षित होती हैं। अनुभूतियों के इन सभी रूपों को काव्य का अनुभूति-पक्ष या ाव-पक्ष कहते हैं। जब ये अनुभूतियाँ वाणी के कलात्मक सौन्दर्य से ओतप्रोत होकर

संगीत की मधुर तान, सरस लय या स्वाभाविक गति एवं यति के साथ अभिव्यक्त होती हैं, तब इस अभिव्यक्ति को काव्य का अभिव्यक्ति-पक्ष या कला-पक्ष कहते हैं। अतः घनानन्द के काव्य-सौष्ठव का निरीक्षण एवं परीक्षण करने के लिए उनके काव्य में भी उनके अनुभूति-पक्ष तथा अभिव्यक्ति-पक्ष का अध्ययन परमावश्यक है।

(क) घनानन्द का अनुभूति-पक्ष—घनानन्द के अनुभूति-पक्ष अथवा भाव-पक्ष का सम्यक् अनुशीलन करने के लिए उनके काव्य में भी यह देखने की चेष्टा की जायेगी कि घनानन्द ने विविध वस्तुओं के वर्णन कैसे किये हैं, विविध भावों के निरूपण में कैसा कौशल दिखाया है, विविध रसों की अभिव्यंजना में कैसी दक्षता प्रकट की है और विविध सौन्दर्य-चित्रों को अंकित करने में अपनी कैसी कला-चातुरी व्यक्त की है ? इस तरह घनानन्द के अनुभूति-पक्ष को सुविधा की दृष्टि से पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) वस्तु-वर्णन, (२) प्रकृति-चित्रण, (३) भाव-निरूपण, (४) रस-व्यंजना और (५) सौन्दर्य-चित्रण।

(१) वस्तु-वर्णन—घनानन्द ने ब्रज-प्रदेश के प्रति अपनी गहन आस्था एवं असीम श्रद्धा व्यक्त की है और इसी कारण उन्होंने ब्रज के गाँवों, नगरों, यमुना, वृन्दावन आदि का अत्यन्त सजीवता के साथ निरूपण किया है। ब्रज के गाँवों में से मुख्यतया बरसाना और गोकुल ग्राम का अच्छा चित्रण किया है—

(क) गिर के नावँ गावँ ढिग बसे। बरसानो सरसानो लसै॥
भागनि भरी भूमि रंगभीनी। काहू बर बिरंचि रचि कीनी॥

(ख) जमुना-तीर गाँव की राजनि। कहा कहौं गोकुल-छवि-छाजनि॥
गोकुल-छवि आँखिनिहीं भावै। रहि न सकै रस ना कछु गावै॥

इसी तरह ब्रज के अन्य स्थानों का वर्णन करते हुए घनानन्द ने सर्वाधिक वृन्दावन की मंजुल छवि का निरूपण किया है—

वृन्दावन-छवि कहत न आवै। सो कैसे कहि कोऊ गावै॥
तीर भूमि बनि रह्यौ सदा वन। जै जमुना जै जै वृन्दावन॥

इसी प्रकार घनानन्द ने ब्रज के गोपी, गोप, गाय तथा अन्य ब्रजवासियों का वर्णन करते हुए लिखा है—

धनि यह ब्रज धनि ये ब्रजवासी। कृस्नचन्द्र-चन्द्रिका-प्रकासी॥
कहा कहौं धौं ब्रज कौ मोद। बरसत निज आनन्द-प्रमोद॥
गोपी, गोप, गाय रस-पगे। मन अरु प्रान कान्ह सौं लगे॥

ऐसे ही घनानन्द ने ब्रज की गायों, उनके खिरकों, गली, गलियारों, पनघटों, घाटों, ग्वाल-बालों आदि का भी वर्णन किया है—

गोधन ठाट कहाँ लौं कहिये। धन अरु धान अलेखें रहिये॥
बास-निकट ही खरिक सुहाये। बिसद बिलास परम छबि छाये॥

बगर गरयारें गली पुनीत । घर-घर मंगल-मंडित गीत ॥
ग्वाल-बाल कोलाहल जित-तित । नित उतसव मोहन-जोहन-हित ॥
घाट पनघटनि खेलनि खोरनि । पैरनि दृगनि रूप-रस-बोरनि ॥

इस प्रकार घनानन्द ने ब्रज के घर, गाँव, गली, गलियारे, घाट, पनघट, गोपी, गोप, ग्वाल-बाल, गाय, वृन्दावन, बरसाना, गोवर्द्धन आदि का अत्यन्त विस्तृत वर्णन किया है। परन्तु इन वर्णनों में विवरणात्मकता है, संश्लिष्टता नहीं है; और न ये सहज आकर्षण से परिपूर्ण हैं, क्योंकि कवि ने केवल नाम गिनाकर ही अधिक काम चलाया है, उनके संश्लिष्ट चित्र एवं बिम्ब प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं किया है।

(२) प्रकृति-चित्रण—घनानन्द ने प्रकृति के अत्यन्त रमणीय चित्र अंकित किए हैं। वे सच्चे प्रकृति-प्रेमी थे और प्रकृति के साथ उनका साहचर्य भी अधिक रहा था, क्योंकि वृन्दावन की प्राकृतिक सुषमा निहारने एवं अन्य ब्रज के वनों की नैसर्गिक छटा निरखने का अवसर उन्हें अनेक बार प्राप्त हुआ था। इसलिए उन्होंने प्रकृति के अनेक सुन्दर एवं सजीव चित्र अङ्कित किये हैं। वृन्दावन में छाई हुई वसन्त ऋतु का एक दृश्य देखिए जिसमें प्रकृति के आलम्बन रूप का चित्रण हुआ है—

घुमड़ि पराग लता-तरु भोए। मधुरितु-सौरभ-सौंज-समोए ॥
बन बसन्त बरनत मन फूल्यौ । लता-लता झूलनि संघ झूल्यो ॥
खगन-चुहल पिक-मुह्लक सुहाई । वन मनपथ की फिरी दुहाई ॥
मलय पवन-आगम सुखसार । रोचक महा सुदेश सुढार ॥
बरसत पुहुप पुहुमि पर सोहत । बन छबि लखि ब्रजमोहन सोहत ॥

प्रकृति के आलम्बन-रूप की अपेक्षा घनानन्द ने प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण अधिक सरसता एवं मार्मिकता के साथ किया है, क्योंकि घनानन्द का काव्य विरह-प्रधान है और विरह में प्रकृति प्रायः विरही जनों के भावों को उद्दीप्त करती हुई दिखाई जाती है। अतः घनानन्द ने प्रकृति के उन अंगों का चित्रण बड़ी तन्मयता एवं तल्लीनता के साथ किया है, जो भावों को उद्दीप्त करके विरह-वेदना को भी अत्यधिक तीव्र बनाया करते हैं। इसी कारण घनानन्द के काव्य में प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण अधिक मार्मिक एवं सजीव दिखाई देता है। जैसे—

लहकि लहकि आवै ज्यौं ज्यौं पुरवाई पौन,
दहकि दहकि त्यौं त्यौं तन ताँवरे तचै ।
बहकि बहकि जात बदरा बिलोकें हियौ,
गहकि गहकि गहवरनि गरें मचै ।
चहकि चहकि डारै चपला चखनि चाहैं,
कैसे घनआनन्द सुजान बिन ज्यौ बचै ।
महकि महकि मारै पावस-प्रसून-बास,
त्रासनि उसास दैया कौ लौं रहियै अचै ॥

घनानन्द ने अलंकारों के लिए तो प्रकृति का अत्यधिक प्रयोग किया है। उनके इन प्रयोगों में चमत्कार के साथ-साथ सरसता भी है और कला-कौशल के साथ-साथ भाव-प्रेषणीयता भी अत्यधिक मात्रा में दिखाई देती है। जैसे, घनानन्द ने विरही के जीवन में पतझड़ और वसन्त का एक साथ होना दिखाकर कैसा मार्मिक चित्रण किया है—

किंसुक-पुंज से फूलि रहे सु लगी उर दौ जु वियोग तिहारें।
मातो फिरै, न घिरै अबलानि पै, जान मनोज यौं डारत मारें।
ह्वै अभिलाषनि-पात-निपातु कढ़े हिय-सूल उसासनि-डारें।
है पतझार बसन्त दुहूँ घनआनन्द एकही बार हमारें ।।

घनानन्द ने प्रकृति का दूत के रूप में भी सुन्दर प्रयोग किया है। उन्होंने पवन को दूत बनाकर अपने प्राणप्रिय के पास भेजने की कामना व्यक्त की है, जो निर्मोही प्रियतम के समीप जाकर उनके चरणों की धूल लाये और जिसे अपनी आँखों में लगाकर विरहणी आत्मा अपनी विरह-व्यथा कम कर सके। यथा—

एरे वीर पौन! तेरौ सबै ओर गौन, वारी
तो सो और कौन, मन ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान ओछे बड़े सों समान घन—
आनन्द-निधान, सुखदान दुखियानि
जान उजियारे गुनभारे अन्त मो ही प्यारे
अब ह्वै निमोही बैठे, पीठि पहिचानि दै।
विरह बिथाकी मूरि आँखिन मैं राखौं पूरि,
धूरि तिनि पायनि की हाहा! नेकु आनि दै ।।

(३) **भाव-निरूपण**—घनानन्द की कविता विविध भावों का भण्डार है, क्योंकि घनानन्द ने ऐसे-ऐसे मार्मिक भावों का चित्रण किया है कि देखते ही बनता है और एक साधारण कवि वहाँ तक पहुँच नहीं सकता। घनानन्द की इस भाव-निरूपण-पद्धति पर सर्वत्र उनके गहन प्रेम की छाप है। इसी कारण उनके सभी भाव-चित्र इतने मनोरंजक एवं आकर्षक बन पड़े हैं कि पाठकों एवं श्रोताओं के हृदय उन्हें पढ़कर एवं सुनकर फड़क उठते हैं तथा आनन्द-सागर में डुबकियाँ लगाने लगते हैं। उदाहरण के लिए, नेत्रों की तृष्णा एवं उनकी रूपासक्ति के भाव का मार्मिक दृश्य देखिये—

नैन कहैं सुनि रे मन! कान दै क्यों इतनी गुन मेटि दयौ है।
सुन्दर प्यारे सुजान कौ मन्दिर बाबरे तू हमहूँ ते लयौ है ।।
लोभी तिन्हें तन कों न दिखावत ऐसो महामद छाकि गयौ है।
कीजिए जू घनआनन्द आय कै पायँ परौं यह न्याय नयौ है ।।

इसी तरह प्रिय के वियोग में प्रेमी के मन, हृदय एवं अन्तःकरण में व्याप्त घोर 'व्याधि' का चित्रण करते हुए घनानन्द ने स्मृति, विषाद, आवेग, ग्लानि आदि मनोभावों का कैसा सजीव चित्र अङ्कित किया है—

रैन दिना घुटिबो करैं प्रान झरैं अँखियाँ दुखियाँ झरना सी।
प्रीतम की सुधि अंतर मैं कसकै सखि ज्यौं पँसरीन मैं गाँसी।।
चौचँदचार चबाइन के चहुं ओर मचै विरचैं करि हाँसी।
यौं मरियै भरियैं कहि क्यों सु परौ जनि कोई सनेह की फाँसी।।

इसी तरह घनानन्द ने उपालम्भ के द्वारा 'स्मृति' का चित्र अंकित करते हुए विषाद, दैन्य, अमर्ष, आवेग आदि भावों का बड़ा ही मार्मिक निरूपण किया है—

क्यौं हँसि हेरि हर्यौ हियरा अरु क्यौं हित कै चित चाह बढ़ाई।
काहे को बोलि सुधा सने बैननि चैननि मैन-निसैन चढ़ाई।।
सो सुधि मो हिय मैं घनआनन्द सालति क्यों हूँ कढ़ै न कढ़ाई।
मीत सुजान अनीत की पाटी इतै पै न जानियैं कौनें पढ़ाई।।

ऐसे ही घनानन्द ने वियोग से उत्पन्न गहन 'विषाद' का चित्र अङ्कित करते हुए आवेग, अमर्ष, उग्रता, ग्लानि आदि भावों का चित्र बड़ी सतर्कता एवं तत्परता साथ अङ्कित किया है—

जासों प्रीति ताहि निठुराई सों निपट नेह,
कैसें करि जिय की जरनि सो जताइयै।
निरदई; दई कैसें कै जिवाऊँ जीव,
बेदन की बढ़वारि कहाँ लौं दुराइयै।।
दुःख को बखान करिबे कौं रसना कैं होति,
ऐपं कहूं वाकौ सुख देखन न पाइयै।
रैन-दिन चैन को न लेस कहुं पैयै, भाग
आपने ही ऐसे, दोष काहि कौं लगाइयै।।

घनानन्द ने प्रायः विरह-जन्य भावों का वर्णन ही अधिक मात्रा में किया है, परन्तु कहीं-कहीं संयोग-जन्य भावों के भी चित्र मिल जाते हैं। जैसे, आसन्न संयोग के 'उल्लास' का एक सजीव चित्र अङ्कित करते हुए घनानन्द ने प्रेयसी के रोम-रोम में भरी हुई उमंग, अंग-अंग में छाये हुए उत्साह एवं मन में बसी हुई तीव्र-मिलन-आकांक्षा का हृदयहारी चित्रण किया है—

ललित उमङ्ग-बेली आलबाल-अन्तर ते,
आनन्द के घन सींची रोम-रोम ह्वै चढ़ी।
आगम-उमाह-चाह छायौ सु उछाह रंग,
अङ्ग अङ्ग फूलनि दुकूलनि पर कढ़ी।।
बोलत बधाई दौरि-दौरि के छबीले दृग,
दसा सुभ सगुनौती नीकें इन है पढ़ी।
कंचुकी तरकि मिले सरकि उरोज, भुज
फरकि सुजान चोंत-चुहल महा बढ़ी।।

घनानन्द ने शास्त्रोपदिष्ट भावों के चित्रण में अधिक सतर्कता एवं तन्मयता नहीं दिखाई है, जबकि उनकी कविता में आन्तरिक व्यथा बेचैनी, आकुलता, आसक्ति, रीझ, वेदना, पीड़ा, लालसा आदि के बड़े ही रमणीय चित्र मिलते हैं, जिनमें घनानन्द सर्वथा अद्वितीय हैं। उदाहरण के लिए प्रिय को देखे बिना आँखों की कैसी दशा हो रही है, वे कहीं कुछ देखती नहीं, पुतलियाँ सदैव खड़कती रहती हैं, मूँदने पर और अत्यन्त व्याकुल होती हैं। ऐसी बेचैन एवं व्याकुल स्थिति का चित्र अङ्कित करते हुए घनानन्द ने आँखों की असाध्य व्याधि का कितना मार्मिक निरूपण किया है—

रूपनिधान सुजान लखें बिनु आँखिन दीठि की पीठि दई है।
ऊखल ज्यौं खरकै पुतरीन मैं सूल की मूल सलाक भई है ।।
ठौर कहूँ न लहै ठहरानि को मूँदै महा अकुलानि मई है।
बूढ़त ज्यौं घनआनन्द सोचि दई विधि व्याधि असाधि नई है ।।

(४) **रस-निरूपण**—घनानन्द ने मुख्यतया संयोग शृङ्गार, वियोग शृङ्गार एवं भक्ति का ही निरूपण किया है। इनमें से भी घनानन्द वियोग शृङ्गार के ही कवि हैं, वियोग के ही अद्वितीय चितेरे हैं और इनके काव्य में वियोग शृङ्गार का ही पूर्ण परिपाक अधिक मार्मिकता एवं सजीवता के साथ हुआ है। इसीलिए वे अपनी संजीवन-मूर्ति 'सुजान' के वियोग में रात-दिन व्यथित रहते हैं, सोने पर भी सो नहीं पाते, जगने पर जाग नहीं पाते, एक विचित्र-सी पीड़ा नित्य आँखों में रही आती है, अमृत विष तुल्य प्रतीत होता है, फूल शूल जैसे लगते हैं, चन्द्रमा अन्धकार उगलता जान पड़ता है, पानी सम्पूर्ण अंगों को जलाता है, राग-रागनियाँ अच्छी नहीं लगतीं, गुण दोषों में बदल गये हैं, औषधियाँ रोग पैदा करने वाली हो गई हैं और रस विरस जान पड़ते हैं। इस तरह 'सुजान' के मन फेर लेने से दिन भी फिर गये हैं और न जाने अब कैसे दिन बीतेंगे। 'घनानन्द' की इस व्यथा एवं पीड़ा में विप्रलम्भ शृङ्गार की कितनी मनोरम व्यंजना हुई है—

सुधा तें स्रवत विष, फूल मैं जमत सूल,
तम उगिलत चंदा, भई नई रीति है।
जल जारै अंग, और राग कर सुरभंग,
संपति विपति पारै, बड़ी विपरीत है ।।
महागुन गहै दोषै, औषधि हूँ रोग पोषै,
ऐसें जान! रस माँहि बिरस अनीति है।
दिनन को फेर मोहिं तुम मन फेरि डार्‌यो,
एहो घनआनन्द! न जानौं कैसे बीति है ।।

शास्त्रीय दृष्टि से वियोग शृङ्गार के चार भेद माने गये हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। परन्तु घनानन्द ने शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण नहीं किया है और इसी कारण इनके वियोग-वर्णन में सर्वत्र प्रिय के निर्मोह का ही प्राधान्य है। वैसे

खोजने पर इनकी कविता में पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण के भी उदाहरण मिल सकते हैं, किन्तु उनमें इतनी चारुता एवं भावाभिव्यंजकता नहीं है, जितनी 'निर्मोह-जन्य वियोग' में है। यही कारण है कि घनानन्द निर्मोह एवं निष्ठुरता से उत्पन्न वियोग-शृंगार के निरूपण में सर्वथा अद्वितीय रहे हैं।

घनानन्द ने संयोग शृंगार के भी सरस चित्र अंकित किए हैं, जिनमें उतनी सरसता एवं कथन-वक्रता तो नहीं है, जितनी वियोग-शृंगार के चित्रों में दिखाई देती है, फिर भी संयोग शृंगार के ये चित्र पर्याप्त मादक, मोहक एवं मनोरंजक हैं। इनमें से संयोग-सुख में लीन लजीली, रसीसी एवं लसीली नायिका का चित्र देखिए—

सुख-स्वेद-कनी मुखचंद बनी बिथुरी अजकावलि भाँति भली।
मद-जोबन रूप छकी अँखियाँ अवलोकनि आरस-रंग रली॥
घनआनँद ओपित ऊँचे उरोजनि चोज मनोज के ओज दली।
गति ढीली लजीली रसीली लसीली सुजान मनोरथ-बेलि फली॥

घनानन्द के काव्य में भक्ति-रस का भी पूर्ण परिपाक हुआ है। वैसे तो उज्ज्वल नीलमणि के अनुसार भक्ति-रस के अन्तर्गत ही घनानन्द के संयोग एवं वियोग-शृंगार को लिया जा सकता है, क्योंकि यहाँ 'सुजान' के रूप में श्रीकृष्ण या परमात्मा का ही निरूपण हुआ है, परन्तु घनानन्द ने स्वतन्त्र रूप से भी श्रीकृष्ण के प्रति अपनी उत्कृष्ट भक्ति प्रकट की है और वहाँ भक्ति-रस अपनी पूर्ण गरिमा के साथ प्रतिष्ठित है। जैसे—

भले हौ रसीले अरसीले सुनि हूजियै न,
    गुननि तिहारे उरझ्यौ है मन गाय गाय।
काननि सुनी है तैसें आँखिन हू देखैं जातें,
    दीखत नहीं औ सब ठाँव रहे छाय छाय॥
ऐसें घनआनँद अचंभे सौं भरे हौ भारी,
    खोए से रहत जित तित तुम्हें पाय पाय।
एक बास बसे सदा बालम बिसासी, पै न
    भई क्यौं चिन्हारि कहूँ हमैं तुम्हैं हाय हाय॥

(५) **सौंदर्य-चित्रण**—घनानन्द ने रूप-सौंदर्य के कितने ही अत्यन्त मनोहारी चित्र अंकित किये हैं, जिनमें अपनी प्राणप्रिया 'अलबेली सुजान' की विविध रूप-छवियाँ अत्यन्त माधुर्य एवं गाम्भीर्य के साथ विद्यमान हैं। घनानन्द ने इन रूप-चित्रों में आँख, नाक, कान, मुख, अंग-प्रत्यंग आदि को अलग-अलग दिखाने की उतनी प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती, जितनी कि उन्होंने सम्पूर्ण अंग की अतिशय रमणीयता एवं प्रभविष्णुता को दिखाने का प्रयास किया है। घनानन्द के इन सौंदर्य-चित्रों में सुजान का रूप, उसका लावण्य, उसका यौवन, उसकी छवि, उसकी कान्ति, उसकी अंग-दीप्ति

आदि मानो साकार हो उठी हैं और ये सभी चित्र गत्यात्मक सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं, जिनमें संश्लिष्टता है, मादकता है, अतिशयता है और सर्वाधिक भाव-प्रेषणीयता है। उदाहरण के लिए, गौर वर्ण वाली सुजान को श्याम रंग की साड़ी से सुशोभित करके कविवर घनानन्द ने उसके अंग-प्रत्यंग के लावण्य का कैसा मनोहारी चित्र अंकित किया है—

स्याम घटा लपटी थिर बीज कि सौहै अमावस-अंग उज्यारी ।
धूम के पुंज मैं ज्वाल की माल सी पै दृग सीतलता-सुखकारी ।।
कै छकि छायौ सिंगार निहारि सुजान-तिया-तन-दीपति प्यारी ।
कैसी फबी घनआनन्द चोपनि सों पहिरी चुनि साँवरी सारी ।।

ऐसे ही घनानन्द ने सुजान के नवयौवन-सम्पन्न अंग-लावण्य का और भी अधिक मादक एवं प्रभावोत्पादक चित्र इस प्रकार अंकित किया है—

अंगनि पानिप ओप खरी, निखरी नव जोवन की सुथराई ।
नैननि बोरति रूप के भौंर, अचम्भे भरी छतियाँ उथराई ।।
जान-महा-गरुवे-कुन मैं घन आनंद हेरि रत्यौ थुथराई ।
पैने कटाछनि ओज मनोज के बानन बीच बिधी मधुराई ।।

इतना ही नहीं, घनानन्द के रूप-सौन्दर्य की अतिशयता एवं समग्रता का चित्र अंकित करते हुए संश्लिष्ट रूप-छवि का कितना मोहक चित्रण किया है—

झलकै अति सुंदर आनन गौर, छके दृग राजति काननि ह्वै ।
हँसि बोलनि मैं छवि-फूलन की बरषा उर ऊपर जाति है ह्वै ।।
लट लोल कपोल कलोल करै, कलकंठ बनी जलजावलि द्वै ।
अँग-अँग तरंग-उठै दुति की, परि है मनौ रूप अबै धर च्वै ।।

इस प्रकार घनानन्द ने 'अंग-अंग' में से द्युति की तरंग उठने वाले पार्थिव रूप-सौन्दर्य को बड़ी तन्मयता एवं तत्परता के साथ शब्दों ढालकर अंकित किया है। घनानन्द के ये सौन्दर्य-चित्र उन्मत्त यौवन के मादक विम्ब हैं, गत्यात्मक अंग-लावण्य के मोहक चित्र हैं और कवि की सहृदयता, भावुकता एवं आसक्ति के परिचायक हैं। इन सभी सौन्दर्य-चित्रों की विशेषता यह है कि इनमें कवि की बाह्य सत्ता पर पड़े प्रभाव का वर्णन नहीं हुआ है, अपितु उसकी अन्तःसत्ता या अन्तःकरण पर पड़े प्रभाव का निरूपण हुआ है और यह प्रभाव अत्यन्त गहन, गम्भीर एवं स्थायी दिखाई देता है, जो पाठकों एवं श्रोताओं को भी सौन्दर्य-सागर में निमज्जित करने में पूर्ण समर्थ एवं सशक्त है।

(ख) घनानन्द का अभिव्यक्ति पक्ष—किसी कवि के अभिव्यक्ति-पक्ष से तात्पर्य उसकी उस वर्णन-पद्धति से है, जिसमें वह अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करता है। इसके लिए वह अनेक उपकरणों का सहारा लेता है और इन उपकरणों द्वारा कलात्मक ढंग से अपनी अनुभूति को वाणी प्रदान करता है। इसीलिए अभिव्यक्ति-पक्ष को कला-

पक्ष भी कहते हैं और इसके अन्तर्गत कला के वे सभी उपकरण आते हैं, जिनके माध्यम से अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है, अर्थात् भाषा, अलंकार, गुण, वृत्ति, शब्द शक्ति, छन्द आदि कला के सम्पूर्ण अवयवों का विवेचन अभिव्यक्ति-पक्ष के अन्तर्गत होता है। घनानन्द के कला-सौष्ठव को जानने के लिए उसके अभिव्यक्ति-पक्ष को सुविधा की दृष्टि से छः शीर्षकों में विभक्त कर सकते हैं—(१) भाषा, (२) शब्द-शक्ति, (३) अलंकार, (४) गुण, (५) रीति एवं वृत्ति तथा (६) छन्द।

(१) **भाषा**—घनानन्द ने ब्रजभाषा में अपनी सरस काव्य-धारा प्रवाहित की है। उनकी ब्रजभाषा में सर्वत्र स्वच्छता, एकरूपता एवं सुघड़ता के दर्शन होते हैं। घनानन्द ब्रजभाषा के अत्यन्त प्रवीण कवि थे। इसी कारण उनकी भाषा में भावों के अनुकूल चलने की अपूर्व शक्ति दिखाई देती है, वह नई-नई भंगिमाओं के द्वारा भावों को प्रस्तुत करने में बड़ी निपुण जान पड़ती है और उसका रचना-कौशल, कारीगरी तथा रूप-विधान सभी कुछ असाधारण एवं अद्वितीय जान पड़ता है। घनानन्द का भाषा पर इतना अधिक अधिकार दिखाई पड़ता है कि वह कवि की वशवर्तिनी होकर उनके इशारे पर नाचती है, उनके कहने पर चलती है और उनके आदेश पर कार्य करती है। ऐसा जान पड़ता है कि घनानन्द ब्रजभाषा की नाड़ी पहचानते थे, उसके निश्चित प्रयोगों को जानते थे और उसकी नस-नस से परिचित थे। इसी कारण घनानन्द ने बड़ी स्वच्छता एवं सुन्दरता के साथ ब्रजभाषा का प्रयोग किया है, उसके एक-एक शब्द की स्थापना की है और उसे अपने अभीष्ट लक्ष्य की पूर्ति के लिए गति प्रदान की है। ब्रजभाषा पर ऐसा असाधारण अधिकार अन्य किसी हिन्दी-कवि का दिखाई नहीं देता। घनानन्द की भाषा प्रकृत्या साफ-सुथरी और अत्यन्त निखरी है तथा उसमें भावों के निरूपण की अनन्त शक्ति भरी हुई है।

घनानन्द ने प्रायः ठेठ ब्रजभाषा के शब्दों का ही अधिक प्रयोग किया है। जैसे—सल (पता), पैछर (पैर की आवाज), औटपाय (उपद्रव), न्याय (चारा), सौंज, चुहल, भभक, औंड़ी, सर्‌यो, बघूरा (बवंडर), तेह (क्रोध) आदि। ये शब्द आज भी ब्रज-प्रदेश में इसी रूप में प्रचलित हैं। इनके अतिरिक्त कुछ नये शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। जैसे—अखिल (अपरिचित), ऊठ (उठान), गरैठीं (टेढ़ी), निरैठी (मस्त), डवा (थैला), करौटनि (पत्तों की छतरी), मरक (खिंचाव), अझूनो (आग), सवादिली (स्वादिष्ट), खिजौं (समझना), ऊक (लुकना), चाड़ (उत्कंठा) आदि। इन नूतन शब्दों के प्रयोग ने भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति को बढ़ाने का ही प्रयास किया है।

घनानन्द की भाषा में उक्ति-चमत्कार अत्यधिक भरा हुआ है। इसके लिए घनानन्द ने ऐसी-ऐसी मार्मिक उक्तियों की योजना की है कि उन्हें पढ़ते ही चित्त फड़क उठता है, क्योंकि भावों की अभिव्यंजना में वे उक्तियाँ अधिक योग देती हुई दिखाई देती हैं। जैसे—

(क) तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ लला मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं ।
(ख) काहू कलपाय है सु कैसें कल पाय है ।
(ग) मति दौरि थकी न लगै ठिक ठौर, अमोही के मोह-मिठास ठगी ।
(घ) प्यास भरी बरसैं तरसैं मुख देखन को अँखियाँ दुखहाई ।

इस प्रकार घनानन्द की भाषा में उक्ति-वैचित्र्य एवं अर्थ-गांभीर्य अत्यधिक मात्रा में विद्यमान है, वह अलौकिक चमत्कार से परिपूर्ण है और उसमें भावों के चित्रण करने की अद्भुत क्षमता है। इतना ही नहीं, उसमें कान्ति है, माधुर्य है, सौन्दर्य है और सबसे अधिक भाव-सापेक्षता है।

(२) **शब्द-शक्ति**—शब्द की तीन शक्तियाँ होती हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। जिनमें ये शक्तियाँ होती हैं, वे शब्द भी तीन प्रकार के होते हैं—वाचक, लक्षक और व्यंजक। ऐसे ही इनके अर्थ भी तीन प्रकार से होते हैं—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ। घनानन्द के काव्य में लक्षक तथा व्यंजक शब्दों एवं लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ की प्रधानता है। घनानन्द ने सबसे अधिक उक्ति-वैचित्र्य का सहारा लिया है। इसलिए इनके काव्य में अभिधा की अपेक्षा लक्षणा एवं व्यंजना शक्तियों का प्राधान्य है। घनानन्द की उक्तियों में सर्वाधिक लक्ष्यार्थ की बहुलता है। इसी कारण इनका काव्य लक्षणा-प्रधान माना जाता है। कविवर घनानन्द ने उ चमत्कार के लिए, भावों को गहन बनाने के लिए तथा सरसता उत्पन्न करने के लिए ही लाक्षणिक प्रयोगों को अधिक अपनाया है। जैसे :—

(क) मति दौरि थकी न लगै ठिक ठौर अमोही के मोह-मिठास ठगी ।
(ख) जान प्यारे गुननि तिहारे गहि बोरी हौं ।
(ग) अलबेली सुजान के कौतुक पै इत रीझि इकौसी ह्वै लाज थकै ।
(घ) मीत सुजान अनीत की पाटी इतै पै न जानियै कौनें पढ़ाई ।

उक्त लाक्षणिक प्रयोगों के अतिरिक्त घनानन्द के काव्य में व्यंजक शब्दों की भी अधिकता है और इसी कारण उसमें व्यंग्यार्थ भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। उदाहरण के लिए 'कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवानि हूँ लै बरसौ' इस पंक्ति में घनानन्द ने बादल से यह कहा है कि "हे बादल! कभी मेरे आँसुओं को ले जाकर उस विश्वासघाती सुजान के आँगन में बरसा दो।" इसमें व्यंग्यार्थ यह छिपा हुआ है कि यदि मेरे आँसुओं की वर्षा मेरे प्रिय के सामने उसके आँगन में होगी, तो उसे यह ज्ञात हो जायेगा कि उसका प्रेमी रात-दिन उनके वियोग में रोता रहता है, आँसू बहाता रहता है और वह सच्चा प्रेमी है। इसीलिए उसके वियोग को दूर करने के लिए अथवा उससे मिलने के लिए वह प्रिय अवश्य आ जायेगा। ऐसे ही आँखों की अत्यन्त आर्त स्थिति का चित्रण करते हुए कवि ने उन्हें रात-दिन पागल होकर अपने प्रिय की प्रतीक्षा में प्रातः से सायं तक और सायं से प्रातः तक टकटकी लगाये, प्रिय की बाट जोहते हुए अंकित किया है। कवि के इस कथन में व्यंग्यार्थ यह है कि प्रेमी अपने प्रिय के वियोग में

भयंकर पीड़ा का अनुभव कर रहा है। इसी व्यंग्यार्थ को बतलाने के लिए कवि कह रहा है—

भोर तें साँझ लौं कानन-ओर निहारति बावरी नेकु न हारति।
साँझ तें भोर लौं तारनि ताकिबो तारनि सों इकतार न टारति॥
जौ कहूँ भावतो दीठि परै घनआनन्द आँसुनि औसर गारति।
मोहन-सोंहन जोहन की लगियै रहै आँखिन के उर आरति॥

(३) **अलंकार**—काव्य में अलंकारों का प्रयोग भी कथन में चारुता एवं भव्यता लाने के लिए होता है। इसीलिए अलंकारों को कथन की प्रणाली बतलाया गया है, भावों को तीव्रता प्रदान करने वाली अप्रस्तुत-योजना कहा गया है और वस्तुओं के रूप; गुण एवं क्रिया को अधिक तीव्र गति से अनुभव कराने वाली युक्ति बताया गया है। निस्सन्देह, अलंकारों के दो ही प्रमुख कार्य होते हैं—एक तो वे भावों का त्कर्ष दिखाया करते हैं और दूसरे वे वस्तुओं के रूपानुभव, गुणानुभव और क्रियानुभव ो तीव्रता प्रदान किया करते हैं। परन्तु अलंकारों का यह कार्य वहीं देखा जाता है ाँ काव्य में सरसता होती है और भावों की सजीवता होती है। जहाँ काव्य में रस भाव नहीं होते, वहाँ अलंकार न तो काव्य को अधिक उत्कर्ष प्रदान कर सकते हैं र न अनुभव की तीव्रता ही उत्पन्न कर सकते हैं। घनानन्द के काव्य में जहाँ रस [illegible]वों का [illegible]क्य है वहाँ अलंकारों ने उन्हें और भी अधिक सजीवता एवं [illegible] घनानन्द ने दोनों प्रकार के अलंकार अपनाये हैं; यहाँ [illegible] हैं और अर्थालङ्कार भी। शब्दालङ्कारों में से निम्नलिखित प्रमुख [illegible]ते हैं जो चमत्कार के साथ-साथ भावोत्कर्ष में भी सहायक हुए हैं—

[illegible]नुप्रास—कारी कूर कोकिला कहाँ को बैर काढ़ति री,
कूकि-कूकि अबहीं करेजो किन कोरि लै।

श्लेष—(क) घन आनन्द जीवनदायक हौ कछू मेरियौ पीर हियै परसौ।
(घन आनँद=आनन्दघन और आनन्द के बादल। जीवन=जिन्दगी और जल)
(ख) जगत के प्रान ओछे बड़े सों समान।
(प्रान=प्राण और वायु)

यमक—(क) काहू कलपाय है सु कैसें कल पाय है।
टारैं टारैं नहीं तारे कहूँ सु लगे मन मोहन मोह के तारे।

इसी तरह विविध अर्थालङ्कारों की योजना करके घनानन्द ने अपनी अभिव्यक्ति में कलात्मकता, उत्कर्षता, तीव्रता एवं प्रभावोत्पादकता की वृद्धि की है। जैसे—

उपमा—(क) चातक-लौं चाहै घनआनँद तिहारी ओर।
(ख) झरैं अँखियाँ दुखियाँ झरना-सी।

उत्प्रेक्षा—अँग-अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै।

सांगरूपक—नीके नए अति जी के लगौं हैं सुधारे हैं तून प्रसून के सायक।
चौगुनी चोपनि तैसोई चाप चहौंरि दै हाथ सज्यो भटनायक ॥
पौन-तरंग चढ्यौ बनि यों वनितानि अहेरैं कढ्यौ दुखदायक।
हौ घनआनँद जान कहाँ रितुराज भयौ रतिराज-सहायक ॥

विरोधाभास—हाय सनेही सनेह सौं रूखे, रुखाई सों ह्वै चिकने अति सो हौ।
आपुनपौ अरु आप हू तें करि हाते हतौ घनआनँद को हौ ॥
कौन घरी बिछुरे हौ सुजान सु एक घरी मन तें न बिछोहौ।
मोह की बात तिहारी अमूझ पै मो हिय कों तौ अमोहियौ मोहौ।

दृष्टान्त—चद चकोर की चाह करैं, घनआनँद स्वांति पपीहा कों धावै।
त्यों त्रसरेनि के ऐन बसै रवि, मीन पै दीन ह्वै सागर आवै ॥

विभावना—नीर भीज्यौ जीव तऊ गुड़ी लौं उड़्यौ रहे।

परिकरांकुर—[illegible]हिं देह कों धारि फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ

अनन्वय—[illegible]सुजान समान न आन कहा कहौ आपु ते आपु लसै

सन्देह—अंतर [illegible] अन्त रहौ।

प्रतीप—तेरे आगें चन्द्रमा कलंक सो लगत है।

व्यतिरेक—देखें अनदेखें तहीं अटक्यौ आनन्दघन,
ऐसी गति कहौ कहा चुम्बक औ लोह की।

यथासंख्य—बिछुरैं मिलैं मीन पतंग दसा कहा मो जिय की।

असंगति—नैनन में लागै जाय, जागै करेजे बीच,
या बस ह्वै जीव धीर होतें लोट-पोट है।

अर्थान्तरन्यास—मोहि तुम एक तुम्हें मो सम अनेक आहिं,
कहा कछू चन्दहिं चकोरन की कमी है।

अपह्नुति—जारत अंग अनंग की आँचनि जोन्ह नहीं सु नई अगि लाई।

तद्गुण—दसन दमक फैलि हियें मोती माल होति।

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि घनानन्द ने अपनी भाव-भंगिमा एवं कथन-पद्धति को अधिकाधिक अलंकृत, सुसज्जित एवं चमत्कृत बनाने के लिए रूपक, उपमा, विरोधाभास आदि अलंकारों का अत्यधिक प्रयोग किया है। उनके अलंकार-प्रयोगों में अनोखापन है, नवीनता है, अद्भुत कौशल है और असाधारण सूझ-बूझ है। घनानन्द की अप्रस्तुत-योजना में इसीलिए सर्वत्र भावों के उत्कर्ष का विधान दृष्टिगोचर होता है। गुणानुभव की भव्यता का दर्शन होता है और क्रियानुभव की तीव्रता का दर्शन होता है। निस्सन्देह घनानन्द की अलंकार-योजना केवल चमत्कार एवं कौतूहल उत्पन्न करने वाली नहीं है, अपितु भावों के उत्कर्ष में सहायक सिद्ध हुई है और अभिव्यक्ति को अधिकाधिक प्रभावोत्पादक बनाने में समर्थ एवं सशक्त रही है।

(४) **गुण**—काव्य के तीन प्रमुख गुण माने गए हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। माधुर्य गुण अन्तःकरण को आनन्द से द्रवीभूत करने वाला होता है, ओज गुण

चित्त में स्फूर्ति उत्पन्न करने वाला होता है और प्रसाद गुण श्रवण मात्र से काव्य की शीघ्र अर्थ-प्रतीति कराने वाला होता है। साहित्य-शास्त्रियों ने अलंकारों को काव्य के अस्थिर धर्म और गुण को स्थिर धर्म कहा है, क्योंकि अलंकारों के बिना भी काव्य-रचना हो सकती है, किन्तु गुणों के बिना काव्य-रचना नहीं होती। यदि कोई काव्य बिना किसी गुण के रचा भी जाता है तो वह निर्जीव, नीरस एवं निरर्थक होता है। घनानन्द के काव्य में सर्वत्र माधुर्य गुण की प्रधानता है, क्योंकि माधुर्य गुण की अनुभूति सर्वाधिक विप्रलम्भ शृंगार अथवा विरह-निरूपण में होती है और घनानन्द ने सबसे अधिक विरह का ही वर्णन किया है। अतः घनानन्द के विरह-व्यंजक पदों में सर्वत्र चित्त को द्रवीभूत करने की अपार सामर्थ्य भरी हुई है और इसी कारण उनमें माधुर्य गुण अपनी पूर्ण गरिमा एवं महिमा के साथ प्रतिष्ठित है। यथा—

रैन दिना घुटिबौ करैं प्रान झरैं अँखियाँ दुखियाँ झरना सी ।
प्रीतम की सुधि अन्तर मैं कसकै सखि ज्यौं पँसरीन में गाँसी ।।
चौचँदचार चबाइन के चहुं ओर मचैं बिरचैं करि हाँसी ।
यों मरियै भरियै कहि क्यों सु परौ जनि कोऊ सनेह की फाँसी ।।

(५) रीति एवं वृत्ति—काव्य-रचना के लिए वैदर्भी, गौड़ी एवं पांचाली नामक रीतियाँ एवं उपनागरिका, परुषा एवं कोमला नामक तीन वृत्तियाँ मानी गई हैं। [illegible] में से वैदर्भी रीति में माधुर्य गुण-व्यंजक पदावली से सम्पन्न उपनागरिका वृत्ति होती है, गौड़ी रीति के अन्तर्गत ओज प्रकाशक वर्णों से समन्वित आडम्बरपूर्ण बन्ध की परुषा वृत्ति होती है और पांचाली रीति के अन्तर्गत पंचम वर्ण भरी कोमल-कान्त- [illegible] से युक्त कोमला वृत्ति होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि घनानन्द के काव्य में माधुर्य गुण-व्यंजक पदावली की बहुलता होने के कारण जहाँ एक ओर वैदर्भी रीति एवं उपनागरिका वृत्ति विद्यमान है, वहाँ दूसरी ओर कोमल-कान्त पदावली का प्राधान्य होने के कारण पांचाली रीति एवं कोमलावृत्ति भी विद्यमान है। घनानन्द की रचना-शैली मधुर एवं कोमल है तथा उसमें विप्रलम्भ-शृंगार की बहुलता होने के कारण ऐसे शब्दों की अधिकता है, जिसमें ट, ठ, ड, ढ वर्ण नहीं हैं, अधिकांश शब्द सानुस्वार हैं और माधुर्य गुण-व्यंजक हैं। जैसे—

(क) मीन-कंज-खंजन-कुरंग-मान-भंग करैं,
सींचैं घनआनँद खुले सँकोच सों मढ़ें।

(ख) पिय अंग संग घनआनँद उमंग हिय,
सुरति-तरंग रस-निवस उर-मिलौनि।

(ग) अंजन-अंजित श्री घनआनन्द मंजु महा उपमानि हूँ ओपैं ।

(घ) अंग-अंग अन्तर-उमंग-रंग भरि भारी,
बांढ़ी चोप चुहल की हिय मैं हरबरी ।

ऐसे ही कोमल-कान्त पदावली का बाहुल्य होने के कारण घनानन्द के काव्य में पांचाली रीति एव कोमलावृत्ति का स्वरूप भी दृष्टिगोचर होता है—

(क) घनआनँद ओपित ऊँचे उरोजनि चोज मनोज के ओज दली ।
गति ढीली लचीली रसीली लसीली सुजान मनोरङ्ग-बेल चली ॥

(ख) लट लोल कपोल कलोल करै, कलकण्ठ बनी जलजावलि द्वै ।
अँग-अङ्ग तरङ्ग उठै दुति की, परिहै मनौ रूप अवै धर च्वै ॥

(ग) रैन-दिन-चैन को न लेस कहुँ पैये, भाग
आपने ही ऐसे, दोष काहि कौं लगाइये ।

(घ) एरे वीर पौन ! तेरो सबै ओर गौन, वारी
तोसो और कौन, मन ढरकौंही वानि दै ।

(६) **छन्द**—काव्य का छन्द से नित्य सम्बन्ध तो नहीं है, क्योंकि बिना छन्द-बंध के भी काव्य-रचना होती है, किन्तु छन्द से काव्य में एक ऐसी प्रभविष्णुता जाती है, जिससे काव्य पाठकों एवं श्रोताओं के हृदय में उतरता चला जाता है और उनका कंठहार बन जाता है । काव्य में चारुता एवं भव्यता लाने के लिए छन्द अनधिक सहयोग देता है और काव्य को सहृदय-संवेद्य बनाने में भी छन्द का बहुत हाथ रहता है, क्योंकि छन्द के आरोह-अवरोह की मधुर लय [illegible] तानें कर्ण-कुहरों के माध्यम से मन और हृदय तक पहुँचती हैं तब श्रोताओं का मन अनायास थिरकने लगता है तथा उनका हृदय सहसा नाचने लगता है । छन्द की यह अपरिहार्य विशेषता सर्वमान्य है । यही कारण है कि छन्द-बद्ध कविताएँ जितना अपना स्थायी प्रभाव स्थापित करती हैं, उतनी छन्द-मुक्त कविताएँ न तो स्थायी प्रभाव [illegible] पाती हैं और न श्रोता एवं पाठकों की हृदय-सत्ता पर अपना सहज अधिकार जमाने में ही समर्थ होती हैं । घनानन्द का सारा काव्य छन्द की रस-माधुरी से ओतप्रोत है, उसमें प्राणों का संगीत भरा हुआ है और वह कवि की हृदय-वीणा के तारों की मधुर झंकार से झंकृत है । कविवर घनानन्द ने अपने अनियन्त्रित उद्‌गारों को नियन्त्रित करके तथा प्रेम के असीम भावों को ताल - और लय-युक्त छन्दों में ससीम करके ही अपनी संगीतभरी कविता का निर्माण किया है ।

घनानन्द की छन्द-रचना पर विचार करने से ज्ञात होता है कि घनानन्द ने विविध प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है । जैसे—सवैया, कवित्त, त्रिलोकी; ताटंक, निसाती, सुमेरु, शोभन, त्रिभंगी, दोहा, चौपाई तथा घनाक्षरी पद । इनमें से घनानन्द ने मुख्यतया सवैया एवं कवित्त छन्दों का प्रयोग अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से किया है । घनानन्द के सवैया तो हिन्दी-जगत् में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं और उन्हें सवैया छन्द का सिरताज कहना सर्वथा समीचीन ज्ञात होता है । उनके छन्दों का स्वरूप इस प्रकार मिलता है—

(क) **सवैया**—घनानन्द ने विविध प्रकार के सवैया छन्द का प्रयोग किया है ।

इसके विविध भेदों में से, घनानन्द के काव्य में दुर्मिल, मत्तगयंद, किरीट, अरसात और मुक्तहरा भेद अधिक मिलते हैं।—

दुर्मिल सवैया—इनमें आठ सगण होते हैं तथा २४ वर्ण होते हैं। घनानन्द ने इस सवैया का बड़ा सजीव प्रयोग किया है।

पहिलें/घन आ/नँद सीं/चि सुजा/न कहीं/बतियाँ/अति प्या/र पगी।
सगण सगण सगण सगण सगण सगण सगण सगण

मत्तगयंद सवैया—इसमें सात भगण तथा अन्त में दो गुरु होते हैं और २३ वर्ण होते हैं। घनानन्द ने इस छन्द का प्रयोग भी बड़ी सुन्दरता के साथ किया है। जैसे—

रैन दि/ना घुटि/बौ कर/प्रान झ/रें अँखि/याँ दुखि/याँ झर/ना सी।
भगण भगण भगण भगण भगण भगण भगण ऽ ऽ

किरीट सवैया—इसमें केवल आठ भगण होते हैं और कुल २४ वर्ण होते हैं। घनानन्द ने इसका भी प्रयोग बड़ी सरसता के साथ किया है। जैसे—

सोहन/सोहन/जोहन/की लगि/यै रहि/आँखिन/के उर/आरति।
भगण भगण भगण भगण भगण भगण भगण भगण

अरसात सवैया—इसमें सात भगण और अन्त में एक रगण होता है और न २४ वर्ण होते हैं। घनानन्द ने इस छन्द का प्रयोग भी बड़ी मार्मिकता के साथ [illegible] जैसे—

[illegible]/आनँद/बावरीं/रीझ के/हाथनि/हारियै।
भगण भगण भगण भगण भगण भगण भगण रगण

[illegible]हरा सवैया—इसमें आठ जगण होते हैं और कुल मिलाकर २४ वर्ण होते है [illegible] ने इस छन्द का प्रयोग भी बड़ी तन्मयता के साथ किया है। जैसे—

नई सु/धि अंग/भई स/ति पंग/नई क/छु बात/जताव/तिहीं न।
जगण जगण जगण जगण जगण जगण जगण जगण

(ख) **कवित्त**—घनानन्द ने कवित्तों का प्रयोग भी अत्यन्त मधुरता के साथ किया है। उनके काव्य में कवित्त के दो भेद मिलते हैं—मनहरण कवित्त और घनाक्षरी कवित्त।

मनहरण कवित्त—इसमें १६ और १५ वर्णों के विराम से प्रत्येक चरण में ३१ वर्ण होते हैं और अन्त में गुरु आता है। जैसे—

जासों प्रीति ताहि निठुराई सों निपट नेह, (१६ वर्ण)
कैसें करि जिय की जरनि सो जताइयै। (१५ वर्ण और अन्त में गुरु)

घनाक्षरी कवित्त—इसमें १६ और १६ वर्णों के विराम से प्रत्येक चरण में ३२ वर्ण होते हैं और अन्त में लघु आता है। जैसे—

भले ही रसीले अरसीले सुनि हूजियै न, (१६ वर्ण)
गुननि तिहारे उरझ्यौ है मन गाय गाय। (१६ वर्ण और अन्त में लघु)

(ग) त्रिलोकी—इस छन्द के प्रत्येक चरण में ८ और १३ मात्राओं तथा ११ और १० मात्राओं के विराम से २१, २१ मात्राएँ होती हैं। इसकी पहली पंक्ति में ८ और १३ की यति होती है और दूसरी पंक्ति में ११ और १० की यति होती है। घनानन्द ने 'इश्कलता' में इसी छन्द का प्रयोग किया है। इसे अरिल्ल भी कहते हैं। जैसे—

सजन सलोना/यार नंददा सोहना =८+१३ मात्राएँ
रसिक बिहारी छैल/मुमनमथ मोहना =११+१० मात्राएँ

(घ) ताटंक—इस छन्द में १६ और १४ की यति से प्रत्येक चरण में ३० मात्राएँ होती हैं। घनानन्द ने 'इश्कलता' में इस छन्द का भी प्रयोग किया है। इसे लावनी छन्द भी कहते हैं। जैसे—

नंद महर दा कुँवर कन्हैया/मैंडा जीवन जानी है=१६+१४ मात्राएँ
बिसरै नहीं रैनदिन जी से/प्यारा प्रीतम प्रानी है=१६+१४ मात्राएँ

(ङ) निसानी—इसमें १३ और १० की यति से प्रत्येक चरण में २३ मात्राएँ होती हैं। इसके अन्त में दो गुरु होते हैं। इसे उपमान छन्द भी कहते हैं। घनान[illegible] ने 'इश्कलता' में इस छन्द का भी प्रयोग किया है—

क्या कहियै ब्रज मोहना/ तू मानै नाहीं =१३+१० मा[illegible]
तू ही जानेगा अबे/ अपने दिल माहीं =१३+१० [illegible]

(च) सुमेरु—इसमें १२ और ७ अथवा १० और ९ की यति [illegible] में १९ मात्राएँ होती हैं। यह छन्द विरह-भाव के लिए अत्यन्त प्रयुक्त [illegible] घनानन्द ने 'वियोग-बेलि' में इसी छन्द का प्रयोग किया है। जैसे—

सनेही हौ तुम्हें सब/गाँव जानै =१२+७ मात्राएँ
सबै मिलि रावरे/गुन कौं बखानै =१०+९ मात्राएँ

(छ) शोभन—इसमें १० और १४ की यति से प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ होती हैं और अन्त में जगण होता है। घनानन्द ने 'गोकुल-विनोद' में इसी छन्द का प्रयोग किया है। जैसे—

लसत विलसत रहत/नित्त गोपाल लाल अनूप =१०+१४ मात्राएँ
नंद जसुमति प्रान/ब्रज-जन-नैन-उत्सव रूप =१०+१४ मात्राएँ

(ज) त्रिभंगी—इसमें १०, ८, ८ और ६ की यति से प्रत्येक चरण में ३२ मात्राएँ होती हैं। अन्त में एक गुरु होता है। परन्तु घनानन्द ने १६-१६ की यति से इस छन्द का प्रयोग किया है। जैसे—

कहाँ जाहि अरु कहैं कहा अब/तुम तौ पिय सब गतिनि थकाई।
१६ मात्राएँ १६ मात्राएँ

(झ) दोहा—इसमें प्रथम और तृतीय चरण में १३-१३ और द्वितीय तथा

चतुर्थ चरण में ११-११ मात्राएँ होती हैं। घनानन्द ने दोहा छन्द का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में किया है। जैसे—

दान घटा मिलि छवि छटा/रसधारनि सरसाय = १३ + ११ मात्राएँ
जियत पियत और न छियत/रसिक-पपीहा पाय = १३ + ११ मात्राएँ

(ट) **चौपाई**—इसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती है, किन्तु जिसमें १५ मात्राएँ होती हैं उसे चौपाई छन्द कहते हैं। घनानन्द ने 'सरस-वसंत', 'अनुभवचंद्रिका', '[illegible]ग-वधाई', 'प्रेम-पद्धति', 'वृषभानुपुर-सुषमा-वर्णन', 'गोकुल-गीत', 'नाम-माधुरी', 'विचार-सार', 'भावना-प्रकाश', 'ब्रज-स्वरूप' आदि की रचना अधिकतर चौपई एवं चौपाई छन्द में की है। जैसे—चौपाई छन्द; जिसमें १६ मात्राएँ होती हैं—

जब लखियै तब तब मन भायौ। ब्रज भीजन चौमासौ आयौ ।।

चौपई छंद, जिसमें प्रत्येक चरण में १५ मात्राएँ होती हैं—

राधा मोहन-जोट अनूप। अमल अमंद अपूरब रूप ।।

(ठ) **पद**—घनानन्द ने अपनी पदावली का निर्माण छोटे-छोटे गेय घनाक्षरी पदों में किया है। ये सभी पद रामकली, भैरव, सारंग, विलावल, कान्हरी, टोढ़ी, सावरी, विहागरी, गौरी, गंधार, कल्यान आदि विविध राग-रागनियों से परिपूर्ण । उदाहरण के लिए शुद्ध कल्याण राग में लिखे हुए घनानन्द के इस पद को देखिए—

[illegible] चुनि चोंदनि सों सोंधें सँवारी सूही ।
[illegible] अनुराग रंग को ओप बढ़ी जु कछू ही ।।
[illegible] बदन पर अलक झलक आछी उर बरमाला जाही जूही ।
आ[illegible]न पिय कें रस भीजी रीझनि भरत भटूही ।।

[illegible] है कि घनानन्द की कविता विविध प्रकार के कलात्मक सौन्दर्य से ओतप्रोत है; उसमें जितनी अनुभूति है, उतनी ही गहन अभिव्यक्ति भी है। घनानन्द ने जिस तन्मयता एवं तल्लीनता के साथ अपनी प्रेमानुभूति, विरह-भावना, सौन्दर्य-माधुरी, भक्ति-भावना आदि की अभिव्यंजना की है, उसी तत्परता के साथ लाक्षणिक, विरोधमूलक एवं प्रयोग-वैचित्र्यमयी ब्रजभाषा का प्रयोग करते हुए अपनी उत्कृष्ट कला का भी परिचय दिया है। इसी कारण घनानन्द ब्रजभाषा के उत्कृष्ट कवि हैं, उनके काव्य में सहज भावों का सहज उद्रेक है और उनकी कला में उक्ति-वैचित्र्य एवं अर्थ-गांभीर्य के साथ-साथ कल्पनारंजित अभिनव सौंदर्य विद्यमान है।

घनानन्द का भाषा-सौष्ठव

भाषा भावाभिव्यक्ति का प्रमुख साधन है। हृदयस्थ भावों का सहज उद्रेक भाषा के द्वारा ही व्यक्त होता है। यदि भाषा न होती, तो न जाने कितनी भाव-निधियाँ हृदयों के महोदधि में अज्ञात, अस्पर्श एवं अछूती पड़ी रह जातीं। भाषा ने ही विविध भावों से मानवों को परिचित कराया है, उसी ने मनोगत स्थितियों का ज्ञान कराया है, उसी ने हृदय-कोष में विद्यमान विविध अनुभूति-रत्नों का साक्षात्कार कराया है, उसी ने बुद्धि के भण्डार में संचित विचार-मणियों के चाकचक्य से मानवों

को चमत्कृत किया है, उसी ने चित्तवृत्तियों के चित्रों का सौन्दर्य प्रकट किया है, उसी ने विविध उक्ति-वैचित्र्यों के गांभीर्य का सहज पता बताया है और उसी ने दूरारूढ़ कल्पना की मूर्तिमत्ता के माधुर्य को व्यक्त करके जन-मानस को आनन्दोल्लास से पूर्ण किया है। इसीलिए भाषा मानव के जीवन की चिर सहचरी है, उसकी आशा-आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करने वाली चिर साधिका है, उसके हास-विलास की चिर संगिनी है और उसके हृदयस्थ रसानुभूतियों के भण्डार की चिर कुंजी है। भाषा ही मौन भावों को मुखरित बनाती है, भाषा ही मूक अनुभूतियों को वाणी प्रदान करती है और भाषा ही प्रतिभा की प्रभूत ज्ञान-राशि को शब्दों का आकार देकर सर्वजनसुलभ बनाया करती है। अतः भाषा संचित ज्ञान-राशि की अभिव्यंजना-शक्ति है, जीवन की मार्मिक अनुभूतियों को रागात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली सहज वाणी है और भावना एवं कल्पना के शब्द-चित्रों को अंकित करने वाली चतुर चितेरी है।

कविवर घनानन्द की भावना, कल्पना एवं अनुभूति को सहज रूप प्रदान करने का श्रेय उनकी भाषा को ही है। घनानन्द ने व्रजभाषा में अपने काव्य की रचना की है और वह व्रजभाषा उनकी सहज वशवर्तिनी होकर उनके भावों के अनुकूल चली उनकी उक्तियों के साथ-साथ गतिशील हुई है और उनकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द एवं स्वावलम्बी होकर अभिव्यक्ति का साधन बनी है। इसी कारण अधिकांश विद्वानों ने घनानन्द की भाषा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। श्रीयुत [illegible] ने [illegible] 'व्रजभाषा-प्रवीन' की उपाधि से विभूषित किया है।[1] आचार्य [illegible] शुक्ल ने घनानन्द की भाषा की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था वैसा और किसी कवि का नहीं। भाषा मानो इनके हृदय के [illegible] वशवर्तिनी हो गई थी कि ये उसे अपनी अनूठी भाव-भंगी के साथ-साथ [illegible] चाहते थे उस रूप में मोड़ सकते थे।" इतना ही नहीं, आचार्य शुक्ल ने तो यहाँ तक लिखा है कि "अपनी भावनाओं के अनूठे रूप-रंग की व्यंजना के लिए भाषा का ऐसा वेधड़क प्रयोग करने वाला हिन्दी के पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ। भाषा के लक्षक और व्यंजक बल की सीमा कहाँ तक है, इसकी पूरी परख इन्हीं को थी।"[2] आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है कि "वे 'फारसी-प्रवीण' थे। उन्होंने फारसी में एक मसनवी भी लिखी है, पर वे व्रजभाषा प्रवीण भी थे। व्रजभाषा के प्रयोगों के आधार पर नूतन वाग्योग संघटित कर लेने के लिए भाषा-प्रवीण भी थे। घनानन्द के प्रयोग व्रजभाषा के प्रयोग तो हैं ही, नवीन प्रयोग भी एकदम नए नहीं हैं, व्रज के प्रवाह के अनुकूल गढ़े हुए हैं।"[3] डा० मनोहरलाल गौड़ ने भी लिखा है कि "आनंदघनजी की भाषा में नागरिक साहित्यिकता, मुहावरों की व्यावहारिक सजीवता तथा व्याकरण-व्यवस्था का ऐसा

---

[1] नेही महा व्रजभाषा-प्रवीन औ सुन्दरतानि के भेद कौं जानै।
—बैजनाथ प्रशस्ति

[2] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ३३९।

[3] घनानन्द और स्वच्छन्द काव्य-धारा, पृ० ११।

अपूर्व संयोग हुआ है कि इनके सिवाय उस समय के अन्य कवि की भाषा में वह नहीं दृष्टिगोचर होता है।"[1] डा० कृष्णचन्द्र वर्मा ने भी घनानन्द की भाषा के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है कि "उनकी भाषा का स्वरूप साहित्यक होते हुए भी ठेठ ब्रज के लोक-प्रयुक्त स्वरूप का माधुर्य लिए हुए है, साथ ही उनके निजी व्यक्तित्व का सौन्दर्य, बाँकपन, माधुर्य आदि भी उसमें समा गया है। ब्रज-प्रदेश में बहुत काल तक रहने के कारण उनकी भाषा पर ठेठ ब्रजभाषा का भी प्रभाव पड़ा है। नितान्त निजी भाषा का प्रयोग उनमें मिलता है, जैसा किसी भी दूसरे कवि में नहीं मिलता। ब्रजभाषा के उच्चतम प्रयोक्ताओं में उनका नाम लेना पड़ेगा।"[2] इस प्रकार विभिन्न विद्वानों के विचारों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि घनानन्द की भाषा नितान्त अनूठी एवं अनुपम है। उसमें कवि के निजी व्यक्तित्व की छाप अलग दिखाई देती है और वह अपने प्रयोग-वैचित्र्य एवं नूतन रचना-विधान के कारण अन्य सभी कवियों से श्रेष्ठ जान पड़ती है। अतएव सुविधा की दृष्टि से यदि घनानन्द की भाषागत विशेषताओं को शीर्षकों में विभाजित करें तो इस प्रकार कर सकते हैं—
(१) लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, (२) चित्रोपमता, (३) भावानुकूलता, (४) नादात्मकता, (५) वक्रोक्तिमूलकता, (६) सामासिकता, (७) द्वयर्थकता, (८) प्रयोग-वैचित्र्य, (९) उक्ति वैचित्र्य, (१०) विरोधमूलक-वैचित्र्य, (११) अर्थ-गांभीर्य, (१२) मुहावरों [illegible], (१३) जनपदीय शब्द-माधुर्य, (१४) शब्द-मैत्री तथा (१५) शब्द-लोच।

(१) लाक्षणिक मूर्तिमत्ता—घनानन्द की भाषा में सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि उन्हों[illegible] क्षणा का सहारा लेकर ऐसे-ऐसे सजीव शब्द-चित्रों का निर्माण किया है, जिन[illegible]त्मक सौन्दर्य के साथ-साथ संश्लिष्टता है और भाव, क्रिया एवं रूप की सज[illegible]कित करने की अद्‌भुत क्षमता है। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "लक्षणा का विस्तृत मैदान खुला रहने पर भी हिन्दी-कवियों ने उसके भीतर ही कम पैर बढ़ाया। एक घनानन्द ही ऐसे कवि हुए हैं, जिन्होंने इस क्षेत्र में अच्छी दौड़ लगाई।"[3] जैसे प्रिय को देखने की तीव्र आकांक्षा दिखाने के लिए कवि ने आँखों के हृदय में उत्कट लालसा का लाक्षणिक चित्र इस प्रकार दिया है—

मोहन सोहन जोहन की लगियै रहै आँखिन के उर आरति।

ऐसे ही निर्मोही के मधुर मोह में लुटी हुई 'मति' का कितना मोहक एवं लाक्षणिक चित्र दिया है—

मति दौरि थकी न लगै ठिक ठौर अमोही के मोह-मिठास ठगी।

---

[1] घनानन्द और स्वच्छन्द काव्य-धारा, पृ० १०५।

[2] घनआनन्द, पृ० २७४।

[3] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ३३६।

इसी प्रकार प्रेमी की 'बावली-रीझ' की सजीव मूर्ति अंकित करते हुए कवि ने अपनी लाक्षणिक मूर्तिमत्ता की विशिष्टता का कैसा सुन्दर परिचय दिया है—

रोकी रहै न, दहै घनाआनँद बाबरी रीझ के हाथनि हारियै ।

इसी तरह प्रिय के अंग-अंग से प्रस्फुटित होने वाले मादक सौन्दर्य का लाक्षणिक चित्र अंकित करते हुए कवि ने लिखा है—

अंग अंग तरंग उठै द्युति की, परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै ।

(२) **चित्रोपमता**—घनानन्द की भाषा में लक्षणा के द्वारा ही नहीं, वैसे भी सजीव एवं संश्लिष्ट चित्र अंकित करने की अद्भुत क्षमता है। जिस तरह एक उच्च-कोटि का चित्रकार थोड़े से रंग एवं थोड़े से साधनों से ही सुन्दर एवं सजीव चित्रों का निर्माण कर देता है, वैसे ही घनानन्द थोड़े से ही शब्दों से ऐसे मादक, मनोमोहक एवं मनोरंजक चित्रों का निर्माण कर देते है कि देखते ही बनता है। जैसे रति-शिथिल नायिका का सजीव शब्द-चित्र देखिए—

सुख-स्वेद-कनी मुखचन्द बनी बिथुरी अलकावलि भाँति भली ।
मद-जोबन, रूप छकीं अँखियाँ अवलोकनि आरस-रंग-रली ।।
घनआनँद ओपित ऊँचे उरोजनि चोज मनोज के ओज दली ।
गति ढीली लजीली रसीली लसीली सुजान मनोरथ-बेल फली ।।

(३) **भावानुकूलता**—घनानन्द ने प्रायः भाव एवं रस के अनुकूल [illegible] शब्दावली का प्रयोग किया है। घनानन्द विरह एवं प्रेम के कवि हैं [illegible] विरह के निरूपण के लिए कोमल-कान्त-पदावली की आवश्यकता हो [illegible] माधुर्य-व्यंजक शब्द ही वियोग के सुकुमार भावों को व्यक्त करने में [illegible] हैं। इसी कारण घनानन्द ने वियोग-भाव की अभिव्यक्ति के लिए सर्वत्र [illegible], सुकुमार, सच्चिक्कण एवं सौम्य पदावली का प्रयोग किया है, जिसमें पूर्णतया भावानुकूलता एवं रसानुकूलता दृष्टिगोचर होती है। यथा—

रैन दिना घुटिबौ करैं प्रान झरैं अंखियाँ दुखियाँ झरना सी ।
प्रीतम की सुधि अंतर मैं कसकै सखि ज्यों पँसरीनु में गाँसी ।।
चौचँदचार चबाइन के चहुँ ओर मचैं बिरचैं करि हाँसी ।
यों मरियै भरियै कहि क्यों सु परौ जनि कोऊ सनेह की फाँसी ।।

(४) **नादात्मकता**—घनानन्द की भाषा में नाद-सौन्दर्य कूट-कूट कर भरा हुआ है। घनानन्द प्रायः ऐसे शब्दों का प्रयोग बड़ी सावधानी के साथ करते हैं, जिनसे भावों की व्यंजना सुगमता के साथ हो जाती है और जो कवि के कलात्मक नाद-सौन्दर्य के परिचायक होते हैं। इतना ही नहीं, जिन शब्दों से प्राकृतिक पदार्थों की ध्वनि और उनके व्यापार भी भली प्रकार व्यंजित हो जाते हैं। जैसे—घटा के घिरने, मोर के कूकने, समीर के सरसर चलने आदि की ध्वनि और उसके प्रभाव को घनानन्द की इन पंक्तियों में सुगमता से सुना जा सकता है—

घूँटै घटा चहुँधा घिरि ज्यौं गहि काढ़ै करेजो कलापिनि कूँकें ।
सीरी समीर सरीर दहै, चहकै चपला चख लै करि ऊकें ॥
एहो सुजान तुम्हें लगे प्रान सु पावस यौं तजि ब्यावस सूकें ।
ह्वै घनआनन्द जीवनमूल धरौ चित मैं कित चातिक-चूकें ॥

(५) **वक्रोक्तिमूलकता**—घनानन्द की भाषा वक्रोक्ति का भंडार है, क्योंकि उसमें वचन-वक्रता पंक्ति-पंक्ति में भरी हुई है। घनानन्द वक्रोक्तियों के अत्यन्त पटु कलाकार हैं और उनका सारा काव्य वक्रोक्तियों के सौन्दर्य से ओतप्रोत है। ये वक्रोक्तियाँ बड़ी ही सरस एवं स्निग्ध हैं तथा व्यंग्य के माधुर्य से भी ओतप्रोत हैं। जैसे—

(क) मोहि तुम एक, तुम्हें मो सम अनेक आहि,
कहा कछू चंदहि चकोरनि की कमी है।
(ख) सुनी है कै नाहीं कह प्रगट कहावति जू,
काहू कलपाय है सु कैसे कल पाय है॥
(ग) सीत सुजान अनीत की पाटी इतै पै न जानियै कौनें पढ़ाई ।
(घ) तुम कौन धौ पाटी पढ़े हौ लला मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं ॥

(६) **सामासिकता**—घनानन्द की भाषा समास-बहुला है, उसमें समासों का ेग हुआ है और इससे 'गागर में सागर' भरने वाली उक्ति चरितार्थ हो । ने थोड़े से ही शब्दों में अधिक से अधिक बात कहने का मार्ग ा। जैसे—

रूप-गुन-मद-उनमद नेह-तेह-भरे,
छक-बल आतुरी चटक-चातुरी पढ़े ।
मीन-कंज-खंजन-कुरंग-मान-भंग करैं,
सींचे घनआनँद खुले-संकोच सों मढ़ें ॥
(ख) केलि-कला-रस-आसव-पान-छके घनआनंद यौं करि ।
(ग) महा-प्रेम-सम्पति-विलास-ठकुरानी है ।
(घ) अंग-अंग-अंतर-उमंग-रंग भरि भारी ।

(७) **द्वयर्थकता**—घनानन्द ने ऐसी पदावली का भी पर्याप्त प्रयोग किया है, जो श्लेषात्मक है अथवा दो अर्थों से परिपूर्ण है। ऐसी पदावली से जहाँ अभिव्यक्ति में विलक्षणता का समावेश हुआ है, वहाँ भाषा में अभिव्यंजना-शक्ति की भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। 'घनआनन्द' शब्द तो प्रायः दो अर्थों में ही प्रयुक्त हुआ है, जो एक ओर कवि का वाचक है, दूसरी ओर कहीं कृष्ण का वाचक है और कहीं केवल 'आनन्द के बादल' का ही वाचक है। जैसे—

आरतिवंत पपीहन को घनआनँद जू पहिचानौ कहा तुम ।

इसी प्रकार 'सुजान' शब्द भी प्रायः दो अर्थों में ही प्रयुक्त हुआ है। एक ओर वह घनानन्द की प्रेयसी 'सुजान' वेश्या का वाचक है और दूसरी ओर चतुर श्रीकृष्ण का भी बोधक है। जैसे—

(क) एक ही जीव हु तौ सु तौ वार्यौ सुजान संकोच औ सोच सहारियै।
(ख) कबहूँ या विसासी सुजान के आँगन मो अँसुवानिहूँ लै बरसौ।
(ग) मीत सुजान अनीत की पाटी इते पै न जानिये कोनें पढ़ाई।

(८) **प्रयोग-वैचित्र्य**—घनानन्द की भाषा में प्रयोग-वैचित्र्य के स्थान-स्थान पर दर्शन होते हैं, क्योंकि कवि ने भाषा को अपने निजी प्रयोगों के आधार पर चलाया है, वे उसको कहीं-कहीं दुर्गम एवं वक्र मार्ग पर भी ले गये हैं और इसी कारण उनके कथन में वक्रता एवं विचित्रता आ गई है। इसीलिए उनकी भाषा वैयक्तिकता से परिपूर्ण है और वह नये-नये अनोखे एवं अनूठे प्रयोगों से भरी हुई है। जैसे, कवि ने विरह-वेदना को परम ज्वालामयी बनाने के लिए लिखा है कि यदि जीभ प्रेम का नाम छू लेती है, तो उस पर छाले पड़ जाते हैं। देखिये कैसा प्रयोग-वैचित्र्य है—

"रसना के छाले परैं प्यारे नेह-नाँव छू।"

ऐसे ही कवि कह रहा है कि हमारे भाग्य में तो तुम्हें रात-दिन याद कर[illegible] लिखा है और तुम्हारे भाग्य में हमें नित्यप्रति भूल जाना लिखा है, फिर हम कि[illegible] उलाहना दें, यह तो अपने-अपने भाग्य की बात है। इसी कथन को कवि [illegible] कितनी विचित्रतापूर्वक कहता है—

इत बाँट परी सुधि, रावरे भूलनि, कैसें उलाहनो दीजै [illegible]

इसी तरह कवि कह रहा है कि "तुम चैन से रह रहे हो, तु[illegible] क्या है?" इस कथन को अपने प्रयोग-वैचित्र्य द्वारा कवि किस तरह [illegible] है।

"नित नीके रहो तुम्हें चाड़ कहा?"

इसी प्रकार कवि ने प्रिय के मिलन की तुलना पुष्पों की सुगन्ध से करके यह बतलाया है कि जैसे फूलों की सुगन्ध मन को प्रसन्न एवं आनन्द प्रदान करती है वैसे ही प्रिय का मिलाप भी प्रसन्नता एवं आनन्द का देने वाला होता है, परन्तु एक तो संसार में स्नेही बहुत कम हैं और दूसरे जो हैं, वे भी मिलते कहाँ हैं? इसी प्रयोग-वैचित्र्य को निम्नलिखित पंक्ति में देखिए—

इक तौ जग-मांझि सनेही कहाँ, पै कहूँ जो **मिलाप की बास खिलै।**

(९) **उक्ति-वैचित्र्य**—घनानन्द की उक्तियाँ अत्यन्त मधुर, रसीली एवं अनूठी हैं, क्योंकि ऐसी उक्तियाँ प्राचीन कविताओं में बहुत कम दिखाई देती हैं। सूरदास के 'भ्रमरगीत' में अवश्य अनूठे उक्ति-वैचित्र्य के दर्शन होते हैं, किन्तु घनानन्द तो सूर को भी मात कर गये हैं, क्योंकि इनकी उक्तियाँ सूर से भी अधिक मार्मिक हैं, सरस हैं, विलक्षण हैं और चुटीली हैं। जैसे—

(क) उत ऊपर पायँ लगी मिहँगी सु कहा लगि धीरज हाथ रहै।
(ख) घनआनँद जीवन मूल सुजान की कौंधनि हूँ न कहूँ दरसै।

(ग) रोकी रहे न, रहै घनआनँद बाबरी रीझ के हाथिन हारियै ।
(घ) धुरि आस की पास उसास-गरैं जु परी सु मरैं हू कहा छुटि है ।

(१०) **विरोधमूलक वैचित्र्य**—घनानन्द की उक्तियाँ तो सर्वश्रेष्ठ हैं ही, उनमें से भी वे उक्तियाँ और अधिक सरस, मार्मिक एवं विलक्षण हैं, जिनमें विरोध का आश्रय लेकर कवि ने नूतन चमत्कार की सृष्टि की है। इससे न केवल भाषा में असाधारण सौंदर्य की वृद्धि हुई है, अपितु अभिव्यक्ति में भी अनुपम सरसता की सृष्टि हुई है। जैसे—

(क) मति दौरि थकी न लहै ठिक ठौर, अमोही के मोह-मिठास ठगी ।

(ख) झूठ की सचाई छाक्यौ, त्यौं हित कचाई-पाक्यो,
ताके गन-गुन घनआनँद कहा गनौ ।

(ग) पौन सों जागति आगि सुनी ही पै पानी सौं लागति आँखिन देखी ।

(घ) उजरनि बसी है हमारी अँखियनि देखौ ।

(११) **अर्थ-गाम्भीर्य**—घनानन्द की भाषा में कोरा शब्द-वैचित्र्य ही नहीं है, पितु उसमें अर्थ-गाम्भीर्य भी है और कहीं-कहीं तो वह बड़े ही विलक्षण भावों, थों आदि से भरी हुई दिखाई देती है। इसका मूल कारण यह है कि कवि की बात न) रूपी बन्नी (दुलहिन) मौन का घूँघट डालकर इनके हृदय रूपी भवन में है[1] और केवल रिझवार काव्य-मर्मज्ञ ही उसे समझ पाते हैं,[2] क्योंकि भीर अर्थ भरा हुआ है, वह शब्दों द्वारा पूर्णतया व्यक्त नहीं र सहृदय ही पहचान पाता है और कवि-हृदय ही उसके मर्म तक से प्रायः जगत् में प्रेमियों के, विशेषकर विरहियों के दो उपमान मछली और दूसरा पतंग। इन दोनों को बड़ा ही उत्कृष्ट प्रेमी कहा गया है, परन्तु घनानन्द कहते हैं कि हमारी दृष्टि में मेरे प्रेमी हृदय की अपेक्षा ये दोनों ही निकृष्ट हैं, क्योंकि मछली तो विरह को न सह सकने के कारण प्रिय के वियोग में मर जाती है, जबकि मेरा हृदय वियोग में रात-दिन अपने प्रिय के लिए तड़पता रहता है और मिलन की आशा में असह्य पीड़ा सहता है। दूसरे, पतंग अपने प्रिय की रूप-छटा पर मुग्ध होकर अपने को सँभाल नहीं पाता और दीप-शिखा में जलकर भस्म हो जाता है, किन्तु मेरा हृदय ऐसा उतावला नहीं है, जो जलकर भस्म हो जाय, अपितु वह तो अपने प्रिय के रूप की अग्नि में निरन्तर तपता रहता है। यह है घनानन्द का अर्थ-गाम्भीर्य, जो उनके इस पद में विद्यमान है—

मरिबौ बिसराय गनै वह तौ यह बापुरो मीत-तज्यौ तरसै ।
वह रूप-छटा न सहारि सकै यह तेज तबै चितबै बरसै ॥

---

[1] उर-भौन के मौन को घूँघट दै दुरि बैठि बिराजति बात-बनी ।

[2] घनआनँद बूझनि अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान धनी ।

घनआनँद कौन ओखी दसा मति' आवरी बावरी ह्वै थरसै ।
बिछुरैं-मिलैं मीन-पतंग दसा कहा मो जिय को गति कौं परसै ।।

इसी प्रकार घनानन्द के अन्य छन्दों में भी ऐसा ही अर्थ-गाम्भीर्य छिपा हुआ है, जो विस्तार-भय से यहाँ नहीं दिया गया है ।

(१२) **मुहावरों का सौन्दर्य**—घनानन्द की भाषा को सुसज्जित करने में विविध मुहावरों का बड़ा हाथ रहा है । घनानन्द मुहावरों के प्रयोग में अत्यन्त निपुण हैं और उन्होंने कविता को सजीव एवं मार्मिक बनाने के लिए विविध प्रकार के मुहावरों को बड़ी तत्परता के साथ अपनाया है, जिनमें उक्ति-सौन्दर्य के साथ-साथ अर्थ-गाम्भीर्य भी भरा हुआ है । जैसे—

(क) चातक रे घातक ह्वै तू हू **कान फोरि** लै । (कान फोड़ना)
(ख) **चोर्‌यो चित** चितौनि मैं चिन्हारी करि । (चित्त चुराना)
(ग) तब ते **न मेरे चित चैन** कहूँ रंचक है । (चित में चैन न होना)
(घ) आनाकानी दैबौ दैया **घाय कैसो लौन है** ! (घाव पर नमक छिड़कना)
(ङ) कारी कूर कोकिला, कहाँ **कौ बैर काढ़ति** री । (बैर निका[illegible]
(च) तुम कौन धौं **पाटी पढ़े** हौ लला । (पट्टी प[illegible]
(छ) **आँखिन बसेहौ** सब सूनौ जग जोहिए । (आँखों [illegible] ब[illegible]
(ज) **घर कों उजारि** कै बसन बन जाय है । (घर उ[illegible]
(झ) **उघरि नचैंहैं** लोकलाज **लैं बचैंहैं** । (उघड़क[illegible]
(ञ) **दिनन को फेर** मोहिं तुम **मन फेरि** डार्‌यो । [illegible]
(ट) घाती बड़े काती लिए **छाती पर रहैं चढ़ै** । (छा[illegible]
(ठ) उत ऊपर **पाँय लगी** मिहदी । (पैरों [illegible] हैं ।

(१३) **जनपदीय शब्द-माधुर्य**—घनानन्द ने अपनी कविता ऐ[illegible] लिखी है, जो ठेठ ब्रजप्रदेश की भाषा है तथा जिसमें स्थानीय बोलचाल के शब्दों का वही सौन्दर्य तथा माधुर्य विद्यमान है, जो आज भी वहाँ की बोलचाल की भाषा में देखा जाता है । शब्दों के इन स्वाभाविक रूपों ने घनानन्द की कविता में व्यावहारिकता एवं नैसर्गिकता की सृष्टि की है और वह उनकी सहज भाषा जान पड़ती है । वैसे भी घनानन्द ब्रज-प्रदेश में बहुत दिन रहे थे और उन्होंने ब्रजभाषा का गहन अनुशीलन किया था । इसी कारण उनकी भाषा अपने जनपदीय माधुर्य से भरपूर है । यथा—

(क) **पैंड़ परे** पापी ये कलापी निसद्यौस ज्यौंहीं ।
(ख) तौ लौं रे डरारे **बजमारे** घन खोरि लै ।
(ग) त्रासनि दसा **दैया** को लौं रहियै अचै ।
(घ) एरे **बीर** पौन ! तेरो सबै ओर गौन ।
(ङ) याही दुख हमैं **जक** लागी हाय-हाय है ।
(च) चातक **चुहुल** चहुँ ओर चाहै स्वाति ही कों ।
(छ) वेदन की **बढ़वारि** कहाँ लौं दुराइयै ।

(ज) सो घनआनँद ज[illegible] जान लौं टूक कियौ परि बाँचि न देख्यौ ।

(झ) रूप हेरें चोप-कूप गिरी लेज लाज की ।

(ञ) ओछी ओक धरें प्यास-पीर-सरसई है ।

(१४) शब्द-मैत्री—घनानन्द ने भाषा में सरसता एवं ध्वनि-प्रवाह उत्पन्न करने के लिए ऐसे शब्दों का बहुत प्रयोग किया है, जिनमें वर्ण-साम्य है, ध्वनि-साम्य है एवं रूप-साम्य भी है और ऐसे शब्दों द्वारा कविता को तरल प्रवाहमयी एवं द्रुत-गामिनी बनाने का सुन्दर प्रयास हुआ है । जैसे—

(क) गति ढीली लजीली रसीली लसीली सुजान मनोरथ बेल फली ।

(ख) लहकि लहकि आवै ज्यौं ज्यौं पुरवाई पौन,
        दहकि दहकि त्यौं त्यौं तन ताँवरे तचै ।

(ग) लट लोल कपोल कलोल करैं,

(घ) स[illegible]रमोही एक तोही सों लगाव मोहि सोही कहे कैसें····

(ङ) [illegible]ले रसाल छबीले कटाछ कलानि मैं पंडित ।

[illegible]ी लाय बलाय बढ़ाय बिसास-दगानि दगी ।

[illegible]नन्द ने अपनी अलबेली एवं लचीली 'सुजान' की [illegible]ोलि रसीली एवं लचीली बनाने के लिए उसमें अद्‌भुत [illegible] जिससे एक ओर तो भाषा में नव-जीवन का संचार [illegible] ओर ऐसा करने से मात्रा-दोष और लय तथा गति सम्बन्धी [illegible] हैं । इस प्रक्रिया से भाषा में एक नूतन भंगिमा-शक्ति आ

[illegible] ही जीव हुतौ सु तौ वार्‌यो सुजान संकोच औ सोच सहारियै ।

[illegible]हारियै' क्रिया का प्रयोग 'सहारा दीजिए' के अर्थ में हुआ है । यह लोच कैसा मार्मिक है ।

(ख) पूरे पन-सिन्धु में न बूढ़ता सकायहौं ।

यहाँ 'सकायहौं' क्रिया को लचीली बनाकर 'शंकित होऊँगा' के अर्थ में कितनी सजीवता के साथ प्रयोग किया है ।

इतना ही नहीं, घनानन्द ने अपने छन्दों में कहीं-कहीं 'यौंऽब', 'तौऽब', 'जौऽब' जैसे शब्दों का प्रयोग करके क्रमशः 'यौं अब', 'तौ अब', 'जौ अब' अर्थ की प्रतीति के लिए शब्द-लोच प्रस्तुत किया है । इससे भाषा पर्याप्त लचीली हो गई है ।

सारांश यह है कि घनानन्द ब्रजभाषा के धनी कवि हैं । उनकी ब्रजभाषा में रसानुकूल कोमलता है, भावानुकूल ऋजुता है, प्रयोगानुकूल लचक है और कथनानुकूल व्यावहारिकता है । घनानन्द की भाषा व्याकरण से सुव्यवस्थित है, उक्ति-वैचित्र्य से सुसज्जित है, वक्रोक्तियों से अलंकृत है और प्रयोग-वैलक्षण्य से सुसम्पन्न है । उसमें कवि की वैयक्तिक रचना-चातुरी की छटा विद्यमान है; मुहावरों की अर्थवत्ता विद्यमान है, जनपदीय प्रयोगों की मधुरता विद्यमान है और विरोधमूलक वचन-भंगिमाओं की

शालीनता विद्यमान है। घनानन्द ने अपनी ब्र[illegible] लाक्षणिक मूर्तिमत्ता प्रद करके मार्मिक बनाया है, चित्रोपमता प्रदान करके सजीव बनाया है, ध्वन्यात्मक प्रदान करके गम्भीर बनाया है, भावाभिव्यंजकता प्रदान करके स [illegible] बनाया द्वयर्थकता प्रदान करके सहृदय-संवेद्य बनाया है और अर्थ[illegible] करके [illegible] एवं स्वावलम्बी बनाया है। निस्संदेह घनानन्द के सभी भाषा-प्रयोग अनुपम अद्वितीय हैं, सभी वचन-भंगिमाएँ मर्मस्पर्शी एवं मनोरंजक हैं, सभी भावाभिव्यक्ति सरस एवं सुष्ठु हैं और सभी अर्थ-व्यंजनाएँ शिष्ट, मार्मिक एवं साहित्यिक हैं। अ घनानन्द का-सा सरल एवं स्निग्ध भाषा-प्रवाह अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देता अ घनानन्द का-सा भाषा-सौष्ठव किसी भी ब्रजभाषा के काव्य में दृष्टिगोचर न होता।

में चै (६)
घाव पर नमक छिड़
री। (बैर निका
(पट्टी प
(आँखों [illegible] बर
(घर उखाड़
(उघड़क
[illegible]
हैं।
शब्दों का
बा